सत्साहित्य प्रकाशन

# भागवत-धर्म

—श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध का लोकसुलभ अनुवाद एवं टीका—

•

हरिभाऊ उपाध्याय

१९६७

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

# प्रकाशकीय

'मडल' का बराबर प्रयत्न रहा है कि वह पाठको को ऐसी सामग्री प्रदान करे, जो उनके जीवन को ऊपर उठाने मे सहायक हो। वैसे तो 'मडल' का सारा साहित्य ही इस भावना से प्रेरित है, लेकिन उसका आध्यात्मिक साहित्य तो इस दिशा मे बहुत ही उपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रथ 'मडल' द्वारा प्रकाशित आध्यात्मिक साहित्य मे अपना विशेप स्थान रखता है। पुराणो मे श्रीमद्भागवत की महिमा सबसे अधिक मानी गई है। यह ग्रथ उसीके एकादश स्कध का हिन्दी-अनुवाद है। ग्रथ के आकार की सुविधा की दृष्टि से पूरी सामग्री इसमे नही दी गई। यह पूर्वार्द्ध है। उत्तरार्द्ध बाद मे निकालने की योजना है।

इस ग्रथ का महत्त्व केवल इसलिए नही है कि यह एक महान् ग्रथ का रूपान्तर है, बल्कि इसलिए भी कि इसमे वह मार्ग बताया गया है, जिसपर चलकर हमारा ीवन कृतार्थ बन सकता है। हम किसी भी मान्यता अथवा विचारधारा के क्यो न ो, इस ग्रथ के अध्ययन एव इसके विचारो के मनन से अपने जीवन मे बहुत-कुछ ाप्त कर सकते है।

आज हम विज्ञान के युग मे रह रहे है, लेकिन सभी विवेकशील व्यक्ति मानते कि विज्ञान का पूरा लाभ तभी मिल सकता है, जबकि उसके साथ आध्यात्मिा समन्वित हो।

ग्रथ का यह द्वितीय सस्करण है। पहले सस्करण की उन पाद टिप्पणियो को, विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए दी गई थी, इस सस्करण मे अलग रशिष्ट मे दे दिया गया है।

हमे इस बात की बडी प्रसन्नता है कि पाठको मे आध्यात्मिक साहित्य की भूख ाज भी बनी हुई है और विश्वास है कि इस ग्रथ का सर्वत्र स्वागत होगा तथा भी वर्गों के पाठक इससे लाभान्वित होगे।

—मंत्री

# प्रस्तावना

श्रीमद्भागवत सब पुराणो मे सिरमौर है। अत इसे महापुराण कहा जाता है। महामुनि व्यास, जिन्होने वेदो का सम्पादन, ब्रह्मसूत्रो की तथा महाभारत की रचना की है, इसके भी रचयिता माने जाते है। इसकी रचना एव प्रचार कलिकाल के दु ख और दुरवस्था से मनुष्य-जाति को छुडाने या बचाने के उद्देश्य से हुई है। वेद, वेदात तथा महाभारत के सम्पादन तथा प्रणयन करने पर भी वेदव्यास के मन मे एक प्रकार का असन्तोष बना रहा। उन्हे मन मे यह अनुभव होने लगा कि मेरे जीवन-कार्य मे कुछ कसर रही प्रतीत होती है। इसका कारण एव उपाय खोजने के लिए वह शान्तचित्त से विचार करने लगे। समाहितचित्त होने पर उन्हे स्फूर्ति हुई कि कलिकाल के जीवो के उद्धार के लिए सरल मार्ग—भक्ति को विशद करो। भगवत्-शरण, भगवन्नाम-लीला सकीर्तन का प्रचार करो। कर्मकाण्ड और योग-साधन आदि क्लिष्ट मार्ग कलिकाल मे सुसाध्य नही है। इस प्रेरणा से उन्हे आत्मसन्तोष हुआ, जिसका फल यह मधुर रसमय ज्ञान-गगा श्रीमद्भागवत है।

इसमे सिद्धान्त-रूप से एक-मात्र परमात्मा नारायण के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और उसीके प्रति अपने सारे जीवन को समर्पण करने, उसीमे तल्लीन एव तन्मय रहने का उपदेश दिया गया है। ससार के समस्त दु खो से छूटने और अखण्ड सुख पाने का यही सबसे उत्तम, सरल और सुसाध्य उपाय कलियुग के लिए बताया गया है। अत इसका दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैत और साधन या मार्ग भक्ति है। इसके प्रमाण पद-पद पर स्वय भागवत मे ही भरे पडे है। कहते है कि भगवान् ने ब्रह्माजी को पहले सूत्र-रूप मे भागवत का सिद्धान्त बताया। वह चतुश्श्लोकी भागवत के नाम से प्रसिद्ध है। उसमे भगवान् के निर्गुण, सगुण रूप, जीव, जगत् सबकी एकता का प्रतिपादन है—

**अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।**
**पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥** (२।९।३२)

सृष्टि से पूर्व मैं ही था, मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्म भाव न था, यहातक कि इनका कारण-भूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमे लीन था। सृष्टि का यह प्रपच मैं ही हू और प्रलय मे सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एक-मात्र अवशिष्ट रहूगा।

इसी एक सत्य अद्वय तत्व को 'भगवान्', 'ब्रह्म', 'वासुदेव'[1] कहा है।

इसी तरह उनकी प्राप्ति का एक-मात्र मार्ग भक्ति बताया गया है—

**न साधयति मा योगो न साख्य धर्म उद्धव।**
**न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥** (भा० ११।१४।२०)

भगवान् कृष्ण उद्धव से कहते हैं—

मेरी सुदृढ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त करा सकती है, उस प्रकार न तो योग, न साख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है। भागवत मे भगवान् के अनेक अवतारो की, उनकी लीलाओ तथा चरित्रो की तथा अन्य कथाओ को निमित्त बनाकर व्यास भगवान् ने इन्ही दो बातो—अद्वैत और भक्ति—को पाठक के मन पर अकित करने का सफल यत्न किया है।

भागवत मे काव्य एव साहित्य के गुणो की काफी मात्रा होने के कारण यह

---

[1] वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्व यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ (१-२-११)
ज्ञान विशुद्ध परमार्थमेकमनन्तर त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्त भगवच्छब्द-सज्ञ यद् वासुदेव कवयो वदन्ति ॥ (५।१२।११)
ज्ञानमात्र पर ब्रह्म परमात्मेश्वर पुमान्।
दृश्यादिभि पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥ (भाग० स्कन्ध ३।३२।२६)
(उपनिषदो मे परब्रह्म, योग मे परमात्मा, ईश्वर, साख्य मे पुरुष, भक्ति-शास्त्र मे भगवान् कहा जाता है।)

ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र, इतिहास, कवित्व और कल्पना से मिश्रित बहुत रोचक ग्रथ बन गया है।

इसकी रचना-शैली पौराणिक है। आधुनिक ऐतिहासिक एव आलोचनात्मक दृष्टि से ही देखेंगे तो शायद पूरा सतोप किसीको भी न हो सके। यह भक्ति-प्रधान ग्रथ है, अत इसे एक भक्त की दृष्टि से ही देखना और उससे लाभ उठाना चाहिए। हा, इसमे ऐसी सामग्री जरूर है, जिससे इतिहास, काव्य, कथा, दर्शन, सबके प्रेमियो को थोडा-थोडा लाभ मिल सकता है।

मैंने इसे भक्त की भावना के साथ-ही-साथ एक सुधारक की दृष्टि से भी पढा है। पुराणो की रचना जिस काल के लिए की गई थी वह अब नही रहा। वह पद्धति अब पढे-लिखे लोगो को उतनी युक्ति-युक्त और हृदयगम नही मालूम होती, जितनी आधुनिक विवेचन-पद्धति मालूम होती है। अत मैंने अपने विवेचन मे आधुनिक बुद्धिगम्य शैली का ही अवलम्बन किया है। फिर यह विवरण केवल ११वे स्कन्ध का है। जहातक ज्ञान-विज्ञान, धर्म, नीति, भक्ति-निष्ठा एव आचार से सम्बन्ध है, इसे सारी भागवत का उपसहारात्मक स्कध कह सकते है। कथाओ को, वशावलियो को तथा इतर उपाख्यानो को छोड दे तो सारी भागवत का ही नही, सारे आर्य शास्त्रो का निचोड इस एक ही स्कध मे आ जाता है और इसीलिए मैंने अपने विवरण के लिए इसीको चुना है। भागवत का, विशेषकर उसके ज्ञान-विज्ञान आदि का लाभ आधुनिक समाज किस प्रकार उठा सकता है, इस बात को ध्यान मे रखकर मैंने यह विवेचन किया है। मै यह नही कहता कि भागवतकार के कथन को मैंने ज्यो-का-त्यो रखने या विशद करने का प्रयत्न किया है, पर यह मैं नि शक रूप से कह सकता हू कि भागवतकार ने जिन दो स्तभो—अद्वैत और भक्ति पर अपनी विशाल इमारत खडी की है, उन्हीपर मैंने भी अपने इस विवेचन का आधार रक्खा है। उनके मर्म की, हार्द की, मैंने हर तरह रक्षा ही नही की है, बल्कि आधुनिक समाज और जगत् को उपयोगी होने-योग्य भाषा तथा शैली मे रखकर उसको अधिक लोकप्रिय बनाने का यत्न किया है। आधुनिक जगत् की समस्याओ का विचार करते हुए मैं स्वतत्र रूप से इस नतीजे पर पहुचा कि समाज की रचना की यदि कोई न्याययुक्त, सुख-शान्तिप्रद, स्वस्थ, स्वातन्त्र्य रक्षक, विकासशील,

सजीव पद्धति हो सकती है तो वह अद्वैत-सिद्धान्त पर ही कायम की जा सकती है, और यदि कोई वृत्ति मनुष्य एव समाज को अपने लक्ष्य तक पहुचा सकती है, सुख, आनन्द,शाति प्रदान कर सकती है तो वह भक्ति-वृत्ति ही है, भले ही इस अद्वैत-सिद्धान्त को आप सामाजिक भाषा मे समता का सिद्धान्त कहे और भक्ति-वृत्ति को लगन, एकनिष्ठता,तन्मयता, प्रेमपरिपूर्णता कहे। मुझे इन दो तत्त्वो का साक्षात्कार जितना भागवत मे हुआ उतना किसी ग्रथ मे नही हुआ और यह बात मेरे हृदय मे अच्छी तरह अकित हो गई कि क्यो श्री वल्लभाचार्य ने इसे व्यास भगवान् की 'समाधि-भाषा' कहा है। मनुष्य और समाज की सर्वोच्च अभिलाषाओ की पूर्ति के लिए इन दो से बढकर कोई उत्तम साधन नही हो सकता। मेरा यह मन्तव्य या आशय इस पुस्तक मे पाठको को तरह-तरह से विशद होता हुआ दिखाई देगा।

जगत् मे दो विचार के लोग थे, हैं और रहेगे। एक आस्तिक—ईश्वरवादी, दूसरे नास्तिक—अनीश्वरवादी। समाज से हम एक दल का वहिष्कार करके केवल दूसरे का ही विचार नही कर सकते। दोनो की व्यवस्था, उन्नति, सुख का विचार हमे करना होगा तभी वह समाज-व्यवस्था सम्पूर्ण और उपयोगी हो सकेगी। इसी आवश्यकता को ध्यान मे रखकर मैंने इसमे इन दोनो सिद्धान्तो का विवेचन इस तरह से किया है कि दोनो वर्गो को लाभ पहुचे। आस्तिको के लिए आध्यात्मिक और धार्मिक भाषा,नास्तिको के लिए सामाजिक और लौकिक भाषा का प्रयोग किया है। इन दोनो भाषाओ का कलेवर भले ही पृथक् हो, मेरे निकट इनकी आत्मा मे कोई अन्तर नही है। दोनो को जोडनेवाली कडी मुझे स्पष्ट दीखती है, अत दो भाषा बोलकर भी मैंने एक ही आशय को प्रकट किया है। यदि इसके द्वारा मेरे बुद्धिवादी, अनीश्वरवादी, आलोचक-बुद्धि पाठक उस मूल स्रोत तक पहुच पावे तो मुझे बहुत सन्तोष होगा। साथ ही यदि भावुक, भक्त, धार्मिक वृत्ति के पुरुष आधुनिक जगत् की समस्याओ के महत्त्व एव हल को इसके द्वारा समझ व ग्रहण कर सके तो मेरा श्रम बहुत-कुछ सफल हो जायगा।

प्राचीन हिन्दू-समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था या चातुर्वर्ण्य पर खडा था। वह अब तितर-बितर हो गया, हो रहा है, और शायद उसी रूप मे अब न उठ सके। पर जिन तत्त्वो पर वह खडा था, वे अब भी उपयोगी है और रहेगे। उन्हीके सहारे

नवीन समाज की रचना बडे मजे मे की जा सकती है, यह मेरा विश्वास है और उसीको इसमे समझाने का यत्न किया गया है। समाज-रचना के जो अन्यान्य तत्त्व और योजनाए पेश की जा रही है, उनकी तुलना, छानबीन करके मैंने अपना विचार स्थिर तथा पुष्ट करने का यत्न किया है।

प्राचीन समय मे अनेक कारणो से 'सन्यास' आश्रम रूढ किया गया था। उसका मूलभूत सिद्धान्त तो आज भी मुझे सही और उपयोगी मालूम होता है, परन्तु इससे कर्म-योग एव कर्म-सन्यास का एक विवाद उठ खडा हुआ था, जो कि अब दब गया है और प्राय सभी लोग कर्म-योग की महत्ता को एकस्वर से स्वीकार करते है। कर्म-योग की अनिवार्यता, उपयोगिता और व्यावहारिकता को ध्यान मे रखकर तो मैंने भक्त के जीवन को कर्म-प्रधान माना और समझा है, तथा वैसा ही पाठको के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

मनुष्य के सामने व्यक्तिगत प्रश्न है उसकी सुख-समृद्धि या शान्ति-सन्तोष-समाधान का एव सामाजिक प्रश्न है समाज की सुव्यवस्था का। ये दोनो इस तरह हल होने चाहिए, जिससे इनमे विरोध न हो और ये परस्पर सहायक-पूरक हो सके। व्यक्ति और समाज मे, आखिर व्यक्ति को ही प्रधानता देनी पडेगी, क्योकि समाज आखिर व्यक्तियो के ही लिए तो है। हमारी प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का लक्ष्य व्यक्ति का चरम उत्कर्ष ही हो सकता है। इसलिए हमारे प्राचीन धर्म-ग्रन्थो और शास्त्रो मे जीवन की व्यक्तिगत साधना पर बहुत जोर दिया गया है और सामाजिक व्यवस्थाओ को अपेक्षाकृत गौण स्थान मिला है। वर्णाश्रम-व्यवस्था मे दोनो के हित का ध्यान रखा गया है व उनका सामजस्य किया गया है। आश्रम—व्यक्तिगत जीवन को बनाने के लिए, वर्ण—सामाजिक सगठन एव सुव्यवस्था के लिए। इस ग्रन्थ मे मैंने इस बात को भी अपनी निगाह से ओझल नही होने दिया है।

बचपन मे मै 'भागवत-सप्ताह' मे पौराणिको के मुह से भागवत की कथाए सुना करता था। वे रोचक मालूम होती थी। जब अपने गाव से उडकर काशी पढने के लिए पहुचा तो 'आर्य-समाज' एव 'सनातन-धर्म' के शास्त्रार्थों का युग था। सनातन-धर्मियो मे भी बुद्धिवादी विचारक पैदा हो गये थे और वे पौराणिक कथाओ और कृष्ण की लीलाओ की आलोचना-विवेचना करने लगे थे। बकिम बाबू का

'कृष्ण-चरित', वैद्य का 'महाभारत-मीमासा' और 'कृष्ण तथा राम-चरित' आदि पढने को मिले। इस समय भागवत के बारे मे, उसके समग्र बिना पढे ही, ऐसा खयाल बन गया कि यह कृष्ण की अश्लीलता हद तक पहुचनेवाली लीलाओ से भरी पुस्तक है। इसलिए कभी पढने की रुचि नही हुई। किन्तु सन् ४२ की जेल-यात्रा मे सारी भागवत दो बार पढने का अवसर आ गया। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथ ने इसी ग्यारहवे स्कन्ध पर विस्तृत भाष्य 'ओवी' नामक छन्द मे लिखा है। वह बहुत सरस, सुबोध, विवरणात्मक एव हृदयग्राही है। उसका नाम ही 'एकनाथी भागवत' पड गया है। एकनाथ और तुकाराम के प्रति मेरी श्रद्धा-भक्ति बचपन से हो चली थी। जब कुछ घटनाओ व व्यक्तियो के कारण मेरे 'छुई मुई' हृदय को आघात पचहुचता और मै विकल हो उठता तो मेरे पू० स्व० चाचा मुझे एकनाथ और तुकाराम की शान्ति, सहन-शीलता एव क्षमा-वृत्ति का उदाहरण देकर शान्त किया करते। ये दोनो शान्ति के मानो अवतार ही थे। मेरे जीवन पर इनके आदर्श एव उदाहरण का गहरा असर पडा है और पड रहा है। एक रोज एकनाथ महाराज नदी से स्नान करके घर लौट रहे थे तो एक मुसलमान ने शरारत से उनपर थूक दिया। वे फिर शान्तिपूर्वक स्नान करने चले गए। लौटती बार फिर उसने थूका। इस तरह ग्यारह बार थूक चुकने पर भी वह बिना क्षुब्ध हुए स्नान करके लौटे। जब आखिरी बार शायद थककर उसने नही थूका तो एकनाथ ने स्नेहपूर्वक उससे पूछा, "भैया, अबकी बार तुमने मुझे गगा-स्नान का अवसर क्यो नही दिया ? मेरा कौन-सा कसूर हो गया ?" वह मुसलमान तो उनके चरणो पर गिर पडा, मेरे भी हृदय मे एकनाथ सदा के लिए बस गये।

तुकाराम की पत्नी बडी कर्कशा थी। उनके बनाये अभगो—पद्यो—को वह चिढकर चूल्हे मे जला दिया करती। तुकाराम बडी शान्ति से इन उपद्रवो को सहकर फिर अपने भजन-भाव मे लग जाते। एक बार उनकी भैस किसीकी बाड तोडकर खेत मे घुस गई। वह व्यक्ति तुकाराम से बहुत चिढता और जलता था। तुकाराम भैस खोजने उसकी तरफ पहुचे तो उसने बाड की काटेदार झाडिया उखाडकर उन्हे इतना पीटा कि लहूलुहान कर दिया। शाम को तुकाराम ने अपनी कथा मे उस व्यक्ति को गैर-हाजिर देखा तो दौडे उसके घर पहुचे और बोले कि

भाई अपराध तो मेरी भैस ने किया, तुमने भी उसको दण्ड दे लिया, अब कथा मे क्यो नही आते ? भगवान् से किस बात का वैर है ? मेरा और कौन-सा कसूर बाकी रह गया, जिसकी यह सजा दे रहे हो ?

जेल मे अवसर मिला तो एकनाथ-चरित और तुकाराम-चरित ही नही, एकनाथी भागवत एव तुकाराम-गाथा भी चाव और भक्तिभाव से पढी। भागवत पढकर यह प्रेरणा हुई कि हिन्दी मे ११वे स्कन्ध का एक विस्तृत अनुवाद तैयार किया जाय। उसके बाद ही डा० भगवानदासजी-लिखित 'पुरुषार्थ' नामक पुस्तक 'सस्ता साहित्य मडल' से मिली। उसमे उन्होने भागवत के पद्यानुवाद की प्रेरणा की है। मुझे याद पडता है कि अपने 'औदुम्बर' मे (१९१२-१३ मे) मैंने डाक्टर साहब के भागवतानुवाद (पद्य) का कुछ अश प्रकाशित किया था। इन सब प्रसगो से भागवत की ओर रुचि तथा श्रद्धा और बढ गई। आलोचक दृष्टि से भी कुछ स्थलो को छोड दे तो कहना होगा कि सारा ग्रथ एक अनुपम रत्न है, और एकादश स्कन्ध तो उसका मुकुटमणि या सार-सर्वस्व है।

यह ११वा स्कन्ध श्रीकृष्ण एव उनके भक्त उद्धव के सवाद के रूप मे लिखा गया है, जैसा कि भगवद्गीता श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्भाषण-रूप मे है। इसलिए इसे उद्धव-गीता कहते हैं।

भागवत के सम्बन्ध मे गाधीजी अपनी 'आत्मकथा' पृ० ४९[1] मे लिखते है—"आज मैं देखता हू कि भागवत ऐसा ग्रथ है कि जिसे पढकर धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने तो उसे गुजराती मे बडे रस के साथ पढा है। पर मेरे इक्कीस दिनो के उपवास मे जब भारतभूषण पण्डित मदनमोहन मालवीयजी के श्रीमुख से मूल सस्कृत के कितने ही अश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तब मुझे मालूम हुआ कि बचपन मे उन जैसे भगवद्भक्त के मुह से भागवत सुना होता तो उसपर भी मेरी गाढ प्रीति बचपन मे ही जम जाती।"

अपनेको भगवान् के समर्पण कर देने का मार्ग—भक्ति-मार्ग—श्रीकृष्ण ने गीता मे दिखलाया है। पौराणिको के अनुसार तो वह बहुत प्राचीन मार्ग है और नारद इसके प्रणेता या प्रवर्तक है। उनके भक्ति-सूत्र प्रसिद्ध है। किन्तु गीता और

[1] यह पृष्ठ 'मडल' से प्रकाशित सपूर्ण आत्मकथा का है।

भागवत के एकादश स्कन्ध दोनो के उपदेशक श्रीकृष्ण ही है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि मे महाभारत एव भागवत दोनो के रचयिता एक ही व्यास हो तो गीता मे जहा श्रीकृष्ण ने आत्म-समर्पण-योग का सकेत करके छोड दिया है, वहा भागवत मे उन्होने उसपर काफी ज़ोर दिया है और नाम-सकीर्तन-नामक आगे का सूत्र भी जोड दिया है। अतएव भागवत कोरा भक्ति-मार्गपरक नही, बल्कि उसमे भी नाम-जप या सकीर्तन की ओर विशेष ध्यान दिलाया है, क्योकि भागवतकार की राय मे भक्ति के अन्यान्य साधनो की अपेक्षा नाम-जप या सकीर्तन बहुत ही सरल साधन है। इसके तत्त्व के विवेचन और उपयोगिता पर भी भागवत-धर्म मे प्रकाश डाला गया है।

अद्वैत-सिद्धान्त के दो पहलू हैं—व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा व्यष्टिगत और समष्टिगत। व्यक्तिगत रूप मे वह व्यक्ति को सबसे ऊचा उठा देता है, सबसे बडा बना देता है, इसके आगे उसके आदर्श की कक्षा खतम हो जाती है। सामाजिक दृष्टि मे वह व्यक्ति को समाज रूप ही बना देता है। वह कहता है कि सब-कुछ आत्मा ही है और सबमे एक ही आत्मा है।

सब-कुछ आत्मा ही है—यह तो परम सत्य बताया। तब सवाल होता है कि जगत् मे तो भिन्न-भिन्न वस्तुए दीखती है यह सब-कुछ एक ही—आत्मा ही—कैसे है? तो कहते है कि सबके भीतर एक ही आत्मा पिरोई हुई है। व्यक्ति जब सोचने या मानने लगता है कि सब-कुछ मैं हू—आत्मा है—तो उसकी उडान की हद नही रहती—यह परमसत्य उसका अन्तिम आदर्श हो गया। अपने लिए यह सत्य ही उसका परम आलम्बन हुआ। अब वह ससार के नाना-रूप पदार्थों को देखता है और उसके अन्दर भी उसे अपने ही दर्शन होते है तो उनमे उसका साम्य-भाव दृढ हो जाता है। यह समभाव ही जगत् के प्रति उसके देखने की दृष्टि, वृत्ति या भावना हुई। इससे उसके और जगत् के वैषम्य या भेद मे सामजस्य और अभेद-सम्बन्ध हो जाता है। इस समभाव को इस्लाम मे बन्धु-भाव कहा गया है। ईसा के दया-भाव मे भी यही समता का भाव काम करता हुआ दिखाई देता है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीयवाद या विश्वबन्धुत्व भी इसीका दूसरा नाम है। साम्य-वादी जिस वर्गहीन समाज की कल्पना करते है, वह इस 'सम-भाव' का ही एक अग है। गाधीजी की अहिंसा भी इसीका दूसरा नाम है, या इसीकी प्रेरणा का फल

है। उनके रामराज्य की बुनियाद यही है। भले ही इनमे से कुछ लोग इस आध्यात्मिक तत्त्व या सत्य को स्वीकार न करते हो, परन्तु इसमे कोई शक नही कि इस अध्यात्म-दर्शन, समभाव या सर्वात्मभाव मे इन सबका समावेश बडे मजे मे हो जाता है, ये सब उसीके बच्चे मालूम होते हैं। व्यक्तियो, देशो, जातियो, समूहो एव समाजो मे परस्पर समता-भाव रहे, समता की नीव पर ही इनके पारस्परिक सम्बन्धो की निश्चिति और स्थिरता रहे, इस भावना, नीति या सिद्धान्त की उपपत्ति 'सर्वात्मभाव' से जितनी अच्छी तरह युक्तिसगत एव बुद्धिगम्य रूप से हो सकती है, या सगत लग सकती है, उतनी किसी दूसरी नीति या सिद्धान्त से नही। इसका भी विवेचन इस पुस्तक मे स्थान-स्थान पर मिलेगा।

यह मान लेने पर भी कि समभाव या आत्मभाव हमारे पारस्परिक सम्बन्ध को तय करने, व समाज-व्यवस्था को कायम करने के लिए उचित व अच्छा सिद्धान्त है, यह प्रश्न बाकी ही रहता है कि उस व्यवस्था का ढाचा कैसा हो? सारी दुनिया के लिए एक ही ढाचा हो या अलग-अलग? अलग-अलग हो तो उसका आधार क्या रहे? सस्कृति, आर्थिक परिस्थिति, भौगोलिक स्थिति या धर्म-सस्था? इसका जवाव भी इस पुस्तक मे यथा-प्रसग पाठको को मिलेगा।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, भागवत मे ज्ञान, इतिहास, काव्य और कल्पना सवका मिश्रण है। सर्वजनसुलभ और लोकोपयोगी बनाने की दृष्टि से ही भागवतकार ने अन्य पुराणो के जैसा रूप इसे दिया है। अब आधुनिक जन-समाज को यदि इससे पूरा लाभ पहुचाना हो तो उसके ज्ञान की नये सिरे से छान-बीन करनी होगी, इतिहास को कल्पना से अलग छाटना होगा, और काव्य को उसके स्थान पर विठाना होगा। और इन सब चीजो को आधुनिक जगत् के चौखटे मे बिठाना होगा, और वैसी ही भाषा बोलनी होगी जैसी कि आजकल की दुनिया समझ सके। चूकि मेरा विषय इस समय सारी भागवत नही है, सिर्फ ११वा स्कन्ध है, मेरी खोज या छानवीन इस सीमा से आगे नही जायगी। फिर मैंने यह अनुवाद इतिहास या काव्य-साहित्य की दृष्टि से नही वल्कि व्यक्ति एव समाज की उन्नति—श्री किशोरलालभाई की भाषा मे धारण, पोषण और सत्व-सशुद्धि—की दृष्टि से किया है, अत तत्पोषक विवेचन ही इसमे अधिक दिखाई देगा।

मुझसे यदि पूछा जाय कि मनुष्य-जीवन की कृतार्थता किसमे है, तो मैं कहूगा कि अद्वैत-सिद्धि मे है। और पूछा जाय कि उसका श्रेष्ठ उपाय क्या है तो मैं निस-कोच कहूगा कि भक्ति-भाव से अपनी उद्देश्य-सिद्धि मे लगना और तदनुकूल कार्य करना। कार्य या कर्म तो मनुष्य सदा करता ही रहता है और रहेगा भी। मुख्य प्रश्न यही है कि वह किम भाव से और किमलिए कर्म करे। यदि कर्म अच्छा भी हो, पर भाव या उद्देश्य बुरा हो तो अमृतमय कर्म भी विप-रूप हो जायगा, किन्तु यदि उद्देश्य अच्छा और भावना पवित्र—वृत्ति शुद्ध हो और दैववशात् बुरा भी कर्म हो गया तो वह अवश्य बहुत जल्दी शुभ मे परिवर्तित हो सकेगा और हो जायगा। **'नहि कल्याणकृत कश्चिद् दुर्गति तात गच्छति'** उसका दुष्परिणाम थोडा होगा और उसे हँसते हुए सहने का बल कर्त्ता को मिल जायगा।

यो तो कार्य-सिद्धि के लिए उद्देश्य की पवित्रता, उच्चता, भावना की निर्मलता और प्रबलता तथा कर्म की निर्दोपता एव कुशलता तीनो की त्रिपुटी अपेक्षित है, परन्तु पहली दो बाते यदि सिद्ध हो तो तीसरी को अपने-आप उनके अनुरूप बनना ही पडता है। अत यदि इसमे ज्ञान एव भक्ति का ही अधिक विवेचन मिले तो उससे असतुष्ट होने की जरूरत नही है। भागवत मे तो ज्ञान से भी भक्ति की महिमा और विस्तार अधिक बताया है। भागवत-माहात्म्य मे भक्ति की श्रेष्ठता—ज्ञान और वैराग्य से, यहातक कि मुक्ति मे भी—बडे सुन्दर एव रोचक रूपक के द्वारा दिखाई गई है।

१९४२ की जेल-यात्रा मे इसके २३ अध्याय लिखे गए। उनमे से १८ अध्यायो का यह पूर्वार्द्ध प्रकाशित हो रहा है। यदि यह पाठको को उपयोगी मालूम हुआ तो उत्तरार्द्ध भी छापने का प्रबन्ध किया जायगा। यद्यपि इसका मूल आशय प्रस्तुत करने की तो जिम्मेदारी मेरी ही है—जैसा मैंने समझा वैसा पाठको के सामने पेश किया है, परन्तु इसको पल्लवित करने और सजाने के लिए मुझे कई ग्रन्थ पढने पडे है। पिछले जेल-जीवन मे जो कुछ पढ पाया, उसका पूरा-पूरा लाभ मैंने इसकी रचना मे उठाया है। अब तो उन सब ग्रन्थो और उनके रचयिताओ के पूरे नाम-धाम भी याद नही रहे। उन सबके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हू।

—**हरिभाऊ उपाध्याय**

गाधी-आश्रम, हटूडी (अजमेर)
कार्तिक पूर्णिमा, २००७ वि०

# विषय-सूची

ॐ

# मंगलाचरण

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्र मूर्तये।
स्वानुभूत्यैकसाराय नमः शान्ताय ब्रह्मणे॥

देश[1] और काल[2] से अमर्यादित, अनन्त, चिन्मात्र[3] जिसका स्वरूप है, जो अपने अनुभव के सार-रूप मे प्राप्त होता है, उस शान्त ब्रह्म[4] को नमस्कार है।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा. बुद्ध इति प्रमाण-पटव कर्त्तेति नैयायिकाः॥
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

शैव[5] लोग जिसको 'शिव' के नाम से, वेदान्ती 'ब्रह्म' के नाम से, बौद्ध लोग

---

[1] देश—चिद् अणु का भास जिसमे हो, वह देश है या सारा ब्रह्माण्ड जिसमे व्याप्त है, उसे देश कहते है। स्थूल रूप से उसे आकाश कह सकते हैं।

[2] काल—जिस समय मे चिद् अणु का भास हो, वह काल है। देश मे जब एक स्थान से पदार्थ दूसरे स्थान मे गति करते है तो उसमे जितनी देर लगती है, उसे काल कहते है। आयु की सीमा को भी काल कहते है। ईश्वर की सहारक शक्ति भी काल कहलाती है।

[3] चिन्मात्र—चित् का अर्थ क्रिया व ज्ञान है। चिन्मात्र = जो क्रिया व ज्ञान-स्वरूप है।

[4] ब्रह्म—इसका अर्थ है फैलने या व्यापक होनेवाला। जो सबमे व्यापक है, वह ब्रह्म है। 'बृहत्वाद् बृहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते।' (विष्णुपुराण) 'बृहति बृहयति-इति तत्पर ब्रह्म।' (रहस्याम्नाय ब्राह्मण)

[5] शैव—शिव के उपासक शैव कहलाते है। इनका सिद्धान्त है कि अपर-ज्ञान-रूप वेद केवल मुक्ति का—ऐहिक सुख-भोग का—साधन है, परन्तु पर-ज्ञान-रूप शिव-शास्त्र मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

'बुद्ध' के नाम से, प्रमाण-पटु नैयायिक 'कर्त्ता' के नाम से, जैन-सम्प्रदाय के लोग 'अर्हत्'[1] के नाम से तथा मीमासक 'कर्म' के नाम से उपासना करते है, वह तीनो लोको का नाथ हरि हमे इच्छित फल दे।

नमोस्त्वनताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षशिरोरुबाहवे।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटीयुगधारिणे नम ।।

जो अनन्त है, जिसकी (जड-चेतन नाम-रूपात्मक) हजारो मूर्तिया हैं, जिसके हजारो पाव, आखें, सिर, हाथ और नाक हैं, जो करोडो युगो को धारण करनेवाला है, उस शाश्वत पुरुष[2] को मेरा नमस्कार है।

नमो ब्रह्मण्य देवाय गोब्राह्मण[3] हिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नम ।।

●

---

[1] अर्हत्—जैन-धर्म मे सर्वज्ञ, राग-द्वेष के विजयी, त्रैलोक्य-पूजित, यथास्थितार्थवादी तथा सामर्थ्यवान् सिद्ध पुरुषो को 'अर्हत्' कहते हैं।

[2] पुरुष—परमात्मा, विराट् रूप ईश्वर।

[3] गो-ब्राह्मण—'गो' का साधारण अर्थ गाय है, परन्तु यहा सारे घरेलू पशुओ—ऐसा व्यापक अर्थ लेना चाहिए।
'ब्राह्मण' मे समस्त सज्जनो व सत्पुरुषो का समावेश हो जाता है।

# भावगत-धर्म

## : १ :

## श्रीकृष्ण--अन्तिम कसौटी पर

[महापुरुष ससार मे बुराइयो को मिटाने व भलाई को फैलाने के लिए आते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे जरूरत होने पर खद अपने आत्मीयो का भी त्याग करने मे नही हिचकिचाते। अपने उद्देश्य के प्रति एकाग्रता व अपने-पराये के भेद से परे रहने की उनकी वृत्ति की यही कसौटी है। श्रीरामचन्द्र का सीता-परित्याग प्रसिद्ध ही है। श्रीकृष्ण भी इस कसौटी पर अपनेको खरा उतारते है।]

**श्री शुकदेवजी परीक्षित से बोले—"हे राजन्! बलरामजी के सहित तथा यादवो से घिरे हुए श्रीकृष्णचन्द्र ने दैत्यो को मारकर और (कौरव-पाण्डवो में) घोर युद्ध (महाभारत) कराकर पृथ्वी का भार उतार दिया था ॥१॥"**

यह प्रसिद्ध है कि अधर्म के उच्छेद व धर्म की स्थापना तथा सज्जनो की रक्षा व दुर्जनो को दण्ड देने के लिए श्रीकृष्ण का अवतार हुआ था। उन्होने खुद बलरामजी मे कहा था—"एतर्थं हि नो जन्म साधूनामीश शर्मकृत्" (भा० स्क० १० अ० ५ श्लो० १४[1]) भागवत, गीता, आदि ग्रन्थो मे इसके प्रमाण भरे पडे है। धार्मिक

---

[1] "ये व्रजवासी मेरे शरणागत है। ये मुझे ही अपना एकमात्र आश्रय व रक्षक समझते हैं। अत मैं अपने योग-सामर्थ्य से उनकी रक्षा करूगा। यही मेरा व्रत है।"

इन्द्र—"धर्म की रक्षा और दुष्टो का दमन करने के लिए आप दण्ड धारण करते है।"

"जो असुर केवल अपना ही भरण-पोषण करनेवाले और पृथ्वी पर महान्

पुरुष यह मानते है कि सर्वशक्तिमान् भगवान् समय-समय पर पृथ्वी का भार उतारने के लिए जन्म लेते हैं। वे अपने सच्चिदानन्द-रूप परम ऐश्वर्य से उतरकर मनुज या दूसरे जीव रूप मे आते है। इसलिए उसे अवतार कहते है। जो बुद्धि-वादी हैं या आध्यात्मिक तत्त्वो पर विश्वास नही करते, वे ऐसे विभूतिमान् पुरुषो को 'महापुरुष' के नाम से सम्बोधन करते हैं। उनका मत है कि ऐसे पुरुषो को बाद के लोग, खासकर वे जो शास्त्रो व पुराणो मे विश्वास करते है, या जो भावुक है 'अवतार' मानने लगते हैं। यदि यह बात सच है कि ईश्वर घट-घट मे व्याप्त है—घट-घट मे वह राम रमैया—तो ससार का प्रत्येक पदार्थ, जिसका कोई-न-कोई नाम या रूप (आकार, शकल) है, उस ईश्वर का ही अश या रूप है, यह माने बिना गति नही है। तो फिर सभीको, भूत-मात्र को, प्रत्येक जड-चेतन पदार्थ को अवतार क्यो नही कहते? इस अर्थ मे सब अवतार ही है, परन्तु जिसमे भगवान् के छ गुण—ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, कीर्ति, शक्ति और तेज सब या कुछ विशेष रूप से प्रकट होते हैं, उसीको आमतौर पर अवतार कहते हैं।

इस परम्परा के अनुसार श्रीकृष्ण ने अनेक दैत्यो[1] को मारा, कौरव-पाण्डव

---

भार की उत्पत्ति के कारण है, उनका नाश करने के लिए तथा अपने चरण-चिह्नो का अनुवर्तन करनेवाले भक्त जनो की रक्षा के लिए ही आपका यह अवतार हुआ है।"

सुरभि—"हम सब ब्रह्माजी की प्रेरणा से आपको अपना इन्द्र मानकर अभिषेक करेंगी। हे विश्वात्मन्, आपने पृथ्वी का भार उतारने के लिए ही भूमण्डल मे अवतार लिया है।"

"वास्तव मे तो भगवान् अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणो के अधिष्ठान हैं, मनुष्यो के कल्याण के लिए ही उनका सगुण रूप से अवतार होता है।"

परीक्षित—"भगवन्, जगत्पति भगवान् कृष्ण ने धर्म की स्थापना और अधर्म के उच्छेद के लिए ही अपने पूर्ण अश से अवतार लिया था।"

—भागवत।

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-सस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे॥ (गीता)

[1] दित के पुत्र, आसुरी सम्पत्ति से युक्त, अत्याचारी व दुराचारी लोग।

दोनो भाई-बन्धुश्रो मे महाभारत का युद्ध कराया, जिसमे अत्याचारी कौरवो की हार हुई। अब वे अपने शेष कर्तव्य का विचार करने लगे।

**"इसके लिए श्रीकृष्ण ने पाण्डवो को निमित्त बनाया था, जो कि कपट-द्यूत, अपमान और द्रौपदी के केश खीचने आदि के कारण अपने शत्रुओ (कौरवो) द्वारा अत्यन्त कुपित कर दिये गए थे। उनकी सहायता से दोनो ओर से युद्ध में आये हुए राजाओं को मारकर भगवान् ने पृथ्वी का भार हर लिया।" ॥२॥**

श्रीकृष्ण को पृथ्वी का भार हरना मजूर था। लेकिन भगवान् हो या महापुरुष, सदा दूसरो को निमित्त बनाकर उनकी सहायता से, उनके द्वारा अपना कार्य किया या कराया करते है। भगवान् समाज की जो कुछ भलाई या सुधार करना चाहते है, वह मनुष्यो के द्वारा ही होता है। वृष्टि की तरह या सूर्य के तेज की तरह वह आसमान से नही बरस पडता। उसकी इन प्राकृतिक शक्तियो से हमे नाना प्रकार के बल, प्रेरणा अवश्य मिलती हैं, परन्तु प्रत्यक्ष कार्य तो मनुष्य या जीव अर्थात् चेतन व्यक्ति के द्वारा ही होता है। श्रीकृष्ण को अपने जीवन-कार्य की सिद्धि के लिए पाण्डव अच्छे साधन मिल गये। महाभारत के द्वारा न केवल अत्याचारियो का विनाश हुआ, बल्कि कृष्णार्जुन-सवाद के रूप मे भगवद्गीता जैसा अनमोल ग्रन्थ-रत्न भी ससार को प्राप्त हुआ।

जब हम कोई काम करना चाहते है तो पहले उसका सकल्प मन मे उठता है, फिर बुद्धि उसकी अनुचितता-उचितता का निर्णय करके कार्य-योजना सुझाती है व अनुकूल साधन जुटाने तथा प्रतिकूलताओ को मिटाने की प्रेरणा करती है। जो कार्य-सिद्धि के लिए उत्सुक रहता है, वह सदैव एकाग्रता व एकनिष्ठा से उसीकी धुन मे लगा रहता है। दिन-रात उसीके सोच-विचार, उधेड-बुन, जोड-तोड मे लगा रहता है। उसके सकल्प की प्रबलता वायुमण्डल मे तदनुकूल तरगे पैदा करती है व वे न जाने कहा-कहा, किस-किसपर, अपना असर डालती हैं। तदनुकूल प्रेरणाए व वृत्तिया मनुष्य के मन मे पैदा करती है और वे व्यक्ति उसी प्रकार काम करने मे जुट जाते हैं। ये ही हमारे सहायक, साधन या माध्यम सिद्ध होते हैं। हमारा सकल्प जिन्हे जान व अनजान मे प्रिय होता है, वे अनुकूलता उत्पन्न करने मे लग जाते है, जिन्हे अप्रिय व नापसन्द है, वे प्रतिकूलता वढाने मे व विरोध-प्रतिकार मे जुट पड़ते हैं। यह प्रियता और अप्रियता सर्वदा निरपेक्ष, शुद्ध भावमय, नही होती। अक्सर मनुष्य का स्वार्थ उसमे मिला रहता है। हमारे

सकल्प या योजना से जिसके स्वार्थ पर चोट पडती है, वह विरोधी होता है, जिनका स्वार्थ सधता है, इष्ट-सिद्धि होती है, वे साथी हो जाते है। जैसे हमारे मन मे अच्छे व बुरे मकल्पो का युद्ध सदैव होता रहता है वैसे ही भौतिक ससार मे भी अच्छी व बुरी शक्तियो, राम व रावण, ईश्वर व शैतान, दैवी व आसुरी सम्पत्तियो का युद्ध होता रहता है।

यहा श्रीकृष्ण को जो पाण्डव सहायक मिले, वे सौ कौरवो के त्रास से कुपित थे। ये धार्मिक, न्यायप्रिय, पापभीरु व सदाचारी थे। इसके विपरीत कौरव धर्माज्ञाओ के विपरीत चलनेवाले, अन्यायी, पाप-प्रिय व अभिमानी थे। वे कपट-जुए से महाराज युधिष्ठिर को हराके द्रौपदी का अपमान भरी सभा मे कर चुके थे। यद्यपि उस समय भले लोग, भिन्न-भिन्न कारणो से, चुप हो रहे, कमजोर व असहाय वनकर उस सती का अपमान चुपचाप देखते रहे, परन्तु सबके दिल पर चोट जबरदस्त लगी। पाण्डव तो इसका प्रतिकार करने की सोच ही रहे थे। द्रौपदी के हृदय मे दिन-रात उस अपमान की ज्वाला धधकती रहती थी। वह उसका बदला लेने के किसी भी प्रसग को चूकना नही चाहती थी। अत. श्रीकृष्ण ने इनको अपनी कार्य-सिद्धि का सुपात्र समझा व उनकी सहायता से अनेक दुष्ट पुरुषो को खतम कराके समाज मे दुर्वृत्तियो के प्रति तिरस्कार व सद्वृत्तियो के प्रति प्रेम व आदर बढाया। साथ ही ससार को यह शिक्षा भी दी कि यदि हमारा उद्देश्य शुभ है, पवित्र है, तो वडी-से-वडी जोखिम उठाने मे भी न हिचकिचाना चाहिए और यदि अत्याचारी हमारे वन्धु-बान्धव भी हो तो भी उनको परास्त करना ही उचित है।

**"अपनी भुजाओ से सुरक्षित यादवो द्वारा पृथ्वी की भारभूत अन्य राजाओ की सेना का सहार कर अप्रमेय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने विचारा कि यद्यपि (दूसरों की दृष्टि में) पृथ्वी का भार उतर गया है, तो भी मैं उसे नहीं उतारने के समान ही समझता हू, क्योकि अभी मेरा असह्य यादव-कुल तो बना ही हुआ है।"** ॥३॥

महाभारत के पहले, व महाभारत के सिलसिले मे अनेक दुष्टो व उनकी सेनाओ को मिटाकर भी श्रीकृष्ण को सन्तोष न हुआ। उनकी दृष्टि मे अभी पृथ्वी का सम्पूर्ण भार नही हटा था। अभी खुद उनका ही यदुकुल वाकी था, जिसमे बडे-वडे मदान्ध, असयमी, दुर्व्यसनी लोग भर गये थे। कपूर आग को सुलगाने मे निमित्त होता है, परन्तु वह आग फिर सारे कपूर को ही खा जाती है। इसी तरह

जिस यदुवश के सहारे उन्होने पृथ्वी से दुष्टो का निकन्दन किया था, वही यादव अब दुनिया को तबाह करने मे प्रवृत्त हो रहे थे।

जिसका हृदय शुद्ध होता है, उसे अपने मे तथा अपने बाहर थोडी भी गदगी असह्य हो जाती है। जो वलवान या विद्वान् है, उसे निर्बलता या मूर्खता बरदाश्त नही होती। जो पुण्यात्मा होता है, उसे ससार का पाप असह्य हो जाता है, व तब-तक उसे शान्ति नही मिलती, चैन नही पडती, जबतक कि वह जड-मूल से न उखाड दिया जाय। श्रीकृष्ण ने और तो तमाम दुष्टो को दण्ड दे डाला, परन्तु खुद उनके घर मे ही जब दुष्टता छिपी व घुसी हुई पाई तो उन्होने उसे भी मिटाने का सकल्प कर लिया। जिसे बाहरी बुराई बरदाश्त न हुई, वह घर की बुराई को कैसे सह सकता है, भले ही उसे मिटाने मे अपने सारे वश-परिवार का ही क्षय क्यो न हो जाय ? जो सह सकता है, समझ लो वह बुराई से घृणा नही करता। सत्पुरुष या महापुरुष के सामने तत्त्व, सिद्धान्त, धर्म, नीति, उद्देश्य, आदर्श का प्रश्न रहता है। इनकी सिद्धि या स्थापना के मार्ग मे मनुष्यो का—इष्ट-मित्र, सगे-सबधी, किसीका मोह वे वाधक नही होने देना चाहते। व्यक्ति व समाज की स्थिति, पुष्टि व उन्नति नियमो, आदर्शो, सिद्धान्तो पर ही हो व रह सकती है। व्यक्ति तो इन तत्त्वो—नियमो आदि को संचालित करने व इनसे सचालित होने के लिए है। व्यक्तियो के या समाज के प्रति कर्तव्य का भाव होना एक वस्तु है, व मोह होना दूसरी। कर्तव्य का आधार नियम व नीति पर है, जबकि मोह हमारे स्वार्थ व सुख की भावना से उत्पन्न होता है। कर्तव्य मे हमारे प्रिय व्यक्ति के शुभ, उन्नति का भाव निहित होता है, हमे उसके लिए कुछ त्याग करने, कष्ट उठाने की जरूरत है। मोह मे हमारी भावना उस व्यक्ति से या उसके साधनो से अपना स्वार्थ साधने की, अपने आनन्द-भोग की, अपनी प्रेय-सिद्धि की रहती है। पहले मे हम उसके उपयोगी पडते है, दूसरे मे हम उसका उपयोग अपने लिए करते है। अत श्रीकृष्ण ने इस मोह से ऊपर उठकर, अपने महान् व श्रेष्ठ जीवन-कार्य की सिद्धि के लिए, अपने तमाम प्रियजनो के नाश का उपाय सोचा।

**"नित्य मेरे आश्रित रहनेवाले और वैभव से उच्छृङ्खल हुए इस यदुकुल का दमन किसी दूसरे से किसी तरह भी नहीं हो सकता। इसलिए बांसो के वन में उत्पन्न अग्नि के समान इनमें पारस्परिक कलह उत्पन्न कर मै शान्तिपूर्वक अपने धाम को जाऊगा।" ॥४॥**

उन्होने मन मे कहा—ये यादव केवल उच्छृ खल, स्वेच्छाचारी ही नही हैं, बल्कि खुद मेरे कुल के व मेरे ही आश्रित भी हैं। जो वैभव मैंने इनकी उन्नति व सदुपयोग के लिए जुटाया था, उसीसे उल्टे ये मदान्ध हो गये हैं। इसकी जिम्मेवारी से मैं वच नही सकता। मेरे 'स्वजन' होने के कारण दूसरा कौन इनके दण्ड के लिए अग्रसर होने का हौसला करेगा ? और शायद कोई सफल भी न हो। तव यही उचित है कि मैं खुद ही इनके विध्वस का उपाय सोचू। भले ही लोग यह कहे कि जैसे वास अपने ही वश को जला डालता है, वैसे ही कृष्ण ने अपने ही वश का विनाश कर दिया। महाभारत मे कौरव-पाण्डवो को—भाई-बन्धुओ को—लडाकर ही इसे सन्तोप न हुआ। खुद अपने घर मे भी आग लगा दी। यह ऐसा ही बखेडिया—विध्वसक है। परन्तु मैं जानता हू कि मेरा उद्देश्य पवित्र है। दुनिया के लोग बाहरी आचार, वाहरी फल को देखकर राय वनाते है, आलोचना करते है, परन्तु जो मर्मज्ञ है, अन्तर्दृष्टि रखते हैं, लोगो को तथा उनके कार्यों व उद्देश्यो को पहचानने की वास्तविक शक्ति व योग्यता रखते है, उन्हे कदापि मेरे इस कार्य मे गलतफहमी नही हो सकती।[१] समाज को सुधारने के लिए, स्वस्थ वनाने के लिए, विगडे अगो को कठोर चित्त से काट ही डालना पडता है। सवके लाभ के लिए थोडे का वलिदान जरूरी हो जाता है। अत मैं ही अकेला इनके दमन मे सफल हो सकता हू। और खुद मुझीको यह जिम्मेवारी लेनी चाहिए। तभी मुझे शान्ति मिलेगी और तभी मै सुखपूर्वक निजधाम को जा सकूगा। क्योकि मरते समय मेरा यह काम यदि वाकी रह गया, यह सकल्प अधूरा रह गया तो मुझे शान्ति न मिलेगी। जीवन-कार्य पूरा न हो पाया तो यह कसक मन मे बनी रहेगी। मरते समय जिसके मन मे यह सन्तोप रहे कि मैंने अपने सव कर्त्तव्यो को पूरा कर लिया उसीको आखिरी शान्ति मिलती है।

**"हे राजन्, सत्य-सकल्प और सर्व-समर्थ परमेश्वर भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार निश्चय कर ब्राह्मणो के शाप के बहाने अपने कुल का सहार कर डाला।" ॥५॥**

महापुरुप सत्य-सकल्प हुआ करते है। वे जो सकल्प करते हैं, वह सत्य—सफल—हो जाता है या उन्हे उसके सफल होने का आत्म-विश्वास रहता है।

---

[१] "गुणी गुण वेत्ति न वेत्ति निर्गुणो, वली वल वेत्ति न वेत्ति निर्वल ।"

भक्त और आस्तिक इसे परमात्मा की देन—"सत्य-सकल्पाचा दाता भगवान्। सर्व मनोरथ करी पूर्ण" समझते है। बुद्धिवादी इसे इस तरह समझाते है—सत्य-सकल्प हमेशा दूसरो के, समाज या समष्टि के उपकारी होते है। अत उनकी तरगे सारे समाज मे अनुकूल प्रति-तरगे उपजाती है, जिससे अधिकाश समाज का वल उसे प्राप्त होता है। अनुकूलताए दिन-दिन वढती जाती हैं, प्रतिकूलताए घटती जाती है और अन्त मे परास्त हो जाती है। दोनो मे शब्दो का ही अन्तर है, भाव एक है। बुद्धिवादी के सकल्प जिस वायु-मण्डल मे तरगे उपजाते है, उसीका अध्यक्ष या अधिष्ठाता, भक्तो के शब्दो मे, ईश्वर है।

अतः श्रीकृष्ण को यह निश्चय था कि मै इस शुभ कार्य मे अवश्य सफल होऊगा, क्योकि इसकी क्षमता भी वह अपने मे मानते थे। जिन्होने महाभारत मे अगणित नर-सहार कराया, उन्हे थोडे-से यादवो का विनाश करने मे क्या दिक्कत हो सकती थी ? तब उन्होने उसका एक अप्रत्यक्ष उपाय सोचा। मुझे अपने दैवी वल को प्रेरित करने के लिए कोई निमित्त जरूर चाहिए। यदि सीधे राज-दण्ड-शक्ति से काम लेना चाहू तो सम्भव है, पिताजी व वलदादा का समर्थन न मिले। पिताजी इस वश-विनाश को नही देख सकेगे व वलभैया तो स्वय भी मद्य का व्यसन रखते है। ऐसी दशा मे कोई और ही तरकीब निकालनी चाहिए। अत उनके इस सकल्प से यादवो के मन मे एक कुचेष्टा करने की बुद्धि पैदा हुई। अथवा बुद्धिवादी की भाषा मे—यादवो के कुकर्मों ने ही उनके मन मे अपने विनाश के लिए दुर्बुद्धि की प्रेरणा की। उन्होने एक ब्राह्मण ऋषि को चकमा दिया, जिससे क्रुद्ध होकर उन्होने उन्हे शाप दे डाला।

जो ब्रह्म को जानता हो, (ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण) जिसे ब्रह्म का ज्ञान हो गया हो, जो ब्राह्मी स्थिति को पहुचने के योग्य हो, वह ब्राह्मण है। वडी साधना व तप से मनुष्य इस स्थिति को पहुचता है। साधना से उसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि उसके मुह से जो निकल जाता है, वह सच हो जाता है। पतजलि के योग-सूत्रो (विभूतिपाद) मे ऐसी सिद्धियो के उदाहरण व उपाय वताये गए है। मैस्मिरिज्म व हिप्नाटिज्म—मोहिनी विद्याओ मे—भी सकल्प-सिद्धि ही काम करती है। एक ही सकल्प का निरतर चिन्तन, जप करते रहने से उसमे एक महान् वल का सचार होता है। एक सतत तरग-प्रवाह वातावरण मे उठता रहता है, जिसके प्रत्युत्तर के रूप मे वैसी ही तरगे साधक के अन्त करण मे प्रविष्ट होकर

उसकी भावना को फलीभूत करती है।

जब किसी निर्मल चित्त, सरल हृदय व्यक्ति को कोई धोखा देता है, उसके साथ कपट-व्यवहार करता है तो उसे औरो की अपेक्षा ज्यादा आघात पहुचता है। जो खुद कपटी होते हैं, उन्हे दूसरो के कपट से सहसा इतनी चोट नही पहुचती। अत जब यादवो ने उन ऋषि को धोखा देने की चेष्टा की तो उनके शुद्ध चित्त मे सहसा उनके अशुभ की भावना प्रकट हो गई। या यो कहे कि उनका जो भावी अशुभ उन्हे अपनी भविष्यदर्शिनी या दिव्य-दृष्टि मे दिखाई दिया, उसकी घोषणा उन्होने कर दी। वास्तव मे मनुष्य फल तो अपनी ही करनी का पाता है, दूसरे तो उसमे निमित्त भर हो जाया करते हैं। इस तरह शाप दण्ड और प्रतिफल दोनो हो सकता है।

**"ससार के सौंदर्य को तिरस्कृत करनेवाली अपनी मूर्ति से लोगो के नेत्रो को तथा अपनी दिव्य वाणी (उपदेश) से उन वाणियो का स्मरण करनेवाले भक्त-जनो के चित्तों को अपने वश में करके और अपने चरण-चिह्नो से उनका दर्शन करनेवालो की अन्य क्रियाओ को रोककर (मुग्ध करके) तथा अपनी कविजन-कीर्तित कमनीय कीर्ति का लोक में इस विचार से विस्तार कर कि 'इसके द्वारा लोग अनायास अज्ञानान्धकार के पार हो जायगे' भगवान् अपने धाम को चले गए।" ॥६-७॥**

यदुवश के इस प्रकार विनाश के बाद श्रीकृष्ण स्वधाम को चले गए। उनका रूप ससार के समस्त सौदर्य को मात करता था। महापुरुषो के चेहरे पर एक दिव्य तेज छाया रहता है, जिससे वह सुन्दर व मनोमोहक हो जाता है। यह तेज उनके शौर्य का, पराक्रम का, दुर्दमनीयता का चिह्न है और सौदर्य उनके चित्त की प्रसन्नता, आत्म-सन्तोष, समाधान, स्नेह का। "श्रीकृष्णचन्द्र का सौन्दर्य तो पुराण-प्रसिद्ध है।" उनका रूप—सौन्दर्य ही लोगो को लुभाने के लिए काफी था, परन्तु इसके साथ ही उनकी वाणी भी दिव्य उपदेशो मे भरी हुई है, जिसका प्रमाण गीता तथा भागवत का यह स्कन्ध प्रत्यक्ष है। दोनो के द्वारा वे भक्तो के चित्त को वश मे कर लेते थे। इससे ससार मे उनकी कीर्ति अमर हो गई है और कवियो के कीर्तन का विषय बन गई है। उनकी कीर्ति-कथा, उनका सारा जीवन-चरित्र इस प्रकार का ज्ञान, उपदेश व स्फूर्तिमय है कि जिसे सुनकर व देखकर लोग अनायास अपने अज्ञान को हटा लेते है। जब श्रीकृष्ण को इस प्रकार अपनी समस्त चरित्र-

लीला से कृतार्थता अनुभव हुई तभी वह अपने धाम को चले गए। क्योंकि अब ससार मे उनका कोई कर्त्तव्य बाकी नही रहा था। ससार की दृष्टि मे उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई थी। अत बुद्धिमान् पुरुष उस वस्तु को छोड देते है, जिसकी उपयोगिता नष्ट हो चुकी हो। महापुरुष और तो ठीक अपने जीवन तक को निरुपयोगी समझ चुकने पर छोड देते है।

**राजा परीक्षित ने कहा—"भगवन्, जो यादव बडे ब्राह्मण-भक्त, उदार और नित्य गुरुजनो की सेवा करनेवाले थे तथा जिनका चित्त सदा कृष्ण में ही रत रहता था, उनको ब्राह्मणो का शाप कैसे हुआ ?" ॥८॥**

श्रीकृष्ण के इस अद्भुत कर्म को देखकर—विप्र-शाप की बात सुनकर—परीक्षित को बडा आश्चर्य हुआ। उसे लगा—जो इतने सत्पुरुष-जैसे थे, उन्हे कुमति कैसे उपजी ? सत्पुरुषो को उनके अच्छे सस्कारो व आचारो के कारण सन्मति ही सूझती है तो यह विपरीत कार्य यहा कैसे हुआ ?

**"हे द्विज श्रेष्ठ ! वह शाप जैसा था और जो उसका कारण था, कैसे उन एक-चित्त यादवो में फूट पड़ी, ये सब बातें मुझसे कहिये।" ॥९॥**

जब मनुष्य को आश्चर्य व जिज्ञासा होती है तो उसका निवारण या समाधान हुए विना उसे शात नही मिलती। अत परीक्षित ने उस घटना को व उसके कारणो को जानना चाहा।

**श्री शुकदेवजी बोले—"हे राजन्, ऐसा (अति सुन्दर) शरीर धारण कर, जिसमें सम्पूर्ण सामग्रियो का समावेश है, पूर्णकाम होने पर भी लोक में अनेकों मंगल कृत्य करते हुए तथा श्री द्वारकापुरी में रहकर लीला विहार करते हुए उदारकीर्ति भगवान् कृष्ण ने अपने कुल का नाश करने की इच्छा की, क्योंकि अब उनके लिए यही एक कार्य शेष रह गया था।" ॥१०॥**

श्रीकृष्ण पूर्णकाम थे। उनकी सब इच्छाए पूर्ण हो चुकी थी। उन्होने अनेक मगल कृत्य किये थे। उनके शरीर मे सकल सौन्दर्य-सामग्री एकत्र थी। महापुरुषो के जीवन मे शुभ के साथ सौन्दर्य मिला रहता है। इस सौन्दर्य से ही उनमे अद्भुत आकर्षण आ जाता है। यह केवल रूप-सौन्दर्य नही है, हृदय-सौन्दर्य भी है। हृदय उनका मधुर, सुकोमल भावनाओ से भरा रहता है। वही सौन्दर्य के रूप मे उनके मुख-मण्डल पर दमक जाता है। ऐसे श्रीकृष्ण ने अपने कुल-नाश का आयोजन किया, क्योकि इसमे उन्हे अपने कुल का व ससार का मगल मालूम होता था।

"ऐसे अनेको पुण्यप्रद मगलमय कर्म करके, जिनका गान जगत् के समस्त कलिमल को नष्ट करता है, जब भगवान् श्रीकृष्ण यदुराज वसुदेवजी के गृह मे (यदुकुल सहारक) काल रूप से निवास करने लगे उस समय (जो लोग भगवान् की इच्छा से उनकी लीलाओ में सहायक होकर आये थे वे) विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अगिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ठ और नारद आदि मुनिजन भगवान् से बिदा होकर (द्वारका से निकट ही) पिण्डारक क्षेत्र में जाकर रहने लगे।" ॥११-१२॥

इस समय श्रीकृष्ण ने मानो काल-रूप धारण कर लिया। उनकी विध्वसात्मक शक्ति अपने अन्तिम कार्य को करने के लिए तैयार हो गई थी। जब ऋषियो ने देखा कि अब द्वारका उजडनेवाली है तो वे पास ही एक क्षेत्र मे चले गए। जब यादव वहा नही रहेगे व श्रीकृष्ण भी इहलीला समाप्त कर देंगे तब वे ऋषि लोग उस 'कुग्राम' मे रहकर क्या करते ? वे तो श्रीकृष्ण के जीवन-कार्य मे सहायक होने के लिए आये थे। उसे पूरा होते हुए देख वे वहा से विदा हो गये।

"एक दिन वहा खेलते हुए यदुवश के कुछ उद्दण्ड राजकुमारो ने स्त्रियोचित वस्त्राभूपणो से जाम्बवती-नदन साम्ब का स्त्री-वेप बनाकर उन मुनीश्वरो के पास जा अति विनीत पुरुषो के समान उनके चरण छूकर पूछा, 'हे विप्रगण, यह श्यामलोचना सुन्दरी गर्भवती है, यह आपसे एक बात पूछना चाहती है, किन्तु स्वय पूछने में इसे लज्जा मालूम होती है (अत हमारे ही मुख से यह प्रश्न करा रही है।) हे अमोघ-दर्शन-मुनिगण, यह पुत्र-कामा वाला अब प्रसव करनेवाली है, आप बतलाइये, यह कौन-सी सतान उत्पन्न करेगी? (पुत्र या कन्या ?)' " ॥१३-१४-१५॥

"हे राजन्, उनके द्वारा इस प्रकार धोखे में डाले जाने पर मुनियो ने कुपित होकर कहा—रे मन्द-मति बालको, यह एक मूसल जनेगी, जिससे तुम्हारे कुल का नाश हो जायगा।" ॥१६॥

"यह सुनते ही वे वालक अत्यन्त डर गये और उन्होने तुरन्त ही साम्ब का पेट खोलकर देखा तो वास्तव में उसमें एक लोहे का मूसल मिला।" ॥१७॥

"तब वे चिन्ता से घबराये हुए यह कहकर कि हम मन्द भाग्यो ने यह क्या किया, लोग हमें क्या कहेंगे ? उस मूसल को लेकर घर को चले गए।" ॥१८॥

"तदनन्तर वे यादव-कुमार, जिनके मुख की काति अति मलीन हो गई थी, उस

मूसल को लेकर राज-सभा में आये और समस्त यादवो के समीप राजा उग्रसेन से वह सारा प्रसग कह सुनाया।"॥१९॥

"हे राजन् ब्राह्मणो का अमोघ शाप सुनकर और मूसल को देखकर समस्त द्वारकावासी विस्मित होकर भय से व्याकुल हो गये।" ॥२०॥

चूंकि ब्राह्मणो का शाप खाली नही जाता, अपने कुल के भावी विनाश के भय से यादव व्याकुल हो गये व उसके निवारण का उपाय खोजने लगे। श्रीकृष्ण का वह संकल्प ही मानो यह मूसल-रूप मे प्रकट हुआ।

"तब यदुराज उग्रसेन ने उस मूसल को चूरा कराके उसे और बाकी बचे हुए लोहे के टुकडे को समुद्र में फिकवा दिया।" ॥२१॥

अपने मन मे शायद वे निश्चित हो गये कि अब कुछ बिगड नही सकेगा, परन्तु प्रकृति के नियम या भगवान् की लीला अपना काम करती ही रहती है। उसने बडी अचिन्त्य व विचित्र रीति से यहा अपना काम किया।

"उस लोहे के टुकड़े को कोई मछली निगल गई तथा मूसल का चूरा तरगो से बहकर समुद्र-तट पर लग गया। उससे वहा एरका पौधे उपज आये। मछुओ ने समुद्र में जाल फैलाकर उस मछली को दूसरी मछलियो के साथ पकड़ लिया और उसके पेट में जो लोहे का टुकडा था, उसे उस (जरा नामक) व्याध ने अपनी बाण की नोक पर लगाया।" ॥२२-२३॥

"इन सब बातो को जाननेवाले भगवान् ने, उस विप्र-शाप को बदलने में समर्थ होकर भी, उसे अन्यथा न करना चाहा, प्रत्युत् उन काल-रूप प्रभु ने उसका अनुमोदन ही किया।" ॥२४॥

खुद श्रीकृष्ण का ही यह सकल्प था कि यदुवश का विनाश हो, अत जब उन्होने यह मूसलवाली शाप की घटना सुनी तो उन्होने उसका अनुमोदन ही किया। उनमे विप्र-शाप को व्यर्थ कर देने का सामर्थ्य तो था, परन्तु विप्र-शाप ने तो वही काम किया था, जो उन्होने चाहा। क्योकि उस समय उन्होने काल-रूप धारण कर रखा था।

: २ :

# भागवत-धर्म का मर्म

[इस अध्याय मे वसुदेवजी ने नारदजी से भागवत-धर्म जानना चाहा। नारदजी ने जनक व नौ ऋषियो के सवाद के रूप मे उसका प्रवचन किया। 'कवि' ने बारह और 'हरि' ने ग्यारह श्लोको मे क्रमश भागवत-धर्म और भक्त का लक्षण बताया है। 'सब कर्मों को परमात्मा नारायण के अर्पण करना' अर्थात् भक्ति भागवत-धर्म का मर्म है। 'नाम-सकीर्तन' उसका सरल साधन तथा भगवत्प्रेम, विषयो मे वैराग्य और भगवत्स्वरूप बोध उसका फल है। 'हरि' ने 'जो सबमे अपनेको व अपने मे सबको देखे' उसे श्रेष्ठ भक्त बताया है। जो 'योग्यता' देखकर व्यवहार करता है, उसे मध्यम व जो केवल अर्चा-विग्रह (प्रतिमा आदि) की पूजा करता है, स्थूल व बाहरी आचार व व्यवहार को महत्व देता है वह साधारण है।]

**श्री शुकदेवजी बोले—"हे कुरुकुल-नन्दन, भगवान् की भुजाओ से सुरक्षित द्वारिकापुरी में देवर्षि नारद श्रीकृष्णोपासना की लालसा से प्राय सदा ही रहा करते थे। हे राजन्, सब ओर मृत्यु से घिरा हुआ ऐसा कौन इन्द्रियवान् प्राणी होगा, जो भगवान् मुकुन्द के सुरवर-ससेव्य चरण-कमलों को न भजेगा ?"॥१-२॥**

**"एक दिन नारदजी वसुदेव के घर पधारे। वसुदेव ने उनकी पूजा की व सुखपूर्वक आसन पर बैठाया। फिर देवर्षि को प्रणाम कर वे इस प्रकार कहने लगे—" ॥३॥**

इधर तो वह शाप-घटना हुई, उधर एक दिन नारदजी वसुदेवजी के घर आये। नारद श्रीकृष्ण के ऐसे भक्त थे कि छाया की तरह सदैव उनके निकट मौजूद रहते थे। जो जिसका प्रेमी या भक्त होता है, वह सदैव उसे अपने नजदीक ही दीखता है।

पुराणो मे नारदजी ब्रह्मा के मानसपुत्र माने गए है। उनका चरित्र विलक्षण चित्रित किया गया है। वह इधर-उधर बहकाकर लडानेवाले बताये गए है। मुझे नारद भगवान् की ऐसी शक्ति मालूम होती है, जो भगवान् का अभीष्ट सिद्ध करने के लिए सदा तैयार रहती है। यदि जमाने से काम बनता हो तो बात जमाते हैं, नही तो बिगाडकर भी भगवान् का कार्य साधते है। 'मानस-पुत्र' होने से वह मन की तरह एक जगह नही ठहरते। वह परम-भक्त, विद्वान् व गायक थे। 'नारद पाचरात्र', 'नारद भक्तिसूत्र', 'नारद स्मृति', 'नारदीय पुराण' इनके बनाये मुख्य ग्रथो मे है।

श्री शुकदेवजी कहते है कि कौन ऐसा प्राणी होगा, जो भगवान् को भजना न चाहेगा ? प्रत्येक प्राणी दु ख को मिटाना व सुख को पाना चाहता है। वह अपने को बुढापा, रोग व मृत्यु का शिकार हुआ देखता है। वह सोचता है कि मैं इनसे कैसे छूटू और चिरस्थायी सुख को प्राप्त करू। बहुतो का, खासकर साधु-सन्तो व भक्तो का अनुभव है कि भगवान् की शरण जाने से, सब बाहरी साधनो के अव-लम्बन को गौण मानकर अपने हृदय मे बसे परमात्मा पर विश्वास रखकर काम करने से उस सुख की उपलब्धि हो सकती है। जब यह इलाज मनुष्य के लिए सुगम है तो फिर मनुष्य क्यो न उसका आश्रय लेगा ?

**वसुदेवजी बोले—"हे भगवन्, आपका आगमन समस्त पुरुषो के कल्याण के लिए ही हुआ करता है। जैसे कि पुत्रो के लिए माता-पिता का व दीन-दुखियो के लिए महात्माओ का आगमन होता है।" ।।४।।**

सत्पुरुषो के जीवन का उद्देश्य ससार के कल्याण के अलावा दूसरा नही होता। सभी जाति, धर्म व देश के लोग इस सत्य को स्वीकार करते हैं। माता-पिता जो पुत्रो पर स्नेह रखते है, उसमे तो उनके भावी सुख की आशा छिपी रह सकती है, परन्तु सत्पुरुष तो सदैव दीन-दुखियो की भलाई मे ही रत रहते है। उन्हे उनसे बदला पाने की और अपने सुख-स्वार्थ मे सहायक होने की आशा-अपेक्षा नही रहती। वास्तव मे तो जबतक हमारे मन मे अपने स्वार्थ की या सुख की भावना है तबतक हमारी गिनती सत्पुरुषो मे नही हो सकती। जब हम प्राणि-मात्र के स्वार्थ व सुख को अपना ही स्वार्थ-सुख समझने लगेंगे तभी हम उस पद के अधि-कारी हो सकेंगे। नारदजी ऐसे ही सत्पुरुषो मे शिरोमणि थे।

**"देवताओ के चरित्र तो प्राणियों के सुख-दुःख दोनो के कारण होते हैं, परन्तु**

आप जैसे भगवत्प्राण साधु-पुरुषो के आचरण उनके सुख ही के लिए होते हैं।" ॥५॥

सत्पुरुष देवताओ से भी बढकर होते है। देवताओ मे तो राग-द्वेष पाया जाता है। असुरो के साथ उनकी लडाइया व छल-कपट प्रसिद्ध ही है। उनके कामो मे उनका अपना स्वार्थ मिला रहता है। जिनसे उनका स्वार्थ या हित टकराता है, उन्हे वे सम-दृष्टि से नही देखते। इसीसे उनके कार्य ससार के लिए अकेले सुख-दायी नही होते। परन्तु साधु पुरुष, सज्जन तो भगवान् अर्थात् सारी जड-चेतन समष्टि को ही अपना प्राण समझते हैं। अत न तो उनका आचरण दु ख देने के उद्देश्य से ही होता है, न उसका फल ही प्राय ऐसा निकलता है। सज्जनो के आच-रण से कभी-कभी कुछ लोगो को दु ख पहुचता हुआ या हानि होती हुई देखी जाती है। परन्तु इसकी जिम्मेवारी उनपर नही होती। हमारे हेतु पर जितना हमारा अधिकार है, उतना फल-सिद्धि पर नही। फल-सिद्धि पाच बातो पर अवलम्बित रहती है—स्थान, कर्त्ता, साधन, क्रियाए और अन्त मे दैव। अर्थात् किस स्थान या देश मे कर्म हुआ है, कर्म करनेवाले व्यक्ति यानी कर्त्ता की अधिकारपात्रता कितनी है, उसने कौन-से साधनो से काम लिया है, किस-किस प्रकार की क्रियाए या उद्योग उसने किया है, इनके अलावा दैव अर्थात् अपने पिछले अज्ञात कर्म व तत्सम्बन्धी दूसरो के अच्छे-बुरे सकल्प व कर्म, जिनतक हमारी बुद्धि व जान-कारी की पहुच नही हो सकती, उनके प्रभावो का समूह। फिर भी जो सत्पुरुष होते हैं, वे अपने निर्मल हेतु के कारण उपयुक्त कर्त्ता माने जाते है। देशकाल का विचार विवेक मे शामिल है और सत्पुरुष विवेकवान ही हुआ करते हैं। वे सदा शुद्ध साधनो का ही अवलम्बन करते हैं, गन्दे, भ्रष्ट, पापयुक्त साधनो की वे सदा निन्दा करते हैं। क्रियाए भी उनकी शुद्ध सात्विक होती हैं, अर्थात् इस बात को ध्यान मे रखकर कि उनके द्वारा दु ख किसीको न पहुचे व सुख सभीको मिले, की जाती हैं। अत उसकी विधि निर्दोष होती है। और यही सब कारण हैं, जिनसे सत्पुरुष को आचरण या कर्म मे अधिकतर सिद्धि मिलती हुई देखी जाती है।

पश्चिमी विद्वानो की राय है कि प्राकृतिक शक्तियो जैसे सूर्य, वायु आदि को वैदिक साहित्य मे देवता कहा गया है। पर वास्तव मे एक परमेश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियो को देवता माना गया है। यास्क की सम्मति मे देवतागण एक ही मुख्य देव की मुख्य-मुख्य शक्तियो के प्रतीक है।

"महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एक स्यात् मनोऽन्ये देवाः प्रसङ्गानि भवन्ति ।।"

(निरुक्त ७।४, ८-९)

देवता का अर्थ है प्राण-शक्ति-सम्पन्न । इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि देवता है। वे बल-रूप है। अविनश्वर शक्ति-मात्र है। सकल देवताओ के भीतर सकल कार्यो के अन्तर मे ऋत् अर्थात् कारण-सत्ता रहती है। विश्व मे सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व 'ऋत्' है। ऋत् सत्यभूत ब्रह्म है, या यो कहिये कि व्यापक तत्त्व 'ऋत्' है और केन्द्रित तत्त्व सत्य है। इन सूक्ष्म-रूप देवताओ के स्थूल रूप की भी कल्पना हमारे यहा की गई है।

ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, अग्नि, सोम आदि वैदिक देवता है। सृष्टि की उत्पत्ति के समय जो नाम-रूपात्मक ज्योति प्रकट हुई, उसे इन्द्र कहते है। यह सृष्टि-रूपी यज्ञ का एक भाग हुआ। दूसरा भाग है यज्ञ मे अन्न को आकर्षित करनेवाला सूत्र। उसे विष्णु कहते है। तीसरा भाग है अन्न, जिसे सोम कहा है। अब तत्त्व की दृष्टि से विचार करे तो स्थिति-तत्त्व ब्रह्मा है। गति-समुच्चय को स्थिति कहते है। जब वस्तु चारो ओर गति करती है तो वह स्थिर हो जाती है। गति-तत्त्व इन्द्र है। यही जब किसी वस्तु को आकर्षित करता है तो इसे 'विष्णु' कहते है। अर्थात् 'आगति' भाव मे वह विष्णु है। अव स्थिति-तत्त्व के गर्भ मे जो गति (इन्द्र) है, वह अग्नि है। इसी तरह स्थिति-गर्भित आगति (विष्णु) सोम है। सृष्टि के मूल मे एक अक्षर-तत्त्व है। अक्षर उसे कहते है, जिसका नाश न हो, जिसमे कमी या टूट-फूट न हो। यह अक्षर-तत्त्व गत्यात्मक है। निरन्तर गति करता रहता है। यही पाच भावो मे परिणत होकर ब्रह्मा, इन्द्र आदि पाच देवता बन जाता है। जैसे गति-समुच्चय रूप मे 'ब्रह्मा', शुद्ध गति के रूप मे 'इन्द्र', शुद्ध आगति के रूप मे 'विष्णु', स्थिति-गर्भिता गति के रूप मे 'अग्नि' व स्थिति-गर्भिता आगति के रूप मे 'सोम' नाम धारण कर लेता है।

'गीतामन्थन'कार बताते है—

"हम साधारणतया विश्व की परम-शक्ति को ब्रह्म, चैतन्य, पुरुष तथा आत्मा आदि वेदान्ती नामो से अथवा ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, भगवान् इत्यादि भक्ति-मार्गी नामो से पहचानते है। परन्तु यह जो मूल वस्तु है, उसके लिए शक्ति शब्द के बदले 'देव', 'देवत', 'देवता' आदि शब्द भी पाये जाते है। इससे हम परम-

शक्ति को ब्रह्म आदि नामो से पहचानते है। इस प्रकार शक्ति व देव एक ही अर्थ के शब्द है।

"इस परम देव, परम-शक्ति परमेश्वर द्वारा ससार मे उत्पत्ति,स्थिति व सहार का काम चला करता है। अर्थात् परमेश्वर के इन तीन कामो को करनेवाली अवान्तर (उप) शक्तिया अथवा देव है, जिन्हे क्रमश ब्रह्मदेव, विष्णुदेव, महादेव (शिव) इन नामो से पुकारने का रिवाज है। पुराने ग्रन्थो मे शक्ति के बदले 'देव' शब्द का प्रयोग साधारणत हुआ है। जैसे मेघ-शक्ति को इन्द्रदेव जल-शक्ति को वरुणदेव, पवन-शक्ति को वायुदेव कहा जाता है। बल्कि इन्द्रियो की शक्तियो को भी देव कहा गया है। अत देव कोई प्रकाशवान, रूपवान पुरुष अथवा स्त्री-आकार का कोई चमत्कारी व्यक्ति नही, वरन् जिस प्रकार बिजली मे, गर्मी मे और इन्द्रियो मे जुदा-जुदा शक्तिया है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओ का अर्थ है भिन्न-भिन्न शक्तिया।"

एक और कल्पना भी देवताओ के विषय मे है। ब्रह्मदेव ने ब्रह्म-तत्त्व या ब्रह्म-विद्या के आधार पर सृष्टि की व्यवस्था की। उसके उन्होने कई विभाग बनाये, जिसमे एक का नाम, पुराणो के अनुसार, 'पाद्म-भुवन-कोष' है। उसमे उन्होने दो सस्थाए बनाईं—देव-त्रिलोकी व आसुर-त्रिलोकी। यह ब्रह्मदेव की दूसरी सृष्टि थी, जो लोक-सृष्टि कहलाई। इससे पहले वह एक मन्त्रात्मक वेद-सृष्टि भी कर चुके थे। लोकसृष्टि के बाद उन्होने प्रजाओ का विभाग करके प्रजा-सृष्टि व प्रजा को प्रकृति के नियमानुसार चलाने के लिए धर्म-सृष्टि बनाई। इसके लिए अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि प्रकृतिस्थ देवताओ के नमूने पर भौम देवता निर्माण किये गए है। हैहय, कालकेय, दौर्हृद, मौर्य, वृत्र, नमुचि, त्वष्टा, वृषाकपि आदि असुरो की भी व्यवस्था की। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णों का एव अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, म्लेच्छ, इन चार अवर्णो का विभाग किया। चातुर्वर्ण्य के साथ-साथ व्यक्तियो के विकास के लिए ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमो की भी व्यवस्था की।

नव्वे अशात्मक भारतवर्ष को देव-त्रिलोकी का मनुष्य-लोक माना गया। वैवस्वत मनु सम्राट् व अग्नि वाइसराय बनाये गए। शर्यणावत (शिवालिक पर्वत) से आरम्भ कर हिमालय तक का सारा प्रान्त भौम-त्रिलोकी का अन्तरिक्ष लोक माना गया। वायु यहा के शवसोनपात (वाइसराय) बनाये गए। यहा का प्रजा यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, किन्नर आदि विभागो मे विभक्त

की गई।

जयपुर के स्व० श्री मधुसूदनजी ओझा के मतानुसार सृष्टि के विकास मे तमोयुग, प्राणी-युग व आदि युग के बाद एक मणिजा नाम का युग आया, जिसमे मानव-सभ्यता का एक प्रकार से पूर्ण विकास हुआ। ग्राम-निर्माण, कृषि-कर्म, कपास, रेशम आदि के वस्त्रो का निर्माण, पचायती-व्यवस्था, लोक-सत्तात्मक शासन, वापी-कूपतडागादि का निर्माण, उद्यान-उपवन आदि की व्यवस्था, गन्धर्व-विवाह-पद्धति, दान-क्रिया-अर्थ-शिल्प के आधार पर मानव-समाज का चार भागो मे विभाजन, विविध वैज्ञानिक आविष्कार आदि इस युग की प्रधान-प्रधान विशेषताए है। इस युग की चार श्रेणिया साध्य, महाराजिक, आभास्वर, तुषित इन नामो से प्रसिद्ध थी। आगे चलकर देव-युग मे आविष्कृत होनेवाली वर्ण-व्यवस्था का मूल यही चार श्रेणिया थी। परम वैज्ञानिक-ज्ञान-प्रधान 'साध्य' लोग उस युग के ब्राह्मण थे। महाराजिक क्षत्रिय, आभासुर वैश्य व शिल्प-विद्या मे पारगत, समाज-सेवा मे नि स्वार्थ बुद्धि से सलग्न तुषित उस युग के शूद्र थे। इन चारो जातियो का नेतृत्व साध्य-जाति के ही हाथो मे था। अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल से इसने प्राकृतिक तत्त्वो की परीक्षा द्वारा सर्वप्रथम यज्ञ-विद्या (Chemistry) का आविष्कार किया था। इन्हीके द्वारा आविष्कृत यज्ञ-विद्या के आधार पर आगे जाकर (देवयुग मे) भौम देव-व्यवस्था के प्रवर्तक 'ब्रह्मा' के आदेश से उनके ज्येष्ठ-पुत्र 'अथर्वा' ने ब्रह्म को मूल बनाते हुए देव-त्रिलोकी मे यज्ञ-विद्या का प्रचार किया था। देव-युग से पहले सम्पूर्ण विश्व मे साध्यो का ही प्रभुत्व था। ये ईश्वरवादी भौम देवताओ के विरोधी भी थे। अतएव आर्य-साहित्य मे 'पूर्वे देवा·' 'सुरद्विष' इत्यादि नामो से प्रसिद्ध हुए। साध्य-जाति का ईश्वर-सत्ता पर विश्वास न था। वे केवल प्रकृति-सिद्ध क्षणिक विज्ञान के उपासक थे। जो स्थान आज क्षणिकवादी नास्तिको को मिल रहा है, वही साध्यो का था। वे अभिमान के साथ मानते थे कि प्रकृति के नियत नियमो से ही विश्व-रचना हुई है। उन नियमो को भली प्रकार समझकर ठीक पद्धति से काम करने पर मनुष्य भी नवीन विश्व का निर्माण कर सकता है। इस विज्ञान के आधार पर नवीन सूर्य, चन्द्रमा आदि भी बनाये जा सकते हैं। इनके प्रभाव के कारण मणिजा-युग 'साध्य युग' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मणिजा उस समय के मानव-समाज की सामान्य सज्ञा थी। इस काल मे सद्वाद, असद्वाद, सदसद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अभिवाद, आवरणवाद,

अहोरात्रवाद व सशयवाद नाम से ऋग्वेद मे प्रसिद्ध दस भिन्न-भिन्न वाद प्रचलित थे। इनमे परस्पर सघर्ष व कलह हो रहा था। तव तुषित जाति मे जन्मे महापुरुष ब्रह्मा ने दश वादो का खडन करके एकत्त्व-मूलक ब्रह्मवाद की स्थापना की। उसने सिद्ध किया कि ईश्वर-सत्ता के विना इन वादो की कोई भी प्रतिष्ठा नही रह सकती। ब्रह्मवाद की स्थापना करने के कारण ही इस महापुरुष को ब्रह्मा उपाधि से विभूषित किया गया, यही देव-युग के प्रवर्त्तक हुए।

उस युग मे यह नियम था कि जो विद्वान् जिस तत्त्व की सर्वप्रथम परीक्षा करता था, उसे उसी नाम से विभूषित किया जाता था। वशिष्ठ, अगस्त्य, मत्स्य, अत्रि, भृगु, अगिरा आदि वस्तुत तत्त्वो के नाम है। जिन महापुरुषो ने इन तत्त्वो की परीक्षा की वे एव उनके वशधर भी उन्ही नामो से प्रसिद्ध हुए।

एकेश्वरवाद की स्थापना के अनन्तर ब्रह्मा ने, प्रकृति-सिद्ध नित्य ब्रह्मा के अनुसार, यहा भी पूर्वोक्त प्रकार की सृष्टि-सस्थाए प्रतिष्ठित की। इसके अन्तर्गत लोक-सृष्टि मे 'देवत्रिलोकी' एव 'असुरत्रिलोकी' वनाई गई। हिमालय-प्रान्त एव प्राग्मेरु (पामीर) यहा का स्वर्गलोक हुआ। इन्द्र यहा के शवसोनपात बनाये गए। यहा की प्रजा देवता कहलाई।

इसी प्रकार अफ्रीका, अमरीका, यूरोप नाम के तीन महाप्रान्त असुरो को दिये गए—यही असुर-त्रिलोकी कहलाई।

देव-युग मे देव व देवयोनि-भेद से दो श्रेणिया थी। 'स्वर्ग' मे रहनेवाली प्रजा 'देव' किवा 'देवता' नाम से प्रसिद्ध थी एव शर्यणावत पर्वत से आरम्भ कर हिमालय-पर्यन्त हिमालय की श्रेणियो मे निवास करनेवाली जाति देव-योनि नाम से प्रसिद्ध थी। यही देव-युग मे अतरिक्ष लोक था। इसमे रहनेवाली जाति विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस आदि नामो से प्रसिद्ध थी। 'सिद्धि'-जाति मे ही साख्य-दर्शन के प्रणेता महामुनि 'कपिल' का जन्म हुआ था। इसीसे इनकी ज्ञान-विद्या, 'सिद्ध-विद्या' के नाम से व्यवहृत हुई।

देवयुग-काल मे देव-लोक मे (स्वर्ग) आदित्य, सूर्य इत्यादि नामो से प्रसिद्ध इन्द्र, धाता, भग, पूषा, अर्यमा, त्वष्टा, वरुण, अशु, विवस्वान्, सविता, विष्णु, मित्र ये वारह देव-जातिया प्रसिद्ध थी। इन बारह सूर्यो किवा आदित्यो मे 'विवस्वान्' नाम की जाति को विशेष गौरव प्राप्त था। इसी जाति-विशेष के पुरुषो को आगे जाकर भारतवर्ष का साम्राज्य मिला था। इन्हीमे प्रबल प्रतापी

स्वयम्भू ब्रह्मा के मानस-पुत्र स्वायम्भुव नाम के विवस्वान् आदित्य सूर्य-वश के आदि प्रवर्तक हुए। स्वयम्भू ब्रह्मा योग्य व्यक्तियो को अपना दत्तक पुत्र बना लेते थे। यही दत्तक पुत्र पुराण-इतिहास मे मानस-पुत्र नाम से प्रसिद्ध है। जैसे भृगु वरुण के औरसपुत्र थे, किन्तु आगे जाकर ब्रह्मा के मानस-पुत्र कहलाने लगे।

देव-त्रिलोकी मे रहनेवाली प्रजा के उन्होने पाच वर्ग बनाये—ऋषि, पितर, देवता, देवयोनि व मनुष्य। प्राकृतिक प्राण-तत्त्व ऋषि कहलाता है। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि सब प्राणात्मक ऋषि है, सृष्टि-प्रवर्त्तक मौलिक तत्त्व है। जिन्होने अपने तपोयोग से प्राणात्मक जिस ऋषि-तत्त्व का आविष्कार किया, वे उसी नाम से प्रसिद्ध हुए। ये पृथ्वी (भारत) अतरिक्ष स्वर्ग सबमे भ्रमण व विचरण करते थे। ब्रह्मा, ऋषि, देव, ब्राह्मण, विप्र इनके पाच अवातर विभाग थे।

इस ऋषि-प्राण को यजु-तत्त्व कहते हैं। यजु मे यत् + जू दो विभाग है। यत् गति-तत्त्व है, यही प्राण है, जू स्थिति-तत्त्व है, यही 'वाक्' कहलाता है। प्राण-ऋषि के व्यापार से वाक् द्रुत होकर अप् स्वरूप मे परिणत हो जाती है। यही ऋषि-प्राण की यौगिक अवस्था है। अनेक मौलिक (ऋषि) प्राणो के रासायनिक सयोग से उत्पन्न होनेवाला यौगिक आत्म-प्राण, किंवा सौम्य प्राण ही 'पितर' है। ऋषि से सर्वप्रथम इस सौम्य-प्राण-रूप पितर का ही विकास होता है। जिन मनुष्यो के अन्तरात्मा मे इतर प्राणो की अपेक्षा पितर प्राण विशेष रूप से विकसित था, ये ही मनुष्य देव-युग मे 'पितर' नाम से प्रसिद्ध थे। यह एक स्वतन्त्र-जाति थी। यही पितृ-लोक आज दिन 'मगोलिया' नाम से प्रसिद्ध है। इस पितर प्रजा पर स्वायम्भुव विवस्वान् के कनिष्ठ पुत्र वैवस्वत 'यम' का शासन था।

यह पितर प्राण 'स्नेह व तेज' भेद से दो भागो मे विभक्त हुआ। स्नेह-तत्त्व भृगु कहलाया, तेज-तत्त्व अगिरा। भृगु की अवस्था—विशेष रूप दाह्य सोम के सम्बन्ध से अगिरा—अग्नि ही प्रज्वलित होकर सूर्य रूप मे परिणत हुआ। इस सोमाग्निमय ज्योतिर्घन सौर-प्राण का नाम ही देवता हुआ। यह देव-प्राण ही आगे जाकर आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य प्रजापति वषट्कार-भेद से तेतीस विभागो मे परिणत हुआ। यही तेतीस प्राकृतिक नित्य-प्राण देवता कहलाये। जिन मनुष्यो के अतरात्मा मे जिस प्राण-देवता का विकास था, वे उसी नाम से प्रसिद्ध हुए। जिस युग मे स्वयम्भू के द्वारा यह अपूर्व अन्वेषण होकर पृथ्वी पर मनुष्यो मे ही देव-व्यवस्था प्रतिष्ठित हुई, वही देव-युग कहलाया। हिमालय पर्वत

की श्रेणियो से उस पार (४७।। अक्षाश से ६० तक) का स्थान स्वर्ग कहलाया जसा कि 'उत्तरे हिमवत् पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते' इत्यादि भारत-वचनो से स्पष्ट है। इसी स्वर्गलोक मे यह जाति निवास करती थी। बारह आदित्यो मे से प्रसिद्ध इन्द्र नामक देव-जाति के व्यक्ति-विशेष इन्द्र समय-समय पर स्वर्गाध्यक्ष बनाये जाते थे। ये इन्द्र स्वर्ग के स्वाराट शासक थे।

किन्तु यहा 'देवता' से अभिप्राय सुरलोक या स्वर्गवासी व्यक्तियो से है--पौराणिक देवताओ से है। सुख की कामना से जो लोग साधना या तप करते हैं, वे स्वर्ग मे जाते है। स्वर्ग मे तो देवता ही रहते हैं। पुण्य क्षीण होने पर, सुख-काल की अवधि पूरी होने पर वे फिर वहा से दूसरे लोक या स्थान को जाते है। उनमे से कई नरक मे भी जाते है—दु ख भी भोगते है। यह सुख-दु ख-भोग का फेरा तबतक लगा ही रहता है जबतक कामना या वासना से प्रेरित होकर वे कर्म करते रहते हैं। जहा कामना-वासना है, वहा राग-द्वेष का डेरा पडा हुआ ही समझिये। जहा राग-द्वेष है, वहा स्वत को अशान्ति, सन्ताप, परिताप व दूसरो को समय-प्रसगानुसार दु ख-भोग बना ही हुआ है। इसीलिए वसुदेवजी ने साधुओ को देवताओ से भी श्रेष्ठ ठहराया है।

**"देवताओ को तो जो लोग जिस प्रकार भजते है, वे उन्हे वैसा ही फल देते हैं। वे छाया की तरह कर्मों का अनुसरण करनेवाले है, किन्तु साधु जन (स्वभाव से ही) दीनो पर कृपा करनेवाले होते हैं।"** ॥६॥

देवता तो न्याय की तराजू हाथ मे लेकर बैठते है, व कर्म देख-देखकर उसका वैसा फल देते हैं। परन्तु सत्पुरुष दया की नाव लेकर निकलते है और ससार-सागर मे गोता खाते हुए असहाय मनुष्यो को उबारते हैं। भले के साथ भलाई करना कोई बडी बात नही है। बुरे के साथ बुराई दुनिया मे आमतौर पर की जाती है। परन्तु सत्पुरुष समाज की इस सामान्य सतह से ऊपर उठे हुए होते हैं। वे बुरे के साथ भी भलाई ही करते हैं। वे सारे व्यक्ति को सदैव बुरा नही मानते। व्यक्ति के जो कर्म बुरे होते हैं, उन्हीकी निन्दा करते है व व्यक्ति पर तो सदा अपने दयामृत की वृष्टि ही करते हैं। जहा मानवता है, वहा न्याय की भूमिका तो आमतौर पर अपेक्षित ही रहती है। ज्यो-ज्यो मनुष्य का विकास होता है, त्यो-त्यो वह दया-भूमिका की ओर अग्रसर होता है। न्याय मे अपने व सामनेवाले दोनो के स्वार्थ या हित का विचार रहता है। दया मे अपने सुख-स्वार्थ की विस्मृति व दूसरो के, खासकर

दीन-दुखियो के, उद्धार व सहायता का भाव रहता है। दया-भाव से ऊपर की भूमिका आत्म-भाव—आत्मवत् सर्वभूतेषु—अद्वैत-स्थिति है।

**"ब्रह्मन् (यद्यपि आपके दर्शन-मात्र से मै पवित्र हो गया हू तो भी) आपसे भागवत-धर्मो के विषय में पूछना चाहता हू, जिनका श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से मनुष्य सब प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है।" ॥७॥**

वसुदेव ने नारदजी से धर्म के विषय मे प्रश्न किया। यह सब तरह से उचित ही था। एक तो वह बूढे हो चले थे, दूसरे जब सत्पुरुष का समागम हो तो धर्म व ज्ञान की चर्चा करना ही उनसे यथोचित लाभ उठाना है। हिन्दू-धर्म की आश्रम-व्यवस्था के अनुसार चौथेपन मे सर्व-सग त्याग कर जीवन को भगवान्‌मय बनाकर रहने का विधान है। परन्तु यह कोई आवश्यक नही है कि मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम समय मे ही भगवान् की ओर अग्रसर हो। जैसे बुढापा मानव की आयु के विकास की अन्तिम सीढी है वैसे ही वह ज्ञान व अनुभव की भी है। धर्म का ज्ञान मनुष्य को तभीसे मिलना चाहिए जबसे उसकी बुद्धि उसे ग्रहण करने के योग्य होने लगे। धार्मिक सस्कार तो बचपन से ही शुरू हो जाने चाहिए, बल्कि हिन्दू-समाज मे तो गर्भाधान से ही शुरू हो जाते है। यह प्राचीन लोगो के दीर्घ व विशाल अनुभवो का परिणाम है। ठेठ जड से ही उन्होने मनुष्य को ठीक बनाने का उपाय किया है।

धर्म से अभिप्राय यहा कर्म-काण्ड या धार्मिक बाहरी विधि-विधान या क्रिया-कलाप से नही है, बल्कि उस नियम या मार्ग से है, जिससे मनुष्य की आत्यन्तिक दु ख-निवृत्ति होकर वह परम शान्ति व सुख का अनुभव कर सके। धर्म का यह वैयक्तिक पहलू हुआ। धर्म का सामाजिक पहलू यह है कि उसके द्वारा समाज का उत्थान होता रहे। भागवत-धर्म[1] से अभिप्राय यहा शाश्वत, सनातन-धर्म से है, किसी सम्प्रदाय विशेष से नही।

धर्म का यह दावा है कि वह मनुष्य को सब भयो से मुक्त कर देगा। परन्तु शर्त यह है कि श्रद्धापूर्वक उसका अनुसरण किया जाय। जब धर्म का विवरण श्रद्धापूर्वक सुना जायगा तभी उसके आचरण की स्फूर्ति मनुष्य को हो सकती है। यहा श्रद्धा मे दोनो भाव लिये गए हैं—१ मन लगाकर सुनना व जो समझ मे आ गया उसपर दृढता के साथ अमल करना, २ यदि अपनी समझ मे न आता हो तो श्रद्धेय आत्मजनो के उपदेश पर विश्वास रखके चलना। दूसरे अर्थ मे 'श्रद्धेय

[1] देखिये परिशिष्ट १

आप्त' का चुनाव अच्छा होना चाहिए। जो हमे सदैव सत्पथ की ओर अग्रसर करता रहे, सदैव जिसके मन मे हमारे हित की ही भावना रहे, जो धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, नीति-अनीति, पाप-पुण्य का आवश्यक ज्ञान रखता हो व तद-नुसार अपना जीवन बनाता रहता हो, उसे हम अपना आप्त मान सकते है।

**"मैंने देव-माया से मोहित होकर अपने पूर्वजन्म में मुक्ति-प्रद भगवान् का सन्तान के लिए ही पूजन किया था, मोक्ष के लिए नहीं।" ॥८॥**

वसुदेव को अपने पिछले जन्म-कर्म पर पश्चात्ताप-सा हो रहा है। यो तो विचारशील मनुष्य हर अवस्था मे, खासकर कष्टो व कर्त्तव्य-मूढता के विशेष अव-सरो पर, अपने जीवन का सिहावलोकन करता ही रहता है, परन्तु बुढापे मे, जबकि उसे मृत्यु नजदीक आती दिखाई देती है, तत्सम्बन्धी तथा उसके बाद क्या होगा, इस विषय के विचार ज्यादा जोर से आने लगते हैं, वे पिछले जीवन का सिहावलोकन करने के लिए मजबूर करते है। वह सिहावलोकन उसे आगे प्रगति मे सहायता व उत्साह देता है। यदि उसके शुभ कर्म अधिक हैं तो भविष्य के लिए वह निश्चिन्तता व शान्ति अनुभव करने लगता है। यदि बुरे अधिक हैं तो अबसे अधिक शुभ कर्म मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलती है।

वसुदेवजी महसूस करने लगे कि मैंने तो भगवान् का पूजन केवल सन्तान के लिए किया था। जब स्वायम्भुव मनु का राज्य था तब मैं सुतपा नामक प्रजापति था व देवकी, मेरी पत्नी, का नाम पृश्नि था। ब्रह्माजी ने जब मुझे प्रजा उत्पन्न करने की आज्ञा दी तो मैंने ईश्वर के सदृश पुत्र-प्राप्ति के लिए घोर तप किया, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् ने ऐसा ही वर दिया और आज वह श्रीकृष्ण के रूप मे मेरे घर की शोभा बढा रहे हैं। मुझे उस समय ससार का अनुभव नही था और सन्तान भी नही हुई थी। इसलिए मोहवश यही वर माग लिया। लेकिन मैं सम-समझता हू कि मुझे मोक्ष का वर मागना चाहिए था, जिससे मैं ससार की तमाम आपत्तियो, दु खो, क्लेशो से छुटकारा पा जाता। खैर तब भूल की तो अब उसे सुधार लेना चाहिए। यह विचार कर उन्होने नारदजी से धर्म-मार्ग बतलाने के लिए प्रार्थना की।

**"अत हे सुव्रत, हमें ऐसा स्पष्ट उपदेश दीजिये कि हम आपको निमित्त बना-कर नाना प्रकार के दु खो से पूर्ण और सब ओर भमो से व्याप्त इस ससार**

से[1] अनायास ही मुक्त हो सकें।" ॥९॥

ससार सुखमय है या दु खमय, इसके विषय मे दो मत है। जो सुखमय मानते है, उनकी दलील यह है कि यदि ससार सचमुच ही दु.खमय होता तो मनुष्य जीवित रहने का इतना उद्योग न करता, आत्म-हत्या कर लेता। वे कहते है कि ससार मे सुख स्वत सिद्ध है। दु ख आगन्तुक है। सुख के विपरीत जब कोई स्थिति होती है तो दुःख महसूस होता है। अपने जीवन की सुख की व दु ख की घडियो का हिसाब लगावे तो सुख का ही पलडा भारी बैठेगा। दु खवादी कहता है कि हर आदमी सुख के लिए छटपटाता है। इससे साबित होता है कि दु ख अधिक है। यदि सुख स्वभावसिद्ध है तो आगन्तुक दु ख की निवृत्ति के लिए मनुष्य इतना आकाश-पाताल एक नही कर डालता। मोक्ष की कल्पना भी दु ख के छुटकारे के रूप मे ही हुई है। अधिकाश लोग मोक्ष चाहते है। इससे सिद्ध होता है कि दु ख अधिक है।

चाहे सुख अधिक हो व दु ख, इसमे शक नही कि ससार मे दु ख व भय हैं और मनुष्य चाहता है व यह उचित भी है कि वह उनसे छूटे। वसुदेवजी ने अपने जीवन मे प्रत्यक्ष ही भिन्न-भिन्न प्रकार के दु खो व भयो का अनुभव किया था। विवाह होते ही कैदखाने मे डाल दिये गए, उनके आठ पुत्र मार डाले गए, मथुरा छोडकर ठेठ द्वारका जाकर रहना पडा। कौरव-पाण्डवो का दारुण युद्ध देखा, अब यादवो का नाश का दृश्य सामने उपस्थित है, ऐसी दशा मे उन्हे शान्ति की आवश्यकता थी। अत उन्होने नारदजी से यही चाहा कि वह उन्हे तमाम भयो व दु खो से छुटकारे का मार्ग दिखावे। फिर वह मार्ग सरल हो, अनायास ही जिससे

---

[1]**संसार विश्व या जगत्**—"जीव-समष्टि और प्रकृति अर्थात् जड-समष्टि के सम्मिश्रण को जगत् कहते है। परिवर्तन या एक भाव से दूसरे भाव मे जाना (Change) ही ससार का स्वरूप है। नित्य परिवर्तनशील या परिणम्यमान भाव ही जगत् है। प्रवृत्ति-आविर्भावादि विकार या परिणाम ही जगत् का स्वभाव है, जगत् का अव्यभिचारी धर्म है। एक मुहूर्त के लिए भी जगत् प्रवृत्ति-शून्य नही है। क्षणकाल के लिए भी कोई जागतिक पदार्थ एक भाव मे, (परिवर्तन हुए विना) अपने स्वरूप मे, नही रह सकता।

"ससार' व 'जगत्' दोनो गतिसूचक है'। यह बाह्य जगत् मूल-रूप से देश, काल व वस्तु के सिवा कुछ नही।"

काम बन जाय।

शुकदेवजी बोले—"हे राजन्, बुद्धिमान वसुदेवजी के इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान् के गुणो द्वारा भगवान् का स्मरण करा दिये जाने के कारण देवर्षि नारद उनसे प्रसन्न होकर बोले।" ॥१०॥

नारदजी बोले—"हे यादवश्रेष्ठ, आपका यह विचार बहुत ही उत्तम है, क्योकि आप सबको पवित्र करनेवाला भागवत-धर्म पूछ रहे हैं। वसुदेवजी, श्रवण, बार-बार पठन, स्मरण, आदर अथवा अनुमोदन किये जाने पर यह भागवत-धर्म विश्व के द्रोहियो को भी तत्काल पवित्र कर देता है। जिन परम-कल्याणकारी भगवान् नारायण का नाम व लीलाओ के श्रवण-कीर्तन से मनुष्य पवित्र हो जाते हैं, उनका आज आपने मुझे स्मरण करा दिया है। यह मुझपर बड़ा उपकार किया है।" ॥११-१२-१३॥

नारदजी को वसुदेव की धर्म-जिज्ञासा पसन्द आई, क्योकि भागवत-धर्म और तो ठीक मनुष्य ही नही सारे विश्व के द्रोहियो को भी तत्काल पवित्र कर देता है। जो भले व साधु पुरुष है, सच पूछिये तो धर्म व व्यवस्था की उन्हे क्या जरूरत है? उनका तो सारा जीवन ही धर्ममय, नियमित व व्यवस्थित रहता है। धर्म या सदाचार की वास्तविक आवश्यकता उन्हीके लिए है, जो अज्ञान, मोह, स्वार्थान्धता के चक्कर मे पडकर दूसरो का द्रोह करते हैं व परिणाम-स्वरूप स्वत अनेक प्रकार के कष्ट भोगते हैं। दूसरे धर्म सज्जनो को सद्गति व दुर्जनो को अधोगति देते है, यह भागवत-धर्म ही है, जो दुर्जनो को भी पवित्र बनाने का आश्वासन देता है। जिनका हृदय दोष, पाप, कुकर्म, परपीडन, अत्याचार आदि मे कलुषित हो जाता है, उन्हे उद्धार के कष्टकर मार्ग पर चलने का साहस व उत्साह नही होता। उनमे इतनी शक्ति भी नही रह जाती। इसलिए सरल मार्ग की आवश्यकता हुई। नारदजी कहते है कि भागवत-धर्म से बढकर कोई सरल मार्ग नही है। 'अपनेको सब तरह भगवान् के अर्पण करके ससार मे रहना' भागवत-धर्म का मुख्य सिद्धान्त है।

महापुरुषो के सद्गुणो, सत्कार्यो के श्रवण, स्मरण से हमारे मन मे भी वैसी ही स्फूर्ति पैदा होती है। इसलिए उनके श्रवण-मनन का माहात्म्य है। तब स्वत भगवान् नारायण के गुणो का श्रवण करने से नारदजी का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था।

**"इस विषय में महात्मा राजा विदेह और ऋषभ-पुत्रो के सवाद-रूप प्राचीन इतिहास का उदाहरण देता हू ।" ॥१४॥**

राजा जनक (विदेह) जीवन्मुक्त माने जाते है। ऐतिहासिको का कहना है कि 'विदेह' किसी एक राजा का नाम नही था, वल्कि राजा की पदवी या विशेषण था। उस गद्दी पर बैठनेवाले सभी राजा विदेह कहलाते थे। हमे यहा प्रयोजन भागवत-धर्म के तात्पर्य से है, ऐतिहासिक निर्णय से नही।

**"स्वायम्भुव मनु के जो प्रियव्रत नामक पुत्र थे, उनसे आग्नध्रि का जन्म हुआ तथा आग्नध्रि के नाभि व नाभि के ऋषभजी हुए।" ॥१५॥**

इन्ही ऋषभदेव को जैन लोग अपना आद्यतीर्थंकर[1] मानते है। ब्राह्मण-धर्म मे ये चौवीस अवतारो मे गिने गए है, इस तरह जैन तथा ब्राह्मण दोनो धर्मों मे ऋषभदेव का आदर किया जाता है।

**"कहते है, ऋषभजी[2] भगवान् वासुदेव के अंश थे, उन्होने मोक्ष-धर्म का उपदेश करने के लिए ही अवतार लिया था। उनके सौ पुत्र थे और वे सभी वेद के पारगामी थे। उनमें सबसे बडे भरतजी थे, जो भगवान् नारायण के परम भक्त थे। उन्हीके नाम से यह अद्भुत देश भारतवर्ष[3] नाम से विख्यात हुआ है।" ॥१६-१७॥**

मोक्ष कहते है—तापत्रय (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) से सदा के लिए छुटकारा पाने को। कही-कही पुनर्जन्म से छुटकारा पाना भी मोक्ष का हेतु बताया गया है। 'आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति तथा शोक-निवृत्ति' को भी मोक्ष कहा है (वे० प० पृ० १९७) मोक्ष ज्ञान का फल है। ससार के समस्त बन्धनो का कारण अविद्या—अज्ञान है। भारत के सभी दर्शन-सम्प्रदाय इसे एक-रूप से मानते है। योग-सूत्र (२।५) मे अविद्या की व्याख्या इस प्रकार की गई है—अनित्य, अशुचि, दु ख और अनात्मा को क्रमश नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मा मान बैठना अविद्या है। यही सारी अस्मिता, राग-द्वेष तथा अभिनिवेश-क्लेशो की जननी है। वस्तु या पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का निश्चय न कर पाना

[1] धर्म-प्रचारक सिद्ध पुरुषो को जन लोग 'तीर्थंकर' कहते है।
[2] इनका विस्तृत जीवन भागवत के पाचवे स्कन्ध मे (अ० ४-६) देखिये।
[3] देखिये परिशिष्ट २

अविद्या का सामान्य लक्षण है। 'सर्वज्ञता का सकोच या अल्पज्ञता' भी अविद्या है। अविद्या से छूटने का उपाय विद्याज्ञान है। यही बन्धनो से छूटने का, मुक्ति का, एकमात्र उपाय है। नानात्व के ज्ञान से बन्धन—ससार—है। एकत्व के ज्ञान से मुक्ति है।

ऋषभदेव ने मोक्षमार्ग का उपदेश व प्रचार किया। इसके आधार पर जैन-धर्म का काफी विकास आगे चलकर हुआ है। इनके सभी पुत्र ज्ञानी व पडित थे। वेद से अभिप्राय यहा सारे ज्ञान-विज्ञान से विशेषकर ब्रह्म-विद्या से है। उनमे भरतजी भक्ति-मार्गी थे—भगवान् नारायण मे उनकी परम भक्ति थी। 'जल मे व्याप्त जो चेतन रूप है, उसे नारायण कहते हैं।'[1] जल का अर्थ जीवन भी है। अत इसका भावार्थ हो सकता है—जो जीवनमय है, रसमय है, (जल की तरह) पवित्र करनेवाला है। जल एक महाभूत भी है, अत महाभूत पर सत्ता चलानेवाला भी लिया जा सकता है। अद्वैत सम्प्रदाय के लोग भगवान् नारायण को ही अपना आद्य आचार्य मानते हैं। श्री शकराचार्य तक उनकी आचार्य-परम्परा इस प्रकार है—श्री नारायण, श्री ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुकदेव, गौडपादाचार्य व शकराचार्य। सामान्यत 'नारायण' से भगवान्, ईश्वर, विष्णु का भाव लिया जाता है।

**"उन्होने इस भुक्तभोगा पृथिवी को त्यागकर, वन मे जा, तपस्या-द्वारा श्रीहरि की उपासना की और तीन जन्म पश्चात् मोक्ष-पद प्राप्त किया।" ॥१८॥**

प्राचीन भारत मे राजपाट, गृहस्थ जीवन को छोडकर वन मे जा तप करके ईश्वर या मोक्ष-प्राप्ति की प्रणाली व उसके उदाहरण बहुत पाये जाते है।

---

[1] श्रीमद्भागवत (२।१०।१०-११) मे 'नारायण' की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है—"जब विराट् पुरुष ब्रह्माड को फोडकर निकला तो अयन (निवास-स्थान) की इच्छा से इस शुद्ध-सकल्प पुरुष ने जल की सृष्टि की। पुरुष अर्थात् 'नर' से उत्पन्न होने के कारण जल का नाम नार है। उस अपने रचे हुए नार मे वह पुरुष एक सहस्र वर्ष रहा, अत उसका नाम नारायण हुआ।"

विष्णु-पुराण (३।४।६) मे लिखा है—

**आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव ।**
**अयन तस्य ता पूर्व तेन नारायण स्मृत ॥**

सन्यास[1] या वैराग्य की यह परपरा अब भी जारी है, हालाकि अब उसमे वास्त-विकता कम व बाह्याचार—ढोग अधिक रह गया है।

आजकल की बहुतेरी साधुओ की जमाते व सन्यासियो का झुण्ड इसीका परिचायक है। परन्तु भरतजी सच्चे मोक्षसाधक थे। मोक्ष तवतक असभव है जवतक कि पहले तो बुद्धि को आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान न हो, दूसरे उस ज्ञानानुरूप जीवन या वृत्तिया न बन जाय, दूसरे शब्दो मे आत्मनिष्ठता या ब्रह्मनिष्ठता न

---

[1]**संन्यास**—विषय-सुख की खोज से निवृत्त होने का नाम 'सन्यास' है। सन्यासी विषय-सुख को छोडकर आत्म-सुख की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है। उसके सुख का पता विषय-लोलुपो को नही लग सकता। उसकी दृष्टि मे सारा जगत् सुखमय हो जाता है। उसको आत्मानद अपार होता है। प्राचीन काल मे जब भारत मे वैदिक धर्म तथा जैन व बौद्ध धर्मों का बोलबाला था, अधिकाश भारतवासी निजानन्द का अनुभव करने के लिए सब प्रकार के विषय-सुख का परित्याग कर सन्यास ग्रहण किया करते थे। शकराचार्य ने इसे संस्था का रूप दिया व भारत के चार कोनो मे शृगेरी, शारदा, ज्योति. व गोवर्धन चार मठ स्थापित किये। सन्यासियो के दश नाम गिरी, पुरी, भारती, तीर्थ, आश्रम, सरस्वती, वन, अरण्य, पर्वत, सागर हैं।

श्री कि० घ० मश्रुवाला के मतानुसार जब कर्मकाण्ड और उपनयनादि सस्कारो की विधियो का इतना महत्त्व था कि उनको न पालन करनेवाला समाज मे निन्दा या दण्ड-पात्र समझा जाता था, तव जो व्यक्ति अपने जीवन के सच्चे ध्येय की सिद्धि मे इन्हे बाधक मानता था, वह सन्यास लेकर इनकी जिम्मेवरी से वरी हो जाता था। अब कोरे नामवेशधारी सन्यासियो की वहुतायत होने से व देश-काल बदल जाने से वह कहते है कि सन्यास-प्रथा अनावश्यक हो गई है। सन्यास के मूल मे स्थित त्याग, अपरिग्रह, सादगी, अनासक्ति, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा-शान्ति, नम्रता की भावना तथा तप और आत्मज्ञान-सम्वन्धी व्याकुलता की वह सराहना करते हुए उनपर तो जोर देते हैं, किन्तु इस परिपाटी को अनुपयोगी मानते है।

(देखिये जीवन-शोधन खड ५, सन्यास-प्रकरण)

प्राप्त हो जाय। दैवी सम्पत्ति[1] अर्थात् सात्विक गुणो के विकास के विना ऐसी निष्ठा किसी प्रकार नही हो सकती। सभीके लिए यह एक जन्म मे साध्य नही हो सकता।[2] इसकी अवधि मनुष्य के सस्कारो पर, वृत्तियो पर अवलम्बित रहती है। मोक्ष-प्राप्ति कितनी दुर्लभ है, उसके लिए कितना पुरुषार्थ करने की जरूरत है, यह इसी वात से साबित होता है कि वेद-पारगामी भरतजी जैसो को भी मुक्ति पाने के लिए तीन जन्म लेने पडे।

अन्य वातो को छोडकर जव किसी एक ही वस्तु पर सयम या एकाग्रता की जाती है व उसके मार्ग मे आनेवाले तमाम मोहो, कष्टो, सकटो, क्लेशो को शान्ति के साथ सहकर अपनी साधना मे अडिग रहा जाता है, तव उसे तप कहते है।[3] किसी सदुद्देश के लिए तप किया जा सकता है। जो अपनी आत्मा को सकुचितता से ऊपर उठाकर सर्वव्यापक वनाना चाहते है, वे सर्वव्यापक व्रह्म पौराणिको की भाषा मे, हरि, राम, कृष्ण, नारायण, विष्णु आदि की उपासना करते है। आत्मा की इस सर्वव्यापकता—सिद्धि का ही दूसरा नाम मोक्ष है। 'उपासना' का शब्दार्थ तो 'समीप होना', 'सदृश होना' है, परन्तु अव लक्षणार्थ से वह भक्ति, साधना, तप आदि भावो मे भी व्यवहृत होता है। यहा अभिप्राय भक्ति से ही है।

---

[1] **दैवी सम्पत्ति**—गीता के सोलहवे अध्याय मे दैवी सम्पत्ति के लक्षण वताये गए हैं—अभय, सत्व-सशुद्धि, ज्ञान व योग मे स्थिरता, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न खाना, प्राणियो पर दया, लालच न होना, मृदुता, लज्जा, अचचलता, तेज, क्षमा, धृति, पवित्र आचार, द्रोह का अभाव व निर्मानिता (श्लो० १ से ३ तक)

[2] 'अनेक जन्म ससिद्धस्ततो याति परागतिम्।'

[3] निरालम्बोपनिषद् के अनुसार 'व्रह्म' सत्य है और जगत् मिथ्या है। इस प्रकार के अपरोक्ष ज्ञान-रूप अग्नि से व्रह्मादि के ऐश्वर्य की कामना-सिद्धि के सकल्प-वीज को दग्ध कर देना ही तप है।

'तपम्' क्या है? 'आच', 'गर्मी' जो शक्ति या गति का एक रूप है। गर्मी से गति पैदा होती है। अत. 'तपस्' है शक्ति को अपने प्रयोग के योग्य वनाकर सचित रखना। सभी लोग शक्ति-सचय के लिए तपस्या करते हैं और अभीष्ट पा सकते है।

**"उन शेष निन्नानवे में से नौ इस भूमडल के सब ओर न/पति हुए और इक्यासी कर्मतंत्रो के रचयिता ब्राह्मण हो गये।" ॥१९॥**

प्राचीन काल मे यह सारा भूमण्डल नवद्वीपो मे घिरा हुआ माना जाता था। 'तन्त्र' का अर्थ वह शास्त्र है, जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है (तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्) और जो साधको का त्राण या रक्षा करता है। शैव-सिद्धान्त मे तन्त्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—

**तनोति विपुलानर्थान् तत्व-मन्त्र-समन्वितान्।**
**त्राण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥**

अत तन्त्र का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान, विज्ञान-विषयक ग्रन्थ आदि है। शकराचार्य ने साख्य को (स्मृतिश्चतन्त्राख्या परमर्षि-प्रणीता) तन्त्र माना है। और महाभारत मे न्याय, धर्म-शास्त्र, योग-शास्त्र आदि तन्त्र माने गए है। 'न्याय तन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभि', 'यतयो योग-तन्त्रेपु यान् स्तुवन्ति द्विजालय ।' किन्तु यहा तन्त्र से अभिप्राय उन धार्मिक या कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थो से है, जो तन्त्र-मन्त्र आदि से युक्त एक खास साधन-मार्ग का उपदेश देते है। तन्त्रो का दूसरा नाम आगम है। तन्त्र जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलाने की व्यावहारिक साधना है। भूत-सिद्धि तथा विभिन्न प्रकार के न्यास उसके खास अग है। इसमे शरीर को भगवान् या भगवती का आसन मानते है। उसके साथ अपना तादात्म्य करना पडता है। आगे चलकर पूजन की सारी सामग्री के साथ अपनी तन्मयता सिद्ध करनी पडती है। सरल भाषा मे कहे तो प्राप्त ज्ञानानुकूल जीवन बनाने के विधि-विधानो और साधनो का नाम तन्त्र है।

**"तथा नौ परमार्थ का निरूपण करनेवाले महाभाग मुनिवर हुए, वे आत्म-विद्या में श्रम करनेवाले, दिगम्बर और अध्यात्म-विद्या में कुशल थे।" ॥२०॥**

व्यक्ति के अपने सकुचित, भौतिक, शरीर सुख-सम्बन्धी इच्छा व भाव को 'स्वार्थ' तथा परोपकार, समाज-सेवा, दया-वृत्ति, मानसिक या आध्यात्मिक सुख के भाव को परमार्थ कहते है। मोक्ष के अर्थ मे भी 'परमार्थ' शब्द का व्यवहार होता है। यहा परमार्थ से अभिप्राय आत्म-विद्या से है। जिस विद्या का सम्बन्ध आत्मा से, आत्म-ज्ञान से है, वह 'आत्म-विद्या' व जिसका सम्बन्ध स्थूल जगत के

मूल या कारणभूत सूक्ष्म तत्त्व[1] या वस्तु-तत्त्व-विज्ञान से है, वह अध्यात्म-विद्या है। यहा तीनो शब्दो मे एक ही आशय ब्रह्म-विद्या या ब्रह्म-ज्ञान है।

उन्होने बाह्य त्याग को पराकाष्ठा पर पहुचा दिया था। वस्त्र तक छोड दिये थे—दिशाओ को ही उन्होने अपना वेश मान लिया था, अत वे दिगम्बर हुए। जैनियो मे एक सम्प्रदाय भी 'दिगम्बर' नाम से है। ईसा-पूर्व तीसरी सदी मे श्वेताम्बर तथा दिगम्बर नामक दो सम्प्रदाय जैनियो मे हो गये। प्राचीन सघ नग्नता के आदर्श को मानता था, लेकिन सुधारक मागध-सघ ने श्वेताम्बर (सफेद कपडा) धारण का विधान किया। दोनो के तत्त्व-ज्ञान मे भेद नही है—सिर्फ आचार मे ही है। दिगम्बरो मे धार्मिक नियमो की उग्रता और श्वेताम्बरो मे मानव कमजोरियो के खयाल से उदारता या शिथिलता कर दी गई है। दिगम्ब-रियो के मतानुसार केवली—केवल ज्ञान-सम्पन्न—भोजन नही करता, न स्त्रियो को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। उन्हे मोक्ष के लिए पुरुष जन्म लेना पडता है। दिगम्बर-सम्प्रदाय के साधु नगे रहते हैं, वैरागियो मे भी 'नागा' साधुओ की एक जमात है। यो जैनियो के 'नगे' साधुओ का मजाक उडाया जाता है। समाज की ओर से कही-कही इस प्रथा के विरुद्ध आवाज भी उठाई जाती है। परन्तु विचार करने से मालूम होगा कि 'नग्नता' की साधना कोई मामूली बात नही है। कृत्रिम साधनो से जननेन्द्रिय को निर्वीर्य बना डालना 'नग्नता' की साधना नही, विड-म्बना है। शम, दम और तितिक्षा के द्वारा जब सब इन्द्रियो पर हमारा आधिपत्य हो जाता है तभी ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकती है। सचमुच जो समाज मे निर्विकार रहकर नगा रह सकता है, वह महान् अद्भुत पुरुष है। 'नग्नता' का अर्थ है अ-मिश्र अनावृत सत्य। जो भीतर-बाहर सत्य से परिपूर्ण होगा, उसीको नग्न रहने का अधिकार प्राप्त हो सकता है।

**"उनके नाम ये थे—कवि, हरि, अतरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और कर-भाजन।" ॥२१॥**

**"वे सत् और असत् रूप सम्पूर्ण ससार को अपने से अभिन्न भगवद्रूप देखते हुए पृथ्वी पर विचरते थे।" ॥२२॥**

---

[1] वस्तु या पदार्थ का असली व मूल रूप जिसका विभाजन न हो सके, और जो सब प्रकार के मिश्रण से रहित हो, अकेला, स्वतन्त्र हो, तत्त्व कहलाता है।

'सत्', 'असत्' के दो-दो अर्थ मिलते है। १ 'सत्' याने जो 'है' अर्थात् 'दीखता है' और 'असत्' माने जो 'नही है' 'नही दीखता है'। २ 'सत्' अर्थात् जो वास्तव मे 'है' और सर्वकाल मे रहता है (जो दीखता है वह नही) और 'असत्' अर्थात् जो दीखता है पर वास्तव मे ऐसा नही है। हमे जो कुछ दीखता है, वह नाम-रूपात्मक ससार या सारी बाह्य सृष्टि है। इसके भीतर, इस सृष्टि का कारण-रूप तत्त्व छिपा हुआ है। अत बाह्य सृष्टि 'व्यक्त' और आन्तर तत्त्व जिसे आत्मा 'कहते है अव्यक्त' कहा जाता है। अव्यक्त आत्मा का ही व्यक्त-रूप यह जगत् है। इस तरह भीतरी और बाहरी दोनो जगत् से उन्होने अपनी एकता सिद्ध कर ली थी। उन्होने सारी जड-चेतन-सृष्टि मे अपनेको मिला दिया था। इतना आत्म-विस्तार उन्होने कर लिया था। अत सबको भगवद्रूप देखने लगे थे। वह भगवान् की सरूपता को प्राप्त हुए।

**"ये जीवन्मुक्त महात्मा, जिनकी स्वेच्छागति की कहीं रोक-टोक नही थी, देवता, सिद्ध, साध्यगण, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और नागो के लोको में तथा मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओ के स्थानो मे यथेच्छ विचरने लगे।"** ॥२३॥

जीवन्मुक्त के दो अर्थ है—१ वह जो जीते-जी मोक्ष को प्राप्त हो गया, २ वह, जो जीवन से अर्थात् ससार के आवागमन-चक्र से छूट गया। मुक्ति के बारे मे भी दो कल्पनाए है—एक तो यह कि शरीर के रहते हुए ही मुक्ति हो सकती है। दूसरे यह कि शरीर छोडने के बाद ही मुक्ति सम्भव है।

देवता, सिद्ध, आदि जातियो के नाम है जैसाकि पहले बताया जा चुका है। उन्हींके नाम से ये लोक विख्यात हुए है। किन्नर मुख तथा शरीर की आकृति मे कुछ-कुछ मनुष्य के समान प्राणी थे। नृत्य-कला मे निपुण थे। नागा-जाति की कन्याए सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध थी। अर्जुन द्वारा खाण्डव वन जलाये जाने पर नागा लोग दिल्ली के आस-पास से इधर-उधर भाग निकले। आसाम की पहाडियो मे रहनेवाली नागा जाति शायद इन्हीमे से हो। जयपुर राज्य मे नागा एक साधुओ की जाति है, जो बडे वीर है। उनकी एक सेना ही बनी हुई है। ये दादू-पन्थी है। जन्मेजय का किया सर्प-यज्ञ नागा जाति के लोगो का स्वाहाकार था।

मौन-साधना से मनन करनेवाले को मुनि, विरुदावली के रूप मे वश-इतिहास को सुनानेवाले चारण कहलाते थे। भूतनाथ सम्भवत भूत-प्रेत-विद्याओ के जान-

कार थे व विद्याधर कलाकारो की एक जाति थी।

"एक बार वे अजनाभ-खण्ड (भारतवर्ष) में महात्मा राजा निमि के यहा, जो ऋषियो द्वारा यज्ञ करा रहे थे, अचानक जा पहुचे।" ॥२४॥

ये राजा निमि 'विदेह' ही थे, जिनका जिक्र ऊपर आ चुका है।

"उन सूर्य सदृश्य तेजस्वी महा भागवतो को देखकर यजमान (राजा) ब्राह्मण गण और (मूर्त्तिमान आहवनीय आदि) अग्नि सब-के-सब खडे हो गये।" ॥२५॥

महा भागवत के दो अर्थ हो सकते है—१ भागवत-धर्म के अनुयायी, २ भगवान् के भक्त।

यजमान कहते हैं—यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाले को। आजकल घर के मालिक (Host) के अर्थ मे इसका प्रयोग होता है। मराठी मे स्त्री अपने पति को यजमान कहती है।

अग्नि कई तरह के कामो मे आती है। उनके अनुसार उसके कई नाम पड गये हैं। जो अग्नि हवन मे काम आती है, उसे आहवनीय कहते है। यहा मतलब या तो अग्नि के अधिष्ठाता व्यक्ति से है, या फिर यह काव्य भाषा है।

तप और ज्ञान के कारण वे बहुत तेजस्वी दीखते थे। विभूतिमान पुरुषो के मुखमडल के आस-पास एक प्रभा-मडल या तेजोवलय छाया रहता है। वह उनके ज्ञान, तेज व प्रकाश का सूचक होता है। महापुरुषो के चित्रो मे अक्सर यह दिखाया जाता है।

"महाराज विदेह ने आसनो पर विराजमान उन नारायण-परायण मुनिगण का अति प्रेमपूर्वक यथायोग्य पूजन किया। अपने शरीर के तेज के कारण ब्रह्माजी के पुत्रो के समान उन नौ योगीश्वरो से राजा जनक ने अति प्रसन्न चित्त से नम्रतापूर्वक पूछा।" ॥२६-२७॥

ब्रह्मा ने जब सृष्टि-रचना शुरू की तो पहले दस मानस पुत्र उत्पन्न किये—मरीचि, अत्रि, अगिरा, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद। यहा निमि, जनक, विदेह तीनो मे एक ही व्यक्ति का अभिप्राय है।

विदेह बोले—"भगवन्, आप लोगो को मै साक्षात् भगवान् मधुसूदन के पार्षद ही समझता हू, क्योकि भगवान् विष्णु के पार्षद ससार के प्राणियो को पवित्र करने के लिए घूमा करते हैं।" ॥२८॥

दुर्गा सप्तशती के अनुसार 'मधु' नामक दैत्य को मारने के कारण भगवान् मधुसूदन कहलाते है । भगवान् का परम धाम बैकुठलोक कहलाता है । भागवत-कार कहते है कि उसमे उनके पार्षदगण निवास करते है । वह सब प्रकार के क्लेश, मोह और भय से रहित है । शुद्ध सत्व का निवास हे । वहा काल की दाल नही गलती, न कोई विकार ही है, न मोहिनी माया का लेश है । वहा सुरा-सुर-पूजित भगवत्-परायण पार्षदगण निवास करते है । उन पार्षदो के श्यामता लिये हुए धवल शरीर है । कमल के समान नेत्र है, शरीर पर पीताम्वर है, सभी-के चार-चार भुजाए है । वे बडे ही कान्तिमान है । वे सदा लोकोद्धार के लिए जगत् मे घूमा करते है । नन्द, सुनन्द, सुबल, अर्हण, जय, विजय आदि उनमे मुख्य है ।

**"जीव को प्रथम तो यह क्षण-भगुर मनुष्य-शरीर ही मिलना मुश्किल है (जो कि मोक्ष का साधन है) और उसमें भी भगवद्भक्तो का दर्शन तो मै और भी दुर्लभ समझता हूं ।" ॥२६॥**

शरीर-बद्ध चैतन्य जीव कहलाता है । (ममैवाशो जीवलोके जीव-भूत सनातन । इति स्मृतिरिय जीव प्रतिविम्व परमात्मन ॥)

इसे प्रत्यगात्मा भी कहते हैं । परमात्मा के तीन गुण या विशेषण है—सत्, आनन्द, जीवात्मा मे सिर्फ दो—सत्, चित्—पाये जाते है । जीव सुख-दु खमय है । जीव अणु, बिन्दुपरमात्मा विभु (सिन्धु) है । या यो कहे कि परमात्मा की सकुचित केन्द्रस्थ अहन्ता का नाम जीव है । श्री शकराचार्य की सम्मति मे शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते है । देश-काल से मर्यादित परमात्मा को जीवात्मा कहा जाता है । 'माया के परिणाम-स्वरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीर-सहित आत्मा जीव कहलाता है ।' जीव परमेश्वर की पराप्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति या अश है । इसे क्षेत्रज्ञ भी कहते है (गीता) । जैनधर्म मे जीव 'आत्मा' का वाचक है । जैनी जीव को सामान्यत दो प्रकार का मानते है—बद्ध (ससारी) और मुक्त । आमतौर पर जीव उसे कहते है,जिसमे चलन-वलन-क्रिया दिखाई पडे ।[1]

सृष्टि चार प्रकार की है—उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, अर्थात् पृथ्वी

---

[1]जीव का विस्तृत विवेचन आगे अ० ६, श्लोक १६ मे देखिये ।

को फोडकर निकलनेवाले जीव—वृक्ष, वनस्पति आदि, अण्डा फोडकर निकलने-वाले—मुर्गी, कबूतर, पक्षी आदि, पसीने तथा नमी से पैदा होनेवाले कृमि, कीट आदि, जरा यानी झिल्ली या जेर को खोलकर निकलनेवाले पशु, मनुष्य आदि। पृथ्वी पर मनुष्य सर्वोपरि सृष्टि है। इसमे मन, बुद्धि का विकास सबसे अधिक पाया जाता है। कई योनियो—श्रेणियो—मे विकास पाता-पाता या भटकता हुआ जीव मनुष्य-योनि मे आता है। 'वह अज्ञान, कामना व कर्मों के कारण ऊची-नीची योनियो मे भ्रमता हुआ अपनी वास्तविक गति को नही जान पाता।' (भागवत १०।२६।१३), इसीलिए यह दुर्लभ माना जाता है। फिर मनुष्य-देह मे ही वह सुकृत का अधिकारी है। इसीलिए मानव-देह का विशेष महत्व है। यह देह सदा कायम नही रहती। देखते-देखते गिर जाती है। इसलिए इसे क्षण-भगुर (अस्थायी) कहा है। जनकराज कहते हैं कि मनुष्य-देह से भी अधिक दुर्लभ है साधु-सन्तो का, भक्तो का दर्शन। गीता मे भगवान् ने कहा है कि "मनुष्याणा सहस्रेपु कश्चित् यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वत"।

इन्हीके लिए तुलसीदास ने कहा है—"बिछुरत एक प्राण हरि लेही'। फिर घूमते-फिरते 'तीर्थराज' कहा है। किसी कवि की उक्ति है—

"सज्जन सङ्गो मा भूत् यदि सङ्गो मास्तु पुन. स्नेह ।
स्नेहो यदि मा विरहो यदि विरहो मास्तु जीवितस्य ॥"

वे ऐसे दुर्लभ पुरुषो मे थे।

**"अत हे निष्पाप महाबाहो, मै आपसे यह पूछता हू कि ससार में आत्यन्तिक (निस्सीम) कल्याण किसमें है? क्योकि इस जगत् में महात्माओ का आधे क्षण का सत्संग भी मनुष्यों के लिए बडे भारी खजाने के समान है।" ॥३०॥**

**"यदि हमारे सुनने योग्य हो तो हमें वह भागवत-धर्म सुनाइये, जिससे प्रसन्न होकर अजन्मा भगवान्—अपने शरणागत भक्त को अपना स्वरूप तक दे डालते है।" ॥३१॥**

जनकजी का विनय यहा देखने योग्य है। कहते हैं कि हम सुनने के अधिकारी हो तो सुनाइये। पात्रता के लिए सबसे पहले हार्दिक जिज्ञासा देखी जाती है, फिर दृढता, तल्लीनता। बौद्धिक योग्यता, सस्कार भी देखे जाते है। जो जिसका पात्र नही हुआ है, उसे वह वस्तु देने से उसका दुरुपयोग व खुद को हानि ही हो सकती है।

**श्री नारदजी बोले—"वसुदेवजी, निमि के इस प्रकार पूछने पर उन**

**महात्माओ ने प्रसन्नता-पूर्वक धन्यवाद देकर सभासद और ऋत्विजो सहित राजा निमि से कहा ।" ॥३२॥**

राजा जनक ने नौ प्रश्न किये--'भागवत-धर्म' क्या है ? 'भगवद्भक्ति' किसे कहते है ? 'माया' का स्वरूप क्या है ? उससे 'तरने का उपाय' क्या है ? 'परब्रह्म' क्या वस्तु है ? 'कर्म' किसे कहते है ? 'अवतार-चरित्र', कौन-कौन-से हैं ? 'अभक्तो की क्या गति' होती है ? और किस युग मे 'कौन-सा धर्म मानना' चाहिए ? नवो ऋषियो ने एक-एक प्रश्न का अलहदा उत्तर दिया है । पहले कवि बोले—

**"हे राजन्, इस संसार में तो भगवान् अच्युत के चरण-कमलो की नित्य उपासना को ही सर्वथा भय-शून्य मानता हू, जिससे कि उनका भी सम्पूर्ण भय नष्ट हो जाता है, जिनकी बुद्धि असत् (देहादि) में आत्म-भावना के कारण विचलित हो गई है ।" ॥३३॥**

अच्युत=जिसमे कोई त्रुटि, गिरावट या विकार न हो । असत्-सत् से उलटा है । आत्मा सत् अर्थात् सदा रहनेवाला है । इसके विपरीत देहादि भौतिक प्रपञ्च बनता-बिगडता, आता-जाता है, विनाश या परिवर्तनशील है । इस तथ्य को समझ लेना ही ज्ञान है । इसके विपरीत जो देहादि को आत्मा अर्थात् जीव मानकर उसीके लिए जीवन-व्यापार करते है, उनकी बुद्धि भटकती रहती है । हरि कहते है कि भगवान् की भक्ति मे ऐसा बल है कि ऐसे भ्रमित लोगो को भी सन्मार्ग पर लाकर भय-रहित कर देती है ।

यहा असत् (देहादि) मे आत्मभावना रखने की भूल को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए । यह भूल मनुष्य क्यो करता है ? मनुष्य जैसा सकल्प करता है वैसा परिणाम उसके सामने आता है, जो उसके लिए बन्धनकारक हो जाता है । जब हम यह सकल्प करते है—मानने लगते है कि यह शरीर ही सबकुछ है, इसका सुख ही अन्तिम सुख है, तो यह देह-बुद्धि हमे आत्मा से दूर करती चली जाती है और फिर हम ससार के द्वन्द्वो, झगडो,अनिष्टो से त्रस्त होते रहते हैं । देह-भाव से पहले जिन्हे हम अपना समझते है, उनके प्रति ममता, जिन्हे गैर समझते है उनके प्रति अरुचि उत्पन्न होने लगती है। यही राग-द्वेष है । यही कलह, झगडे, उत्पात की जड है । इससे बचने का सरल उपाय है कि हम अपनी इन्द्रियो व विषयो को भगवान् मे लगा दे । योगी इन्द्रियो का निरोध करते है, किन्तु हम—भक्त उन्हे भगवान् की सेवा-पूजा मे, भगवान् के कार्यो मे, लगा दे । योगी जिन विषयो को

त्यागते है, उन्हे हम भगवान् के अर्पण कर दे। योगी को ऐसा त्याग करते हुए दु ख व कष्ट सहन करना पडता है, किन्तु भक्त उन्हे भगवान् के अर्पण करते हुए नित्य मुक्ति का अनुभव करता है। दारा, सुत, गृह, प्राण—सबकुछ भगवान् के अर्पण करना ही भागवत-धर्म है व यही भगवान् का भजन है।

**"अज्ञ पुरुषो को भी तुरन्त आत्मलाभ कराने के लिए जो उपाय भगवान् ने बताये हैं, उन्हींको भागवत-धर्म समझो।" ॥३४॥**

**"हे राजन्, (उन भागवत-धर्मों का) आश्रय लेने पर मनुष्य कभी प्रमाद में पडता। उसपर कभी विघ्नो का आक्रमण नहीं होता। वह इस ससार मे आख मूदकर दौडने पर भी न तो फिसलता है, न गिरता ही है।" ॥३५॥**

भक्ति के लिए केवल भावना, भावुकता की जरूरत है जो कि मनुष्य-मात्र मे होती है। ज्ञान-मार्ग बुद्धि का विषय है व तीक्ष्ण बुद्धिवालो की ही उसमे पहुच हो सकती है। योग साधना मे बहुत क्लेश है। कर्म-मार्ग मे विवेक की, योग्या-योग्य-विचार की और बडी सावधानी की जरूरत है। परन्तु भक्ति-मार्ग मे सब-कुछ केवल भगवान् पर छोड देने की ज़रूरत है। फिर बेखटके होकर ससार-सागर मे तैरते रहो। यह अपढ-कुपढ, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, पतित-पीडित सबके लिए सुलभ है। किसीके लिए इसका दरवाजा बन्द नही है। सरलता, सुगमता व सर्व-लोक-सुलभता इसका विशेष गुण है। यह ऐसी नाव है, जो डूबती नही। बल्कि यो कहे कि बिना तैरे ही पार होना है। बिना प्रयास के ही सिद्धि पाना है।[1]

---

[1] रामकृष्ण परमहस का कथन है कि ईश्वर का नाम-गुण-कीर्तन करना और उन्हीके चरणो मे मन को लगाये रखना ही भक्ति है। कलियुग मे भक्तियोग ही सहज-मार्ग है। (यज्ञ-यागादि युक्त) कर्मयोग बडा कठिन है। शास्त्रो मे अनेक प्रकार के कर्म-काण्ड का विधान है। अब उनका युग भी नही है। आयु कम है। फिर फल-कामना छोडकर अनासक्त भाव मे सब कर्म करना महा कठिन है। ज्ञान-योग भी इस युग मे महान् कष्ट-साध्य है। जीव का अन्न-गत प्राण है, आयु कम है। फिर देह-बुद्धि किसी तरह छूटती नही। देह-बुद्धि के नष्ट हुए बिना ज्ञान होना असभव है। ज्ञानी कहता है—'मैं ब्रह्म हू, शरीर नही, मुझे क्षुधा-तृषा, रोग-शोक, जन्म-मरण, सुख-दु ख, कुछ भी नहीं है।' यदि रोग-शोकादि का बोध हो तो ज्ञान कहा ?

इसमे खास बात यह है कि भगवान् का भक्त निश्चिन्त हो जाता है। न वह प्रमाद मे पड़ता है, न उसे किसी बात का खटका रहता है। जो अपने अहकार के बल पर चलता है, वह अपनी ही बल-बुद्धि पर भरोसा रखकर चलता है। साथ ही वह अपनेको अल्पबल भी मानता है। इससे निश्चिन्तता का अनुभव नही करता। वह फलाफल के चक्कर मे पड़ता रहता है और कर्माकर्म के जाल मे फसता जाता है। इसके विपरीत जिसने अपनी नाव भगवान् पर छोड़ दी है—'किश्ती खुदा पै छोड दो, लगर को तोड दो' वह अजीब मस्ती, निर्द्वन्द्वता, निश्चिन्तता का आनन्द व सुख प्राप्त करता है। मन मे सद्भावना रखकर सदैव शुभ कर्म व सेवा-परोपकार के कार्य करता रहता है व बेफिक्र रहता है कि भगवान् इसका सुफल अवश्य देगा। न भी दे तो वह किसी उलझन मे नही पडता। और जो कुछ शुभाशुभ फल मिलता है, उसे खुद ग्रहण न करके भगवान् के अर्पण कर देता है। इससे उसके सुख-दु ख के प्रभावो से बच जाता है और बचा रहता है।

**"इस धर्म के पालन करनेवाले को चाहिए कि शरीर से, वाणी से, मन से, इन्द्रियो से, अहंकार से अथवा अनुगत स्वभाव से जो कुछ कर्म करे वह सब परमात्मा नारायण के ही लिए है—इस प्रकार समर्पण कर दे।"** ॥३६॥

मनुष्य किसी-न-किसी भावना से प्रेरित होकर किसी-न-किसी उद्देश्य के लिए कर्म करता है। पहले मन मे कोई इच्छा स्फुरती है, फिर बुद्धि उसका निश्चय करती है और कार्य मे प्रेरती है। इस कर्म की सिद्धि मे मनुष्य अपनी सब इन्द्रियो को व सारी शक्तियो को लगाता है। जो इच्छाए स्फुरती है, वे कभी सस्कारो से, कभी अहन्ता से, कभी विषय-सुख से, कभी प्रतिहिंसा से, कभी पवित्र सेवाभाव से व कभी दीन-दया से प्रेरित होती है। जिस किसी कारण से, जिस किसी भावना से, आपने जो कुछ किया है, वह सब भगवान् के अर्पण कर दीजिये। यदि आप हाथ से दान देते है, तो यह समझिये कि दान पानेवाला नारायण है, दान की वस्तु

---

हाथ मे काटा चुभ गया है, बड़ी पीडा हो रही है, फिर भी कहता है कि हाथ मे काटा नही लगा। इसलिए मैं कहता हू कि इस युग मे केवल भक्ति-योग ही सहज है। ज्ञान-योग व कर्म-योग द्वारा भी ईश्वर-दर्शन हो सकता है, परन्तु है महा कठिन।

"ज्ञानयोग अपने शत्रु से सामने होकर लडना है, भक्तियोग किले मे बैठकर लडना है।"

नारायण है, देने की क्रिया भी नारायण है व देनेवाला भी नारायण ही है। इस प्रकार नारायणमय हो जाना ही सच्चा समर्पण है। ज्ञानी ज्ञान के द्वारा व तपी तप के द्वारा जिस अद्वैत स्थिति को पहुचते है, वही यह है। इस छोटी-सी तरकीब से मानो अनजान मे ही हम कहा-से-कहा पहुच जाते है। या ऐसी भावना रखिये कि मैं तो केवल काम करनेवाला यन्त्र हू। जिसके लिए ये सब काम करता हू वह मेरा अन्तर्यामी, हृदयवल्लभ है। इनकी सब जिम्मेवारी उसपर है। मुझे इनका कोई फल भी नही चाहिए। सिवा उस आनन्दकद के मुझे किसी फल की जरूरत ही नही है। इस भावना से कर्तापन का अभिमान, अहन्ता-ममता, सुखभोग मे आसक्ति, राग-द्वेष सब बडी आसानी से छूट जाता है व मनुष्य परमात्मा की शरण मे अपनेको निर्भय, अदम्य, निश्चिन्त, अशोक, दैवी तेज व प्रसाद से युक्त अनुभव करता है। इसका यह अर्थ नही कि इससे हमे कोई फल नही मिलता। बल्कि कई गुना ज्यादह मिल जाता है। लेकिन चूकि हमने उसकी अभिलाषा या आसक्ति छोड दी है, अत उसमे हमे लोभ या लोलुपता नही होती, जिससे कि मनुष्य दु ख, भय, शोक, चिन्ता मे पडा रहता है। 'लोभ मूलानि पापानि' फिर भक्तो को तो भगवान् ने पहले ही आश्वासन दे रखा है।

**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज।**
**अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥**

ज्ञान द्वारा मोक्ष के लिए पहले वैराग्य चाहिए। कर्म द्वारा मोक्ष के लिए अनासक्तियोग। अर्थात् चित्त की समता दोनो मे अपेक्षित है। वैराग्य और अनासक्ति दोनो निषेधात्मक हैं। दोनो कहते हैं 'छोडो'। पर छोडकर ग्रहण क्या करे ? ज्ञान से आत्मा को पाते है, जो स्थूल तो ठीक सूक्ष्म इन्द्रिया मन-बुद्धि आदि का भी विषय नही है। कर्म से चित्त-शुद्धि होती है, जीवन बनता है। परन्तु कर्म किसके लिए ? और चित्त-शुद्धि के बाद क्या ? पहले का उत्तर भक्ति-मार्ग ने दिया—परमेश्वर के लिए। दूसरे का उत्तर गीता ने दिया है—लोक-सग्रहार्थ कर्माचरण। भक्ति ने कहा—वैराग्य, अनासक्ति, चित्त-शुद्धि, चित्त की समता सब चाहते हो तो अलग-अलग साधनो को ग्रहण करने की जरूरत नही है। एक मेरा पल्ला पकड लो। मैं तुमको सूक्ष्म ही नही, स्थूल इन्द्रियो से अनुभव कर सको, ऐसी अद्भुत वस्तु बताती हू। वह है भगवान् के सगुण रूप की उपासना। षड-गुणयुक्त भगवान् की पूजा-अर्चा करो। उन्हीको अपना जीवन समर्पण करो।

अपने आराध्य, लक्ष्य के रूप मे उन्हीको स्वीकार करो। यह कितना ऊचा, कितना दिव्य ध्येय है ? सासारिक सुख-भोग, देश-सेवा, स्वराज्य-प्राप्ति, परोपकार, विश्वबन्धुत्व, वर्ग-हीन-समाज, राम-राज्य इनतक हमारा आदर्श समाप्त हो जाता है। परन्तु भक्त का आदर्श इससे भी ऊचा है। देश, भूमण्डल व सारे विश्व के प्रभु तक उसने छलाग मारी है। सगुण के बाद फिर निर्गुण या गुणातीत तक पहुचना एक आगे का ही कदम है।

**"जो पुरुष भगवान् से विमुख है, उसको उनकी माया से भगवान् के स्वरूप की विस्मृति और (मैं देह हू—ऐसा) विपरीत ज्ञान हो जाता है। फिर आत्मा के अलावा दूसरी वस्तु की सत्ता का अभिमान होने से भय पल्ले पडता है, अतः बुद्धि-मान् पुरुष को चाहिए कि अपने गुरुदेव में इष्टबुद्धि रखके उन श्रीहरि को ही अनन्य भाव से भजे।"** ॥३७॥

जिनका मन भगवान् की तरफ नही है, वे शरीर व शरीर-सुख को ही सबकुछ समझते है। भगवान् को जानने, उनतक पहुचने की उन्हे इच्छा ही नही होती। उनके भोगादि के सस्कार इतने प्रबल होते हैं कि वे भगवान् की तरफ उसे झुकने ही नही देते। यह भगवान् की माया ही है कि भगवान् का ही एक अश या रूप होकर जीव उसीसे विमुख हो जाता है। अपने असली भगवान्-रूप को भूलकर प्राप्त शरीर को ही सच्चा रूप मान लेता है। इस प्रकार उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उसे विपरीत ज्ञान होने लगता है। फिर जो सबका निर्भय, नि शक स्थान आत्मा है, उसे छोडकर वह दूसरे पदार्थ अर्थात् देह मे अभिमान रखने लगता है, जिससे दु ख व भय के सागर मे गोते खाता है। जहा शरीर व उसके सुख-भोग का लक्ष्य है, वहा भय व दु ख मौजूद ही रहेगे। जहा कोई ऐहिक कामना होगी वहा क्रोध जरूर आ जायगा। कामना-सिद्धि मे विघ्न उपस्थित हुआ तो जिसे हम उसका कारण मान लेते हैं, उसपर क्रोध आता है। क्रोध से प्रतिहिंसा, बदला लेने की इच्छा होती है। प्रतिहिंसा के जवाब मे हमारे साथ प्रतिहिसा होने लगती है। अब तो भय व दु ख के लिए राज-मार्ग ही खुल गया। अत मनुष्य को उचित है कि सुख-भोग के आदर्श को छोडकर भगवत्प्राप्ति के आदर्श को स्वीकार करे, जो ससार के सभी आदर्शो से ऊचा, महान्, विशाल व पवित्र है।

लेकिन श्रीहरि दीखे कैसे ? मिलें कैसे ? जबतक चित्त तन्मय नही हो जाता, न तो वह दीख ही सकते है न मिल ही सकते है। तबतक क्या करे ? उसका भी सरल

भावातीत त्रिगुण-रहित सदगुरु तं नमामि ॥

श्री अरविंद लिखते है, "जिस प्रकार पूर्ण योग का परम शास्त्र प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे छिपा हुआ सनातन वेद है, उसी प्रकार उसके परम पथ-प्रदर्शक और गुरु वे ही अन्तर्यामी जगद्गुरु है, जो हमारे अन्दर गुप्त रूप से विराजमान है। इस पूर्ण-योग की सिद्धि के मार्ग मे इन अन्तर्यामी गुरु को, जो योग के ईश्वर, सब यज्ञो और कर्मो के प्रभु, प्रकाश, भोक्ता और लक्ष्य है, पूर्ण रूप से वरण करना अत्यन्त आवश्यक है। आरम्भिक अवस्था मे हमे चाहे किसी भी रूप मे उनके दर्शन हो इससे कुछ आता-जाता नही, क्योकि अन्त मे तो यह अनुभव होता ही है कि भगवान् सब-कुछ है और सबसे अधिक हे।" परन्तु कनफुकवा ढोगी गुरुओ से बचने की सख्त जरूरत है।[1]

भक्ति-मार्ग विधेयात्मक है। इसमे परमेश्वर की भक्ति का विधान इसीलिए किया गया है कि वह सर्वोपरि शक्ति और सर्वागपूर्ण आदर्श है। जो ऐसी किसी सत्ता या गुरु-स्थान को न मानता हो, वह अपनी भक्ति या समर्पण की भावना के लिए किसी दूसरे तत्त्व, सिद्धान्त, वस्तु, स्थान आदि को आराध्य या प्रतीक बना सकता है, जैसे सत्य, न्याय, समता, स्वराज्य, वेद, भारतवर्ष आदि। क्योकि भक्ति चित्त की एक वृत्ति है। उसे कोई आश्रय चहिए। यदि तन्मयता के साथ वह किसी एक को पकड लेती है तो फिर सबके मूल आश्रय, आधार तक वह पहुचे बिना नही रहेगी। अत देश-भक्ति का परमेश्वर-भक्ति से विरोध नही है, बल्कि मातृ-पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति की तरह वह भी भगवद्भक्ति की सहायक ही है, उसका एक अग है—बशर्ते कि भक्त की शुद्ध व एकनिष्ठ भावना उसमे हो।

**"यह द्वैत-प्रपंच वास्तव में न होने पर भी इसी प्रकार परमार्थ-रूप भासता है जैसे स्वप्न और मनोरथ के पदार्थ न होते हुए भी चिन्तन करनेवालो की बुद्धि में सत्यवत् प्रतीत होते है, अत विचारवान् को चाहिए कि वह पहले कर्मो के सकल्प-विकल्प करनेवाले चित्त को रोके, तभी उसे अभय-पद की प्राप्ति होगी।" ॥३८॥**

---

[1]भक्ति, उपासना का स्वरूप समझने व गुरु की योग्यत की परीक्षा जानने के लिए श्री कि० घ० मश्रुवाला-लिखित 'जीवन-शोधन' का चौथा खण्ड, नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद से प्रकाशित 'भक्ति-शोधन' अवश्य पढ लीजिये।

ससार मे हम दो चीजे देखते है—एक तो यह सारा विश्व जो नाम-रूपात्मक है, व दूसरे वह शक्ति जो इस सारे मे निहित व इसका सचालन करती दिखाई देती है। इन दो को पृथक् समझना द्वैत है। या यो कहिये कि शरीर-स्थित जीव व ब्रह्माण्ड-व्यापी आत्मा दो को अलग-अलग समझना द्वैत है। यहा द्वैत-प्रपच से अभि-प्राय इस द्वन्द्वात्मक ससार से है। यह वास्तव मे नही है, फिर भी 'है' भासित होता है। अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त रूप यह जगत् है। ब्रह्म चैतन्य का महान समुद्र है जिसमे आग की चिनगारियो की या विद्युत् की लहरो की तरह स्फुरणा होती रहती है, क्षोभ या स्पन्दन होता रहता है। जब क्षोभ हुआ, तरग या स्फुरण उठी, या स्पन्दन का प्रसरण हुआ तो विश्व बन गया, जब तरग बैठी, शान्त हुई, स्पन्दन का सकोच हुआ, क्षोभ मिटकर शान्त अवस्था प्राप्त हुई तो विश्व मिट गया, ब्रह्म-गुणातीत-शेष रह गया। इस ब्रह्म की दृष्टि से स्फुर-णाओ या तरगो को देखें तो वे अस्थायी, क्षणिक विनाश-शील, ब्रह्म का केवल एक अग अतएव अ-वास्तविक, असत्, नही जैसी, है। इसे पारमार्थिक दृष्टि कहते हैं। इसी दृष्टि से जगत् मिथ्या, भासमान है। स्फुरणओ, तरगो या जगत् की दृष्टि से देखे तो जगत् ब्रह्म से भिन्न मालूम होता है। दो-पन का अनुभव होता है, हालाकि तत्त्वरूप मे, अगागीभाव से, दोनो परस्पर एकसम्बद्ध है। यह ब्रह्म की व्यावहारिक सत्ता अर्थात् व्यवहारपुरती दिखाई देनेवाली सत्ता है। पारमार्थिक सत्ता असली निर्गुण ब्रह्म है। चूकि हम जगत् को देखते है, परिवर्तन होते हुए भी उसमे एक सत्ता यह वस्तु वही है, ऐसा भान सर्वदा रहता है, अत हमारे व्यवहार के लिए वह 'है' ही। इसमे हमारा सारा व्यवहार-व्यापार चलता है। इस व्यावहारिक या प्रति-भासिक जो 'है' नही, पर भासित होती है—सत्ता अर्थात् ससार को ही यहा द्वैत-प्रपच कहा है, जो कि वास्तव मे 'असत्', 'अविद्यमान' है।

जबतक हम स्वप्न देखते है तबतक स्वप्नगत वस्तुओ या दृश्यो को हम सत्य ही मानते हैं। जाग्रत होने पर हमे वे असत्य मालूम होते हैं। मन मे जिस पदार्थ का हम ध्यान करते है, उस समय तो वह प्रत्यक्ष मालूम होता है, परन्तु ध्यान हटते ही वह असत्य, गायब हो जाता है। इस प्रकार मानव-जीवन एक महान् लम्बा स्वप्न या मनोरथ है। इसमे हम अपनी इन्द्रियो द्वारा जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं, वह हमे सत्य मालूम होता है, क्योकि हम अ-ज्ञान रूपी नीद मे सोये हुए हैं। जब ज्ञान—यह कि जगत् क्षणिक है, यह परमेश्वर का ही व्यक्त-रूप है, ये दो

नही, वास्तव मे एक ही है, मै भी परमात्मा-रूप ही हू, जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नही है—रूपी जागृति होती है तो ये सारे अनुभव मिथ्या मालूम होते है और एक सत्य, ब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा ही सब जगह व्याप्त मालूम होता है। यह सब हमारे मन की क्रिया है। मन जो सकल्प करता है, वही आगे चलकर प्रत्यक्ष होता है। भगवान् के मन मे सकल्प-प्रेरणा हुई कि 'एक से अनेक होऊ', और यह विराट्-विश्व बन गया। यही हाल मनुष्य के मन का है। सकल्प-विकल्प ही मनुष्य को कर्म मे प्रेरित करते है। इनका उतार-चढाव तबतक जारी रहेगा जबतक मनुष्य शान्ति,समता, एकता, प्रसन्नता, समाधान का अनुभव नही कर सकता। दूसरी ओर बातो से जबतक मन को, सकल्प-विकल्पो को,रोका नही जायगा तबतक वह किसी एक लक्ष्य मे नही लगेगा। परमात्मा ही हमारा महान् लक्ष्य है। अत परमात्मा मे उसे लगाने के लिए पहले व्यर्थ के,निरर्थक सकल्प-विकल्पो को रोकना चाहिए, जिससे ऊट-पटाग कर्मो मे प्रवृत्ति ही न हो। एकमात्र भगवान् मे ही मन लगा रहे। ऐसा करने से वह शीघ्र अभय-पद को प्राप्त हो जायगा।

**"तथा लोक में जो चक्रपाणि भगवान् विष्णु के कल्याणकारी जन्म और कर्म हैं, उन्हें सुनता हुआ एवं उनकी विचित्र लीलाओं के अनुसार रक्खे गये नामो का निसंकोच होकर गान करता हुआ असग भाव से संसार में विचरे।"** ॥३६॥

पुराणो के अनुसार विष्णु, भगवान् की तीन शक्तियो मे, (सृष्टि का) पालन-पोषण करनेवाली शक्ति है। वेद-विज्ञान के अनुसार अव्यक्त परमात्मा मे जब विकार हुआ तो कुछ भाग सघन, स्थूल होने लगा। उसकी प्राथमिक क्रिया से जो भेद, अन्तर हुआ वह 'क्षर' कहलाया व शेप भाग 'अक्षर' रहा। क्षर भाग द्रव्य-रूप लेकर विश्व का उपादान कारण बना। अक्षर क्रियावान होने से निमित्त-कारण-रूप मे सृष्टि-कर्त्ता हुआ। किसी वस्तु को बनाने मे जो सामग्री लगती है, जिस चीज से वह बनाई जाती है, उसे उस वस्तु का उपादान-कारण व जिस व्यक्ति या शक्ति के द्वारा वह बनाई जाती है, उसे उसका निमित्त-कारण मानते है। अक्षर ब्रह्म ने क्षर द्रव्य मे जो सृष्टि रची, उसमे पहले प्रतिष्ठा, फिर ज्योति व पश्चात् यज्ञ—ऐसे तीन प्रकार हुए। यह सृष्टि क्रियारूप गतिमयी थी। प्रतिष्ठा स्थिति को कहते है। गति-समुच्चय का नाम ही स्थिति है। जब पदार्थ चारो ओर गति करता हो तो वह स्थिर रहता है। स्थिति का अर्थ है पदार्थ की सत्ता-मात्र। उसके बाद ज्योति प्रकटी, जिससे नाम, रूप, कर्म बने। फिर यज्ञ उत्पन्न हुआ। यह यज्ञ

तत्त्व, विष्णु, अग्नि, सोम, मय है। सारी सृष्टि, सृष्टि-व्यापार, परमात्मा का एक महान् यज्ञ ही है। यह यज्ञ अन्नादान-विसर्गात्मक है, स्थिति लयात्मक है। विष्णु यज्ञ-रूप, अन्न का आकर्षक सूत्र है, जिससे यज्ञ सिद्ध होता है। यह पालक तत्त्व है। सोम अन्न है, जो आहुति का काम देता है। अग्नि वह वस्तु है, जिसमे आहुति डाली जाती है। इस तरह अग्नि सोम तो हुआ यज्ञ, व विष्णु हुआ उसके लिए अन्न का आकर्षण करनेवाला, जिसके बल यज्ञ जारी रहता है। अत इस महान् सृष्टि-व्यापार मे सृष्टि को कायम रखनेवाला तत्त्व विष्णु है। दूसरी भाषा मे कहे तो अग्नि व सोम यज्ञ का वस्तु-रूप है व विष्णु (ब्रह्मा तथा इन्द्रसहित) अन्तर्यामी सचालक रूप है।

यहा विष्णु से अभिप्राय भगवान् की स्थिति या पालक शक्ति से है, जिसके जन्म-कर्म ससार के कल्याण के लिए हुआ करते है। इस विष्णु-शक्ति का उत्तम व सुबोध विवेचन 'गीता-मन्थन' कार ने किया है। वह लिखते है—

'आत्मा ज्ञानरूप होने के कारण सकल्पो का जनक है और सत्य-रूप होने के कारण इसके सकल्प सत्य होते है। अत ऋषियो ने आत्मा को सत्य-काम, सत्य-सकल्प कहा है। किन्तु प्राणीजन अपने चित्त की अशुद्धि, चचलता और अव्यवस्थितता के कारण इस सत्य-सकल्पता, सत्य-कामता को नही जानते और इसलिए वे अपनेको पामर, अज्ञान एव असमर्थ-सा जानते है। किन्तु ज्यो-ज्यो चित्त की शुद्धि बढती जाती है, वह स्थिर तथा स्वस्थ बनता जाता है, त्यो-त्यो वह अपनी सत्य-कामता व सत्य-सकल्पता को पहचानने लगता है। वह समझने लगता है कि मेरी जो-कुछ स्थिति है,वह मेरी कामना व सकल्प का ही परिणाम है।

विश्व-व्यापी वह परमात्मा इस तरह अनेक प्रकार के कामो और सकल्पो का आधारभूत है। ये काम-सकल्प विविध गुण, शक्ति तथा परस्पर मेल, विरोध रखनेवाले होते है। ऐसे अनेक सकल्पो के परिणाम-स्वरूप यह अनेक प्रकार की सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। परमात्मा के आधार पर विश्व मे पाई जानेवाली कामनाओ मे एक स्थिर, सात्विक, शुद्ध कामना ऐसी भी है, जो यह इच्छा रखती है कि ससार मे सदैव धर्म की विजय हो, अधर्म का विनाश हो, सत्पुरुषो का उत्कर्ष हो, असुरो का पराभव हो और विश्व का पालन हो और अपनी इच्छा की सिद्धि के लिए क्रियावान होने का सकल्प करती रहती है। ऋषिगण जिसे विष्णु के नाम से पहचानते है, वह इस पालन-कर्त्ता सकल्प का ही नाम

है। यह शुद्ध, सात्विक व कल्याणकर है, अत विविध रूप मे ससार मे सिद्ध होता है। पृथ्वी पर जब-जब धर्म की ग्लानि होकर अधर्म का जोर बढता है, साधु पीडित व दुर्जन बलवान होते है, तब-तब परमात्मा मे स्थित उस सकल्प मे क्षोभ होता है और वह क्रियावान होकर प्रकट होने का प्रयत्न करता है। फिर जिस प्रकार अधर्म का विनाश होकर पुन धर्म की स्थापना हो, उसी प्रकार स्थूल रूप मे प्रकट होता है।" (अ० ४ श्लोक ४-८) यही अवतार कहा जाता है।

इस तरह विष्णु या परमात्मा के वैष्णवी सकल्प के कई अवतार हुए है। श्रीकृष्ण उनमे पूर्णावतार माने जाते है। अवतार अनेक नामो से हुए है व उन्होने अनेक लीलाए की है। कवि कहते है कि मनुष्य उन नामो का उच्चारण व सकीर्तन करता रहे। भगवान् मे मन को रमाने का यह सरल तरीका है। नाम-धुन मे मनुष्य बहुत जल्दी एकाग्रता व तन्मयता का अनुभव करने लगता है। क्लेश व श्रम-युक्त ध्यान-धारणादि से भी जो तल्लीनता सहसा नही प्राप्त होती, वह नाम-सकीर्तन की मस्ती से प्राप्त हो जाती है। सभी भक्तो ने नाम की महिमा गाई है। तुलसीदास ने तो नाम को राम से भी बडा बताया है।

"राम एक तापस तिय तारी,
नाम अमित खल कुमति सुधारी।"

अन्त मे इस भय से कि नाम-गुण-गान करते हुए भक्त कही ससार के मोह आसक्ति मे न फस जाय,कवि चेतावनी देते है कि वह विषयो के सग से बचा रहे। इस एक खतरे बचना बहुत जरूरी है।

"इस प्रकार के व्रत (आचरण) वाला पुरुष अपने परम प्रिय प्रभु के नाम-सकीर्तन से अनुराग उत्पन्न हो जाने पर द्रवित चित्त होकर ससार की परवा न कर कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाने लगता है, कभी उन्मत्त के समान नाच उठता है।"॥४०॥

जब भक्त भगवान के रग मे रगने लगता है तो ससार की अर्थात् लोक-व्यवहार या निन्दा की परवाह नही रहती। कोई बुरा-भला कहे तो उससे चिढता नही, उद्विग्न नही होता। अपनी ही धुन मे मस्त रहता है। निन्दा करनेवालो को भी वह भगवद्रूप ही देखता है। भगवान् की भिन्न-भिन्न लीलाओ का चिन्तन करता रहता है। अतएव भिन्न-भिन्न भावो से अभिभूत होता रहता है, जिससे हँसने, रोने, गाने की भिन्न-भिन्न चेष्टाए प्रकट होती रहती है। चिन्तन मनोमय होने के कारण बाहरी

दुनिया उसे उन्मत्त---पागल समझने लगती है। किन्तु वह अपने मन मे दृढता से एक केन्द्र को साधे हुए रहता है। मनुष्य जब एक बात मैं तल्लीन हो जाता है तो स्वभावत दूसरी बातो की ओर से ध्यान छूटकर उदासीनता आ जाती है। इससे लोग उसे सनकी, खब्ती, पागल, कहने लगते हैं। वास्तव मे इनमे कोई लोक-विलक्षण पुरुष होते है। ऐसा पुरुष जब प्रेम से प्रभावित होने लगता है तो अपनेको प्रेममय देखने लगता है। उसकी भीतरी-बाहरी सब इन्द्रिया, सब अवयव, प्रेमरूप हो जाते है। जब वह नाम-सकीर्तन करने लगता है तो फिर नाममय या नामीमय हो जाता है। बच्चा बहुत दिन के वियोग के बाद जब माता से मिलता है तो वह उसकी गोद मे इस तरह जा बैठता ह मानो मातामय हो गया है। वह अपने शरीर की सुध-बुध भूल जाता है। इसी तरह जब किसीके दु ख, क्लेश, कष्ट की बात सुनता, देखता या अनुभव करता है तो वह करुणामय हो जाता है, व आखो से आसू झरने लगते है। महात्मा गाधी के सामने जब किसीका दु ख या विपत्ति आ जाती थी तो वह यह अनुभव करने लगते थे कि यह कष्ट उनपर ही आ पडा है और वह विह्वल हो जाते थे। जब हम दूसरो की भावनाओ या आत्मा से इतना घुल-मिल जाय तभी इस स्थिति का अनुभव कर सकते हैं। इसी तरह किसीके हर्ष को देखकर या उसकी कल्पना या भावना से वह हर्षोन्मिन्न होकर नाचने-कूदने लगता है। शरीर-युक्त होते हुए भी वह भावना-मय, भावाभिभूत हो जाता है। जब भक्त भगवान् के कीर्तन मे मग्न हो जाता है, स्वप्न मे भी उसकी मग्नता नही टूटती तब हरिनाम का स्मरण होते ही या मुख से निकलते ही वह गद्गद हो जाता है। जब उसे यह ख्याल होने लगता है कि अरे मैं अपने प्रियतम भगवान् से बहुत दूर पड गया हू तो विकलता से रोने लगता है। जब यह ख्याल आता है कि भगवान् आये है, सामने खडे है, मुझे बुला रहे हैं तो वह हर्ष से अपने इस सौभाग्य पर नाच उठता है। थोडी शराब पीकर जब मनुष्य नाचने-कूदने लगता है तब जिसने भगवत्प्रेम की, जड-चेतन-विश्वप्रेम की मदिरा पी ली वह उसमे मस्त हो रहे तो क्या आश्चर्य है ? जब यह विचार मन मे आता है कि अरे मैं तो उसी चैतन्य परमात्मा का अश हू, उसीका एक रूप हू, फिर भी कैसा पामर अपनेको समझता हू तो मन मे अपार ग्लानि होने लगती है व अपने आपपर हँसने लगता है। मतलब यह कि जिस एक लक्ष्य के ध्यान मे वह डूब गया है, उसीसे सम्बद्ध भिन्न-भिन्न भावो मे प्रसगानुसार वह इतना निमग्न हो जाता है कि उसे मान, वस्तुस्थिति का या दूसरी बाहरी बातो का व आचारो का ध्यान नीह

रहता। इस एकाग्रता मे ही जीवन व जीवन-कार्यों की सफलता है। जब इस एकाग्रता का कोई केन्द्र नही रहता तब मनुष्य पागल हो जाता है। बाज लोग यह मानते हैं कि ऐसे भाव-विशेष मे मस्त हो जाना ही जीवन की कृतार्थता है। ऐसे लोगो के लिए अब कुछ पाना या साधना बाकी नही रहा। वे भूल करते हैं। वास्तव मे समस्त भावो की परिसमाप्ति भगवान् मे कर देना जीवन की कृतार्थता है—भावविशेष की नही। परन्तु जीवनभर ऐसी स्थिति बनी रहना जरूरी नही है। साधना-काल मे अर्थात् जब भगवान् व भक्त के बीच का पर्दाफाश नही हुआ है तब-तक भावो का ऐसा उतार-चढाव आता रहता है। यह वृत्तियो की चचलता का चिह्न है। सम्पूर्णत भगवान् मे लीन हो चुकने पर समुद्र की तरह शान्त, अचल, गम्भीर, प्रसन्न हो जाता है तब भक्त मुक्त या सिद्ध पदवी को पा जाता है। फिर उसके सब जगत्-व्यवहार, जीवन्मुक्त विदेह के जैसे होने लगते है। ज्ञानी व भक्त दोनो की अन्तिम दशा या स्थिति यह एक ही है। सिर्फ प्रवेशद्वार व आरम्भिक मार्ग भिन्न-भिन्न है। भावना-प्रधान व सरल साधना चाहनेवाले व्यक्ति भक्ति से आरम्भ करते हैं—बुद्धिप्रधान व श्रम-कष्टप्रिय योग से। अस्तु। इस प्रकार जब उसकी वृत्ति एकाग्र हो जाती है तब—

**"आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, नक्षत्र, प्राणि, दिशाएं, वृक्ष आदि, नदिया और समुद्र जो कुछ भी हैं, वे सब भगवान् हरि का शरीर ही है, ऐसा मानकर सबको अनन्य भाव से प्रणाम करें।"** ॥४१॥

भूत-मात्र मे नारायण-भाव रखकर सबके प्रति नम्र होकर रहे। वेदान्त मे इसीको ब्रह्म-भाव की साधना कहते है। यहा भक्त भगवान् से अपनेको अलग मानता है, वहा जीवात्मा परमात्मा से जुदा नही है। इस भाव मे मनुष्य को यत्र-तत्र सर्वत्र भगवान् ही-भगवान् दिखाई देते हैं। वह जिस किसी वस्तु को देखता है वही चैतन्यमय, भगवान्मय दिखाई देती है। आतिशबाजी मे बारूद के जोर से कई तरह के खेल उछलने व नाचने लगते हैं। लोग समझते हैं कि असल मे यह बारूद का खेल है। उसी तरह वह दुनिया के चलते-फिरते लोगो व वस्तुओ को देखकर यह समझता व मानता है कि ये उसी चेतनसत्ता से घूम-फिर रहे है, जिसमे कि मैं। अत. उनमे वह आत्मीयता-अद्वैतभाव अनुभव करने लगता है। उसके नज़दीक न हिन्दू हिन्दू, न मुसलमान मुसलमान, न पारसी पारसी, न राजा राजा, न रक रंक, न पशु पशु, न पेड पेड। इन सबको वह एक ही चेतन प्रभुमय देखता है और

सबके प्रति समभाव से रहता है। अत भक्ति कोरी वैयक्तिक साधना नही है। वह सामाजिक, मानवीय, विश्वजनीन भी है। भगवान् जैसे सर्वव्यापी के अर्पण अपनेको करने की भावना मे समाज, मनुष्य-जाति व सारे विश्व के प्रति समर्पण-भाव अपने-आप आ जाता है। उसकी व्यक्तिगत साधना चुपचाप इस तरह समष्टि-गत हो जाती है। भक्त होने का अर्थ समाज व मानव-जाति को भूल जाना नही है, बल्कि वडे लक्ष्य की सिद्धि के लिए कुछ काल तक उसे गौण समझना है। जब भगवान् की प्राप्ति हो जाती है, भक्त भगवान् मे मिल जाता है, उसकी भावना सर्वव्यापिनी हो जाती है तब उसमे समाज व मानव-जाति के कल्याण की अनन्त गुना शक्ति आ जाती है, व वह उसकी सेवा या उद्धार-सुधार के लिए वास्तविक अधिकारी हा जाता है। जो भक्त भगवान् को चाहता है, वह उसकी सृष्टि, प्रजा-सन्तति को कैसे भूल सकता है ? उनके दु खो, क्लेशो, विपत्तियो, भयो को देख-कर कैसे शान्ति से चुप बैठ सकता है ? हा, ससार के मोहो, विषयभोगो मे वह लिप्त नही होता। इसी अर्थ मे वह ससार से अलिप्त रहता है।

**"जो भगवान् का भजन करता है, उसको परमेश्वर में प्रेम, उनके स्वरूप का अनुभव और अन्य वस्तुओ में वैराग्य ये तीनो बातें एक साथ प्राप्त होती हैं, जिस प्रकार भोजन करनेवाले को प्रत्येक ग्रास के साथ ही तुष्टि, पुष्टि व क्षुधा-निवृत्ति तीनों एक साथ प्राप्त हो जाती हैं।"** ॥४२॥

दो जीवो को परस्पर आकर्षित करनेवाली जो शक्ति है, उसे प्रेम कहते है। इसका अन्तिम परिणाम दोनो का एक-दूसरे मे घुल-मिल जाना है। यह प्रेम जब प्रगाढ होता है व सामनेवाला व्यक्ति हमारे लिए पूज्य, आदरणीय व इष्ट होता है तो भक्ति का रूप धारण कर लेता है। नाम-सकीर्तन या नाम-धुन मे पहले तो भगवान् के प्रति प्रेम उमडता है, फिर विषय-भोगो से अरुचि होती है, जिससे मन केवल भगवान् मे ही केन्द्रित हो रहता है। तब उसे भगवान् के स्वरूप का बोध होने लगता है। जब वह भगवान् को पहचानने लगा तो उसे शान्ति मालूम होने लगेगी। क्योकि तब चचल मन स्थिर होता जायगा। मन की स्थिरता और व्यवस्थितता का ही दूसरा नाम शान्ति है। स्थिरता से वृत्ति मे समता आती है, यह शान्ति का पूर्व स्वरूप है। समता जब स्थिर हो जाती है तो वही शान्ति है।

भूख लगने पर जब हम पहला कौर लेते हैं तो वडे सतोप (तुष्टि) का अनु-भव होता है और खाने मे रुचि वढ जाती है। भगवान् की भक्ति का भूखा भक्त

जब पहले राम-नाम की धुन लगाता है--'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम ।', 'राधा कृष्ण जय कुञ्जविहारी, मुरलीधर गोवर्धनधारी', 'जय जय रामकृष्ण हरि', 'विट्ठल-विट्ठल'--तो शुरू मे ही वह भगवत्प्रेम का रसपान करने लगता है, यही उसकी तुष्टि है। जब अन्न पेट मे गया तो दूसरी सब बातो की तरफ से ध्यान हट गया। भगवान् के मधुर-प्रेम-रस की प्रगाढता मे मन मे विराग उत्पन्न होने लगा, यह पुष्टि हुई। पेटभर खा लेने से भूख मिट गई। यहा भगवान् के प्रेम से छक जाने पर उनके स्वरूप का ज्ञान हुआ, इससे उसकी भक्ति-भूख बुझी। अब वह तृप्ति, शान्ति का अनुभव करने लगा।

जब एक बात मे मन लग जाता है तो दूसरी बातो की ओर से अपने-आप ध्यान हट जाता है। यही विराग की बुनियाद है। अच्छी बातो मे मन लगाने से बुरी बातो के प्रति विराग होता है। बुरी बातो मे मन लगायगे तो अच्छी बातो की तरफ से विराग हो जायगा। बुद्धिमान् मनुष्य, जो सुख चाहते है, व दु खो से त्रस्त हैं, अच्छी बातो मे मन लगाते है। उन्होने ससार की तमाम अच्छी बातो के समूह को 'भगवान्' 'परमात्मा' आदि नाम दिया है। अत जब यह कहते है कि भगवान् से प्रेम करो व दुनिया मे विराग रक्खो तो उसका अर्थ होता है कि ससार की सब अच्छी बातो, अच्छे भावो, अच्छी शक्तियो से प्रेम करो व बुरी बातो से मन हटालो। इस तरह जब हमारा प्रेम व भक्ति भगवान् मे दृढ हो जाती है तो उसमे तुष्टि, पुष्टि व शान्ति--एकनाथ महाराज के शब्दो मे 'भक्ति' 'विरक्ति' व 'प्राप्ति' तीनो एक साथ प्राप्त होते है। 'भक्ति' का अर्थ है भूत-मात्र के प्रति प्रेम। 'विरक्ति' का अर्थ है अशुद्ध, निस्सार, बुरी बातो से अरुचि व 'प्राप्ति' से मतलब है भगवान् की प्रतीति--जड-चेतन विश्व के रूप मे अपना रूप देखना। केवल कुटुम्ब, जाति, देश, व समाज व मानव-मात्र मे ही नही, जीव-मात्र मे ही नही, बल्कि जड-चेतन, सृष्टिमात्र मे अपनेको विलीन कर देना। स्वार्थ-त्याग या आत्म-त्याग की यह पराकाष्ठा है। जो यह कहते है कि व्यक्ति को समाज मे लीन हो जाना चाहिए, यही व्यक्ति-जीवन का उत्कर्ष है, वे देखे कि भागवत-धर्म का आदर्श उनसे केवल समरस ही नही बल्कि आगे बढा हुआ है।

"इस प्रकार हे राजन्, भगवान् अच्युत के चरण-कमलो का निरन्तर भजन करनेवाले भक्त को भगवत्प्रेम, विषयो में वैराग्य, तथा भगवत्स्वरूप का बोध ये सब अवश्य प्राप्त होते हैं और वह साक्षात् परम शान्ति को प्राप्त हो जाता

है।"॥४३॥

इस तरह राम-धुन की रट जब निरन्तर लगी रहती है तो पूर्वोक्त तीनो लाभ और निश्चित हो जाते है व अन्त मे भक्त साक्षात् परम शान्ति—अखण्ड सुख—को पा जाता है। मानो शान्ति-स्वरूप ही हो जाता है।

यहा याद रखना चाहिए कि नाम-सकीर्तन या धुन भगवान्—अपने इष्ट या आराध्य—मे मन लगाने का सरल साधन है। परन्तु जिनका इष्ट कोई देश, वस्तु, तत्त्व या सिद्धान्त आदि हो वे क्या करे। वे अपने ध्येय को सदा-सर्वदा याद रक्खें—एक क्षण के लिए भी अपनी आखो से उसे ओझल न होने दें। जैसे गोपियो के मन मे कृष्ण समा गये थे—

नाहिं न रह्यो हिय मह ठोर।
नन्द नन्दन अछत कैसे आनिए उर और।
चलत, चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत राति।
हृदय में वह स्याम मूरति, छिनन इत-उत जाति॥

जित देखो तित स्याममयी है।
स्याम कुजवन, जमुना स्यामा, स्याम गगन घन घटा छई है।
सब रगन में स्याम भरो है लोग कहत यह बात नई है॥
मे बौरी की लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई हैं।
चन्द्रसार रविसार स्याम है मृगमद स्याम काम विजई है॥
नीलकण्ठ को कण्ठ स्याम है मनो स्यामता बेल वई है।
श्रुति को अक्षर स्याम लेखियत दीप शिखा पर स्यामतई है॥
नर देवन की कौन कथा है अलख ब्रह्म छवि स्याममयी है॥

श्रीकृष्ण की मनोहर मूर्ति व काली घुघराली अलको को एकटक देखते रहने मे आख की पलक को वाधक जानकर गोपी से उनको वनानेवाले ब्रह्मा को मूर्ख—अरसिक—कहे विना नही रहा जाता है—'कुटिल कुन्तल श्री मुखञ्च ते। जड उदीक्षता पक्ष्मकृद् दृशाम्।' —यही उनका नाम-स्मरण हुआ। दिन-रात अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए साधन जुटाने, उनकी योग्यायोग्यता की छान-वीन करने, लक्ष्य के स्वरूप का निश्चय करने, अपने कार्यक्रम को पूरा करने के जोड-तोड भिडाने मे उनका समय व शक्ति लगनी चाहिए।

"वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथाया।
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नि
स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत् प्रणामे
दृष्टि सतां दर्शनऽस्तु भवन्त्तनूनाम्॥"

भक्ति का असली मर्म या स्पिरिट यही है कि मनुष्य किसी शुद्ध व ऊचे ध्येय के लिए अपने-आपको समर्पण करदे व दिन-रात प्रेम-अनुराग-उत्साहपूर्वक उसीकी सिद्धि मे लवलीन रहे। इससे उन्हे भी भगवद्भक्त की तरह तुष्टि, पुष्टि व मुक्ति तीनो का लाभ होगा। आज समाज या देश की सेवा मे, जो लोग तन-मन से लगे हुए है, नाना प्रकार के कष्ट, असुविधाए, अपवाद सहते हुए अपने उद्देश्य की सिद्धि मे लगन से जुटे हुए है, वे सब भक्त-श्रेणी मे आ जाते है। हा, भगवद्भक्ति का आदर्श सबसे ऊचा है, यदि वह सच्चे व व्यापक अर्थ मे जैसा कि पहले बता चुके हैं, लिया जाय।

भक्त भगवान् से कुछ नही चाहता। पहले तो वह भगवान् को चाहता है, उसके लिए दूसरी सब बाते छोड देता है। फिर भगवान् की चाह भी छूट जाती है, क्योकि वह भगवानमय हो जाता है। जबतक वस्तु दूर रहती है तबतक उसकी चाह होती है, जब वस्तु व मैं एकरूप हो गये तो चाह किसकी रहेगी? इस तरह भक्त चाहे या न चाहे यदि उसका सर्वार्पण सच्चा है तो उसे सफलता सुख, शान्ति अवश्य मिलते है। उसने अपने शरीर-सुख की चाह छोड दी है। अपनी कोई महत्वाकाक्षा नही रखी। अब दुनिया मे उसका झगडा किससे व क्यो हो? उसकी सफलता, शान्ति मे बाधाए क्यो आवे? वह जो कुछ सोचता है, करता है, वह भगवान् के लिए--ससार की सेवा के लिए। इसमे जो लोग बाधा डालते है ससार के हित मे लीन शक्तियो का विरोध व प्रतिकार उन बाधाओ को हटा देता है। इसमे समय लग सकता है, पर सिद्धि निश्चित है। इसमे देर हो सकती है, अन्धेर नही।

राजा निमि बोले--"अब आप भगवद्भक्त का वर्णन कीजिये। उसके जो धर्म हैं, मनुष्यो में जैसा उसका स्वभाव होता है, वह जैसा आचरण करता है, जो कुछ बोलता है और जिन लक्षणो के कारण वह भगवान को प्रिय होता है वह सब बतलाइये।" ॥४४॥

जब भागवत्-धर्मो का परिचय पा लिया तो भगवत् भक्तो से पहचान कर

रहा परदे में अब न वह परदानशी,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा।"

इसीको दूसरी भाषा मे कहे तो सबमे भगवान को भगवान मे सबको देखना है। वह अपनेको भगवान मे व भगवान को अपने मे सर्वदा देखता है। वह मानता है, मैं ही परमात्मा हू। परमात्मा मुझमे है, मुझसे अलग नही। उसका मैं-पन जो केवल उसके शरीर, कुटुम्ब आदि मे सीमित था, अब सारे विश्व-ब्रह्माण्ड तक व्याप्त हो गया है। अत जिसमे अहन्ता का लेशमात्र नही रह गया है, जीव-भाव निकलकर शिव-भाव आ गया है, जैसे घी या घी के कण मे कोई भेद नही है पिघलने पर दोनो एकरस, एकजीव हो जाते है, वैसे ही जिसकी स्थिति भगवान मे हो जाती है, वह भक्तो मे, योगियो मे, ज्ञानियो मे श्रेष्ठ, सर्वोपरि उत्तम है। ऐसी अद्वैत, अभेद-सिद्धि श्रेष्ठ भक्त का प्रथम लक्षण है।

**"जो भगवान से प्रेम, उनके भक्तो से मित्रता, अज्ञानियो पर कृपा, और भगवान से द्वेष करनेवालो की उपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त है।" ॥४६॥**

पहले नम्बर का भक्त सबमे एकभाव को देखता है। यह दूसरे नम्बर का भक्त भेद-भाव रखनेवाला है। भगवान को, उनके भक्तो को, अज्ञानियो को, भगवान के द्रोही को—सबको—खुद अपनेको भी—अलग-अलग देखता है। इसकी दृष्टि मे अभी सबके कर्मों की योग्यता-अयोग्यता का भाव है। जो जिस योग्य है वैसा ही उसके साथ यह व्यवहार करना चाहता है। मुह देखकर तिलक लगाता है। आत्मत्व, अभेदत्व इसकी कसौटी नही है, मूल प्रेरणा नही है। जो सबको आत्ममय देखता हैं वह सबके प्रति प्रेम से सराबोर रहता है। जो कुछ करता है, उनके प्रति प्रेम से प्रेरित होकर करता है। भले ही वह साधुपुरुष हो, दुष्ट-दुरात्मा हो, जगत् मे उसका शत्रु या विरोधी समझा जाता हो। यह दूसरा मध्यम भक्त भगवान के भक्तो का सत्कार करेगा, उनसे नेह लगावेगा, लेकिन जो भगवान को नही मानते या उसकी निन्दा करते है, उनसे असहयोग रक्खेगा, उनकी उपेक्षा करता रहेगा, यदि उनका अहित नही करेगा तो उनके हित मे भी प्रवृत्त नही हागा 'साहब सलामत दूर की अच्छी', इस तरह रहेगा। जो नासमझ हे, अपढ अज्ञानी है, उनपर वह कृपा जरूर रखेगा।

**"और जो भगवान् के अर्चाविग्रह-प्रतिमा आदि की पूजा में ही श्रद्धा से प्रवृत्त होत हे, उनके भक्तो की अथवा अन्य किसीकी पूजा में प्रवृत्त नही होता, वह**

**साधारण भक्त कहा गया है।" ॥४७॥**

अब तीसरे नम्बर का—साधारण भक्त—आया। यह केवल भगवान की मूर्ति आदि की पूजा-अर्चा मे निमग्न रहता है। यह नौसिखिया है—अभी इसका भक्ति-मार्ग मे प्रवेश ही हुआ है। इसका मन अभी बाहरी उपचारो मे ही लगता है। भक्ति की स्पिरिट मे नही घुसा है। प्रतिमा मे ही वह भगवान का निवास मानता अभी है। अत दूसरे जीवो या मनुष्यो की पूजा मे प्रवृत्त नहीं होता। इनमे अभी उसकी भगवद्भावना नही हुई है। अत यह प्रारम्भिक भक्त हुआ।

**"इन्द्रियो के द्वारा विषयो को ग्रहण करता हुआ भी 'यह सब भगवान की माया ही है' ऐसी दृष्टि रखकर जो न उनसे द्वेष करता है न उन्हे पाकर खुश ही होता है, निश्चय ही वह भगवद्भक्तो में उत्तम है।" ॥४८॥**

अब फिर उन्होने उत्तम भक्तो के सविस्तर लक्षण बताना शुरू किये। यह भक्त विषय-भोग तो करता है, पर उनमे लिप्त नही होता, उनसे प्रभावित नही होता, अत उसके मन मे उनके या लोगो के प्रति राग-द्वेष नही पैदा होता, न उनके सुख-दु खो का ही भागी होता है। यह सब 'भगवान की माया या प्रारब्ध का फल' है ऐसा समझकर वह तटस्थ रहता है। सुख-भोग पास आते है तो इन्कार नही करता, नही आते या चले जाते हैं तो दु खी नही होता, उसके लिए विषयो का भोग व त्याग दोनो मिथ्या हैं। इस प्रकार विषय-भोग मे चित्त की समानता या तटस्थता उत्तम भक्त का लक्षण है।

**"जो हरिचरण में तल्लीन रहने के कारण क्रमश देह, इन्द्रिय, प्राण मन और बुद्धि के सासारिक धर्म, जन्म-मरण, क्षुधा, भय, तृष्णा और परिश्रमादि से मोहित नही होता, वह भगवद्भक्तो मे श्रेष्ठ है।" ॥४९॥**

विषय-भोगो से तटस्थता तो ठीक वह देहादिक के जन्म मरणादि सासारिक धर्मों से भी मोहित नही होता, इनके प्रभाव मे नही आता। क्योंकि उसका ध्यान तो ईश्वर के चरणो मे लगा हुआ है। वह उसीमे गरकाव हो रहा है। जिसके मन ने महामहिमान्वित अखण्डैश्वर्यसम्पन्न भगवान को ग्रहण कर लिया है, उसपर फिर इन्द्रियो के धर्म अपनी सत्ता कैसे चला सकते हैं?

हाथ, पाव आदि दस इन्द्रिया[1] कहलाती है। इन्द्रियो से युक्त जो हमारे

---

[1] इन्द्रिया—जीव की भिन्न-भिन्न क्रिया-शक्तियो के प्रकट होने के शरीरस्थ

शरीर का ढाचा है, यह देह कहलाता है। दस इन्द्रिया वाहरी है। इसी तरह भीतरी इन्द्रिया भी है, जिन्हे मन, बुद्धि, चित्त, अहकार (अत करण चतुष्टय) कहते है। शरीर के भीतर हृदय, फेफडे, मूत्रपिण्ड (गुर्दे), जठर, यकृत (जिगर) प्लीहा (तिल्ली) छोटी-वडी आते, आदि छोटे-वडे अवयव भी है, जो शरीर की स्थिति, पोषण व सचालन का काम करते हैं। इनका सम्वन्ध वाहरी जगत से नही होता, जैसा कि कर्मेन्द्रियो व ज्ञानेन्द्रियो का होता है। देह, इन्द्रिया, मन, बुद्धि, प्राण ये मनुष्य के या जीव के वन्धन के पाच कारण है। क्षुधा, तृपा, भय, क्लेश, जन्म, मरण ये मनुष्य के ससार-धर्म है, अर्थात प्रत्येक मनुष्य के साथ ये लगे ही हुए है। परन्तु उत्तम भक्त इनसे दु खी व प्रभावित नही होता। वह भगवद्भजन मे या अगीकृत सेवा-कार्य मे इतना तल्लीन हो जाता है कि उमे भूख-प्यास का भान ही नही रहता। उसके मन का स्वतन्त्र अस्तित्व ही मानो नही रहता। उसमे द्वैत-भाव स्फुरित नही होता। अत उन्हे भव-भय वाधा नही पहुचाता। जवतक देह-भाव कायम है तभी तक मन मे अनेक तृष्णाए उठती है। भक्त उनसे अलिप्त

---

साधनो को इन्द्रिया कहते है, ये यो दस है किन्तु मन भी एक अन्तरिन्द्रिय माना जाता है, अत ग्यारह कह सकते हैं। इनमे पाच—आख, कान, नाक, जीभ, चमडी ज्ञानेन्द्रिया है, जो वाह्य जगत का ज्ञान मन को देती है, और पाच कर्मेन्द्रिया—वाणी, हाथ, पाव, गुदा, लिग है, जो मन की प्रेरणानुसार उसके आदेश का वाहरी जगत मे पालन करती है। जीव मन के मार्फत इन इन्द्रियो से काम लेता है।

मन—का कार्य, सकल्प-विकल्प करना है। यह रजोगुण-प्रधान है।

वुद्धि—कार्य-अकार्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, भला-वुरा का निर्णय करनेवाली शक्ति। यह सत्त्व गुण-प्रधान है।

चित्त—प्रेरक शक्ति चैतन्य की ज्ञान व क्रिया-शक्ति शरीर मे आकर जव ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, इच्छावान्, वासनावान्, भावनावान् वनती है तव उमे चित्त कहते है। विपयो का अनुसन्धान करनेवाला।

अहकार—भेद-वुद्धि, अपनी स्वतन्त्र पृथक्ता, अस्तित्व का भान। श्री मशरूवाला के मतानुसार प्रत्येक नामरूप मे स्थित स्वरूप धृति (Stability) व प्रत्याघात-धर्म (Resistance) वास्तव मे मन ही के ये चार रूप कर्म-भेद मे है।

रहता है, क्योंकि उसका देहभाव नष्ट हो जाता है। उसे इन्द्रिय-क्लेश भी नही होते। इन्द्रियो का प्रत्येक कर्म उसके लिए ब्रह्म-स्फुरण हो जाता है। आख से यदि कुछ देखता है तो वह दृश्य नारायण का रूप हो जाता है। कान से जो-कुछ सुनता है, वह नारायण-ध्वनि होती है। किसी वस्तु को छूता है तो उसे भगवान के स्पर्श का अनुभव होता है। वह वस्तु उसे जड नही बल्कि चिन्मात्र चैतन्यमय मालूम होती है। छाया को यदि पालकी मे बैठावे तो उसे उसका क्या सुख-दु ख होगा ? आकाश मे यदि कोई तलवार चलावे तो आकाश पर उसका क्या असर होगा ? भक्त यह मानता ही नही कि मेरा जन्म हुआ है और मैं मरूगा। पानी के गढे मे सूर्य-प्रकाश दीखता है। क्या प्रकाश यह मान लेता है कि मैं पानी का गढा हू ? इस तरह भक्त को देह-जनित सुख-दु ख बाधक नही होते।

**"कामना और कर्म के बीजो, वासनाओ का जिसके चित्त में उद्भव नही होता और एकमात्र भगवान् वासुदेव का ही जिसे सहारा है, वह निश्चय ही भगवद्भक्तो मे श्रेष्ठ है।" ॥५०॥**

अब भक्त और आगे बढता है। शरीर-धर्मों के प्रभाव मे अपनेको बचा लेना एक बात है, कामना व कर्म के सब बीजो को मिटा देना दूसरी बात है। किसी कामना को लेकर ही कर्म होता है, शरीर-धर्म प्रकट होते हैं। तो अब भक्त उन धर्मो या कर्मों के मूल को ही काट देता है। कामना व वासना को ही त्याग देता है। स्वतन्त्ररूप मे अपनी कोई इच्छा नही रखता। भगवान् की महान इच्छा मे उसने अपनी इच्छा मिला दी है। अब तो भगवान् इच्छा करते है, वह नही। वह जो कुछ करता है भगवान् के इच्छानुसार करता है। अत वह कर्त्तापन के बन्धन मे नही बधता, फल-भागी नही होता। उसके सुख-दु ख, हर्ष-शोक से बच जाता है। जब वह इच्छा नही करता तो उनका फल-भोग भी नही करता। अच्छा फल हुआ तो भगवान् के अर्पण, बुरा हुआ तो भगवान् के अर्पण। वह एकमात्र वासुदेव को ही कर्ता, भोक्ता सब-कुछ समझता है। बल्कि उसकी कामना-वासना भगवान् का ही रूप ले लेती है। तब तो न वासना का भय रहा न उसके फल-भोग की चिन्ता रही।

साधारण कामना 'कामना' कहलाती है, व विशेष भोग की कामना 'वासना' कहलाती है।

**"जिसका जन्म अथवा कर्म से तथा वर्ण-आश्रम अथवा जाति के कारण इस**

**देह में अहंभाव नहीं होता, वह अवश्य भगवान् को प्रिय होता है।" ॥५१॥**

कामना-वासना ही नही, अब वह अहभाव 'मैं हू', इस भावना को मिटा देता है, उसे हरिचरण मे लीन कर देता है। यह शरीर मेरा हे, यह शरीर मैं हू, मैं जन्मा हू, मैं कुछ करता हू, मैं अमुक वर्णी हू, अमुक जाति का हू, ऐसा अभिमान या भाव नही रखता। वह 'सबै जात गोपाल की' हो जाता है।

इन सकुचितताओ, सीमाओ से वह परे और भगवान् की सर्वव्यापकताओ मे लीन होता जाता है।

वह जन्म लेकर भी नही मानता कि मेरा जन्म हुआ है। सोने का यदि कुत्ता बनाया जाय तो कुत्ते का आकार होते हुए भी वह अपनेको कुत्ता नही मानता। उसका अभिमान नही रख सकता। वह अनेक कर्म और क्रियाए करता है तो भी अपनेको उनका कर्त्ता नही मानता। सूर्य आकाश मे उगता है तो भी आकाश अपनेको सूर्य का कर्त्ता नही मानता। देहादि से जो कुछ हुआ करता है, उसकी जिम्मेदारी वह अपने ऊपर न लेकर भगवान् पर डाल देता है। इस तरह जब भक्त का देहाभिमान बिलकुल नष्ट हो जाता है तब भक्त जो कुछ करता है, भगवान् को प्रिय ही होता है। उसकी जो इच्छाए होती है, भगवान् उनका रूप धारण कर लेता है। उसके सुख मे ही वह अपनेको सुखी अनुभव करता हे। वह जहा कही जाता है, भगवान् उस रास्ते मे अपनेको बिछा देता है। भक्त जिस पदार्थ को चाहता है, वह पदार्थ भगवान् बन जाता है। मा को जैसे सदैव यह चिन्ता रहती है कि बच्चे को कही नज़र न लग जाय इसी तरह भगवान् भक्त की चिन्ता रखता है। देहाभिमान जाने से भक्त का देह खुद भगवान् ही हो जाता है।

वर्ण से मतलब यहा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से है, परन्तु व्यापक अर्थ मे, गोरी, पीली, काली, जाति से भी लिया जा सकता है। इसी प्रकार आश्रम से अभिप्राय ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास से हे, परन्तु जीवन की सभी अवस्थाए बालक, युवा, बुढापा ली जा सकती है। जाति से अभिप्राय तेली, कुम्हार नाई, नागर, औदिच्य आदि से है, परन्तु स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि से भी लिया जा सकता है। मतलब यह कि वह अल्प मे महान्, अणु से विभु होता जाता है।

**"जिसका धन में अथवा शरीर में 'यह अपना है, यह पराया है' ऐसा भेद-भाव न हो, जो समस्त प्राणियो में समदृष्टि और शान्त-चित्त हो, निश्चय ही वह**

**भगद्भक्तो में श्रेष्ठ है।" ॥५२॥**

अब भक्त और ऊपर उठा। जाति, वर्ण अर्थात् मनुष्य-जाति ही नही, जग के समस्त प्राणियो को समदृष्टि से देखता है, और भेद-भाव नष्ट होता जाता है। देह और उसके अर्थ-धन, दारा आदि मे ही मनुष्य की प्रधान आसक्ति होती है। आसक्ति से यह स्वार्थ-भाव उत्पन्न होता है कि इनका उपभोग मैं ही करू। कही दूसरा इनका उपयोग या उपभोग न कर ले, इस भय मे उनके प्रति स्वामित्व की भावना उत्पन्न होती है। यही अपना-पराया भेद मानने की जड है। भक्त ने जब अपनेको भगवान् के अर्पण कर दिया, व्यक्ति ने जब अपनेको किसी उच्च उद्देश्य या कार्य के हाथो मे सौप दिया, तब किसी दूसरे विषय मे उसे रुचि ही नही, तो आसक्ति कहा से हो ? न अपने-पराये का भेद, न स्वामित्व की भावना। सब ओर उसकी समान दृष्टि है, कोई राग-द्वेष नही, इसलिए किसी प्रकार की चचलता, विकलता, अव्यवस्थितता नही, सब जगह शान्ति ही शान्ति का राज्य है।

आग की चिनगारी और आग मे जैसे कोई फर्क नही रहता वैसे ही भक्त और भगवान् मे भेद नही रहता। बाए हाथ की चीज जैसे दाहिने हाथ को दी जाय तो व्यक्ति यह अनुभव नही करता कि वह वस्तु किसी दूसरे को दी गई है, इसी तरह जीव-मात्र के प्रति उसके मन की भावना हो जाती है ? और इससे उसको अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है।

**"त्रिभुवन के राज्य-वैभव के लिए भी जिसका भगवच्चिन्तन नहीं छूट सकता, भगवान् में ही मन लगाये रखनेवाले देवता आदि भी जिन्हे खोजा करते हैं, उन भगवच्चरणारविन्दो की सेवा से जो आधे पल के लिए भी विचलित नहीं होता, वह भगवद्भक्तो में अग्रगण्य है।" ॥५३॥**

अब भक्ति की, साधक की, सेवक की, सुधारक की परीक्षा शुरू होती है। लोभ और भय दो उसके रूप होते हैं। भय पर मनुष्य एक बार हावी हो जाता है, परन्तु लोभ-सुन्दरियो, धन-दौलत, पद-ऐश्वर्य, राज्य-वैभव का लोभ छूटना बहुत मुश्किल है। राज, समाज, गुरु, देवता का कोप, दण्ड, जेल, फासी, वध, धन-दौलत का अपहरण, निन्दा, बदनामी आदि भय के साधन है। ये सब एक-एक करके उसके सामने आ जाय तो भी वह भगवान् के चरणो को, अपने प्रिय लक्ष्य को नही छोडता। जब इसमे पास हो जाता है तब वह वैष्णवो मे, भक्तो मे या साधको मे अग्रगण्य हो जाता है।

सारे त्रिभुवन की सपत्ति उसके सामने लाकर रख दी जाय तो भी भगवान् के आगे वह तुच्छ मालूम होती है ।

**"भगवान् विष्णु के उरु विक्रम बडे-बडे दृगोवाले चरणो की अगुलियो के नख-रूप मणियो की शीतल कान्ति से जिसका कामादि ताप शान्त हो गया है, भगवान् की शरण में पड़े हुए पुरुषो के उस हृदय में पुन. वह ताप कैसे हो सकता है ? रात में चन्द्रमा के उदय होने पर भी क्या सूर्य का ताप ठहर सकता है ।" ॥५४॥**

परीक्षा के वाद अव भक्त को आश्वासन दिया जाता है । भक्त कही इस शका मे या चिन्ता मे न पड जाय कि इतने भयो व प्रलोभनो के चक्कर मे कही मेरे कामादि ताप फिर वढ न जाय । फिर मन के विकार, दोष, कमजोरिया हावी न होने लगें, जिससे सव किया-कराया गुड-गोबर हो जाय । तो यकीन दिलाया जाता है, ढाढस वधाया जाता है कि जिसने सच्चे दिल से, पूरी लगन से भगवान् के चरण पकड लिये है,उसे फिर ऐसे ताप मे नही जलना पडता । 'नहि कल्याण कृत कश्चित् दुर्गति तात गच्छति ।' जव अर्जुन के मन मे इसी प्रकार की शका हुई तो भी कृष्ण भगवान् ने उसे ऐसा ही आश्वासन दिया था ।

**"जो विवश होकर अपना नाम उच्चारण किये जाने पर भी सपूर्ण पाप-समूह को ध्वंस कर देते हैं साक्षात् वे ही हरि प्रेम-पाश से अपने चरण-कमलो के बध जाने के कारण, जिसके हृदय को कभी नहीं छोडते, वह भगवद्भक्तो में श्रेष्ठ कहा गया है ।" ॥५५॥**

पहला आश्वासन अव और दृढ किया जाता है । अरे लाचारी से, अचानक, यहातक कि शत्रु-भाव से भी जिन्होने भगवान् को याद किया, उनके सपूर्ण पाप नष्ट कर डाले । तो फिर जिन प्रिय भक्तो ने उसके चरण-कमलो को अपने प्रेम-पाश मे वाध रक्खा है, उन्हे कैसे अधर मे. अकेला, पाप, दु ख, शोक, ताप मे छोड सकते है ? जिसने पाहन पशु, विटप विहग, अपने कर लिये हैं––वह अपने परम भक्तो को कैसे भव-सागर मे डूवता हुआ छोड सकते है ? "योऽसौ बिश्वभरो देव स भक्तान् किमुपेक्षते ?"

३ :

# माया, ब्रह्म और कर्म

[ इस अध्याय मे राजा निमि ने भगवान् की माया और उससे तरने का उपाय तथा ब्रह्म व कर्म का स्वरूप पूछा है। पहली वात का जवाब अन्तरिक्ष ने, दूसरी का प्रवुद्ध ने, तीसरी का पिप्पलायन तथा चौथी का आविर्होत्र ने दिया है। अन्त-रिक्ष कहते हैं—आदिदेव नारायण ने अपने स्वरूप-भूत जीवो के भोग व मोक्ष के लिए अपने रचे पञ्चभूतो से यह मारी सृष्टि रची। फिर सबमे खुद ही जीव-रूप से प्रविष्ट हुआ। बाद मे विषयोपभोग से शरीर को आत्मा मानकर जीव उसमे आसक्त हो जाता है, जिससे वासनायुक्त कर्म करता हुआ सुख-दु खमय फल भोगता है। महा-प्रलय-पर्यन्त ससार मे भटकता रहता है। फिर प्रलय के समय वह विराट् पुरुष अपने ब्रह्माण्ड-शरीर को छोडकर सूक्ष्म-रूप (अव्यक्त) मे लीन हो जाता है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति लय करनेवाली गुणमयी यही भगवान् की माया है। फिर प्रवुद्ध ने वताया—स्त्री, पुत्र, धन आदि को नश्वर समझकर इनमे मोह न रखना चाहिए और शब्द-ब्रह्म—वेद—तथा परब्रह्म मे परिनिष्ठित शान्तचित्त गुरु की शरण ले। फिर दैवी सम्पत्तियो की साधना करते हुए अपनेको जो कुछ प्रिय हो, वह सब परमात्मा के अर्पण कर देना चाहिए। इस तरह प्रेम, भक्ति के द्वारा नारायण-परायण होकर पुरुष अनायास इस दुस्तर माया को पार कर लेता है। तदनन्तर पिप्पलायन बोले—सृष्टि के आदि मे एक ब्रह्म ही था। सत्-असत् उसके परे जो कुछ है सब वही है। वह एक ही ब्रह्म ससार मे विविध रूप से दिखाई दे रहा है। वह ज्ञान-स्वरूप है। भक्ति से जब चित्त शुद्ध हो जाता है तब उसे आत्म-तत्त्व स्पष्ट रूप से भासने लगता है। फिर आविर्होत्र ने कहा—कर्माकर्म का प्रकरण गूढ है। यह वेदो से ही जाना जा सकता है। नि सग होकर ईश्वरार्पण-भाव से कर्म करते रहने से मनुष्य ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। प्रारभिक अवस्था मे भगवान् की प्रतिमा की यथा-विधि पूजा-अर्चा, ध्यान आदि करे। इस प्रकार जो भगवान

श्रीहरि का पूजन करता है वह शीघ्र मुक्त हो जाता है।]

**राजा ने कहा—"भगवन्, अब मैं बड़े-बड़े मायावियों को भी मोहित कर देनेवाली भगवान् विष्णु की माया को जानना चाहता हूं। आप लोग उसका वर्णन कीजिये। मैं संसार-ताप से सतप्त एक मरण-धर्मा मनुष्य हूं। इसलिए उस ताप को मिटाने की जो एकमात्र ओषधि है, उस हरिकथामृतरूप आपके मुखारविन्द से निकले हुए वचन को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती।" ॥१-२॥**

संसार-ताप से अभिप्राय यहां संसार के विविध दुःखों व क्लेशों से है। यह मान लेने पर भी कि संसार में दुःख की अपेक्षा सुख अधिक है या सुख स्वतः-सिद्ध है, दुःख आगन्तुक है, जबतक मनुष्य दुःख का अनुभव करता है तबतक उसे दूर करने का उपाय वह करता ही है व करना भी चाहिए। ज्ञानियों, अनुभवियों और साधु-संतों-भक्तों का कहना है कि वह एकमात्र भगवान् की शरण जाने से ही हट सकता है। न्यायोचित उपाय करते-कराते भी जो ताप बच रहे, अपने काबू के बाहर हो जाय, उसे शान्तिपूर्वक किसी दूसरे को उसका जिम्मेदार या निमित्त न ठहराते हुए सह लेना चाहिए। और दुःखों के साथ ही जब मनुष्य अपने आस-पास नित्य सैकड़ों-हजारों जीवों को मरते देखता है तो उसे सहज ही इस कष्ट से छूटने-छुटाने की प्रेरणा होती है। भगवान् बुद्ध को संसार के इन्हीं रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि कष्टों ने विरक्त करके उनको निर्वाण का मार्ग खोजने में प्रवृत्त किया था।

भागवत-धर्म व भक्तों के लक्षण जानने के बाद स्वभावतः उन्हें यह प्रेरणा हुई कि मुझे अब इसका उपाय करना चाहिए। तो सबसे पहले संसार व उसके बन्धन—मोह-माया— उसमें बाधक होती हुई दिखाई दी। उन्होंने पहले भगवान् की इस अद्भुत शक्ति या माया का ही स्वरूप समझ लेना चाहा।

**अन्तरिक्ष ने कहा—"सर्वभूतात्मा आदिदेव नारायण ने अपने ही स्वरूप-भूत जीवों के भोग व मोक्ष के लिए अपने रचे हुए पंच-भूतों से ही नाना प्रकार की उत्कृष्ट व निकृष्ट भूतों की सृष्टि की है।" ॥३॥**

यह सारा सृष्टिचक्र भगवान् की माया ही है। अतः अन्तरिक्ष ने पहले सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय का तत्त्व बताया। पहली बात यह बताई कि यह सृष्टि भगवान् की रची हुई है। इसके विषय में मुख्य दो मत संसार में फैले हुए हैं। एक तो यह कि प्रकृति में ही अपने-आप सृष्टि उत्पन्न होती है। उसके सिवा संसार में कोई दूसरा तत्त्व या शक्ति नहीं है। दूसरा यह कि भगवान् जो प्रकृति का स्वामी

है, सृष्टि रचता है। किसी वस्तु का रचना मे तीन चीजे होनी चाहिए—१ रचना मे सहायक (कोई तत्त्व-शक्ति या व्यक्ति) २ सामग्री जिससे वस्तु वनाई जाय ३ वह शक्ति या क्रिया या व्यापार जिसके बल पर वह रची या वनाई जाय। इन तीनो को लेकर अनेक वाद व मत-मतान्तर हैं। भारत मे पहले लोकायत चार्वाक् या वार्ह-स्पत्य नामक एक मत प्रचलित था जो वृहस्पति द्वारा चलाया माना जाता है। यह एक प्रकार से आधुनिक विज्ञानवादियो की श्रेणी मे आते है। विज्ञानवादी उसी वस्तु को सत् मानते है, जिसका ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा हो सके। उनकी राय मे इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत् ही सत् है, अन्य पदार्थ नितरा असत् हैं। जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश का मूल कारण (प्रकृति का) स्वभाव है। वस्तु-स्वभाव जगत् की विचि-त्रता का कारण है, अन्य कुछ नही 'अपरे लौकायतिक स्वभाव जगत कारणमाहु। स्वभावादेव जगत् विचित्रमुत्पद्यते, स्वभावतो विलय याति।'—भट्टोत्पाल ब्रह्म-सहिता (१।७। की टीका) चार्वाको के मत मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार ही तत्त्व जगत् मे हैं। ये ही अपनी आणविक (अणु की) अवस्था मे जगत् के मूल कारण हैं। यह विश्व अकस्मात् सम्मिलित होनेवाले पूर्वोक्त चार तत्त्वो—भूतो—का निचय समूहन-मात्र है। आधुनिक विज्ञानी कहता है कि सृष्टि या विश्व का जो अनुभव हमे निरतर होता है, वह मूल-रूप से देश, काल व वस्तु के सिवा और कुछ नही। शक्ति के विश्वव्यापक महासमुद्र के हम एक सूक्ष्म जीवाणु है। वस्तु-सत्ता (matter) देश और काल के अन्तर्गत चक्रो के विविध और अनत समूहो का नाम है। शक्ति गति व प्रकाश-स्वरूप है। गति उसका धर्म व प्रकाश उसका रूप (आकार) है। मसार', 'जगत', 'सृष्टि', ये शब्द ही गति-सूचक हैं। यह पृथ्वी गतिमयी है। चार-पाच से अधिक प्रकार की गतिया इसकी हैं। कोई जड पदार्थ भी सर्वथा गतिहीन नही है। प्रत्येक पदार्थ कणो से वने है। वे सजीव-अजीव दो प्रकार के है। इनमे धीमी, द्रुत सव प्रकार की गतिया पाई जाती है। अजीव मे भी सूक्ष्म कण है। एक-एक पर-माणु अनेक सहस्र मील प्रति सेकड प्रदक्षिणा करते है। यह विशालकाय ब्रह्माण्ड व सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु सव निरतर महाभयानक गतिशील है। फिर प्रत्येक पर माणु अनेक विद्युत्कणो से वना है। वे दो प्रकार के हैं—ऋणाणु (Electron) व धनाणु (Proton)। धनाणु के चारो ओर ऋणाणु प्राय एक सेकण्ड मे एक लाख अस्सी हजार मील तक के वेग से परिक्रमण करते हैं। धनाणु परमाणु का केन्द्र है। ऋणाणु उसके आस-पास चक्कर लगाते है। जो ऋणाणु वहा से टूटकर

छिटकते चलते है, धारा-रूप से, सूर्य से, अग्नि से, या विद्युत् से आते हैं। ऋणाणु परमाणुओ से बने हैं। परमाणु भी स्वय एक मण्डल है, जिसके भीतर कर्षाणु चक्कर लगा रहे हैं और कर्षाणु सर्गाणु का एक मण्डल है। इन सर्गाणुओ की गति अप्रतिम, अप्रमेय, अचिन्त्य हो सकती है। प्रकृति की इस अवधि तक पहुचने मे कल्पना की उड़ान भी थक जाती है। कल की सूक्ष्मतम अवधि को यदि हम मूल-कण कहे तो अंतिम मूल-कण भी गति का ही हिमीभूत (हिम-रूप बना हुआ) रूप होगा अथवा गति ही मूल-पदार्थ के रूप मे परिणत होगी। इस हिमीभूत गति के परि-क्रमण, परिभ्रमण, परिघूर्णन एव प्रदक्षिणा से सारा विश्व विरचित हुआ है। समस्त सृष्टि गतिमय है और वास्तव मे अव्यक्त शक्ति है। जिसे हमने गति का हिमी भूत रूप कहा है, जहा कल्पना व मन की पहुच नही है अव्यक्त शक्ति है। उसी अव्यक्त शक्ति से, उसी सामग्री से वस्तु-मात्र की सत्ता है, जिसे हम साधा-रणतया अचर जड वस्तु-सत्ता कहते है।

इस वर्णन से हम इस नतीजे पर पहुचते है कि विज्ञान-मत मे प्रकृति अर्थात् अव्यक्त शक्ति से ही यह सृष्टि वनती-बिगड़ती है और उसको बनानेवाली सामग्री भी प्रकृति के सिवा दूसरी नही है।

वस्तु जिस पदार्थ से वनती है, वह उसका कारण माना जाता है व कारण से जो वस्तु वनती है,वह उसका कार्य कहा जाता है। सृष्टि कार्य है। इसका कारण हमे खोजना है। कारण दो प्रकार के होते हैं,निमित्तऔर उपादान। जो वस्तु के बनाने मे सहायक होता है वह निमित्त कारण—इसे कर्त्ता भी कहते है—और जिस सामग्री से वस्तु वनती या वनाई जाती है, उसे उपादान कारण। जो लोग परमात्मा को सृष्टि-कर्त्ता मानते हैं, उनमे कई मत है। आदि कारण तो प्राय सभी मानते है, पर कुछ उसे निमित्त कारण, कुछ उपादान कारण, व कुछ निमित्त व उपादान दोनो कारण मानते हैं। जरा इसको सविस्तर समझ ले।

सृष्टि या विश्व किसी अव्यक्त शक्ति या तत्त्व का व्यक्त रूप है। (अव्यक्ता-द्व्यक्तय सर्वा 'अव्यक्तादीनि भूतानि') वृक्ष विना वीज के नही होता। कार्य विना कारण के सम्भव नही। जो रूप (आकार) या नामात्मक ससार हमे दीखता या भास होता है, क्या यही इसका असली, व समस्त, सम्पूर्ण रूप है। इसका उत्तर हम यही दे सकते है कि असली व सम्पूर्ण रूप के वारे मे हम कुछ नही कह सकते, हमे जो प्रत्यक्ष दीखता या अनुभव होता है, उसीके वारे मे हम कह सकते हैं। ऐसा

भी प्रतीत होता है कि जो कुछ दीखता है, जाहिर है, इसका सूक्ष्म, अव्यक्त रूप भी होना चाहिए। जैसे बीज मे सारा वृक्ष अ-प्रकट रूप से मौजूद रहता है, उसी तरह इस नाम-रूपात्मक जगत् का भी बीज-रूप कुछ होना चाहिए। उसीमे यह सारा जगत् अव्यक्त-रूप से छिपा या समाया हुआ होना चाहिए। एक मत यह है कि इस व्यक्त जगत् का अव्यक्त सूक्ष्म रूप परमात्मा है। इसीको लोग परमेश्वर, परम देव, परम चैतन्य, परम पुरुष, परात्पर, परब्रह्म, परम तत्त्व, पुरुषोत्तम, वासुदेव, भगवान् तथा कई लोग नारायण हरि, राम, विष्णु, कृष्ण आदि अवतारी नामो से भी पुकारते है। तो प्रश्न यह होता है कि यह १ व्यक्त कैसे हुआ ? २ किसने किया ? ३ क्यो हुआ ? ४ उसका रूप धर्म, गुण, घटक (बनानेवाला) द्रव्य क्या है ? पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यक्त और अव्यक्त होना उसका स्वभाव-धर्म है। दूसरे का उत्तर है, वह अपने इस स्वभाव-धर्म के वशीभूत हो खुद ही, अपनी शक्ति से व्यक्त हुआ। तीसरे का—व्यक्त होने की—एक से अनेक होने की—इच्छा या प्रेरणा उसके स्वभाव मे निहित है, अत 'सहज भाव से', केवल 'मनोरजन', 'क्रीडा' या 'लीला' शब्दो से जिसे अभिव्यक्त कर सकते है, वह व्यक्त हुआ 'तदैक्षत वहुस्या प्रजायेव'। प्रकाश, ज्योति उसका रूप, गति, स्पन्दन, कम्प, क्षोभ, उसका धर्म, सत्, चित् आनन्द उसके गुण या विशेषण, और चैतन्य-रूप प्राण उसका घटक दृव्य है। यह निश्चित है कि हम जो कुछ भी वर्णन कर सकते है वह केवल व्यक्त रूप का। अव्यक्त के सम्बन्ध मे केवल एक अश तक कल्पना ही कर सकते हैं। वह भी इतनी ही कि उसका यदि कोई रूप माना जाय तो उसे हम 'प्रकाश से विरुद्ध' कहकर 'अन्धकार', 'तम', 'काला' आदि शब्दो से व्यजित कर सकते हैं। इसी अव्यक्त अवस्था को लेकर—

'आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञात लक्षणम्'
अप्रतर्क्यमनिर्देश्य प्रसुप्तमिव सर्वत ॥ (मनु०)

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमि नासीत्तमो ज्योतिरच्च नान्यत्।
श्रोत्रादि वुद्धयानुपलभ्यमेक प्राधानिक ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥२३॥
(वि० पु० अ० २)

"आत्मैवेद सर्वम्" (छा०) 'ब्रह्मैवद सर्वम्' (मुण्ड०)
'इद सर्वं यदयमात्मा' (वृह०) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपर मनन्तरमबाह्यम्'
(वृह०)

**अव्यक्तंमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते'** (सुवाल० २)
**'तम आसीत्तमसागूऽहमग्रेऽप्रकेतं सलिल सर्व मा इदम् ।**
**तुच्छये नाभ्वापिहितं यदासीत्तमसस्तन्महिना जायतैकम् ॥**
(ऋ० ७।१२६।३)

इसी अवस्था का वर्णन हमारे यहा महाकाली के नाम से किया गया है। आरम्भ मे उस अव्यक्त, अप्रकाश या तम के सिवा दूसरा कुछ न था। जब उसमे स्पन्दन द्वारा क्षोभ होकर कोई रूप वना तो साथ ही शब्द भी हुआ। कहना नही होगा कि वह रूप उस तमोमय द्रव्य से ही वना, अर्थात् उस अव्यवत परमात्म-द्रव्य से ही वना। वह स्पन्दन, क्षोभ की शक्ति भी उसी अव्यक्त मे लीन, सोई या समाई हुई थी। यही प्रकृति या महामाया है। पहला रूप केवल प्रकाशमय ही हो सकता था, यही महत् या हिरण्यगर्भ कहा जा सकता है। इसके वाद सृष्टि से भिन्न-भिन्न पदार्थ वने, जिसे हम परमात्मा का विराट् रूप कहते हैं। इस स्थूल सृष्टि का जो अधीश्वर है, उसकी अर्थात् परमात्मा की वह कल्पित या आरोपित शक्ति जो स्थूल ससार का सृजन, नियन्त्रण, नियमन्, पालन या विसर्जन करती है, ईश्वर कहलाती है। यह तीन विविध शक्तियो का समूहन है। सृजनात्मक ब्रह्मा, पालनात्मक विष्णु, सहारक शकर। इससे यह नतीजा निकलता है कि परमात्मा ही से सृष्टि उपजी है, उसीकी शक्ति से बनी है, उसीके द्रव्य से उसकी रचना हुई है। उसीकी शक्ति से वह स्थिर रहती है और अन्त मे उसीकी प्रेरणा से उसीमे लीन हो जाती है। यह जो कुछ है सो परमात्मा ही है, परमात्ममय है। उससे भिन्न ससार मे कुछ नही है। उसके स्पन्दन का प्रसरण सृष्टि की रचना व आकुचन सृष्टि के लय की क्रिया है। इन दोनो के वीच मे जो समय लगता है, वह सृष्टि का स्थिति-काल है।

सृष्टि दो प्रकार की बनी—जड़, चेतन। वैसे आत्म द्रव्य या तत्त्व तो दोनो मे है, किन्तु उसका प्रकटीकरण—चेतनत्व—जिन वस्तुओ मे प्रत्यक्ष प्रतीत होता है उसे चेतन व शेप को जड कहा जाता है। चेतन मे जीव व जीवो मे मनुष्य सवसे श्रेष्ठ ज्ञात रचना है। ऊपर कह चुके है कि सृष्टि ईश्वर ने अपने मनोरजन, कुतूहल, क्रीडा के लिए वनाई, और जवकि सृष्टि मे—जीव-अजीव सव—परमात्मा के सिवा कुछ है ही नही तो यही कहना होगा कि परमात्मा ने सृष्टि अपने या जीवो के भोग और मोक्ष के लिए बनाई। दोनो का मतलव एक ही है। भोग से अभि-

प्राय यहा ससार मे आने व ससार का स्वाद लेने से, और मोक्ष से अभिप्राय ससार के इस बन्धन--स्वादलिप्तता--से छूटने से है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी ये पाच महाभूत माने जाते है। 'भूत' का अर्थ है 'हुआ'। अर्थात् सृष्टि मे जो कुछ हुआ, बना या है वह सब 'भूत' है। ये पाच बडी श्रेणियो मे विभक्त कर दिये गए हैं, जिन्हे पूर्वोक्त पच महाभूत कहते है।[1]

यह श्लोक अद्वैत वेदान्त का समर्थक है। अब प्रश्न यह है कि परमात्मा इस सृष्टि मे समाया हुआ किस रूप मे है? तो परमात्मा के दो स्वरूप निश्चित हुए—एक अव्यक्त, दूसरा व्यक्त। इसी तरह उनकी दो प्रकृतिया या स्वभाव भी हैं—एक को पराप्रकृति कहते हैं, दूसरी को अपराप्रकृति। 'परा' का अर्थ है श्रेष्ठ, ऊची, सूक्ष्म, अपरा का है कनिष्ठ, नीची, स्थूल। मूल स्वरूप या मूल प्रकृति से नीचे उतरकर—उसे छोडकर—ससार रूप मे आना, प्रकट होना परमात्मा की गिरावट, बन्धन, अवतरण, नीचे उतरना है। उस अपराप्रकृति से उसका यह स्थूल रूप, शरीर—जगत् बना। लेकिन पराप्रकृति मे चेतन या जीवरूप होकर वह सारे ससार मे फैला। सास्यमत मे इसे पुरुष और प्रकृति इन दो तत्त्वो के मेल के द्वारा स्पष्ट किया गया है। गीता मे अ० १५ श्लो० ७ से ११ व अ० ७ श्लो० ४, ७ मे इसका जैसा वर्णन किया गया है, वह 'गीता-मन्थन'कार की भाषा मे यहा दिया जाता है—"परमात्मा अपनी प्रकृति के—अथवा स्वभावभूत शक्ति के ही आधार पर इस प्रकृति के वशवर्ती हो समग्र जड-चिदात्मक विश्व बारम्बार उत्पन्न करता है और लीन करता है।" (अ० ८।७-८)

"जिस तरह पानी के जुदा-जुदा बिन्दु पानी ही हैं और अलग-अलग होने पर भी शामिल हो सकते हैं, उसी तरह जुदा-जुदा जीव-रूप दिखाई देनेवाले पदार्थ भी उस अच्युत ब्रह्म के, यो कहना चाहिए कि अश ही हैं। जिस प्रकार छोटा-सा बीज अपने मे रहनेवाली नैसर्गिक शक्ति द्वारा आस-पास की भूमि, पानी, हवा मे से तत्त्व खीचकर अपने मे से मूल, तना, डालें, पत्ते, फूल तथा फल आदि का विस्तार करता है उसी प्रकार जीव के मूल मे ही स्थित स्वभाव-सिद्ध शक्ति द्वारा वह चारो ओर फैली

---

[1] श्री मश्रुवाला ने अपने 'जीवन-शोधन' मे वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध किया है कि पाच नही चार ही श्रेणी हो सकती है व काफी हैं। वह 'तेज'को स्वतन्त्र भूत नही मानते—पदार्थों के एक भूत से दूसरे भूत मे परिणत होते समय उनमे उत्पन्न हो जानेवाला आगन्तुक धर्म मानते हैं। (सास्य खण्ड)

हुई प्रकृति मे से आवश्यक तत्त्व खीचकर मन तथा पचेन्द्रियो का विस्तार करता है व स्थूल शरीर का निर्माण करता है। फिर जिस प्रकार वृक्ष से विलग पडा हुआ बीज वृक्ष को निर्माण कर सकने जितनी सारभूत सामग्री अपने मे भरकर ही वृक्ष से जुदा होता है, जिस प्रकार वायु जहा चलती है, वहा से वहा की गन्ध को खीच लेती है, उसी तरह जीव शरीर से अलग होते समय स्थूल शरीर को निर्माण करनेवाली सूक्ष्म इन्द्रियात्मक सामग्री अपने मे भरकर अलग होता है। मन की अध्यक्षता मे रहनेवाली पचेन्द्रियो द्वारा वह विषयो को भोगता है और इस भोग से ही अपने शरीर का निर्माण और उसी प्रकार विनाश करता है।" (अ० १५।७-९)

"सर्वव्यापी परमात्मा दो प्रकार की प्रकृति अथवा स्वभाव का है—एक अपर और दूसरी परप्रकृति। इनमे से अपर प्रकृति के आठ प्रकार के भेद विश्व मे दिखाई देते है—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश नामक महाभूतो के तथा मन, बुद्धि अहकार के रूप मे। इन आठ प्रकारो मे परमात्मा का कम-से-कम एक स्वभाव उसकी अपर प्रकृति के रूप मे जुडा हुआ दीखता है। इसके साथ ही परमात्मा का एक और स्वभाव भी जहां-जहा अपर प्रकृति विश्व मे दीखती है वहा-वहा रहता हुआ जान पडता है। इसको परमात्मा का जीव-स्वभाव कहा जा सकता है। यह जीव-स्वभाव उसकी परप्रकृति कहलाता है, क्योकि यह स्थिर, ज्ञानयुक्त तथा एक-रूप है और अपर प्रकृति को आधार देकर विश्व का धारण करता है। इस विश्व का अस्तित्व इस चेतन जीव प्रकृति के कारण ही है। इन दो प्रकृतियो के द्वारा परमात्मा ही अखिल विश्व की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण है। इस परमात्मा के ऊपर, पीछे अथवा उसे आधार देनेवाला दूसरा कोई तत्त्व नही बल्कि धागे मे माला के दाने—मनके—पिरोये होने के समान इस परमात्मा मे ही अखिल विश्व पिरोया हुआ है।" (अ० ७।४-७)

जैसे पेड के जड, तना, डालिया, पत्ते, फूल, फल सब अलग-अलग होते है, परन्तु उनमे जीवन-रस एक ही होता है, उसी प्रकार एक परमात्मा ही जीव या रस-रूप होकर सारी सृष्टि मे समाया हुआ है।[1] इसीसे वह सर्वभूतात्मा कहा जाता है।

---

[1] 'यथोर्णनाभि: सृजते गृह्यते च'

'यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिगा'

'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-

ऊपर जो प्रकृतिवादी व ईश्वरवादी दो मत बताये गए हैं, उनमे सृष्टि-रचना के क्रम या तत्त्वो मे खास मतभेद नही दिखाई देता। असल मतभेद अन्तिम तत्त्व या मूल वस्तु के बारे मे है। प्रकृतिवादी प्रकृति को मूल तत्त्व मानता है और ईश्वरवादी परमात्मा को। दोनो इनके मूल रूपो को अव्यक्त मानते है। मेरी राय मे ईश्वरवाद प्रकृतिवाद के आगे की खोज या कदम है। इसके आगे मूल वस्तु, आदि कारण, आदि शक्ति-सम्बन्धी कल्पना, विचार, अनुभव की दौड खतम हो जाती है। अस्तु।

**"इस प्रकार पचमहाभूतो से रचे हुए प्राणियो में स्वय ही जीवरूप से प्रविष्ट होकर वह अपनेको ही (मन रूप से) एक ओर—बाह्य इन्द्रिय-रूप से—दश भागों में विभक्त करके विषयो का उपभोग करता है।" ॥४॥**

इस श्लोक मे यह समझाया गया है कि परमात्मा किस रूप मे सृष्टि मे विराजमान् है और किस तरह वह सृष्टि का या विषयो का उपभोग करता है। पहले भाग का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। दूसरे भाग का खुलासा इस प्रकार है। जब हम कोई चीज बनाते हैं तो पहले उसके बनाने की प्रेरणा या सकल्प मन मे उठता है। इस प्रेरणा या सकल्प की शक्ति हमारे अन्दर मौजूद है या रहती है। इस प्रेरणा के बाद वस्तु का रूप—खाका—हमारे दिमाग मे बनता है। यह काम हमारे मन का है, जो कि हमारी शक्ति का ही एक रूप या अश है। फिर रूप का निश्चय होता है और उसकी योजना बनती है। यह काम भी मन का ही है, परन्तु इस अवस्था मे उसका नाम बुद्धि हो जाता है। ईश्वर ने सृष्टि का खेल या नाटक खडा तो किया, अब इसका मजा कैसे लूटे ? तो खुद ही जीवरूप से इसमे प्रविष्ट हुआ—'तमनुप्राविशद्विभु'—उसकी आत्म या प्राण-शक्ति ससार मे सचरित हुई—और वह ग्यारह भागो मे बट गया। पहला व बडा भाग तो मन हुआ। यह उसीके अपने महान् मन का अशभूत छोटा मन है, जो जीव के अन्दर समाया हुआ है। शरीर मे अकेला मन तो कुछ कर नही सकता, उपभोग के साधन—अवयव—हाथ, पाव, नाक आदि इन्द्रिया चाहिए। सो परमात्म-शक्ति ने पाच कर्मेन्द्रिया व

---

वाणि।' (छा० ६।३।२)
'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।'
'तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्' (तै०)
'ईशावास्यमिद सर्वम्' (ईशा०)

पांच ज्ञानेन्द्रियां बनाई। पिछली मन को विषयों का ज्ञान कराती है, और पहली उसके आदेशानुसार क्रिया करती है। इन ज्ञान व क्रिया के रूप में मन व उसके द्वारा परमात्मा बाहरी सृष्टि का आनन्द ग्रहण किया करता है। परमात्मा के इस अवतार-क्रम का, या जीव की विभिन्न इन्द्रियों के विकास-क्रम का विज्ञान-सम्मत वर्णन भागवत के स्कन्ध २, अ० १० में इस प्रकार किया गया है—

"विराट् पुरुष की चेष्टा होने पर उनके देहान्तर्वर्ती आकाश से ओज (इन्द्रिय शक्ति), सह (मन शक्ति) और बल (शारीरिक शक्ति) की उत्पत्ति हुई। और उनसे सूत्रात्मा नामक सबका मुख्य प्राण हुआ। प्राण का वेगपूर्वक संचार होने से विराट् पुरुष को भूख-प्यास लगी, तब खाने-पीने की इच्छा करते ही पहले उसके मुख प्रकट हुआ। फिर मुख से तालु और उससे रसनेन्द्रिय प्रकट हुई। जब इन भूमा पुरुष ने बोलने की इच्छा की तो वाक् इन्द्रिय प्रकट हुई। श्वास के लिए नासिका छिद्र और सूंघने की इच्छा से घ्राणेन्द्रिय हुई। देखने की इच्छा हुई तो नेत्रगोलक, चक्षु इन्द्रिय प्रकट हुई व नेत्र के द्वारा रूप का ग्रहण होने लगा। चलने की इच्छा हुई तो चरण उत्पन्न हुए, आदि" (सविस्तर वर्णन के लिए मूल ग्रन्थ देखिये)।

"जीव आत्मा द्वारा प्रकाशित इन्द्रियों से उनके विषयों को भोगता हुआ तथा इस उत्पन्न किये हुए शरीरादि को ही आत्मा मानता हुआ उसमें आसक्त हो जाता है।" ॥५॥

जीव की इन्द्रियों में स्वतः कोई शक्ति नहीं है। वे केवल भिन्न-भिन्न शक्तियों—देवताओं—के निवास या प्रकाश-स्थान अथवा गोलक हैं। उनमें जो कुछ शक्ति है, वह जीवात्मा की है। उसीसे वे प्रकाशित या कार्यकारिणी होती हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा यह जीव नाना प्रकार के विषयों का आनन्द लेता हुआ ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है जब वह अपने उद्गम, मूल रूप आत्म-तत्त्व को भूलकर इस शरीर को ही आत्मा या सबकुछ समझने लगता है। यही उसके अज्ञान, अविद्या का आरम्भ है, इसीको माया कहते हैं। आत्मा या भगवान् की ओर से उसका ध्यान, स्मृति, सब छूटकर अब शरीर, संसार, प्रपञ्च में लग जाता है। यही अवनति है। यहां से जीव की वास्तविक अधोगति शुरू होती है। वैसे तो जीवात्मा तक आने में भी परमात्मा की अधोगति ही है। वह अपनी [illegible] से उत्तरोत्तर भिन्न—दूर—होता चला जा रहा है। पहले तो उसकी इच्छा, क्रिया, ज्ञान-शक्ति जाग्रत होती है, जिसके योग से वह जगत् उत्पन्न करता है। जिन तत्त्वों

को लेकर यह जगत् बना है, उसके तीन भाग होते हैं—(१) आत्मतत्त्व, (२) विद्यातत्त्व, (३) शिवतत्त्व। इन्हीको दूसरी भाषा मे क्रमश सत्, चित्, आनन्द कहते हैं। तीनो की समष्टि परमात्मा है। जगत् के ये सब तत्त्व यो सूक्ष्म रूप मे—बीजरूप मे—परमात्मा मे सोये या समाये रहते हैं। इनका जाग्रत या प्रकट होना ही ससार की उत्पत्ति का या परमेश्वर के अवतरण का सूत्रपात है। परमात्मा मे इस पहले क्षोभ या सृष्टि का नाम 'महत्' है। यह पहला अवतार है। इसे प्रधान या प्रकृति भी कहते हैं, जिसके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज, तम। जबतक ये तीनो गुण सम या शान्त रहते है तबतक प्रकृति अव्यक्त रहती है, जब इनमे विषमता हुई तो 'महत्' कहलाने लगी। इसके बाद गुण अधिक पृथक्, विषम, स्पष्ट हुए, प्रत्येक का अलगाव स्पष्ट दिखाई देने लगा—यह पृथक्ता 'अहकार' के नाम से सूचित हुई। यह दूसरी सृष्टि या अवतार हुआ। अब अहकार अर्थात् पृथक सत्ता तीन गुणो—सत्त्व, रज, तम—मे मिलकर अलग-अलग नाम-रूप धारण करती है।

इन तीन गुणो को यहा हम जरा विस्तार से समझ लें। गीता व सास्य-मत के अनुसार अपने मे, दूसरो मे अथवा पदार्थो मे निर्मलता का, प्रकाश का, स्फूर्ति का, निर्दोषिता का तथा ज्ञान का जो कुछ अनुभव होता है, वह सत्त्वगुण है। कर्म-प्रवृत्ति रजोगुण है। जडता तमोगुण का लक्षण है। यह चचलता और प्रवृत्ति का शत्रु है। प्रमाद, आलस्य और नीद मे ही सुख मानता है। आधुनिक विचारको मे अ० गौड के मतानुसार स्थिति—अस्तित्व—का निरन्तर जड-रूप (inertia) मे बना रहना तमोगुण, इस स्थिति मे गति ही रजोगुण और गति का सामञ्जस्य सत्वगुण है। श्री मश्रुवाला के मतानुसार पदार्थ-मात्र मे जडता या निष्क्रियता का ख्याल पैदा करनेवाला परिमितता का गुण 'तमोगुण', पदार्थ-मात्र मे स्थित, गति, क्रिया या कम्प (motion) का धर्म 'रजोगुण' और परिमिति तथा गति मे स्थित व्यवस्थिति सत्त्वगुण है। किसी भी परिभाषा को माने प्रकृति के तीनो गुण प्रत्येक पदार्थ मे व्याप्त मिलेंगे। अस्तु।

'अहकार' का मेल जब मुख्यत तमोगुण मे हुआ तो भूत–पाच या चार–उत्पन्न हुए। जब प्रधानत रजोगुण मे हुआ तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि तन्मात्राओ का—ज्ञानेन्द्रियो के विषयो का (चित्तहीन पदार्थो मे जो क्रियाए चलती रहती हैं, उनके प्रत्येक वर्ग को 'मात्रा' नाम दिया गया है) तथा पाच कर्मेन्द्रियो का प्रादुर्भाव हुआ। जब सत्त्वगुण मे मेल हुआ तो उसमे एक हद तक चित्तयुक्त

सृष्टि निर्माण हुई। इसमे पहले चित्त या मन या बुद्धि और उसकी विशिष्ट शक्तिया–ज्ञानेन्द्रिया–प्रकट हुई। यह तीसरी सृष्टि या अवतार हुआ। चौथी सृष्टि अविद्या की है, जो जीवो की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करती है। अब हम पूर्वोक्त माया की सीमा तक आ पहुचे। यह प्राकृत सृष्टि कही जाती है।[1] इसके आगे पाचवी सृष्टि वैकृत या वैकारिक है। जबतक जीव की धारणा यह होती है कि यह जगत् मेरा ही स्वरूप है तबतक वह विद्या व जब वह जगत् को अपने से पृथक्, भिन्न अनुभव करता है तब अविद्या है। इसी अविद्या या माया मे ग्रस्त होकर जीव ससार की आसक्ति मे पड जाता है। जब जीव ससार मे आया तो ससार के कर्त्तव्य उसके पीछे लगे ही। कुटुम्बियो, स्वजनो, इष्ट-मित्रो,समाज व देश के लोगो से वह तरह-तरह के लाभ उठाता है तो उन्हे लाभ पहुचाना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। परन्तु हमारी वृत्ति जब दूसरो से अधिक लाभ उठाने की व उन्हे कम लाभ पहुचाने की होने लगती है तब उसे लोभ कहते हैं। हमारी इन्द्रियो या मन को नये-नये विषयो का–खान-पान, राग-रग, मौज-मजा का–चस्का लग जाता है तो हमारी यह लोभ-वृत्ति बढने लगती है और इनके उपभोग की सीमा टूट जाती है। हमे संसार के भोगो को उसी हद तक भोगने का अधिकार है जबतक कि वे दूसरो के भोगो मे बाधक न हो। इस सीमा को जीव का लोभ लाघ जाता है। यही मोह या आसक्ति मे डुबोता है। फिर तो मनुष्य या जीव की उत्तरोत्तर अधोगति होती जाती है, तबतक जबतक कि फिर वह होश न सम्भाले–अविद्या से निकलकर विद्या के क्षेत्र मे न आ जाय। शरीर को ही सब-कुछ न मानकर परमात्मा को ही सब-कुछ न समझने लगे।

"और फिर यह देही अपनी कर्मेन्द्रियो से वासनायुक्त कर्म करता हुआ और उनके सुख-दु खमय फल भोगता हुआ ससार में भटकता रहता है। इस प्रकार विवश होकर नाना प्रकार की दु.ख देनेवाली कर्मफलरूप गतियो को प्राप्त होता हुआ यह जीव महाप्रलय तक जन्म-मरण को प्राप्त होता रहता है।" ॥६-७॥

देही मे मतलब है देह मे रहनेवाला अर्थात् जीवात्मा। अब अपने जन्मस्थान व जन्मस्थिति को भूल जाने से वह ससार के विषय-भोगो मे लिप्त होकर नाना प्रकार के अच्छे-बुरे कर्म करता है। किसी भी विषय की साधारण इच्छा को कामना

---

[1]देखिये परिशिष्ट ३।

कहते हैं। कामना जब वस्तु या व्यक्ति विशेष मे केन्द्रित हो जाती है तो वासना कहलाती है। कामना का सबध मन से व वासना का कर्म से है। जबतक हम मन-ही-मन मे कोई इच्छा या सकल्प करते है तबतक वह कामना है। जब इसकी पूर्ति के लिए उद्योग करने लगे और दूसरे कर्तव्यरूप जरूरी कार्यो को भूलने या छोडने लगे तो यह आसक्ति की शुरुआत है और इसका बीज है वासना। हमे एक सुन्दर गुलाब का फूल देखने की इच्छा हुई। वह साधारण कामना है। हमारी आखो ने उसे देखा। उन्होने उसके रूप को अपने मे छिपा लिया। उसकी सुगन्ध से हमारी नाक मस्त होने लगी। अब फिर उस फूल को देखने-सूघने की इच्छा हुई। यही वासना का मूल है। अब वह इतनी प्रबल हुई कि दूसरे निश्चत कार्य को बिगाड-कर भी उसीकी प्राप्ति का उद्योग होने लगा—यह आसक्ति हो गई। कर्म-जनित सस्कार जो आत्मा मे बस जाते है, वासना कहलाते है। जब मनुष्य वासनाग्रस्त हो जाता है तो उसे कर्तव्य-अकर्तव्य मे मूढता होने लगती है। जिसमे उसका मन फस गया है, उसे अधिक महत्त्व देने लगता है। फलत. दूसरे आवश्यक कर्त्तव्यो से उदासीनता आने लगती है। इस तरह उस वासना के साधक व्यक्ति के प्रति अधिक अनुराग व उसमे असहायक या बाधक होने या समझ लिये जानेवाले व्यक्ति के प्रति विराग, अनाकर्षण, अरुचि और द्वेष होने लगता है। इसमे उसके विचार व चित्त की समता, शान्ति डावाडोल हो जाती है व सुकर्म को कुकर्म व कुकर्म को सुकर्म समझने लगता है। ऐसी दूषित इच्छा मे जब ऊटपटाग कर्म होने लगते हैं तो उसका असर सारे वाता-वरण पर, आस-पास के लोगो पर होने लगता है, जिसका फल उसे जरूर भोगना पडता है। कर्माकर्म के अनुसार उसके फल भी सुख-दु खदायी होते हैं। विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि हमारे किसी भी कर्म का असर वातावरण मे होता व रहता है, भले ही वह कर्म शारीरिक हो या मानसिक, एकान्त मे किया गया हो व जन-समाज मे। हमने किसी पत्थर पर एक थपेड मारी। इससे उसके परमाणुओ को धक्का लगा। उनमे ऐसी क्रिया सूक्ष्मरूप से हुई, जिसे हम स्थूल आखो से तो नही देख सकते, किन्तु आचार्य वसु के सूक्ष्म यन्त्रो व प्रयोगो ने उनके प्रभावो को स्पष्ट अनुभव करके बता दिया है। उनकी खोजो के अनुसार पेड-पत्थर भी हर्ष-विषाद व सुख-दु ख का अनुभव करते है और अपनी भाषा मे उसे प्रदर्शित करते है। उन्होने ऐसे यन्त्र बनाये हैं,जो उनके प्रभावो या परिणामो को कागज पर लकीरो या चित्रो मे नोट कर देते है। कई प्रयोगो व अनुभवो से उन्होने उनकी एक ऐसी लिपि बना

ली है,जिससे वे तुरंत जान लेते है कि यह भावना या विचार या वेदना का सूचक है। हमारी इस थपेड का प्रभाव उस पत्थर के परमाणुओ मे सूक्ष्म हलचल उत्पन्न कर ही नही रह जाता है। वायु मे भी हमारे हाथ के हिलाने से कुछ खलल पैदा हुआ। उसकी तरगे चारो ओर असीम वायुमण्डल मे फैली। इसका कोई हद-हिसाव हम नही लगा सकते। एक हदतक कल्पना भर कर सकते है। इसी तरह मन मे जो विचार, भावना, सकल्प उठते है, उनकी भी तरगे हमारे मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओ मे खलल पैदा करके आकाश मे सूक्ष्म लहरे उत्पन्न करती है और अनन्त आकाश मे अनन्त काल तक घूमती रहती है। एक तालाब मे आप छोटी-सी ककरी डालेगे या अगुली ही डाल देगे या फूक भर देगे तो उसकी लहरे सारे तालाब मे फैले विना न रहेगी। किनारे से टकराकर तरगे फिर हमारी तरफ लौटेगी। यही असर हमारे विचारो व कार्यों का होता है। पहले वे स्थूल व सूक्ष्म जगत् मे अपना असर तरह-तरह से फैलाते हैं। वे असर लौट-लौटकर फिर हमपर असर डालते है। इसको कर्म-फल कहते है। जैसे हमारे कर्म होते हैं—शारीरिक या मानसिक—वैसे ही वे जगत् को प्रभावित करते है और फिर हमे वैसे ही फल दे जाते हे। इसका यह अर्थ हुआ कि हमारे अच्छे-वुरे कर्म का फल केवल हमीको नही भोगना पडता, सारे समाज व ससार को भुगतना पडता है। कर्म की पहली प्रक्रिया खुद हमारे अन्दर हुई, फिर वाहर फैली। अपनी हद तक पहुचकर वाहरी दुनिया मे सफर करती हुई हम तक आई—हमारे अन्दर दाखिल हुई। इस तरह दो-दो वार हमपर व जगत् पर उसका अच्छा-बुरा असर हुआ। इन असरो के मातहत मनुष्य इस जीवन मे ही नही भूलता, वल्कि अगले जन्मो मे भी प्रभावित होता व भटकता रहता है। इन कर्मो के फलस्वरूप नाना प्रकार की गतिया उसे प्राप्त होती है। और ठेठ प्रलय तक यह चक्कर चलता रहता है। शुरू मे किसी भी कारण या प्रसग से मनुष्य विचार या कर्म मे प्रवृत्त हुआ हो, पर एक वार वासना के चक्कर मे चढकर जहा आसक्ति मे पडा नही कि फिर एक विपय मे दूसरे विषय मे, एक आसक्ति से दूसरी आसक्ति मे पडता-फसता हुआ उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रलय तक अन्त नही आता। सिर्फ एक ही अवस्था वीच मे ऐसी आ सकती है जव यह ताता रुक सकता है। वह है इस वासना व आसक्ति से छूटने की प्रेरणा व प्रवृत्ति। वह तभी हो सकती है जव मनुष्य यह जानने व समझने लगे कि वह कहा से चलकर कहा फस मरा। मै तो शुद्ध आत्मा का चैतन्य कण होकर इन देह-

विकारो मे गदला जीव बन गया और अपनी असलियत को ही भूल गया। उसको विद्या या ज्ञान कहते है। यही मोह या माया से छुटकारे की ओर प्रवृत्ति है। दृढता व लगन से मनुष्य इस बात का उद्योग करके देहाभिमान छोड आत्मावस्था मे प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसका छुटकारा या मोक्ष कहा जाता है। नही तो उसे महाप्रलय तक ऐसे ही असख्य चक्कर खाये बिना गति नही है।

प्रलय सृष्टि के वापस परमात्मा मे लीन होने की अवस्था को कहते है। परमात्मतत्व मे निरन्तर स्पदन या कम्प होता रहता है। स्पन्दन का फैलाव सृष्टि की उत्पत्ति व सिकुडाव लय है। निरन्तर स्पन्दन-धर्म के कारण ही निरन्तर उत्पत्ति व लय होता रहता है। यह स्पन्दन इसका आकुचन व प्रसरण—यह नियम से, तालबद्ध होता है, जिससे उसके समय की नाप का खयाल विचारकों के मन मे आया। उन्होने नाप के तरीके निकालकर सृष्टि के उत्पत्ति-लय की वर्ष-सख्या नियत कर दी। उत्पत्ति व लय के बीच मे जो स्थिति काल है, उसे आर्य-शोधकों ने चार भागो मे बाटकर सतयुग, त्रेता, द्वापर व कलियुग चार नाम दिये। प्रलय भी कल्प, खण्ड, महा आदि प्रकार के निर्धारित किये।

**"फिर पचभूतो के प्रलय का समय उपस्थित होने पर अनादि और अनन्त काल इस द्रव्य गुणात्मक—स्थूल सूक्ष्म रूप—व्यक्त सृष्टि को—उसके कारण—अव्यक्त की ओर खींच ले जाता है।"** ॥८॥

जिस क्रम मे सृष्टि की उत्पत्ति होती है, उसके विपरीत क्रम मे उसका लय होता है। जब स्पन्दन का सिकुडाव शुरू होता है तो समझना चाहिए कि व्यक्त सृष्टि अव्यक्त की ओर जाने लगी—अर्थात् पलय की तैयारी होने लगी। पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश—इन पाच तत्त्वो का अपने स्वरूपो को छोडकर अदृश्य या अव्यक्त मे लीन होने का नाम प्रलय है। काल अर्थात् समय इस प्रलय का कारण है। जब स्पन्दन की प्रसरण-क्रिया का अन्त आ गया तो यही समय आकुचन-क्रिया के आरम्भ का है। यही काल का रूप व गति है। यह काल अनादि व अनन्त है। सूर्य के आस-पास पृथ्वी की गति का हिसाब लगाकर हमने अपनी सुविधा के लिए सेकण्ड, मिनट, घण्टा, दिन, रात आदि मे समय को बाट लिया है। किन्तु यह उसके एक अश-मात्र का हिसाब है। उसके पूरे स्वरूप की कल्पना परमात्मा की तरह ही असम्भव है। जबसे परमात्मा व्यक्त होने लगा तभी से काल की उत्पत्ति माननी होगी। अव्यक्त परमात्मा के साथ काल भी अव्यक्त स्थिति मे रहा।

क्योकि काल की गिनती, नाप या अन्दाज किसी व्यक्त वस्तु के सहारे ही हो सकता है। व्यक्त वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर गई, घूमी, फिरी या गतिमान हुई तो जितनी देर मे यह क्रिया हुई उसे काल[1] कहते हैं। जगत् की वस्तुए निरन्तर गतिशील है, वल्कि गतिमय हैं। ये सारी गतिया जिस स्थान मे हो रही है, उसे 'देश' कहते है। यह स्थान परमात्मा के आकार के सिवा दूसरा नही हो सकता। परमात्मा के शरीर या उदर को देश कहना चाहिए। उसमे इस सारी गतिमय, क्रियामय अत निरन्तर परिवर्तन या परिणामशील सृष्टि का निवास या स्थिति है। स्थिति मे परिवर्तनो के या गतियो के बीच का जो समय है, वही काल है। वस्तुएं छोटी-वडी सव प्रकार की हैं, और गति भी कम-ज्यादा सव प्रकार की पाई जाती हैं। अत. काल भी छोटा-वडा सब प्रकार का पाया जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक के काल को महाकाल कह सकते है, जबकि सृष्टि के भिन्न स्वरूपो के या वस्तुओ के परिवर्तनो के वीच के स्थिति-काल को उसकी मात्रा के हिसाब से छोटा-वडा काल कह सकते हैं। सृष्टि के जितने विस्तार की कल्पना की जा सकती है, उतनी ही विस्तृत कल्पना काल की करनी होगी। यह सारी सृष्टि चूकि देश मे अवस्थित है, अत काल को भी देश से सीमित मानना पडेगा। सच पूछिये तो सृष्टि के उत्पन्न होते ही—अव्यक्त तत्त्व के व्यक्त होते ही—देश व काल के अस्तित्व को स्वीकार करना पडेगा। लेकिन ये आये कहा से ? तो कहना होगा कि जिस तरह सारी सृष्टि अव्यक्त मे विलीन या सुप्त थी, उसी तरह ये भी उस अव्यक्त मे लीन थे। क्योकि जव परमात्मा के सिवा दूसरी कोई हस्ती ही नही है तो सवकुछ की अवस्थिति सूक्ष्म या वीज-रूप से परमात्मा मे ही माननी पडेगी, फिर भले वह कोई वस्तु हो, शक्ति हो, तत्त्व हो, भाव हो, नियम हो। वस्तुओ के या सृष्टि के उत्पन्न होने, स्थिर रहने और लय पाने या परिवर्तन होने का जो निश्चित क्रम, समय, अवलोकन या अनुभव मे आया, उसे ही नियम कहते है। जव कई वार सृष्टि के उत्पत्ति व विलय को देखा गया तो यह कहा गया कि उत्पत्ति-प्रलय सृष्टि का नियम है। इसी तरह नियमानुसार जव सृष्टि के प्रलय का समय होता है तव यह सृष्टि अव्यक्त दशा की ओर खिचने लगती है। सृष्टि मे हम कुछ तो स्थूल रूप देखते है और कई सूक्ष्म शक्तिया या

[1] देखिये परिशिष्ट ४

धर्म दिखाई पडते है। स्थूल रूप हैं मनुष्य, पहाड, समुद्र, सूर्य आदि। सूक्ष्म शक्तिया या धर्म हैं विजली, आकर्षण, सचार आदि। स्थूल रूपो को द्रव्य, व सूक्ष्म धर्मों को गुण कहते हैं। दोनो मिलकर व्यक्त सृष्टि कहलाती है। अव्यक्त से ही व्यक्त सृष्टि प्रकट होती है, अत अव्यक्त उसका कारण है। प्रलय-काल मे व्यक्त सृष्टि अपने अव्यक्त कारण मे लीन होने लगती है।

**"उस समय पृथ्वी पर सौ वर्ष की घोर अनावृष्टि होगी और उस काल में जिनका उष्णता बढ जायगी वे सूर्य नारायण तीनों लोको को तपाने लगेंगे। उस समय शेषनाग के मुह से निकला हुआ अग्नि वायु से प्रेरित होकर पाताल-लोक से आरम्भ कर सबको दग्ध करता हुआ ऊची-ऊची लपटो से चारो ओर फैल जाता है और सवर्तक नामक मेघ-समूह[1] हाथी की सूड के समान मोटी-मोटी धाराओं से सौ वर्ष तक वर्षा करता रहता है, जिससे कि यह समस्त ब्रह्माण्ड जल में डूब जाता है।"** ॥९-१०-११॥

विज्ञानवादी प्रलय की कल्पना[2] को ठीक इसी तरह नही मानते। वे सृष्टि मे निरन्तर परिवर्तन को मानते हैं व खण्ड-प्रलय की कल्पना तक पहुचते हैं। शेष-नाग की कल्पना हमारे यहा पृथ्वी को धारण करनेवाले के रूप मे की गई है। निस्सन्देह यह कोई रूपक है। सम्भवत पृथ्वी के अन्दर किसी अग्निमय या विषमय सत्ता से अभिप्राय है। इनका निवास पाताल मे माना गया है। पाताल सबमे नीचे का लोक है। सृष्टि की कल्पना परमात्मा के विराट् रूप मे की गई है। परमात्म-स्पन्दन का जब फैलाव हुआ तो वह अण्डाकार बना। अव्यक्त परमात्मा की प्रथम अभिव्यक्ति प्रकाश के रूप मे हुई। प्रकाश का रूप तपे हुए सोने का-सा दिखाई देता है। अत इस अण्डाकार प्रकाश को 'हिरण्यगर्भ' या ब्रह्माण्ड नाम मे अभिहित किया गया है।[1] हिरण्यगर्भ फूटकर जब सृष्टि रूप मे व्याप्त हो गया तो उसे विराट् कहा है और परमात्मा के शरीर के नाम से सम-भाया जाता है। इस विराट् पुरुष के पादस्थानीय पाताल, नाभिस्थानीय पृथ्वी

---

[1] सवर्तक मेघ उसे कहते हैं जब बादल अपना रूप छोड देते है और केवल जल-ही-जल रह जाता है।

[2] देखिये परिशिष्ट ५।

और शिरस्थानीय स्वर्ग[1] इस त्रिलोकी की कल्पना की गई है। इसे सक्षेप मे 'भू', 'भुव', 'स्व' कहा जाता है। विराट् को 'ॐ' नाम से पुकारा जाता है। यह व्यक्त परमात्मा का रूप समझा गया है। अव्यक्त परमात्मा मे स्पन्दन, कप या तरग उठने से सृष्टि की जो अभिव्यक्ति हुई और आकृति बनी, वह 'ॐ' आकार है। इसे प्रणव कहते हैं। ॐ के उच्चारण मे जो नाद होता है, वही कम्पन, स्पन्दन, या तरगन के समय का प्रथम शब्द या ध्वनि है। इसीसे कहा जाता है कि शब्द परमात्मा के साथ ही प्रकट हुआ। प्रलय के समय यह सारा विराट या ब्रह्माण्ड जल मे डूब जाता है।

**"तब हे राजन्, बिना ईंधन के अग्नि के समान विराट् पुरुष—इसे ब्रह्मा भी कहते हैं—अपने ब्रह्माण्ड शरीर को छोडकर सूक्ष्म स्वरूप 'अव्यक्त' में लीन हो जाता है।" ॥१२॥**

विराट् पुरुष अग्नि-रूप है। अग्नि की कल्पना हम उसके आधार ईंधन आदि के बिना नही कर सकते। पर यह विराट् इस तरह अग्नि या प्रकाश-रूप है कि जिसके लिए किसी ईंधन या आश्रय की जरूरत नही। यदि कोई ईंधन कहा ही जाय तो खुद परमात्मा को ही उसका ईंधन कहना होगा। प्रलय के समय उसका यह सृष्टि-भूत विराट्-रूप नष्ट हो जाता है और सारा ब्रह्माण्ड असली अव्यक्त रूप मे वदल जाता है। इसका क्रम अगले श्लोक मे बताया गया है।

**"वायु के द्वारा गध खींच लिये जाने पर पृथ्वी जलरूप हो जाती है और उस वायु से रस खींच लिया जाने पर जल अग्नि रूप हो जाता है। फिर अन्धकार के द्वारा रूप-रहित हुआ अग्नि वायु में और आकाश के द्वारा स्पर्श-हीन वायु आकाश में लीन हो जाता है। हे राजन्, तदनन्तर काल के द्वारा अपने गुण शब्द से रहित होकर आकाश तामस अहंकार में, इन्द्रियां राजस अहकार में और इन्द्रियो**

---

[1] विद्वान् लोग विराट् भगवान् के चरणो के तलुओ को पाताल, एडियो और पादाग्रभागो को रसातल, दोनो टखनो को महातल, जघाओ, पिंडियो को तलातल, घुटनो को सुतल, उरुओ को वितल और अतल, कटि के निम्न भाग को भूतल, नाभिदेश को आकाश, हृदय-स्थल को स्वर्लोक, ग्रीवा को महर्लोक, मुख को जनलोक, ललाट को तपोलोक और सिर को सत्यलाक कहते है। (भागवत द्वितीय स्कध अ० १ मे व अ० ६ मे इसका सविस्तर रूपक देखने योग्य है।)

के अधिष्ठाता देवताओ के साथ मन एव बुद्धि सात्विक अहकार में तथा अहंकार अपने गुणोसहित महत्तत्व में--और महत्तत्व प्रकृति में--लीन हो जाता है।"
॥१३-१४-१५॥

अव्यक्त परमात्मा से लेकर व्यक्त सृष्टि मे जीव शरीर व इन्द्रियो की बनावट तक हम पहले उत्पत्ति-क्रम देख चुके हैं। उस सिलसिले मे एक बात का गहरा विचार कर लेना यहा जरूरी मालूम होता है। साख्यकार ने पाच महाभूतो की पाच तन्मात्राए मानी हैं--पृथ्वी की गध, जल की रस, तेज की रूप, वायु की स्पर्श और आकाश की शब्द। इन्हे इन भूतो का गुण भी कहते हैं। श्री किशोरलाल-भाई पचभूतो मे व इन मात्राओ मे जोडा गया कार्य-कारण-सम्बन्ध स्वीकार नही करते। इसे वह अवैज्ञानिक व अनावश्यक मानते हैं। उन्होने चार भूत व छह मात्राओ को--शब्द,स्पर्श (उष्णता व दबाव) प्रकाश,रस (विभिन्न स्वाद) गध और सचार (विद्युत्, लोह-चुम्बकत्व, चित्त-प्रवेश आदि) माना है। मुझे भी यह कल्पना अधिक युक्तियुक्त व वैज्ञानिक मालूम होती है।

प्रत्येक पदार्थ अनेक रूपो मे—आकार मे–परिवर्तन पाता रहता है। कभी वह घन (Solid) दशा मे जैसे बरफ, पत्थर, कभी तरल जसे पानी, दूध, कभी वायु जैसे क्लोरिन, भाप, कभी इससे भी सूक्ष्म, कहिये आकाश, दशा मे देखा जाता है। इन्हींको लक्ष्य करके पृथ्वी, जल, वायु, आकाश ये चार भूत माने गए हैं। इस प्रकार पदार्थों का रूप-परिवर्तन 'भूत' श्रेणी मे व क्रिया तथा गति-परिवर्तन 'तन्मात्रा' श्रेणी मे आते हैं। प्राचीन शास्त्रकार चूकि एक तन्मात्रा का सम्बन्ध एक भूत से मानते हैं, यहा प्रलय-क्रम का वर्णन उसी विचारधारा के अनुसार किया गया है। पहले वायु पृथ्वी के गुण को खीचती है, जिससे वह जल-रूप हो जाती है। ताप या गरमी ऐसा धर्म या वस्तु है, जो पदार्थो के रूपान्तर होने मे अनिवार्य हो जाता है। अग्नि या गरमी के बढने से सभी पदार्थ अपना रूप बदलने लगे। जो घनरूप थे वे तरल (जल) हो गये, तरल वायु (गैस) बनने लगे, गैस आकाश (ईथर) और सूक्ष्म दशा मे परिवर्तित हुए। इसी आशय को पूर्वोक्त तीन श्लोको मे स्पष्ट किया गया है। आकाश तक सब महाभूत खतम हो गये। अब तीनो प्रकार का अहकार अपने सूक्ष्मरूप–महतमे–महत् प्रकृति मे, प्रकृति परमात्मा मे, लीन हो जाती है। यह विलय का क्रम हुआ।

"यह हमने जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय् करनेवाली भगवान् की त्रिगुण

**मयी माया का वर्णन किया। अब और क्या सुनना चाहते हो ?" ॥१६॥**

**राजा बोले—"हे महर्षे, अब ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे बिना जीते हुए चित्तवाले पुरुष के लिए दुस्तर इस ईश्वरीय माया को स्थूल बुद्धिवाले मनुष्य भी सुगमता से पार कर जायं।" ॥१७॥**

जब माया के भीषण व दुस्तर स्वरूप की कल्पना उन्हे हुई तो उन्होने उसके पार होने का उपाय भी पूछा। वे केवल कुतूहल के लिए प्रश्न या वाद-विवाद करनेवाले पुरुष न थे। सच्चे जिज्ञासु थे। फिर ससार मे अपढ, स्थूल बुद्धिवाले व अबोध लोगो की सख्या अधिक है, जिनका मन चचल रहता है। खासकर उनके लिए माया के इस अथाह व अपार सागर के तैर जाने का उपाय पूछना और भी जरूरी था।

**तीसरे योगीश्वर प्रबुद्ध ने कहा, "हे राजन्, दु ख के नाश व सुख की प्राप्ति के लिए स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध में बंधकर कर्मानुष्ठान करनेवाले पुरुषो को जो विपरीत फल मिलता है, उसे देखना चाहिए। निरन्तर दु.ख देनेवाले इस धन से, जो अति दुर्लभ और आत्मा के लिए मृत्यु-रूप ही है, तथा अनित्य गृह, पुत्र, कुटुम्ब और पशु आदि को प्राप्त कर लेने से, लोगो को क्या सुख मिल सकता है?" ॥१८-१९॥**

इसके लिए प्रबुद्ध ने पहले इस बात की ओर ध्यान देने के लिए कहा कि सासारिक सुख, विषय-भोग का क्या परिणाम होता है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष दु ख को मिटाने व सुख को पाने के लिए दाम्पत्य-सम्बन्ध मे बधते हैं व तरह-तरह के कर्म करते है। फिर भी वे देखते हैं कि दु ख तो पीछे ही लगा हुआ है व सुख उसके मुकाबले मे कही दिखाई नही देता। इस विपरीत परिणाम का कारण उन्हे सोचना चाहिए। फिर वे सासारिक सुख के माने जानेवाले साधनो—धन, गृह, पुत्र, कुटुम्ब, पशु आदि के जुटा लेने से यह शका प्रदर्शित करते हैं कि भला इनसे कैसे सुख की प्राप्ति हो सकती है ? क्यो कि धन एक तो आसानी से मिलता नही, दूसरे सदा दुःख का ही कारण वना रहता है और आत्मकल्याण के लिए तो मानो विषरूप ही है, एव गृह, पुत्रादि अनित्य है—आज हैं, कल नही है। इनमे लिप्त होकर या इनके सहारे मनुष्य इस माया का मुकाबला कैसे कर सकता है ? यहा प्रबुद्ध का सकेत इन साधनो के सर्वथा त्याग की ओर नही, वल्कि इनके सीमित उपयोग, सदुपयोग को व इनमे फस न जाने की ओर है। सुख इन वाह्य साधनो पर अवलम्बित नही है, वल्कि मन की वृत्ति पर है। वह लड्डू, फल, किताव,

मूर्ति या स्त्री की तरह कोई स्थूल वस्तु नही है कि उसके आकार-प्रकार का वर्णन करके उसका परिचय दिया जा सके। वह एक भावना, वेदना या सवेदन है, जो वर्णन से परे है और केवल अनुभव किया जा सकता है। अपनी ज्ञानेन्द्रियो द्वारा मनुष्य सृष्टि के विविध पदार्थों के ज्ञान व स्वाद को ग्रहण करता है। इसमे जो ज्ञान, स्वाद या क्रिया उसे रुचिकर, प्रिय लगती है, वह उसके लिए सुखकर होकर सुख व जो अरुचि होकर दुखदायी होती है, वह दु ख कहलाती है। यह सुख-दु ख का अनुभव इन्द्रियो द्वारा हमारा मन ही ग्रहण करता है। इसमे इनकी सहायता के बिना कोरी कल्पना से भी सुख-दु ख के ग्रहण व अनुभव करने की क्षमता है। मनुष्य की रुचि व अरुचि के अनुसार उसके सुख-दु ख की कल्पना भी एक-दूसरे से भिन्न होती है। तो भी जब मन को बहुत सन्तोष, समाधान, शान्ति मालूम होती है, उस अवस्था को हम वास्तविक सुख की अवस्था कहते हैं। यह सन्तोप जब उग्रता धारण करता है तो हर्ष हो जाता है। हर्ष व शोक दोनो सिरे की अवस्थाए हैं, और सुख मध्यम अवस्था है। इसका सबध चित्त के उद्रेक से नही, बल्कि समता से है। चित्त की अत्यन्त सम व निरीच्छ अवस्था मे ही मनुष्य को पूर्ण सन्तोष, सुख या समाधान अनुभव होता है। जब हम किमी भी निमित्त से अत्यन्त एकाग्रता, तन्मयता का अनुभव करते हैं तो उस समय हमारे मन की अवस्था बहुत समता मे रहती है। अत जब किसी कारण से मन चचलता या विकार को छोडकर स्थिरता या समता का अनुभव करने लगता है तब उसे सुख का ही अनुभव कहना चाहिए। इसके विपरीत दु ख का अनुभव हमे तब होता है जब हमारा मन किसी धक्के से अपनी साम्यावस्था छोडकर डावाडोल होता है व एक सिरे से दूसरे तक लोट लगाता है। यह व्याकुलता की अवस्था है। हम कह सकते हैं कि चित्त की समता सुख की, व्याकुलता दु:ख की अवस्था है। जो मनुष्य विषय-भोग मे गर्क रहता है, अपने धन, स्त्री-पुत्रादि मे ही डूबा रहता है, उसके मन को बार-बार व्याकुल और दु खी होने के अवसर अधिकाश आते हैं। यह प्रत्येक के अनुभव की बात है। इसीकी ओर प्रबुद्ध ने इशारा किया है—

**"मनुष्य को यह समझ लेना चाहिए कि यह लोक व परलोक दोनों कर्म-जन्य व नाशमान् हैं तथा इनमें मडलेश्वर राजाओ की भांति समान के प्रति स्पर्धा-होड, लाग-डांट, उत्कृष्ट के प्रति द्वेष और स्वय उत्कृष्ट होने पर पतन का भय लगा रहता है।" ॥२०॥**

ब्रह्म कहते हैं। सरल भाषा मे मूल ज्ञान के ग्रन्थो को वेद कहते है। 'शब्द' और 'विषय' के भेद से ज्ञान के दो भाग हो जाते है। पहले को अर्थात् शब्दावच्छिन्न ज्ञान को 'वेद' और दूसरे को अर्थात् विषयावच्छिन्न को 'ब्रह्म' सज्ञा है। 'शब्द' विषय को प्रकाशित करता है व 'विषय' शब्द द्वारा प्रकाशनीय वर्णनीय वस्तु है। अत 'वेद' ब्रह्म का वर्णन करनेवाले हुए। जब हम शब्द सुनते व विषय देखते या अनुभव करते हैं तो एक सामान्य ज्ञान भी होता है, जिसे सस्कार कहते है। इस तरह ज्ञान के तीन प्रकार हुए। यह सस्कार जब रूप-विशेष मे परिणत होता है तो 'विद्या' कहलाता है। इस विद्या से ही लोक-व्यवहार चलता है। जबतक यह सस्कार है तभी तक आप स्व-स्वरूप मे प्रतिष्ठित हैं। आपके नजदीक विश्व-सत्ता इस सस्कार-सत्ता पर ही निर्भर करती है। जब सस्कार का अभाव हो जायगा तो आप विश्वातीत, मुक्त हो जायगे। अत शब्दरूप 'वेद', विषयरूप 'ब्रह्म', दोनो की अपेक्षा सस्कार-रूप विद्या को ही प्रधान-रूप से विश्व की स्वरूप-सम्पादिका कहना होगा। इस ज्ञान पर चितिक्रम से सस्कार-पुट लगने से विश्व बन गया है। सच तो यह है कि ज्ञान-घन परमात्मा ही विश्व मे ससृष्ट होकर, उपाधि-भेद से, वेद, ब्रह्म, विद्या—रूपो मे परिणत हो जाता है। विश्व-सृष्टि मे इन तीन तत्त्वो का ही साम्राज्य है। बल्कि यो कहना चाहिए कि शब्द-ब्रह्म वेद-तत्त्व, विषय-ब्रह्म, ब्रह्मतत्त्व एव सस्कार-ब्रह्म विद्यातत्त्व है।

ऋक्, यजु, साम, अथर्व-भेद मे वेद चार प्रकार का है।[1] इसका विज्ञान भी हम यहा समझ ले। अव्यय पुरुष या परमात्मा या पुरुषोत्तम की जब यह इच्छा हुई कि 'एकोऽह बहुस्याम्' तो इसके साथ ही या पहले मन का आविर्भाव हुआ। यह इच्छा ही उसके मन का रूप है। इससे उसमे एक हृदय—बल-केन्द्र-शक्ति—उत्पन्न होती है। वही केन्द्रस्थ रस-बलात्मक सत्त्व, कामनामय होता हुआ, 'मन' नाम धारण करता है। कामना मन का ही व्यापार है। सबसे पहले इस मन से 'विश्वरेत' (उपादानभूत शुक्र) भूत-कामना ही उदय होती है।—'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत् (ऋक्० १०।१२९।४) इस कामना से प्रथम वेद नाम की सृष्टि-श्रेणी का प्रादुर्भाव होता है। परमात्मा की पाच—आनद, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—कलाओ से क्रमश पाच श्रेणी की वेद, लोक, प्रजा,

---

[1] देखिये परिशिष्ट ७

भूत, पशु-सृष्टि निर्मित हुई। इसमे वेद का सम्बन्ध आनन्द-कला से है। चार वेदो मे त्रयी वेद—ऋक्, यजु, साम—'अग्नि' वेद, व अथर्वस् 'सोम' वेद है। त्रयी-ब्रह्म स्वायम्भुव ब्रह्म है, अथर्व पारमेष्ठय सुब्रह्म है। पूर्वोक्त पाच श्रेणियो से सृष्टि के क्रमश पाच पुर या मण्डल बने। स्वयभू, परमेष्ठि, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा—इनमें त्रयीवेद तो स्वयम्भू-मण्डल हुआ व ब्रह्म कहलाया व अथर्व परमेष्ठि होकर सुब्रह्म कहलाया। 'ब्रह्म' आग्नेय होने से पुरुष, सुब्रह्म सोम होने से स्त्री माना गया। त्रयी वेद या ब्रह्म के मध पतित यजु भाग मे 'यत्'—'जू' दो तत्त्व हैं। इनमे 'यत्' गति-तत्त्व है। यही प्राण व वायु नाम से प्रसिद्ध है। 'जू' स्थितितत्त्व है, जो वाक्, आकाश नाम से प्रसिद्ध है। अत प्राण, वाक्, किंवा वायु + आकाश—रूप स्थिति-गति-तत्त्व की समष्टि ही यजुर्वेद है। प्राणरूप 'यत्' के काम, तप, श्रम से वाक्रूप 'जू' भाग से सर्वप्रथम पानी उत्पन्न होता है। त्रयी ब्रह्म के वाक्-भाग से उत्पन्न इसी आप तत्त्व का नाम अथर्व वेद है। यजुरूप स्वायम्भुव ब्रह्म का पसीना ही अथर्व-रूप सुब्रह्म है। इस प्रकार ऋक्, साम्, यत्, जू भेद से अग्निवेद चतुष्कल हो जाता है। दूसरा है आपोमय सोम (अथर्व वेद) यह भृगु, अगिरा भेद से दो भागो मे विभक्त है। घन, तरल, विरल—इन तीन अवस्थाओ के कारण भृगु आप, वायु, सोम इन तीन अवस्थाओ मे बदल जाता है, एव अगिरा अग्नि, यम, आदित्य इन अवस्थाओ मे। इस प्रकार आपोवेद षट्कल हो जाता है। भृगु-अगिरा रूप आपो-वेद के साथ चतुष्कल त्रयी वेद का समन्वय हो जाता है। पूर्वोक्त षट्कल सुब्रह्म, सौम्य होने से स्त्री है। चतुष्कल त्रयीब्रह्म आग्नेय होने से पुरुष है। दोनो के समन्वय से ब्रह्म-सुब्रह्मात्मक विराट् पुरुष का जन्म होता है। यह वेद-मूर्ति पूर्ण-पुरुष अपने-आपको इन्ही दो भागो मे विभक्त कर विराट् को उत्पन्न करता है।

**'द्विधाकृत्वात्मनो देहधर्मन् पुरुषोऽभवत्।**
**अर्धेन नारी तस्या स विराजमसृजत् प्रभुः॥**

(मनु १।३२)

ऋक्, साम्, यत्, जू, आप, वायु, सोम, अग्नि, यम, आदित्य-भेद से वह विराट् दशकल है। इस प्रकार वह अव्यय पुरुष ही वेदरूप मे परिणत होकर दश-कल हो जाता है। 'दशकल वै विराट्' (शत० १।१।२) यह विराट् पुरुष यज्ञ-पुरुष है। सृष्टि यज्ञरूप है, क्योकि अग्नि व सोम के सम्बन्ध का ही नाम यज्ञ है। अत. उस अव्यय पुरुष का अवयव-भूत सृष्टि-कर्त्ता दशाक्षर विराट् ही यज्ञ-पुरुष है।

इस वेद-विज्ञान का तात्पर्य यह निकलता है कि वेद व्यक्त ब्रह्म के या सृष्टि के मूल तत्वो के प्रतिनिधि हैं। जो हो, प्रस्तुत प्रकरण मे शब्द-वेद से अभिप्राय सत्य या मूल-ज्ञानदायी ग्रन्थो से है।

ज्ञान-दाता गुरु ऐसा-वैसा नही चल सकता। वह ब्रह्म-निष्ठ, शान्त-चित्त होना चाहिए। पुस्तके पढकर या रटकर 'ब्रह्मज्ञानी' तो बहुतेरे हो जाते हैं, खूब प्रवचन करते फिरते हैं, व बडे ग्रन्थ रच डालते है। पर कोरे पुस्तकीय ज्ञान या ग्रन्थ-लेखन से कोई ब्रह्मनिष्ठ नही हो सकता। उसके लिए ब्रह्म-भाव की जरूरत है। ब्रह्मज्ञान के अनुरूप जबतक उसकी वृत्ति या जीवन नही बन जाता तबतक यह ब्रह्म-निष्ठ नही हो सकता। ब्रह्मनिष्ठता या ब्राह्मी स्थिति के लक्षण गीता (अध्याय २) मे सविस्तर दिये गए हैं। उन गुणो की सिद्धि हो जाने पर मनुष्य सहज ही शान्त-चित्त रहेगा। शान्त-चित्त व्यक्ति ही चचल, अस्थिर, अशान्त, व्याकुल सासारिक पुरुष को उसके दु खो से छुडाने का रामबाण उपाय बता सकता है। अत उसीकी शरण जाने का उपदेश प्रबुद्ध ने पहले दिया।

**"फिर उन गुरुदेव को ही आत्मा और इष्टदेव मानता हुआ उन्हींसे भागवत धर्मों को सीखे, जिनका निष्कपट आचरण करने से स्वय अपनेको दे डालनेवाले श्री हरि प्रसन्न होते हैं।" ॥२२॥**

इसमे ज्ञानदाता के प्रति श्रद्धा व उसके बताये धर्म के निष्कपट आचरण का उपदेश दिया है। योग्य ज्ञानदाता या गुरु मिल जाने के बाद उसके वचन व उपदेश पर यदि श्रद्धा न रखी जायगी तो उसके अनुसार चलने का ही उत्साह नही हो सकता। इसी तरह यदि उसके व्यवहार मे ढोग व बनावट रही तो वास्तविक ज्ञान या फल नही मिलेगा। अनुकूल फल सच्चाई से ही मिल सकता है। भगवान भक्त के सरल हृदय को, निर्मल भाव को देखते है। जहा स्फटिक की तरह शुद्ध हृदय मिल जाता है, वही वे अपना वैकुण्ठ बना लेते हैं। ऐसा भक्त समझता है कि मैंने अपनेको भगवान के अर्पण कर दिया है, पर वास्तव मे भगवान ही अपनेको उसे दे डालते है।

**"सबसे पहले मन की सब ओर से असगता, फिर साधु जनो का सग, सब प्राणियो के प्रति यथोचित दया, मैत्री एव विनय का भाव, शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख-दु खादि द्वन्द्वो में समानता, आत्मस्वरूप हरि को सर्वत्र देखना, एकान्त-सेवन, अनिकेतता, पवित्र वस्त्र धारण**

करना, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तोष मानना, भगवत्सम्बन्धी शास्त्रो में श्रद्धा रखना, अन्य शास्त्रो की निन्दा न करना, मन-वाणी-कर्म का संयम, सत्य भाषण, शमदमादि, विचित्र लीलाविहारी भगवान के जन्म, कर्म व गुणो का श्रवण, कीर्तन व ध्यान, उन्हींके लिए समस्त चेष्टाएं करना, यज्ञ, दान, तप, जप, आचार अथवा जो कुछ भी अपनेको प्रिय हो तथा स्त्री, पुत्र, गृह और प्राण ये सब परमात्मा के अर्पण कर देना।" ॥२३-२४-२५-२६-२७-२८॥

यो तो इसमे शारीरिक व मानसिक शुद्धि, सयम, सदाचार, एकाग्रता, समर्पण, सबका उपदेश दिया गया है, परन्तु वास्तविक ज़ोर आत्मसमर्पण पर ही है, क्योकि वही भक्ति की पराकाष्ठा और ज्ञान का भी फल है। पहले तो उन्होने इस बात की आवश्यकता बताई कि मनुष्य अपने ध्यान को दूसरी सब बातो से हटाकर एक इष्ट वस्तु का ही ध्यान रक्खे। फिर वह सज्जनो के सग और सम्पर्क मे रहे, जिससे उसकी असगता दृढ होती रहे। सबसे पहले सग हमे अपने देह का छोडना चाहिए, क्योकि आत्मा को भूलकर देह को महत्त्व दिया तो वह असत्सग के ही बराबर है। तब दुर्जनो के सग से बचे। फिर वह प्राणियो के साथ यथोचित व्यवहार करता रहे। दीन-हीन प्राणियो पर दया, बराबरवालो के साथ मैत्री, उत्तम महापुरुषो के प्रति नम्रता का भाव रक्खे। इससे उसे तारतम्य व विवेक की सिद्धि होगी। शरीर, वस्त्र, गृह आदि को सदा स्वच्छ रखे, जिससे स्वास्थ्य अच्छा रहे व मन प्रसन्न रहे। स्वच्छता केवल बाहरी नही, भीतरी होनी चाहिए, मन का मैल निकलना चाहिए। वासना ही मन का मैल है। वासना से तरह-तरह के विकार पैदा होते है। उनको कायम रखकर बाहरी सफाई रखना काजल के आस-पास साफ-सुथरे काच लगाने जैसा है। भीतर से मन पवित्र है, ऊपर से शरीर, कपडे, घर, सामान आदि साफ-सुथरे हैं तो ऐसे व्यक्ति को परमात्मा का दूसरा रूप ही समझो।

'तप' से आशय यहा इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के मोहो, कष्टो, कठिनाइयो व बाधाओ को प्रसन्नता से सहन करने व फिर भी अपने व्रत से च्युत न होने की दृढता से है।

'तितिक्षा' का मतलब है शारीरिक कष्टो को सहन करने की आदत डालना— जैसे गर्मी-सरदी, परिश्रम आदि का सहना। अधिक बोलना या बिना काम बोलना भी अच्छा नही है। अत्यन्त आवश्यक हुआ तो खुद किसीसे बोल लिया, किसीका बहुत जरूरी व महत्त्वपूर्ण काम हुआ और वह आया तो उससे जरूरी बात कर

ली। इस तरह सम्यक् भाषण का ही भाव यहा 'मौन' से लेना चाहिए। न किसीकी निन्दा करे न किसीकी मिथ्या स्तुति, इसका नाम मौन है। जिसमे जो गुण हो, उसे समय पडने पर कहना सच्ची स्तुति है। विना कारण पीठपीछे किसीके अवगुण कहना निन्दा है। निन्दा और स्तुति दोनो अवसरो पर यह कल्पना करना कि जिसकी निन्दा या स्तुति मैं करता हू, वह खुद मैं ही हू, तो अपने-आप मौन साधने लगेगा।

मौन रहकर करे क्या ? तो इसके लिए 'स्वाध्याय' वताया। स्वाध्याय कहते है सदग्रन्थो के पठन व मनन को। पठन से भी मनन का महत्त्व अधिक है। बल्कि मनन के बिना पठन एक तरह से निरर्थक है। मनन का अर्थ पढे हुए पर विचार करना, योग्य-अयोग्य का चिन्तन करना, इससे हमारी बुद्धि मे स्वतन्त्र विचार व निर्णय करने की शक्ति आती व वढता है। इस स्वाध्याय का परिणाम जीवन की 'सरलता' होना चाहिए। सरल का अर्थ निष्कपट व सत्यमय जीवन। भीतर-वाहर एक-सा रहना, मन मे किसी प्रकार का पाप, छल, प्रपच, छिपाव, दुराव न रखना। इसका यह अर्थ नही कि चाहे जो बात, चाहे जिसे, चाहे जिस तरह कह दी या कर दी जाय। यदि किसीने अपनी गुप्त वात हमसे कही है तो उसको गोपनीय रखने की जिम्मेदारी हमपर है। दूसरो से वह वात हम इस तरह नही कह सकते कि जिससे उसे हानि पहुच जाय। उसके हित मे ही हम उसे जहातक बने उसकी अनुमति से कह या प्रकाशित कर सकते हैं। सरलता का सीधा अर्थ यह है कि हमारे बात-व्यवहार से किसीको धोखा न हो, ऐसी सरलता मे वडी मोहिनी होती है। सरल मनुष्य के प्रति दूसरो को अपना हृदय खोलने मे सकोच नही होता, क्योकि उससे उन्हे धोखा होने का अन्देशा नही रहता। सरलता का अर्थ मूर्खता या भोलापन नही, निष्कपटता है। जव हम दूसरो से धोखा खा जाय तो हम मूर्ख या भोले हैं, जब हम सावधान रहकर धोखेबाजो, कुटिल लोगो से चौकन्ने रहते हैं तो हम कुशल, दक्ष हैं। जब हम दूसरो को चकमा व धोखा देते हैं तव हम कपटी, कुटिल, दुष्ट हैं। सरलता इन सवसे अनोखी चीज है। वह सत्य की भीतर-वाहर साधना से आती है। कुटिल व धोखेवाज को भी सरलता के सामने झुक जाना पडता है। सीधा हो जाना पडता है।

दूसरो के हृदयो मे घुल-मिल जाने का प्रयत्न करने से सरलता आती है। सामनेवाला अमृत की तरह हो या विप की तरह, अपने निजत्व को न छोडते हुए

दोनो मे प्रवेश कर जाने की वृत्ति सरलता है। शकर का करेला बनाया जाय तो क्या वह कडवा लगेगा ? इसी तरह भला आदमी बुरे के हृदय मे प्रवेश करे—तो बुरे को भी भला ही प्रतीत हो जायगा। यह गुण सरलता मे है। सरलता सीधा-सच्चापन है। प्राणिमात्र को अपने मित्र, सगे, प्रत्यक्ष प्राण-स्वरूप समझकर निश्छल व्यवहार यहा होता है। तो वह भी भले-बुरे सबका अपने प्राणो के समान प्रिय बन जाता है। निहाई की भाति वह सतप्तो का आधार होता है। उन-पर पडनेवाले घावो को भी सहता है। यह है आर्जव—सरलता।

'ब्रह्मचर्य' को यहा शारीरिक अर्थ मे लेना चाहिए, क्योकि ब्रह्मचर्य का पूर्ण अर्थ तो है ब्रह्म का आचार, यह तो बहुत ऊची स्थिति हुई। यहा तो अभी शुरुआत ही है। अत जननेन्द्रिय का सयम इतना ही अर्थ अभीष्ट होगा। यह निश्चित है कि मन को काबू मे रखे बिना इन्द्रियो का सयम एक हद से आगे नही जा सकता। परन्तु मन पर काबू पाने के लिए भी इन्द्रिय-सयम से ही शुरुआत करना पडेगी। तो जिनसे ऐसा भी ब्रह्मचर्य न सधे क्या वे श्रेय मार्ग पर चलने का इरादा छोड दे ? नही, पहले वे स्त्री-पुरुष नियमित व बहुत मर्यादित केवल सन्तान-उत्पादन के अर्थ ही सग करे। स्त्री को भोग्य वस्तु नही, बल्कि बराबरी का मित्र, साथी मानने की भावना पुरुष बढाये। सादा खाना, उचित व्यायाम, सात्विक वातावरण, इष्टदेव या कार्य मे तल्लीनता इन साधनो से ब्रह्मचर्य पालन करने मे सुगमता होगी।

ब्रह्मचर्य के आदर्श के सम्बन्ध मे गाधीजी के मननीय विचार पढने योग्य है, क्योकि गाधीजी अपने युग के व अपने ढग के एक महान् ब्रह्मचारी थे।[1]

ससार मे दो आनन्द है, विषयानन्द और ब्रह्मानद। ये एक ही आनन्द के दो नाम हैं। एक शरीर-भोग से प्राप्त होता है, दूसरा आत्मा-भोग से। जिस तरह शरीर आत्मा का विकार है। उसी तरह विषय-सुख भी ब्रह्मसुख का विकार है—छाया है। ब्रह्मचर्य-साधन का मतलब है शरीर-भोग से बचकर ब्रह्म भोग की तरफ मन को ले जाना। शरीर स्थायी नही है। उसकी अवस्थाए बदलती रहती है। इसलिए उसका आनन्द भी अस्थायी और परिवर्तनशील है। आत्मा एक अखण्ड, समरस है। इसलिए उसमे लीन होने का आनन्द भी अखण्ड है। इसलिए इसे

---

[1] गाधीजी के विचार देखिये परिशिष्ट ८ मे।

परमानन्द कहा है।

'अहिंसा' का अर्थ है प्राणिमात्र के प्रति समभाव रखकर व्यवहार करना। अपने स्वार्थ के लिए किसीको कष्ट न पहुचाने की भावना भी अहिंसा ही है। इसका स्वरूप परिणाम पर उतना नही जितना कर्त्ता की भावना पर अवलम्बित रहता है। हालाकि परिणाम उपेक्षा करने जैसी बात नही है। अनजान मे जो दूसरो को कष्ट पहुच जाता है या हानि हो जाती है, उससे कर्त्ता को हिंसा का दोष नही लग सकता। हा, मालम होने पर उसे दु ख या पश्चात्ताप जरूर होगा। इसी तरह क्षणिक आवेश या क्रोध मे बच्चो को, उनके हित के ही लिए, जो मार-पीट दिया जाता है व बीमारो के साथ उनके स्वास्थ्य के लिए जो सख्ती की जाती है या कमजोर आदमी बहुत बलवान् के सहसा आक्रमण के मुकाबले मे कुछ मारपीट अचानक कर बैठे तो वह हिंसा नही के बराबर है। क्षणिक उद्रेक नही, बल्कि वृत्ति ही अहिंसा-हिंसा की सच्ची कसौटी है। दुनिया आचरण को सरलता से देख लेती है, वृत्ति खुद अपनेको जल्दी मालूम हो जाती है। दुनिया आचरणो के तातो से वृत्ति का अनुमान लगाती है। इसीलिए हम केवल वृत्ति के भरोसे अपने आचरण या उसके परिणाम की तरफ से उदासीन नही रह सकते। फिर मनुष्य का खून चूसकर, लूटकर, चीटी, बन्दर, कुत्तो की रक्षा के लिए जो अति चिन्ता देखी जाती है, वह भी विकृत अहिंसा समझनी चाहिए। जबतक हम अपने चित्त को राग-द्वेष से मुक्त करने का प्रयत्न नही करेंगे तबतक समभाव या अहिंसा की वृत्ति बनना कठिन होगा। स्वार्थ से राग-द्वेप उत्पन्न होता है। स्वार्थ-साधक वस्तुओ व व्यक्तियो के प्रति राग—उचित व आवश्यकता से अधिक प्रेम या आकर्षण—और बाधको के प्रति द्वेष, अरुचि, घृणा उत्पन्न होती है।

जब हम स्वार्थ को छोडेंगे या कम-से-कम उसे ऐसी मर्यादा मे रक्खेगे, जिससे दूसरो को हानि पहुचाये बिना उसकी सिद्धि होती रहे तभी हम राग-द्वेप से छूट सकेंगे। कुटुम्ब, समाज, देश व सारे भूमण्डल मे यदि शान्ति व स्वास्थ्य हम चाहते हो, व वह रह सकती है, तो अहिंसा के ग्रहण व पालन से ही—केवल व्यक्ति-जीवन मे नही, समाज-जीवन मे भी उसे प्रतिष्ठा देकर। जो भगवान् की ओर—समाज व सृष्टिरूपी भगवान् के स्वरूप की ओर—जाना चाहते है, उन्हे व्यक्तिगत जीवन मे ही अहिंसा के किंचित् पालन से सन्तोष न मानना होगा। बल्कि समाज-जीवन मे भी उसे प्रविष्ट करने के लिए बडे उत्साह व लगन से काम करना होगा।

हम सदा एक-दूसरे का गला काटकर न तो जीवित ही रह सकते है न पनप ही सकते है। हमे परस्पर प्रेम, सहयोग, सद्भाव, सौजन्य का मार्ग ही अख्त्यार करना होगा, और वह अहिंसा के सिवा दूसरा नही हो सकता। 'मनुष्य-स्वभाव से हिंसा नही छूट सकती।' 'बुद्ध व ईसा-मसीह के अहिंसा-प्रचार का आखिर क्या नतीजा निकला?' 'उनके अनुयायी देशो मे घोर हिंसा फैल रही है तो फिर आगे हिंसा के मिटने की क्या आशा की जाय?' ये दलीले थोथी है। प्रत्येक विचारशील मनुष्य हिंसा के मुकाबले मे अहिंसा की श्रेष्ठता को मानता है। मनुष्य स्वभावत तो अहिंसा से ही चलता है, मजबूर होने पर ही हिंसा का आश्रय लेता है। इसे वे स्वीकार करते है। साम्यवादियो का तो ध्येय ही अन्त मे समाज से हिंसा का बहिष्कार करना है। उसकी व्यवहार्यता पर ही अधिक लोग शकाशील पाये जाते है। किन्तु प्रयत्न करने से ससार मे बहुत कठिन व असम्भव समझी जानेवाली बाते भी आसान व प्रत्यक्ष होती हुई देखी जाती है। अतएव मनुष्य का कर्तव्य इतना ही है कि जो वस्तु उसे आवश्यक व हितकर मालूम होती है,उसके लिए बिना रुके,उत्साह के साथ, दृढता से प्रयत्न करता चला जाय। कोरा विचार, तर्क, शका-कुशका करते रहने से सरल वस्तु भी कठिन व पेचीदा बन जाती है व कार्य करने व करते रहने से कठिन व पेचीदा वस्तु भी आसान व सरल हो जाती है।

हृदय की कोमल, स्निग्ध भावना से अहिंसा की उत्पत्ति है। वह दूसरे को अभय का, निश्चिन्तता का आश्वासन देती है, जिसके फलस्वरूप हमे अपने-आप निर्भयता और निश्चिन्तता का वरदान मिल जाता है। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए स्वय कष्ट उठाना—इसका मूल मन्त्र और एक पहलू है। कष्ट-सहन की इस आच मे तपते हुए भी सामनेवाले के प्रति प्रेम की मृदुल फुहार बरसाना, इसका दूसरा पहलू है। परमार्थ को छोड दें तो उच्च स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी अहिंसा रामबाण और राजमार्ग है। यह पढने व सोचने का विषय नही, करने का है। जैसे-जैसे आप अनुभव व प्रगति करते जायगे इसके स्वाद, सुख, लाभ का परिचय अपने-आप आपको होता जायगा। जो भगवान् के मार्ग पर चलना चाहते है, उनके लिए तो यह एक अनिवार्य द्वार है।

श्री ज्ञानदेव ने अहिंसा-वृत्ति का वर्णन बडी ललित भाषा मे किया है।[1]

---

[1] श्री ज्ञानदेव के विचार परिशिष्ट ९ मे देखिये।

पर भी भली-भाति लागू होता है—"यह स्तुति-रूपी कन्या अभी तक कुवारी ही बनी हुई है—वरमाला हाथ मे लिये-लिये घूमती है, इसके अनुरूप कोई वर नही मिलता, क्योकि विद्वान् उसे नही चाहते व मूर्खो को वह स्वय नही चाहती।"

जिन भक्तो ने किसी सेवा-कार्य को ही भगवान् की भक्ति या सेवा का साधन मानकर अपनाया है,उन्हे समाज को अपनी सेवा का हिसाब देना पडता है। समाज के खर्च से जो काम चलता है,उसका हिसाब लेना समाज का व देना सेवक का कर्त्तव्य है। उसका विवरण समाज के सामने उपस्थित करना इसके अन्तर्गत त्याज्य नही है।

एकान्तसेवन का शाब्दिक अर्थ ही लिया जाय तो उसकी आवश्यकता साधन-काल मे ही समझना चाहिए। इष्ट सिद्धि होने पर तो समाज के हित के लिए हमे समाज मे ही अधिकतर रहना होगा।

'अनिकेतता' से तात्पर्य किसी प्रकार के परिग्रह न रखने से है। घर, जमीन, जायदाद जैसी कोई चीज अपने स्वामित्व की न रखे। ससार की सब वस्तुओ पर ईश्वर का—साम्यवादी की भाषा मे समाज का—स्वामित्व माने। जो-कुछ प्राप्त हो या करे वह ईश्वर को—समाज को चढा दे। उसके उपयोग के बाद जो बचा-खुचा—प्रसाद—'यज्ञशिष्ट' रहे, उसे आप पा ले। इसी वृत्ति का सकेत 'अनि-केतता' के द्वारा किया गया है। अत जो-कुछ मिल जाय, उसमे सन्तोष मानने की आदत डालनी चाहिए। अपनी जरूरतो के लिए दूसरो पर अन्याय, अत्याचार किसी दशा मे न करना चाहिए। दूसरो को ठगकर, धोखा देकर अपना निर्वाह करने का यत्न न करना चाहिए। धर्म-पूर्वक सेवा करते हुए जो सहज-रूप से मिल जाय, उसीको भगवान् का अनुग्रह समझकर प्रसन्न रहना चाहिए।

पठन-पाठन भी ऐसे ही ग्रन्थो का करना चाहिए, जिनसे हमारे अन्दर सद्-भावनाए उदय हो, सद्विचार जाग्रत हो, सत्कर्म की प्रेरणा हो। भगवान् क्या है, सृष्टि से व जीवो से उसका क्या सम्बन्ध है, जीवो के कल्याण के लिए उसकी क्या आज्ञाए है, इन बातो का अध्ययन व चिन्तन करता रहे। दूसरी वाहियात, गन्दी, निरर्थक किताबो के बदले ऐसे भागवत्-शास्त्र पर श्रद्धा रखना ही कल्याणकारी है। याद रखिये कि भगवान् उसके स्वरूप स जुदा नही हो सकता। यह सृष्टि ही भगवान् का स्वरूप है। इसे छोडकर उसे कही अन्यत्र ढूढने की जरूरत नही है। इसकी सेवा ही भगवान् की सेवा है। इसके जीवो का तिरस्कार भगवान् का तिर-स्कार है। उनका पीडन-शोषण भगवान् का पीडन व शोषण है। भगवान् की चर्चा

व गुणानुवाद करनेवाले शास्त्रो से भिन्न दूसरे शास्त्र भी है, जिनमे समाज की उन्नति, व्यवस्था-सम्बन्धी अनेक विषयो की चर्चा है—जैसे समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि। हम जब सृष्टि में परमात्मा के सिवा दूसरा कुछ मानते ही नही हैं, तो दूसरे शास्त्र भी प्रकारान्तर मे भगवान्-सम्बन्धी शास्त्र ही हो जाते हैं। अत उनकी निन्दा न करनी चाहिए। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय-वाले भगवान् की मूल एकता, व्यापकता को भूलकर सकुचित वृत्ति से अपने साम्प्रदायिक साहित्य की स्तुति व दूसरों के साहित्य की निन्दा करते हैं। यह वृत्ति दूषित है और भगवान् को अप्रिय तथा हमे उससे दूर ले जानेवाली है। भगवान् राम ने हनुमानजी मे कहा है—

**'सो अनन्य जाके असि मति न टर्रहि हनुमन्त।**
**मै सेवक सचराचर-रूप स्वामि भगवन्त॥'**

सचराचर-रूप भगवान् हमारा स्वामी है। हम उसके सेवक हैं। ऐसी जिसकी भावना होती है, वही अनन्य भक्त है। वह निन्दा केवल पाप की, बुराइयो की, कुकर्मों की, कुमार्गों की, कुसगति की करेगा। किसी व्यक्ति, समाज, सम्प्रदाय, ग्रन्थ या शास्त्र की नही। ऐसा कोई व्यक्ति, धर्म, समाज, सम्प्रदाय, व्यवस्था और शास्त्र नही हो सकता, जिसमे केवल बुराई ही हो। अत किसीकी ऐकान्तिक निन्दा कभी नही की जा सकती। हा, जिस अश मे बुराई हो, जिस कार्य मे बुराई हो, उसकी उसी अश तक निन्दा—आलोचना आवश्यक है और वह लाभदायी भी होती है। फिर निन्दा व आलोचना करने का अधिकार भी चाहिए। जो न्यायवृत्ति से व समभाव से निष्पक्ष होकर विचार कर सकता है, वही प्रसगानुसार आलोचना व निन्दा करने का पात्र कहा जा सकता है। त्रुटि दिखलाना आलोचना कहलाती है। गुण-दोष दोनो का विश्लेषण करना समालोचना व लोगो की निगाह मे गिराने का उपाय निन्दा कहलाती है। निन्दा उसी अवस्था मे करने की आवश्यकता उत्पन्न होती है जब सुधार के उपाय बेकार साबित हुए हो और जनमत को आकर्षित करना अनिवार्य हो गया हो। शुद्ध हित-भाव से ही यह सब करना जायज हो सकता है।

अनावश्यक वस्तुओ का उपयोग या उपभोग न करना सयम है। मन के हानिकर या निरर्थक सकल्पो-विचारो को रोकना मानसिक सयम है। फिजूल गपशप न लगाना, ऊट-पटाग न बकना, उचित, आवश्यक व हितकर ही बोलना,

वाणी का सयम है। इसी तरह अपनेको गिराने या दूसरो को हानि पहुचानेवाले कामो से बचना कर्म का सयम है। सयम दूसरो को उनकी सुख-सुविधा, स्वतन्त्रता की सुरक्षिता की गारण्टी देता है व आस-पास विषय-भोग व बुराइयो से बचने की किलेबन्दी करता है। कोई भी काम सम्पूर्ण तभी कहा जा सकता है जब मन, वचन, कर्म—तीनो का मेल उसमे हो।

'सत्यभाषण' शुरुआत का नियम है, कम-से-कम माग है। मन मे हम जिस वस्तु को जैसा समझते है वैसा ही मुह से कहना सत्यभाषण है। मन मे जो कुछ है सभी बिना विचारे कह डालना सत्यभाषण के लिए जरूरी नही है। यह अविवेक है। जो कुछ हमारे मुह से निकले, वह हमारे आन्तरिक भावो का प्रतिनिधि हो और सामनेवाला धोखे मे न पडे—यह सत्यभाषण के लिए लाजिमी है। सत्य-भाषण से ही मनुष्य की प्रतिष्ठा व साख रहती है। साधारण समाज-व्यवहार के लिए भी आवश्यक है तो फिर जो व्यक्ति भगवान् के रास्ते ही चल पडा है, उसके लिए तो अनिवार्य ही है।

मन की शान्ति को 'शम' और इन्द्रियो के सयम को 'दम' कहते है। हमारे कार्य-जगत् मे कैसे ही भूचाल आयें, पर मन उसी तरह अडिग, अटल, स्थिर बना रहे जैसे तूफान व लहरो के उठने पर भी समुद्र। बहुत हुआ तो उसकी लहरे ऊपर-ही-ऊपर सतह पर उठकर खतम हो गई, भीतरी शान्ति, स्थिरता, ज्यो-की त्यो अवि-चल रही। मनुष्य जबतक विषय-भोग, स्वार्थ, महत्त्वाकाक्षा को अपनाये रखता है तबतक यह शान्ति उसे नसीब नही हो सकती। इस मानसिक शान्ति का पहला कदम है दम—इन्द्रियो को वश मे करने का प्रयत्न। यह नियम बना लेना चाहिए कि आख से हम भगवान् का ही रूप देखें—अपने उच्च लक्ष्य या पवित्र इष्ट के रूप-सौन्दर्य के सिवा दूसरी किसी वस्तु के रूप पर लट्टू न हो—कानो से उसी की चर्चा सुने, मुह से उसीके सम्बन्ध मे बाते करे, हाथ-पाव सब उसीकी सिद्धि मे जुट पडें। जब इन्द्रिया बेकाबू होने लगें तो उपवास या शारीरिक श्रम के किसी काम मे उनको लगाकर थकाने का उपाय किया जा सकता है।

अन्त मे अपना सर्वस्व भगवान् के समर्पण करना है। इसके दो भाग हो जाते हैं—एक तो भगवान् मे तन्मय हो जाना—उसीके जन्म, कर्म, गुणो का श्रवण, कथन-कीर्तन और ध्यान, दूसरे उनके प्रत्यर्थ अपनी सब क्रियाए—यज्ञ, दान, जप, तप, आचार व सब प्रिय वस्तुए—स्त्री, पुत्र, गृह, प्राण आदि—अर्पण कर देना।

पहला भाग चित्त की एकाग्रता से सम्बन्ध रखता है, दूसरा हमारी भावना के उत्कर्ष से। एक भगवान् मे ही हमारा ध्यान केन्द्रित हो जाने से हमको सबकुछ जगह-जगह वही दिखाई देने लगता है, जिसका फल यह होता है कि हम अपने-आपको सर्वथा उसीके अधीन, उसीमे लीन, उसीमे व्याप्त पाते हैं और अपनी पृथक् सत्ता को भूल जाते है। फिर जीवन मे हम जो भी कुछ करते हैं, वह सब उसीके लिए, उसीका हो जाता है। हमारा जो कुछ प्रिय है, वह सब उसीका है, वही तो है। इस सीमा तक पहुचना ही माया को पार कर जाना है। 'भगवान् हमसे जुदा है', यह माया का प्रभाव है। 'भगवान् हममे है, हम भगवान् मे हैं', यह माया का अभाव है।

भक्ति के भी दो रूप हैं—एक तो यह कि भगवान् को एक व्यक्ति मानकर उसका श्रवण-कीर्तन आदि करना, दूसरा उसको सृष्टिव्यापी, सृष्टिरूप मानकर उसकी सेवा करना। पहली साधना भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था है, दूसरी अन्तिम। बूद को पकडकर वह सिन्धु को पा गया, मूर्ति को ग्रहण करके असलियत तक पहुच गया। जब हमने सृष्टि-व्यापक विश्व-रूपक विराट् परमात्मा को पहचान लिया, उसके अर्पण अपनेको कर दिया तो फिर हमारी सब चेष्टाए, क्रियाए, कर्म-कलाप उसीके लिए हुए। यही भाव समाज मे बन्धुभाव, समभाव, दयाभाव और इनसे उत्पन्न सेवाभाव की बुनियाद है। मनुष्य सेवा के लिए उत्पन्न हुआ है, सुख के लिए नही। सेवा ही उसके लिए सुख है। सेवा ही उसके लिए कर्तव्य है। क्योकि जहा जो अभाव है, उसकी पूर्ति करना सेवा है। वह अभाव चाहे व्यक्ति का हो, समाज का हो, जाति का हो या सारे जगत् का हो। सम्पूर्णता का अनुभव सुख की पराकाष्ठा है। उसमे कमी या त्रुटि का होना ही अभाव है और यही दुःख का कारण होता है। इसका निवारण सुख है। सम्पूर्णता मे शरीर, मन-बुद्धि, आत्मा—तीनो के पूर्ण विकास व सम्पन्नता का भाव समाया हुआ है। शरीर का पूर्ण स्वस्थ होना, मन-बुद्धि का शुद्ध व पुष्ट होना तथा आत्मा का निर्मल, बलिष्ठ व व्यापक होना सम्पूर्णता का सकेत करता है। व्यक्ति व समाज दोनो का—अर्थात् व्यक्ति के ऐकान्तिक व सामाजिक दोनो रूपो या अगो का इतना विकसित हो जाना सम्पूर्णता की सीमा तक पहुचना है। व्यक्ति का अपने तक सीमित रहना जीव-भाव व विश्व तक व्यापक होना शिव-भाव है। जीव व शिव दोनो के सामजस्य मे सम्पूर्णता है। जीव और शिव अर्थात् व्यक्ति व समाज के जीवन मे सम्पूर्णता को

सामने रखते हुए जो भी त्रुटि, कमी या अभाव प्रतीत होता हो, उसकी पूर्ति करना परमात्मा की सेवा करना है। परमात्म-समर्पण का यह वाछनीय फल है। समाज की,दीन-दुखियो, अनाथो, पीडित-पतितो की सेवा मे भगवान् को पाने मे भी सहायता मिलती है और भगवान् को पा जाने के वाद इससे आत्म-सन्तोप व शान्ति मिलती है। कर्तव्य-पालन का या भगवान् की सेवा कर लेने का आत्म-मुख मिलता है, जिसके वरावर ससार मे दूसरा मुख नही है। वल्कि यह कहा जाय तो हर्ज नही कि दुनिया मे सच्चा, अखण्ड, पूर्ण सुख यदि कुछ है तो वह यही है।

**"इसी प्रकार कृष्ण ही जिनके आत्मा और स्वामी हैं,उन पुरुषो से प्रेम करना स्थावर और जगम दोनो प्रकार के जगत् तथा महात्मा और साधुओ की सेवा करना, भगवान् के परम पावन गुणो का परस्पर कथोपकथन करना तथा जिससे आपस में प्रेम, सन्मान व शान्ति का विस्तार हो, ऐसे ही कर्म करे।" ॥२९-३०॥**

फिर वह ऐसे लोगो से प्रेम वढावे, जिन्होने अपनेको भगवान् या समाज या विश्व के हाथो मे सौंप दिया हो और इन्हीको जिन्होने अपना आत्मा, प्राण, स्वामी सबकुछ मान लिया हो। किन्तु इतने ही से उसे सन्तोप न मान लेना चाहिए, वल्कि प्राणिमात्र की ही नही, जड-चेतन सारे जगत् की सेवा मे उसे अपनेको लगा देना चाहिए। साधु-सन्तो की आवश्यकताओ का उमे खास तौर पर ध्यान रखना चाहिए, क्योकि वे सर्वदा दूसरो के हित मे ही लगे रहते है। उन्हे खुद अपनी जरूरत की सामग्री जुटाने की फुरसत नही रहती। अत जिन्होने अपना जीवन अभी सर्वथा परमार्थ या परहित मे नही लगा रखा है, उनपर उनके भरण-पोपण की जिम्मेदारी अपने-आप आ जाती है। इसकी व्यवस्था उन्हे इस भावना से करनी चाहिए मानो इस सेवा या कार्य द्वारा वे स्वय वडभागी हुए हो। उनपर उपकार करने, आगे-पीछे उनसे अपने लिए कुछ लाभ उठा लेने या हो जाने की भावना अथवा आशा से यह व्यवस्था करना हमारी स्वार्थ सावने की योजना का एक अश ही कहा जायगा। इसके अलावा यदि वोलना हो तो भगवान् की—अपने इष्ट, ध्येय की ही चर्चा, उसकी सिद्धि के सिलसिले मे ही वातचीत, भापण, लेखन आदि करना चाहिए। और इस वात की सदा सावधानी रखनी चाहिए कि हमारे हाथो ऐसे ही कार्य—कर्म—हो जिससे परस्पर व्यक्तियो, जातियो, समाजो, देशो और जीवो मे प्रेम, सन्तोप व शान्ति का विस्तार हो। इससे वढकर जीवन का ध्येय, उपयोग व सफलता या कृतार्थता और क्या हो सकती है ?

वर्तमान ससार मे मनुष्य के इतने प्रकार के ध्येय प्रचलित है—

१ अपने स्वार्थ व सुख मे ही लगे रहना । इनमे कुछ लोग तो यह मानते है कि दूसरो को धोखा देकर, ठगकर, हानि पहुचाकर, पीडित करके भी अपना स्वार्थ साधे तो साध लेना चाहिए । कई लोग जबान से इस बात को नही कहते, पर व्यवहार मे ऐसा ही आचरण करते हैं । उसपर दु खी होते या पछताते नही, बल्कि अक्सर ऐसी दलीले देते देखे जाते है कि इसके बिना ससार मे जीवन नही चल सकता । दूसरे ऐसे लोग हैं, जो जान-बूझकर इस हद तक नही जाते, मजबूरी से भले ही ऐसा कुछ कर ले । वे सिद्धान्तत मानते है कि दूसरो को हानि न पहुचाकर उनके स्वार्थ-सुख मे बाधक न होते हुए ही स्वार्थ-साधन करना नीतियुक्त है । जब ऐसे अवसर आते हैं तो उन्हे दु ख व पछताव होता है, किन्तु लाचारी है—इस वाक्य से यह घुल या धुल जाता हैं ।

२ दूसरी श्रेणी उन लोगो की है जो स्वतत्रता, समता, बन्धुता का आदर्श रखते हैं । स्वार्थ तो थोडा-बहुत सभीके पीछे लगा रहता है, परन्तु इन लोगो ने इस त्रिपुटी को जीवन मे प्रधानता दी है व स्वार्थ-सिद्धि को गौण माना है । इन तीनो की सिद्धि मे ही वे व्यक्ति व समाज का सुख व हित मानते है । इनकी योजना मे समाज की श्रेणी, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण आदि भेद कायम है । ये त्रिपुटी द्वारा उनके सामजस्य का प्रयत्न करते हैं । इन्होने प्रजासत्ता की या जन-तत्र की प्रणाली को जन्म दिया है ।

३ एक और श्रेणी है,जो व्यक्तिमात्र की समता की हामी है और समाज मे आर्थिक विभाजन पर आश्रित किसी श्रेणी या वर्ग को स्वीकार नही करती । वह भेदो या वर्गो मे सामजस्य नही चाहती, बिलकुल ही मिटाकर वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहती है । इसमे मनुष्य परस्पर समता,प्रेम और सहयोग से रहेगा । न कोई किसीको ठगेगा, लूटेगा, चूसेगा, या जोर-जबरदस्ती करेगा । वह किसी शासक-मण्डल के नही एक तरह के व्यवस्थापक मण्डल के अधीन रहेगा । इसमे लोग शक्तिभर काम कर लेंगे, जरूरतभर प्राप्त कर लेंगे । धन व सुख-साधन की इतनी विपुलता होगी कि चोरी, बेईमानी, धोखाधडी, लूट-खसोट, शोषण, जोर-जबरदस्ती की जरूरत ही न रहेगी ।

४. चौथी श्रेणी उन लोगो की है, जो सेवा मे ही सुख मानते है । उनका स्वार्थ जीवन की साधारण आवश्यकताओ तक ही परिमित रहेगा । उनकी समाज-

व्यवस्था का आधार समता नही त्याग है। समता मे एक-दूसरे के अधिकार सुरक्षित रखने की भावना है, त्याग मे एक-दूसरे के लिए प्रसन्नतापूर्वक अपना स्वार्थ-सुख कुछ कम करने, स्वय कष्ट उठाकर भी दूसरे को सुखी करने की भावना है। समता की भावना मे फिर लडाई-झगडे की, पच-पचायत की, अतएव शासकमण्डल की जगह रहेगी। 'त्याग' व 'सेवा' की भावना मे इसकी कतई गुजाइश नही रहेगी, जड ही कट जायगी। ज़ोर-जबरदस्ती को, किसी भी प्रकार के बल-प्रयोग को, हिंसा को, यह शुरू से ही नाजायज मानते है। परस्पर प्रेम, सहयोग, सेवा के बल पर ही यह शुरू से अपनी व्यवस्था की इमारत रचना चाहते हैं। इसमे श्रम को प्रधानता रहेगी। मनुष्य अपने श्रम से जो कमावेगा, उसमे से पहले जरूरतमन्दो के लिए रखकर फिर अपने काम मे लेगा। जरूरत बहुत कम होने या रखने से विपुलता तो काफी रहेगी ही। इसकी व्यवस्था मे केन्द्रीय सत्ता की कल्पना नही है। बहुत व्यापक बातो के लिए एक व्यवस्था-मण्डल रह सकता है। अधिकाश जनता स्वावलम्बी, स्वाश्रित एव स्वपर्याप्त रहेगी।

पहले प्रकार के लोगो को साम्राज्यवादी, दूसरे को जनतन्त्रवादी, तीसरे को साम्यवादी, चौथे को रामराज्यवादी या सर्वोदयी कहे तो हर्ज नही।

यह कल्पना या व्यवस्थाए एक-दूसरे से ऊची है, चौथी मे मनुष्य-जीवन का जो ध्येय बतलाया गया है, वह पूर्वोक्त भक्ति के आदर्श से मेल खाता है।

**"इस प्रकार पापपुजहारी भगवान् हरि का स्वय स्मरण करते हुए तथा औरो से कराते हुए महात्मा भक्तजन वैधी भक्ति से प्रेमाभक्ति के उदय होने पर पुलकित हो जाते है।" ॥२१॥**

इसमे भगवान् के भजन मे मस्त व्यक्ति की चित्तवृत्ति का दिग्दर्शन कराया है। वह आरम्भ वैधी भक्ति से करता है। पूजा-अर्चा आदि विधि-विधानो से युक्त प्रणाली से जब इन बाह्य साधनो या उपचारो से भक्त का मन भगवान् के प्रेम मे रगने लगता है, उसे बाहरी उपचारो का ध्यान न रहकर भगवान् के चिन्तन-ध्यान मे ही मन लगा रहता है व अपने तथा भगवान् के बीच का भेद भूलने लगता है तब वह प्रेमाभक्ति कही जाती है।

**"ऐसा होने पर वे अलौकिक पुरुष भगवान् अच्युत का ध्यान करके कभी रोते, कभी हसते, कभी आनन्दित होते, कभी बडबडाने लगते तथा कभी नाचते, कभी भगवत्-गुण-गान करते और कभी अजन्मा प्रभु की लीलाओ का चिन्तन करते है**

**एव फिर परम उपरति को प्राप्त होकर मौन हो जाते हैं।" ॥३२॥**

यह प्रेमोन्मत्त अवस्था का वर्णन है। यह महाभाव कहलाता है। भगवान् के प्रेम मे जब मनुष्य अपना आपा भूल जाता है तो उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है। उसकी भीतरी मस्ती कभी किसी वाहरी चेष्टा से व्यक्त होती है, कभी किसी। साधक या भक्त के जीवन मे ऐसी एक अवस्था आती है, किन्तु वह अधिक नही ठहरती। यदि अधिक ठहर जाय या वारम्वार ऐसी अवस्था होने लगे तो वह व्यक्ति फिर इस शरीर को अधिक समय तक धारण नही कर सकता।

श्री गौराग महाप्रभु का जीवन इसका उदाहरण है। आधुनिक आलोचक इस अवस्था को वाछनीय नही मानते। इसे काल-विशेष का चरम उत्कर्ष कहकर एकागी उन्नति वताते है। जीवन की सम्पूर्णता मे चतुर्दिक सम्यकता का विकास होना चाहिए। इस युक्ति का खण्डन करना कठिन है। परन्तु चूकि ऐसा महाभाव लाखो-करोडो मे किसीको प्राप्त होता है व ठहरता है, अत सर्व-साधारण भक्त या साधक के लिए चिन्तित होने की आवश्यकता नही है। भाव-विशेष की साधना या चरम उत्कर्प के वाद अधिकाश लोग सम्यकता की ओर ही प्रयाण करते है। भले ही इसमे वे अधिक सफल न हो सके, परन्तु उनका प्रयत्न जान-अनजान मे इसी तरफ होता है। वे समाज मे ही रहते व काम करते है। समाज मे रहने व काम करनेवाला अधिक समय तक एकागी नही रह सकता। मैंने स्वय भक्ति को सम्यकता के साधन के रूप मे ही समझा है। भगवान् स्वय पूर्ण है, उनके सब व्यापार सम्यक्ता लिये हुए होते है। यदि उनके नियम या क्रियाओ का तारतम्य टूट जाय तो ससार एक क्षण न टिक सके। ससार नियम-बद्ध, ताल-बद्ध, सम्यक् गतियो, क्रियाओ का दिखाई देनेवाला स्थिर-रूप ही तो है। इन गतियो, क्रियाओ, गुणो, नियमो का अधिष्ठाता भगवान् है। अत भगवान् की उपासना करनेवाले भक्त के जीवन मे उन्ही गुणो का उदय होना स्वाभाविक है।

**"इस प्रकार भागवत-धर्मो का अभ्यास करते-करते उनसे उत्पन्न हुई प्रेमा-भक्ति के द्वारा नारायण-परायण होने पर पुरुष अनायास इस दुन्तर माया को पार कर लेता है।" ॥३३॥**

**राजा ने कहा—"हे मुनिगण, आप ब्रह्म का निरूपण करनेवाले हैं। अत आप हमें नारायण नामक परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का उपदेश कीजिये।" ॥३४॥**

**"हे राजन्, जो इस ससार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण तथा स्वय कारणरहित है, जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनो अवस्थाओ के अन्तर्गत और साक्षी रूप से —उनके बाहर भी है, तथा जिनके द्वारा सजीवित होकर देह, इन्द्रिय, प्राण[1] और हृदय अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त होते है, उन्हीको तुम परम तत्त्व नारायण जानो।" ।।।३५।।**

जब भगवान् के आश्रय, शरण बिना माया से पिण्ड नही छूट सकता तो फिर भगवान् का स्वरूप जानने की इच्छा होना साहजिक ही है। नारायण भगवान् के जैसे अनेक रूप है वैसे ही अनेक नाम है। अवस्था, शक्ति, क्रिया, रूप के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम उनके पड गये है। सबसे बडा व सबमे फैला हुआ है, इसलिए उसे ब्रह्म कहते है। जो तत्त्व पिण्ड मे है, वही ब्रह्माण्ड मे पाया जाता है, इसलिए उसे परमात्मा कहते है। सब शक्तियो व गुणो से युक्त है, इसलिए भगवान्, ऐश्वर्य से सम्पन्न है, अतएव वह ईश्वर-परमेश्वर कहा जाता है, किन्तु यहा उसका स्वरूप पूछा गया है।

पहले बता चुके है कि परमात्मा ससार की उत्पत्ति का निमित्त व उपादान दोनो कारण है। परन्तु उसका कारण कोई नही है। वह स्वयभू, स्वयस्थित है। इसी तरह इस जगत् को धारण करनेवाली शक्ति या नियम भी वही हे और वही उसके प्रलय का भी कारण है। मनुष्य ने प्रत्येक वस्तु मे ये तीन स्थितिया देखी—जड मे भी व चेतन मे भी। उसने इसके मूल का पता लगाने की कोशिश की। वह इस नतीजे पर पहुचा कि सबका मूल कारण एक ही तत्त्व है। इन विभिन्न परिवर्तनो का कारण भिन्न-भिन्न तत्त्व नही है। शुरू मे अनेक तत्त्वो की कल्पना हुई। उनका समाहार होते-होते वह दो तत्त्वो—पुरुष व प्रकृति—तक आकर ठहर गई। बाद मे फिर शोध जारी रही तो इस सत्य तक पहुच गये—'सर्व खल्विद ब्रह्म, तत्वमसि' यह सब-कुछ ब्रह्म है और हम भी वही है। उन्होने कहा—ब्रह्म ही वस्तु-तत्त्व है और सत्य उसका नियम है। मूल तत्त्व आत्मा है, व्यापक तत्त्व ब्रह्म है। सत्य से आत्मा की प्राप्ति है और आत्मा की व्याप्ति ब्रह्म है। यह आत्मा देह-बद्ध होकर जीवात्मा हो जाता है और देह-विकारो से रहित होने पर परमात्मा हो

---

[1] देखिये परिशिष्ट ११

जाता है। वह हमारी सब अवस्थाओ—दशाओ का साक्षी है। हमारी जाग्रत अवस्था को भी वह देखता है, स्वप्न मे भी वह मौजूद रहता है और जब हम यह समझते है कि गाढी नीद मे सो रहे हैं तब भी वह जागता व देखता रहता है, क्योकि नीद खुलने पर जब हमे यह ज्ञान होता है कि हम खूब गाढी नीद मे सोये तो अवश्य उस समय कोई जाग रहा था, जो अब हमे उसकी स्मृति दिला रहा हे। इस तरह वह जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनो अवस्थाओ के भीतर भी व वाहर भी पाया जाता है। फिर हमारे शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि के प्रत्येक व्यापार मे जो क्रिया होती दिखाई देती है, वह भी उसीके कारण है। वह चेतना-रूप मे इनमे अवस्थित होकर इनको गति देता है। वह एक अनत अक्षय भण्डार है। उसके अश-मात्र से यह विश्व वना है। जिस अश मे कम्प का प्रभाव अधिक हो जाता है,उसी-मे एक विश्व वन जाता है। शेप अश, जो कि बहुतेरा है, ज्यो-का-त्यो वना रहता है। इसलिए उमे अव्यय कहते है। इसके दो भाग बन जाते हैं—एक तो पदार्थ-रूप, जिसे क्षर कहते हैं। वह जगत् का उपादान कारण है, दूसरा अक्षर जो शक्तिमान् होकर क्रिया, चेतना, प्राण और जीव रूप से सवको सचालित व जीवित रखता है। क्षर-रूप मे शरीर—वाहरी ढाचा—बनता है, अक्षर-रूप से उसमे चेतना आती है। इस तरह दोनो रूपो मे जो एक ही तत्त्व या शक्ति विद्यमान व क्रियाशील दिखाई देती है, उसीको उन्होने परमतत्त्व नारायण वताया।

**"जिस प्रकार चिनगारिया अग्नि को प्रकाशित नही कर सकतीं उसी प्रकार इस आत्मतत्त्व में न तो मन की गति है और न वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियो की ही तथा शब्द भी केवल निषेध-वृत्ति के द्वारा—अनत पदार्थों का निषेध करते करते निषेधावधि-रूप से ही लक्षित करता है। क्योकि निषेधावधि, अर्थात् जो निषेध किये गए पदार्थों का आधार हो,उसका अभाव होने से निषेध की सिद्धि ही नहीं हो सकती।"** ॥३६॥

मूल तत्त्व की ओर सकेत तो कर दिया, उसका परिचय भी दे दिया, पर उसका स्वरूप वताने मे उनकी वाणी थकने लगी, क्योकि हमे अपनी इन्द्रियो से—मन-बुद्धि-तन से जिस किसी वस्तु का वोध या अनुभव होता है,वह सब प्राकृतिक है—प्रकृति का या परमात्मा का व्यक्त अश या रूप है। असली परमात्मा तो अव्यक्त है। जो व्यक्त ही नही हुआ है, उसका वखान ही कैसे किया जा सकता है? चिन-

गारी भला अग्नि को कैसे दिखा सकती है या प्रकाशित कर सकती है ? बूद भला समुद्र का वर्णन कैसे करेगी ? अत विचारको ने उसके परिचय की निषेधात्मक प्रणाली निकाली। जिन-जिन पदार्थों का हमे ज्ञान या अनुभव होता है, उनकी मिसाल ले-लेकर वताते गये कि वह ऐसा नही है, इस प्रकार निषेध करते-करते—'नेति-नेति'—जो बच रहता है, वही उसका स्वरूप समझ लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसका शब्दो द्वारा परिचय नही दिया जा सकता।

**"सृष्टि के आदि में एक ब्रह्म ही था। वही सत्व, रज और तम रूप से 'त्रिवृत्त-प्रधान' कहलाया। उसे ज्ञानमय होने से महत्तत्व, क्रियात्मक होने से सूत्र और जीव की उपाधि होने से अहंकार कहते है। फिर वही महान् शक्तिवाला ब्रह्म-ज्ञान—इन्द्रियो के अधिष्ठाता देवता-क्रिया-इन्द्रिय और अर्थ—इन्द्रिय—विषयो के रूप में भासता है। इस प्रकार सत्-असत् तथा इसके परे जो-कुछ है, वह ब्रह्म ही भास रहा है।" ॥३७॥**

यहा वैदिक ऋषियो, साख्यकार कपिल मुनि तथा वेदान्तियो मे जो विचार-भेद है, उसे समझ लेना चाहिए। वैदिक ऋषियो का मत वेदो व उपनिषदो से प्राप्त होता है, साख्य-मत के लिए 'तत्त्व समास' ईश्वर कृष्ण की 'साख्यकारिका' के अलावा कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नही है। वेदान्त मत का पता 'ब्रह्मसूत्र' व 'गीता' से चल जाता है। वैदिक ऋषियो के मत से आरम्भ मे एक परात्पर तत्त्व था, जिसे अव्यय कहते है। इसका उल्लेख भिन्न-भिन्न उपनिषदो मे मिलता है—

१ 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (ऐतरेय)

२ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् (छान्दोग्य)

३ 'असदवैदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्। कथमसत सज्जायेत। तत् सम भवत्। तद् आण्ड निरवर्त्तत।

४ 'नैववा इदमग्रे असदासीत् नैवसदासीत् आसीदिववा इदमग्रे नेवासीत्, तस्मादेतत् ऋषिणाऽभ्यनुक्त नासदा सीन्नोसदासीत्तदान्नीम् इति।
(शतपथ १०।४।७)

इसमे जब एक से बहुत होने की इच्छा या स्फुरणा हुई तो यह सोलह कलाओ मे विभक्त होकर सृष्टि-रचना का निमित्त बना व 'शोडषी प्रजापति' कहलाया—इन कलाओ की तालिका नीचे देखिये—

विश्वेश्वर षोडशी प्रजापति की कलाए

| विश्वातीत परात्पर १ | षोडशी प्रजापति | | | विश्व (क्षरभाग) | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | ५ अव्यय | ५ अक्षर | ५ आत्मक्षर | विश्वसृट | पचजन | पुरजन | पुर |
| | १ आनद | अमृत ब्रह्म | मर्त्य ब्रह्मा | शुद्ध प्राण | पचीकृत प्राण | वेद | स्वयभू |
| | २ विज्ञान | ,, विष्णु | ,, विष्णु | ,, आप् | ,, आप | लोक | परमेष्ठी |
| | ३ मन | ,, इन्द्र | ,, इन्द्र | ,, वाक् | ,, वाक् | प्रजा | सूर्य |
| | ४ प्राण | ,, अग्नि | ,, अग्नि | ,, अन्नाद | ,, आनद | भूत | पृथिवी |
| | ५ वाक् | ,, सोम | ,, सोम | ,, अन्न | ,, अन्न | पशु | चन्द्रमा |

इसे समझने के लिए परिशिष्ट ६ का वृक्ष ८ भी सामने रख लीजिये। उससे मालूम होगा कि तीन गुण—सत्, चित्, आनन्द, तीन शक्ति—ज्ञान, क्रिया, अर्थ व पाच कला या कोश—मन, प्राण, वाक्, विज्ञान, आनन्द—से सम्पन्न अव्यय परमात्मा सृष्टिरूप मे व्यक्त व व्याप्त हो रहा है। उसका एक भाग—क्षर—भौतिकी सृष्टि का उपादान है, जिसे उसकी अपरा प्रकृति कहते है। यह उनकी प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद, इन कलाओ मे अवच्छिन्न—आवृत है। एक भाग 'अक्षर' है, जो सृष्टि का निमित्त कारण है और पराप्रकृति के नाम से प्रसिद्ध है एव ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम, अग्नि इन कलाओ से अवच्छिन्न है। यह सृष्टिकर्ता है। अव्यय की पाच कलाओ—या कोशो मे 'आनन्द' कला का सम्बन्ध 'आनन्द' गुण से, 'विज्ञान' का 'चित्' से, व शेष मन, प्राण, वाक् की समष्टि का 'सत्' से है। इनमे मन ज्ञान-प्रधान है, प्राण क्रियामय है और वाक् अर्थमयी है। मन से रूप का विकास, प्राण से कर्म की प्रतिष्ठा, वाक् नाम-रूप की आधार-भूमि है। प्रत्येक अस्तिमान् पदार्थ नाम-रूप-कर्म का समुच्चय है। अव्यय परमात्मा अपने क्षर-अक्षर-रूप से सृष्टि बनता-बनाता है, जिसके तीन प्राथमिक रूप होते है—१. प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति, २ ज्योति अर्थात् नाम-रूप व ३ यज्ञ अर्थात् अन्न पदार्थ या स्थूल क्रियात्मक सृष्टि। यह वेद, लोक आदि पाच वर्गो मे विभक्त हुई, जिसमे स्वयभू आदि पाच मण्डल बने।

साख्य मत को समझने के लिए परिशिष्ट ६ के वृक्ष न० १ पर ध्यान दीजिये। न० ३ भी सामने रख लीजिये। इसमे पुरुष निष्क्रिय चेतन सत्तामात्र है, व प्रकृति

क्रियावान् है। परन्तु वह स्वतत्र रूप से कुछ नही कर सकती, किन्तु पुरुप के सुयोग्य सन्निधि-मात्र से वह सब-कुछ करने लगती है। इस प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्व, रज, तम। इनकी सम्मिलित अवस्था को ही प्रकृति समझिये। ये तीन गुण जबतक समान अवस्था मे रहते है तबतक प्रकृति अव्यक्त दशा मे रहती है। सचेतन पुरुप की प्रेरणा से प्रकृति के गुणो मे क्षोभ होता है, वे कम-ज्यादह होने लगते है। यही अवस्था 'महत्' नाम से कही गई है। फिर अहकार व उसके सात्विक, राजस, तामस-भेद से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। इस सिलसिले मे श्री किशोरलालभाई का विज्ञान-सम्मत विवेचन ध्यान देने योग्य है। (जीवन-शोधन साख्यखड)।

वेदान्त मत मे पुरुप-प्रकृति दो अलग नही, एक ही तत्त्व है। इसे उन्होने ब्रह्म नाम दिया है। ब्रह्म अपनी 'चित्' शक्ति के द्वारा अपने मे मे ही सृष्टि को बनाता है। यह ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द तीन गुणो या विशेषणो से व पाच कोशो से युक्त है। सत् अस्तित्व का, चित् क्रिया व ज्ञान का, आनन्द स्वभाव का सूचक है। वेदान्ती माया को भ्रान्ति मानते है। कोश—आनद, विज्ञान, मन, प्राण, अन्न—ये सूक्ष्म से उत्तरोत्तर स्थूल दशाए है। अन्न से अभिप्राय यहा पार्थिव भौतिक अवस्था से है। योगी या भक्त माया को भगवान् की अभिन्न शक्ति मानते है।

भागवत्कार तत्त्वज्ञान मे वेदान्ती—अद्वैतोपासक है। अत पिप्पलायन की भापा मे कहते है कि आदि मे एक ही ब्रह्म था। वह सत्व (ज्ञान), रज (क्रिया) और तम (पदार्थ, द्रव्य) रूप मे 'त्रिवृत्' हुआ। इस अवस्था मे उसका नाम 'प्रधान' हो गया। इसीको प्रकृति भी कहते है। उसके ज्ञान का विकास 'महत्' मे हुआ, जिससे महत् तत्त्व कहलाया। क्रिया मे होने से—सतत् परस्पर सम्बद्ध क्रियाओ के कारण 'सूत्र' और पृथक्ता के अभिमान—उपाधि से 'अहकार' कहलाया। ज्ञान-रूप मे वह मन, क्रिया-रूप मे इन्द्रिया, व अर्थ-रूप मे इन्द्रियो के भिन्न-भिन्न विपय—ससार की भिन्न-भिन्न वस्तुए—है। मतलब यह कि वही भिन्न-भिन्न रूपो मे भासित हो रहा है। जो कुछ 'सत्' है—दिखाई देता है, वह तथा जो कुछ 'असत्' है, नही दिखाई देता है, अदृश्य है, वह तथा इसके परे भी जो कुछ है, वह सब ब्रह्म ही है, उसके सिवा कही कुछ नही है।

पाश्चात्य विज्ञान मे जो नये-नये अनुसधान हुए है, वे भी सर्व-व्यापक ब्रह्म की भावनाओ को ही पुष्ट करते है। उसका कहना है कि यह दृश्य जगत् हमारी जगत् सम्बन्धिनी विकृत अनुभूति है। यह जगत् यन्त्र की भाति नही है और देश, काल,

कारण, आयु, घनता, शक्ति, गति इत्यादि सापेक्ष पदार्थ है—इनका कोई निरपेक्ष अर्थ नही। ये भौतिक तत्त्वो के धर्म नही है, बल्कि ऐसे सम्बन्ध हैं, जो पदार्थ के निरीक्षक की दृष्टि के अनुसार वदलते है। अत जगत् के विषय मे जो कुछ कहा जाता है, वह अपने ही विषय मे कहा जाता है।

जब किसी रेडियो स्टेशन मे रेडियो द्वारा कोई बात सुनाई जाती है तब वह सर्वत्र फैल जाती है और तब उसे तरग कहते है। पर जब वही बात रेडियो-यन्त्र मे ग्रहण की जाती है तब तरग अणु-रूप मे बदल जाती है। इसी प्रकार सत्-चित्-आनन्द की लहरे सर्वत्र विद्यमान है, पर ये जब मनुष्य के अन्त करण मे पकडी जाती है तब वे अणु-रूप होकर मानवी सीमा से बद्ध हो जाती है। यदि तरगो को ग्रहण करनेवाला यह यन्त्र केवल सत्-चित्-आनन्द की तरगो को ही ग्रहण करे तब तो कुछ भी कठिनाई नही है। परन्तु कुछ यन्त्र इतने खराब होते है कि वे अन्य कोलाहलो को भी ग्रहण करते है। यह मनुष्य का मन-रूप यन्त्र, नाम और रूप की तरगे भी ग्रहण करता है और सच्चिदानन्द की तरगो को सुस्पष्ट रूप मे अभिव्यजित होने का पूरा समय व अवकाश नही देता।

आधुनिक विज्ञान मे स्थल-विशेष मे बुद्ध तरगो को भूत या वस्तुसत्ता (matter) कहते है और मुक्त तरगो को विद्युत् (Radiation) या प्रकाश कहते है। पार्थिव रूप को नष्ट करने का क्रम बद्ध-तरग-शक्ति को मुक्त करने और उसे सर्वत्र विचरण करने के लिए छोड देना ही है। इसी प्रकार मानसिक शक्ति की तरगो को निर्विकल्प समाधि द्वारा मुक्त किया जाता है। वेदान्त की भाषा मे इसीको देहाभिमान का त्याग कहते है। देहाभिमान का त्याग होने पर सामान्य मानव जीव सर्वत्र स्थित होने मे समर्थ होता है और उसमे ईश्वर के लक्षण आ जाते है। जब यह अनुभूति हो जाती है तब यह बाह्य जगत् अपने से भिन्न नही प्रतीत होता। उस समय हम अनुभव करेगे कि हम एक नई दुनिया मे है, जहा प्रत्येक पदार्थ आनन्दरूप है। सब-कुछ ब्रह्म-ही-ब्रह्म है।

**"उस परमात्मा ने कभी जन्म नहीं लिया और न वह कभी मरेगा, वह न तो बढता है, न घटता है, क्योकि सर्वव्यापक, नित्य, अच्युत और ज्ञानस्वरूप है तथा समस्त परिवर्तनशील विकारो—बाल्य, यौवन आदि अवस्था के शरीरो—का साक्षी है। जिस प्रकार एक ही प्राण इन्द्रिय-भेद से (स्थान-भेद से) नाना**

**विकल्पों को प्राप्त हो रहा है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म विविध रूप में प्रतीत होता है।" ॥३८॥**

जब परमात्मा की कल्पना ही ऐसी की गई है कि जगत् मे जो कुछ व्यक्त-अव्यक्त सत्ता है, वह सब वही है तो फिर उसका जन्म कहा से होगा। यदि जन्म मानते है तो उसकी मृत्यु भी माननी पडेगी। वह आदि-अन्तवाला हो जायगा। यो तो प्राणी-मात्र, वस्तु-मात्र उसीके जन्म माने जा सकते है, पर इन नाम-रूपात्मक वस्तुओ को हमने 'जगत्', 'सृष्टि', ऐसा नाम दिया है। जन्म, मरण, वृद्धि, घटती—इन उपाधियो से इन्ही भौतिक या सासारिक वस्तुओ का सम्बन्ध है। अवतारो के रूप मे भी उसका जन्म माना गया है, परन्तु वे भी मानवी या जैव कोटि के है। अव्यक्त से जब व्यक्त हुआ तभी उसका जन्म मान लीजिये, वह भी पूरे का नही, अश-मात्र का। किन्तु मूल परमात्मा तो अव्यक्त है, उसका जन्म-मरण आदि से कोई वास्ता नही है।

इसी तरह वह घटता-बढता भी नही है। स्पन्दन या कम्प की क्रियाओ से उसमे कुछ हलचल जरूर होती है, जिससे यह जगत् बनता-बिगडता रहता है, परन्तु इससे उसके द्रव्य मे घटाव-बढाव नही होता, केवल रूपान्तर होता रहता है। विज्ञानवादी भी मानते है कि पदार्थ अपना रूप बदलते है, उनके वजन मे घटा-बढी नही होती। गन्धक जलकर भस्म हो जायगा—उसका रूप बदल गया, पर जितने वजन की डली आप जलायगे उसकी राख, धुए और भाप के परमाणु जोडने से कुल वजन उतना ही रहेगा। समुद्र मे लहरे उठती है, उनमे फेन, फुहारे व बूदे बिखरती है, पर उनसे समुद्र मे घटाव-बढाव नही होता है। लहरे उठ-गिर-कर उसीमे वापस घुल-मिल जाती है।

चूकि परमात्मा सभी जगह फैला हुआ है, जो भी रूपान्तर उसके होगे सब उसीमे होगे, वह सदा-सर्वदा एक-रस रहता है, अत नित्य है। उसके मूल-रूप मे कोई विकार नही होता, अत अच्युत है। फिर वह ज्ञान-रूप मे पाया जाता है। हम पदार्थो को जो कुछ देखते या अनुभव करते है, वह सब हमारा ज्ञान ही तो है। यह ज्ञान-शक्ति हममे न हो तो हमे परमात्मा तो क्या साधारण वस्तुओ का भी परिचय न हो सके। फिर पदार्थों का जो कुछ रूप हमे दिखाई देता है, वह वास्तव मे ऐसा ही है, इसकी क्या गारण्टी ? हमारी आखो की पुतलियो की बनावट यदि बदल जाय तो हमे चीजे और ही तरह की दीखने लगेगी। हमारी इन्द्रियो की

शक्ति यदि घट-बढ जाय या उलट-पुलट हो जाय, वदल जाय तो पदार्थों के हमारे ज्ञान मे जरूर अन्तर पड जायगा। सम्भव है, विल्ली व मछली को यह सृष्टि वैसी ही न दिखाई दे जैसी कि हमे दीखती है। अत इसका वास्तविक रूप हमे ज्ञान की आखो मे देखना पडता है। जाहिरा रूप इनका चाहे जैसा दीखता हो असली रूप तेजोमय है, जो कि ज्ञान का प्रथम रूप है। इसका दूसरा नाम प्रकाश है। परमात्मा का रूप तेज या प्रकाश है। जव हम सव इन्द्रियो को व मन को रोककर परमात्मा का ध्यान करते है तो तेजोरूप मे ही उसके दर्शन होते हैं। जो किसीको प्रकाशित करता है, बतलाता है, वह ज्ञान है। यह तेज या प्रकाश किसीके अस्तित्व की सूचना देता है। वह अस्तित्व ज्ञान है, जो परमात्मा का प्रतिनिधि है।

एक और तरह से इसे समझने का प्रयत्न करे। परमात्मा के मन मे जव व्यक्त होने की—अनेक होने की स्फुरणा हुई तो उस अनेकत्व—सृष्टि के रूप का एक खाका मन मे वना। मन की विविध क्रियाओ ने यह रूप खडा किया। एक योजना जैसी वनकर सृष्टि खडी हो गई। इसमे इतनी वाते पाई जाती है—पदार्थों के वनानेवाले द्रव्य का अस्तित्व, वनाने की भिन्न-भिन्न क्रियाए, रूप की योजना, पदार्थों का धर्म। परमात्मा का जो 'सत्' अश है, उससे पदार्थों की द्रव्य-सामग्री मिली, जिससे उसके अस्तित्व का वोध होता है। 'चित्' अश चेतन-शक्ति-सूचक है। चेतन मे ज्ञान व क्रिया दोनो का समावेश होता है। क्रिया-अश से उनके वनाने की विविध क्रियाए व विधिया और ज्ञान-अश से रूप-योजना निर्मित हुई। यह अश मन व ज्ञान से सम्वन्ध रखता है। पदार्थों के धर्म 'आनन्द'-अश से वने। 'आनन्द' स्थिरता शान्ति, सतोप, समाधान, साम्यावस्था, ताल-वद्धता, सामजस्य, सम्यकता, समतोलता, समवृत्ति, समगति के भावो का सूचक है। पदार्थो व सृष्टि का ज्ञान हमे मुख्यत उनकी चेतना से होता है। परमात्मा मे यो अस्तित्व, क्रिया व ज्ञान तीनो अश सम्मिलित हैं, परन्तु जव हम उसे प्रकृति से अलग करके देखना चाहते हैं तब वह ज्ञानाश-प्रधान रह जाता है। प्रकृति का मुख्य गुण क्रिया है। इसके विपरीत परमात्मा का मुख्य गुण ज्ञान है। सृष्टि मे जहा कही क्रिया है, वह प्रकृति का, व ज्ञान है वह परमात्मा का अश है—ऐसा समझना चाहिए। इसीलिए परमात्मा को ज्ञान-स्वरूप कहा गया है।

मनुष्य मे सवसे वलवती स्थायी महत्त्वपूर्ण, शुद्ध, उन्नतिकारक व हितमयी इच्छा ज्ञान की—जानने की—पाई जाती है। पिण्ड से व्रह्माण्ड जाना जाता है—

इस न्याय से मनुष्य की वह जिज्ञासा परमात्मा के ही प्रधान गुण की सूचक है।

ईश्वर हमारी सब अवस्थाओ—परिवर्तनो—नाम-रूपातरो को देखता है। सब-कुछ बनता-बिगडता रहता है, पर वह सबका साक्षी रूप सदा विद्यमान ही रहता है। नदी-तट का वृक्ष जैसे नदी के उतार-चढाव व अनेक परिवर्तनो का साक्षी रहता है, उसी प्रकार वह प्रकृति के तमाम लौट-फेर को देखता रहता है। उसके अपने ही अदर ये लौट-फेर होते रहते है, अत स्वाभावत ही वह सबका साक्षी रहता है। समुद्र की तरगो का साक्षी जैसे समुद्र सर्वकाल रहता है, वैसे ही।

हमारे सारे शरीर मे—भिन्न-भिन्न इन्द्रियो मे—एक ही प्राणधारा व्याप्त है। परन्तु हाथ, पाव, आख आदि स्थान-भेद से उसके अनेक भाग व रूप हो जाते है। उसी तरह ब्रह्म की यह धारा अनेक रूपो मे बहती व प्रकट होती हुई विविध नाम-रूपो को प्राप्त होती है। यद्यपि ऊपर से यह सब विविध दिखाई पडते है, परन्तु इनमे भीतरी वस्तु तत्त्व, रस, प्राण, चेतना एक ही है और वही व्यापक रूप व अर्थ मे ब्रह्म है। मिट्टी की अनेक वस्तुए बना लेने पर भी मिट्टी जैसे सबमे मौजूद रहती है, उसी तरह ब्रह्म सबमे—सारी सृष्टि मे—समाया हुआ है। एक होते हुए भी वह अनेक प्रतीत होता है।

**"अण्डज, जरायुज, उद्भिज और अनिश्चित-स्वेदज योनियो में जहा-तहा जिस प्रकार प्राण जीव का अनुसरण करता है (उसी प्रकार आत्मा भी सब अवस्थाओ में साक्षी-रूप से स्थित हुआ असग रहता है) सुषुप्ति में इन्द्रियगण के निश्चेष्ट और अहंकार के लीन हो जाने पर कूटस्थ आत्मा के बिना तो उस अवस्था की स्मृति ही नही हो सकती।" ॥३९॥**

ईश्वर के साक्षी-रूप को ही यहा अधिक स्पष्ट किया गया है। प्राण हर योनि मे जीव का अनुसरण करता है, हर योनि का साक्षी रहता है, फिर भी वह उनसे—अलिप्त रहता है, इसी प्रकार जब हमारी सभी इन्द्रिया सो जाती हैं, हमारा अहकार, वस्तुओ की पृथक्ता को जानने व देखने की शक्ति भी सो जाती है, तब भी परमात्मा जाग्रत रहता है। हमारी उस सुषुप्ति का भी चौकीदार रहता है और बाद मे नीद खुल जाने पर हमे उसकी याद दिलाता है। यदि ऐसी कोई शक्ति हमारे अदर सतत जाग्रत न हो तो यह भान हमे कैसे हो सकता है? यह शक्ति ही कूटस्थ आत्मा है।

**"जब कमलनाभ भगवान् विष्णु के चरण-कमलो की प्राप्ति की इच्छा से**

वढी हुई तीव्र भक्ति रूप अग्नि के द्वारा जीव अपने चित्त के गुण-कर्म-समभूत मलो को दग्ध कर देता है, उस समय उसके शुद्ध हो जाने पर आत्म-तत्त्व उसी प्रकार स्पष्ट भासने लगता है, जिस प्रकार निर्मल नेत्रो में सूर्य का प्रकाश।" ॥४०॥

परन्तु इस छिपे हुए आत्मतत्त्व का दर्शन सवको नही होता। प्रत्यक्ष आख से दिखाई देने योग्य अथवा अन्य इन्द्रियो द्वारा जाना जाने योग्य तो वह है नही। हमारा चित्त अलवत्ते इस योग्य है, जो उसे ग्रहण कर सकता है। क्योकि यह चित्त ही हमारे शरीर मे उसका सवसे अधिक सूक्ष्म और शक्तिशाली अश है। यह परमात्मा और शरीर दोनो का माध्यम है—बीच की खिडकी है। देह या जगत् के सस्कार या ज्ञान को ग्रहण करके यह परमात्मा तक पहुचाता है और परमात्मा के सदेश, प्रेरणा, झलक ग्रहण करके देहेन्द्रियो को तदनुसार प्रेरित करता है। ब्रह्माण्ड मे जो चेतनशक्ति व्याप्त है, वही शरीर मे वद्ध होकर चित्तनाम प्राप्त करती है। ब्रह्माण्ड मे जो शक्ति—चेतना—ज्ञान व क्रिया रूप मे पाई जाती है, वही शरीर मे एकत्र होकर 'ज्ञाता' व 'कर्त्ता' के रूप मे उपलव्ध होती है। समष्टिगत से वह व्यक्तिगत हो जाती है। अत परमात्मा को पहिचानने के लिए चित्त पर ही प्रक्रिया करने की--उसीका सहारा लेने की जरूरत है।

काच जितना ही स्वच्छ होगा उतना ही प्रतिविम्व उसपर अच्छा पडेगा और उतना ही वह दूसरी वस्तु को अच्छी तरह प्रदर्शित भी करेगा। यदि मैला होगा तो प्रतिविम्व धुधला पडेगा। यही दशा चित्त की है। मनुष्य अपने सस्कार, सगति, वातावरण आदि अनेक प्रभावो के वशवर्ती हो नाना प्रकार के अच्छे-बुरे कर्म करता है। ये सब उसके चित्त पर अपने सस्कार छोडते जाते है। क्योकि चित्त–मस्तिष्क-स्थित विद्युत केन्द्र--अपनी दो शक्तियो के द्वारा सारे मानव-जीवन को सचालित व प्रभावित करता है—एक सवेदक जिससे वह ज्ञानेन्द्रियो द्वारा वाह्य जगत् के विषयो को ग्रहण करता है, दूसरी क्रियाशीला जिससे अपने आदेश कर्मेन्द्रियो को भेजकर भिन्न-भिन्न कर्म कराता है। इसे एक तरह का रेडियो या टेलीफोन एक्सचेन्ज यन्त्र समझ लीजिये। ये सिर्फ ध्वनियो को ही ग्रहण करते और फैलाते है। चित्त का कार्यक्षेत्र वहुत व्यापक है। ये यन्त्र विगड जाय तो ध्वनि-ग्रहण और प्रसारण का कार्य अच्छी तरह नही कर सकते। उसी तरह चित्त, दूषित, अस्वस्थ, मलिन हो तो वह भी अपने काम को अच्छी तरह अदा नही कर सकता। परमात्मा के आदेश और प्रेरणा, जो भिन्न-भिन्न तरगो के रूप मे उसतक

पहुचती है, उसके द्वारा ठीक तरह से--यथावत् ग्रहण नही की जा सकती, न मनुष्य तक पहुचाई जा सकती है। इसी तरह मनुष्य के भाव विचार आन्दोलन भी उसपर भलीभाति अकित नही होते, न परमात्मा तक पहुच पाते है। यही कारण है, जो परमात्मा को जानने का रहस्य जाननेवालो ने चित्त-शुद्धि पर ही सबसे ज्यादा जोर दिया है। पिप्पलायन कहते है कि जब गुण-कर्म-सभूत समस्त मल चित्त से धुल जायेगे तो परमात्मा की झलक ठीक-ठीक दिखाई पडने लग जायगी। इन मलो को जलाने के लिए वे भक्ति-रूपी अग्नि का उपयोग करने की सलाह देते है।

भक्ति मन की दौड है। मन जिसे चाहता है, उसकी तरफ दौडता है। इसी तरह वह जिसे चाहता है, उसे अपनी तरफ खीचता भी है। यही आकर्षण-क्रिया भक्ति का बीज है। प्रारभिक स्वरूप मे इसे प्रेम कहते है। इसमे समानता का भाव रहता है। अत परस्पर समर्पण की क्रिया होती है। भक्ति इससे आगे की अवस्था है। उसमे एक महान् व दूसरा अल्प होता है। भगवान् मे भक्त अपना समर्पण चाहता है। शरीराकाक्षी प्रेम तुच्छ व सुख-दु खमय है। जो आत्माकाक्षी है, वह सुखमय व स्थायी है। भक्ति का सम्बन्ध भावना से है। यह मनुष्य की ज्ञान व क्रिया दोनो मे मिली प्रेरणा-शक्ति है। जब इसका रूप आकर्षक हो जाता है, प्रेम व समर्पणोत्सुक हो जाता है तब वह भक्ति कहलाती है। परस्पर आकर्षित दो सत्ताओ को एक मे मिलाने—अद्वैत-सिद्धि करने की ओर इसकी प्रवृत्ति है। पूर्ण अद्वैत इसका फल है। भक्ति से पहले भाव-शुद्धि होती है, फिर चित्त-शुद्धि। भक्ति मे विषयो से ध्यान हटाकर भगवान् मे—उसकी या उसके जगत् की सेवा मे—लगाना पडता है, जिससे अपने-आप ही भावना व कर्म शुद्ध होने लगते हैं।

भक्ति मे भक्त की पुकार भगवान् से होती है। भक्त अपनी अल्पता और मल—त्रुटिया, कमजोरिया, बुराइया, पाप आदि से छूटने के लिए अपने चित्त को भगवान् की ओर उसकी सहायता--आश्रय के अर्थ दौडाता है। इस पुकार की तरगे ईश्वर की चित्-शक्ति-रूपी समुद्र मे उसके कारुणिक व मगल अश मे अनुकूल स्पन्दन या स्फुरण पैदा करती है। ईश्वर-रूपी अनन्त चैतन्य-समुद्र मे सभी भावो का निवास है। हम जिस भाव से उसे पुकारते है, उसी भाव के आन्दोलन द्वारा उसकी ओर से अनुकूल उत्तर मिलता है। यही प्रार्थना का तत्त्व व भक्ति का रहस्य है। भक्त तन्मयता से अपने मे जिस भाव को जगाता है वही परमात्मा

मे जग पडता है। इस तरह भगवान् से अभिलषित वस्तु प्राप्त कराना भक्त के ही हाथ मे है।[1] हमारी भावना जितनी ही ऊची व शुद्ध होगी, उतनी ही वह प्रबल

---

[1] भागवत मे भगवान एक जगह कहते हैं—"मैं अस्वतन्त्र के समान भक्तो के आधीन हू। उन साधु भक्तो ने मेरे हृदय पर अधिकार कर लिया है और मैं भी उन भक्तजनो का सर्वदा प्रिय हू। जिनका मै ही एकमात्र परम आश्रय हू, उन अपने साधु-स्वभाव भक्तो को छोडकर तो मैं अपने आत्मा और अनपायिनी लक्ष्मी की भी इच्छा नही करता हू। जो अपने स्त्री, पुत्र, गृह, परमप्रिय प्राण, धन और इहलोक तथा परलोक को छोडकर मेरी ही शरण मे आ गये है, उन भक्तजनो को मैं कैसे छोड सकता हू ? जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने साधु पति को वश मे कर लेती है, उसी प्रकार जिन्होने अपने हृदय को मुझमे ही लगा दिया है, वे समदर्शी साधु पुरुष मुझे अपने आधीन कर लेते हैं। मेरे अनन्य भक्त मेरी सेवा से ही आप्तकाम रहकर उस सेवा के प्रभाव से ही प्राप्त होनेवाली सालोक्य, सारूप्य, साष्टि और सायुज्य नाम की चार प्रकार की मुक्तियो की भी इच्छा नही करते, फिर कालक्रम से नष्ट हो जानेवाले अन्य भोगो की तो बात ही क्या है ? अधिक क्या, वे साधु पुरुष साक्षात् मेरे हृदय है और मैं उन साधुजनो का हृदय हू, क्योकि वे मेरे सिवा और किसी वस्तु को प्रिय नही समझते और मुझे उनके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु तनिक भी प्रिय नही है। (९-४-६३ से ६८)

गोपियो के प्रति—

"जो लोग आपरूप मे एक-दूसरे को प्यार करते है, वे केवल स्वार्थ के लिए ही उद्योग करते हैं। उनमे सौहार्द नही होता, धर्म का भाव भी नही रहता। उनका स्नेह स्वार्थ के लिए ही होता है और उनका कोई हेतु नही होता (१०-३२-१७)

"जो पुरुष सेवा न करनेवालो से भी स्नेह करते हैं, वे कृपालु और माता-पिता के समान स्नेही होते हैं। इनके व्यवहार मे निर्दोष धर्म और सौहार्द दोनो का ही समावेश रहता है। ॥१८॥

"कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपनेको न भजनेवालो की तो बात क्या भजनेवालो को भी नही भजते। वे पूर्णकामा, आत्माराम, कृतघ्न और गुरुद्रोही चार प्रकार के होते हैं ॥१९॥

"किन्तु मैं इनमे से किसी कोटि मे नहीं हू। इसीलिए जो लोग मुझे भजते हैं,

होगी और उतनी ही वह अप्रतिहत, अनिरुद्ध होती जायगी और उतने ही उसके अधिक सफल होने की सम्भावना रहेगी।

**"हे मुनिगण, अब आप मुझे कर्मयोग का उपदेश दीजिये, जिसके द्वारा शुद्ध हुआ मनुष्य अपने कर्मों को त्यागकर परम नैष्कर्म्य (आत्यन्तिक निवृत्ति) को प्राप्त कर लेता है। एक बार पहले भी मैंने यही प्रश्न पिता इक्ष्वाकु के सामने ब्रह्मा के पुत्र सनकादि ऋषियो से पूछा था, किन्तु उन्होंने उसका कोई उत्तर नहीं दिया। इसका क्या कारण था, सो भी आप मुझसे कहिये।" ॥४१-४२॥**

भक्ति तो एक भावना है। उसकी शुद्धि या सिद्धि के लिए कुछ कर्म तो करने ही पडते है। जप, तप, पूजा, अर्चा, नाम-स्मरण, धुन, सकीर्तन, स्तोत्र-पाठ, भजन, ध्यान, स्वाध्याय, ये सब भी कर्म ही है। सास लेना व छोडना भी कर्म ही है। खाना, पीना, देखना आदि देहधर्म भी सब कर्म ही है। यो देखे तो कर्म का कही अन्त नही है। स्वय भगवान् का स्वरूप ही कर्ममय है। परमात्त्व तत्त्व मे सदा स्पन्दन या कम्पन होता रहता है। यह कर्म ही है। यदि परमात्मा मे किसी आदि कम्पन, स्पन्दन की कल्पना की जाय तो उस आदि कम्प के साथ ही कर्म का जन्म समझना चाहिए। यह सृष्टि, इसकी उत्पत्ति, पालन, सहार सब भगवान् के कर्म ही तो हैं। अत भक्ति को कर्म से जुदा नही कर सकते। प्राचीन समय मे यज्ञ-यागादि कर्म-काण्ड से 'कर्म' शब्द का बोध लिया जाता था और कर्मत्याग या सन्यास से अधिकतर उसीका भाव ग्रहण किया जाता था। सामान्य कर्ममात्र का, काम मात्र का —किसी भी क्रिया का निषेध तो जीते-जी मनुष्य के लिए न सभव है, न युक्ति-युक्त

---

उन्हे भी मैं नही भजता, जिससे उनकी मनोवृत्ति निरन्तर मेरी ओर लगी रहे। जैसे निर्धन पुरुष प्राप्त हुए धन के नष्ट हो जाने पर उसकी चिन्ता से व्याकुल होकर और कुछ भी नही जानता उसी प्रकार मेरे लिए धर्म, लोक और कुटुम्बियो को छोडनेवाली हम सबकी मनोवृत्ति मुझमे लगी रहे, इसलिए तुमसे छिप गया था, किन्तु था तुम्हारे पास ही। तुमने दुस्तर गृहशृखला को तोडकर मेरा भजन लिया है। तुम्हारा यह भजन सर्वथा निर्दोप है। मैं देवताओ के समान आयु पाकर भी तुम्हारे इस उपकार का बदला नही दे सकता। तुम लोगो की ही सुशीलता से तुम्हारे उपकार का बदला पूरा हो सकता है, मेरे पुरुषार्थ से नही। तुम्ही मुझे उऋण कर सकती हो ॥२०-२२॥

ही है। अत जनक ने भक्ति-भावना तो ग्रहण कर ली, अब उन्होंने कर्मयोग का विधान पूछा। अर्थात् किस प्रकार कर्म किये जाय, जिसमे चित्त शुद्ध हो और अन्त मे ससार-पाश मे बिलकुल निवृत्त हो जाय। योग का अभिप्राय 'समुचित-विधि' या तरकीब है।

**आविर्होत्र ने कहा—"कर्म, अकर्म और विकर्म ये सब विषय वेद से ही जाने जा सकते हैं, लौकिक पदार्थों से इनका ज्ञान नहीं हो सकता। वेद भगवद्रूप हैं। उसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी मोहित हो जाते हैं। (इसी कारण सनकादि ने उस समय तुमसे इस विषय में कुछ भी नहीं कहा, क्योंकि तब तुम बालक थे)।" ॥४३॥**

कर्म, अकर्म और विकर्म शब्दो के भिन्न-भिन्न अर्थ विद्वानो ने किये हैं। भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय मे इन शब्दो का उपयोग हुआ है। वहा भी जुदा-जुदा अर्थ किये गए हैं। इनका साधारण अर्थ तो है—'करना' 'न करना' और 'निषिद्ध या विशेष क्रिया करना,' परन्तु मीमासक—कर्मकाण्ड की विवेचना करनेवाले शास्त्र के रचयिता या अनुयायी—यज्ञयागादि के रूप मे किये जानेवाले काम्य-धन, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि की कामना से किये गए कर्मों को ही 'कर्म' कहते हैं। स्मृतिकार वर्णाश्रम-विहित कर्मों को ही 'कर्म' कहते हैं। इनमे श्रद्धा न रहने से जिन योगमार्गियो या ज्ञानी वेदान्तियो ने इन्हे छोड दिया, उन्हे मीनासक 'अकर्मी' कहते हैं। गीता मे श्रीकृष्ण को और यहा जनक को ऐसे कर्म अभीष्ट हैं, जो चित्त की शुद्धि करनेवाले हो, लोक-कल्याण करते हो, जिनसे प्रजा का धारण-पोषण तथा धर्म और सत्य की स्थापना एव अधर्म तथा असत्य का नाश सभव हो। इसके विपरीत 'विकर्म' उन्हे समझना चाहिए, जो राग-द्वेष मे वशीभूत होकर किये जाते है। वासनाओ से युक्त, जनता के लिए अकल्याणकर, प्रजापीडक और अधर्म व असत्य के पोषक हो। 'अकर्म' के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो कर्म ही न करना, दूसरा निषिद्ध कर्म न करना। 'कर्म' ही न करना तो किसीके भी गले नही उतर सकता और निषिद्ध कर्मों का कोई समर्थन नही करेगा। हा, कर्म मे ही अकर्म मानने की युक्ति गीता मे बताई गई है। वह है कर्त्तापन के अभिमान को, फल मे आसक्ति को, छोडकर ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करना।

आचार्य विनोबा ने कर्म, विकर्म व अकर्म का अर्थ और ही तरह से किया है। उन्होने गीता के 'कर्म' का अर्थ किया है 'स्वधर्म'—सहज-प्राप्त, स्वभाव-सिद्ध

धर्म, स्वधर्म-पालन मे जो मानसिक सहयोग अपेक्षित है, उसे उन्होने 'विकर्म' कहा है, जिसके वल से 'कर्म' 'अकर्म हो जाता है। कर्म को अकर्म बनाने की युक्ति है उनके मत मे विकर्म। जब हम तन्मय होकर कोई काम करते हैं तो विकट होते हुए भी वह बोझीला नही मालूम होता—अकर्म-सा लगता है—मानो कुछ किया ही न हो। (इसे सविस्तर समझने के लिए विनोबाजी का हिन्दी मे 'गीता-प्रवचन' देखिये।)

आविर्होत्र ने कहा कि कर्माकर्म की गुत्थी बडी बेढब है। साधारण लोग इसे नही सुलझा सकते। बड़े-बडे वेदज्ञ पडित ही इसका रहस्य जानते है और वेदों का ज्ञान भी मामूली बात नही है। वह भगवान् का ही ज्ञान है। अत. भगवद्रूप ही है।

**"वेद परोक्षवाद है। (कड़वी दवा पिलाने के लिए) जैसे बालक को (मीठी-मीठी बातें बनाकर अथवा मीठी चीजें देकर) फुसलाते हैं, उसी प्रकार कर्मरूपी रोग को छुड़ाने के लिए ही उसमें कर्म-रूपी औषध का विधान किया गया है।"** ॥४४॥

किसी बात को छिपाने के लिए जब उसका वर्णन अन्य प्रकार से किया जाता है तब उसे अर्थात् घुमा-फिराकर कहने को परोक्षवाद कहते हैं। कहा है—'परोक्ष-प्रिया हि देवा।' इसका यह आशय है कि कर्म-बन्धन से छुडाने के लिए वेदो ने कर्माचरण का ही उपदेश दिया है। सकाम कर्म वन्धनकारक हैं, क्योकि वे विषय-सुख या स्वार्थ-सिद्धि के लिए होते हैं। अतः राग-द्वेष उत्पन्न करके नाना प्रकार के सुख-दु ख मे डालते हैं, जिनसे कर्म-परम्परा का अन्त ही नही आता। अत उनके फलो के भोग का बन्धन भी दिन-दिन कडा होता जाता है। इसके विपरीत यदि कर्म निष्काम भाव से—सेवा या परमेश्वर-प्रीत्यर्थ—किये जाय तो उनसे चारो ओर प्रेम, सद्भाव, सहयोग का वातावरण बढेगा, जिसका फल दुखदायी नही होगा और हुआ भी तो उसे प्रसन्नता से सहने का बल मिलता रहेगा। वह खलेगा नही, वन्धनकारक नही मालूम होगा।

**"जो अजितेन्द्रिय व अज्ञानी पुरुष वेदोक्त कर्म का आचरण नहीं करता, वह विहित कर्म के त्याग के पाप से बारम्वार जन्म-मरण को प्राप्त होता है।"** ॥४५॥

इसमे यह सकेत है कि वेदोक्त कर्म का आचरण जितेन्द्रिय होकर व ज्ञान प्राप्त करके करना चाहिए। वेद चूकि ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं,अत वेदोक्त कर्म का

अर्थ यहा आत्मज्ञानयुक्त कर्म से लिया जा सकता है। 'यज्ञ-याग' अर्थ ले तो उसे व्यापक बनाना होगा। यज्ञ की 'विधि' की अपेक्षा स्पिरिट—भावना पर ही ध्यान रखना होगा। यज्ञ की भावना है बलिदान—अपने पास जो श्रेष्ठतम, सुन्दरतम, प्रियतम है, उसे परमात्मा के लिए बलि कर देना, छोड देना, या परमात्मा मे मिला देना। साधारणत मनुष्य को सबसे प्यारा विषय-सुख होता है। अत उसे भगवान् के लिए, सेवा के लिए छोडकर सात्विक कर्म करना चाहिए, यह भावार्थ निकलता है। ऐसा कर्म जो नही करता वह पाप-भागी होगा। इतना ही नही, उसे बार-बार जन्म-मरण के फेरे करने पडेंगे, अर्थात् उसकी गति अस्थिर, उतार-चढाववाली, अत अशान्तिपूर्ण रहेगी।

जन्म-मरण का फेरा दु खमय चक्र माना गया है। दु ख को समूल मिटाने की इच्छा से उसका मूल खोजते-खोजते कुछ विचारको की यह राय हुई कि यह जन्म लेना ही दु ख का असली कारण है। जन्म के साथ मृत्यु लगी ही हुई है। मृत्यु का नाम लेने से यो भी सबकी रूह कापने लगती है। फिर जन्म मे गर्भावस्था मे रहना पडता है, वहा की गन्दी हालत का अनुमान करने से जन्म की क्रिया को भी दु खमय माना है। जन्म, मृत्यु के बीच के इस जीवन मे तो दु ख का अनुभव हम कदम-क़दम पर करते ही हैं। अत यदि जीवन-मरण के चक्कर से छूट जाय तो दु खो से भी सदा के लिए छूट जाय—यह निष्कर्ष निकाला गया। न्याय-सूत्र (१।१।२२) मे दु ख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहते हैं (तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्ग) 'अत्यन्त' शब्द का अभिप्राय है कि उपात्त जन्म का परिहार तथा अन्य जन्म का अनुत्पादन। इन दोनो की सिद्धि होने पर आत्मा की दु ख से आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। इसके लिए न्याय-मतानुसार आत्मा के नौ गुणो—बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा सस्कार—का उच्छेद होना चाहिए। धर्म-अधर्म से सुख-दु ख की उत्पत्ति होती है। इनका उच्छेद होने से शरीरादि कार्य नही हो सकते और भोगायतन इस शरीर के अभाव मे इच्छा, द्वेष आदि के साथ आत्मा का सबध नही रह सकता। इनकी राय मे मुक्त दशा मे आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप मे प्रतिष्ठित और अखिल गुणो से विरहित रहता है। वह छहो ऊर्मियो—भूख-प्यास प्राण को, लोभ-मोह चित्त को, शीत-आतप शरीर को कष्ट देनेवाले होने से ऊर्मि कहे जाते हैं—के प्रभाव को पार कर लेता है और दु ख-क्लेशादि सासारिक बन्धनो से विमुक्त हो जाता है। ये मुक्त आत्मा मे सुख

का भी अभाव मानते है। मोक्ष या नि.श्रेयस दो प्रकार का है—अपर और पर। जीवन्मुक्ति को अपर और विदेहमुक्ति को पर—नि श्रेयस कह सकते है। जो आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है, लेकिन जबतक प्रारब्ध कर्मों का सबध टूट नही जाता, वे क्षीण नही हो जाते, तबतक पर नि श्रेयस—विदेहमुक्ति—नही होती।

साख्यकार अपवर्ग या मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—पुरुष स्वभावत असग और मुक्त है, परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ सयोग जुड जाता है। इससे प्रकृति-जन्य दु ख का जो प्रतिबिम्ब पुरुष मे पडता है, वही है पुरुष के लिए दु खभोग—ससार। अत. ससार का मूल कारण अविवेक है और दु ख-निवृत्ति का साधन विवेक है। प्रकृति-पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना अथवा पुरुष की ही प्रकृति से अलग स्थिति—कैवल्य—मोक्ष है। बन्धन-मोक्ष वस्तुतः प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नही। पुरुष न तो बन्धन का अनुभव करता है, न मुक्ति का और न ससार का। पुरुष की मुक्ति का अभिप्राय यह है कि वह अपनी स्वतन्त्र, असग, केवल दशा को प्राप्त कर लेता है। पुरुष शरीर तथा मन के ऊपर है, प्राकृत बन्धनो से उन्मुक्त होनेवाला अमरण-धर्मा अपरिवर्तनशील नित्य सत्य पदार्थ है, यह जान लेना ही पुरुष का कर्तव्य है। इस दशा मे उसे यह निश्चित ज्ञान हो जाता है कि 'नास्मि'—मुझमे किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध नही है। मैं स्वभावत. निष्क्रिय हू। 'नाहम्'=क्रिया का निषेध होने से मुझमे किसी प्रकार का कर्तृत्व नही है। तथा 'न मे'—मैं असग हू, अत. मेरा किसीके साथ स्व-स्वामिभाव का सबध नही है। ऐसी मुक्तावस्था की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य इसी जन्म मे कर सकता है। ये मुक्ति दो प्रकार की मानते हैं—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। विवेक-ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म मे जिस मुक्ति का अनुभव करता है, वह जीवन्मुक्ति है। यह कर्म व्यापार से विरत नही होता, परन्तु अब कर्म बन्धन नही उत्पन्न करते। किन्तु प्रारब्ध कर्म अवशिष्ट रहते हैं। शरीर के नाश होने पर पुरुष ऐकान्तिक—अवश्यम्भावी तथा आत्यन्तिक अविनाशी दु खत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है। शास्त्रीय भाषा मे यही 'विदेहमुक्ति' है। यही वास्तविक मुक्ति है। दु खत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। दु ख का अभाव होने पर सुख की सत्ता भी सिद्ध नही होती।

मीमासकों के मत मे—'प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलयो मोक्ष '—इस जगत् के साथ

आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है। भोगायतन शरीर,भोग-साधन इन्द्रिय, भोग-विषय पदार्थ—प्रपञ्च के इन तीन बन्धनो ने आत्मा को जगत्-कारागर मे डाल रक्खा है। आत्मा शरीर के कारण इन्द्रियो की सहायता से बाह्य विषयो का अनुभव करता है। अत इन बन्धनो ने ससार-शृखला मे जीवन को जकड रक्खा हैं। इस त्रिविध बन्ध के आत्यन्तिक नाश की सज्ञा 'मोक्ष' है। आत्यन्तिक नाश से अभिप्राय शरीर, इन्द्रिय, विषय के साथ ही, बन्ध के उत्पादक धर्माधर्म एक-दम नि शेष हो जाने से है, जिससे फिर इनकी उत्पत्ति भी नही होती। अत आत्मा को इस भौतिक जगत् मे आने की कोई आवश्यकता नही रहती। मोक्ष-स्वरूप के सबध मे दो मत है—एक मत मे मुक्तावस्था मे नित्य सुख की अभि-व्यक्ति होती है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के उदय होने से शुद्ध आनद का आविर्भाव अवश्य होता है। दूसरे के अनुसार सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है। आत्मा को प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोक, स्पर्श नही करते।

वेदान्त 'प्रपञ्च-विलय' को ही मोक्ष मानता है। उनकी सम्मति मे स्वप्न-प्रपञ्च की तरह यह ससार-प्रपञ्च अविद्यानिर्मित है। अत ब्रह्मज्ञान होने से अविद्या के विलीन होने पर जगत् की सत्ता ही नही रहती। प्रपञ्च का ही विलय हो जाता है।

पाञ्चरात्र (वैष्णव) मत मे मुक्ति का नाम 'ब्रह्मभावापत्ति' है। इस दशा मे जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। वह फिर लौटकर ससार मे नही आता। उस दशा मे वह निरतिशय आनन्द का उपभोग करता है। उस काल मे जीव भगवान् के 'पर'-रूप के साथ परम व्योम (शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ) मे आनन्द से विहार करता रहता है और कालचक्र से रहित होकर निरन्तर सेवा करता रहता है।

बुद्ध का मत है कि आवागमन की जननी तृष्णा के उच्छेद करने से तथा अखिल स्वार्थ-परायणता व जन्म-मरण के प्रमाणभूत आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास न करने से एव सुन्दर सात्विक जीवन व्यतीत करने से निर्वाण होता है। ज्ञान के बिना मुक्ति नही हो सकती, किन्तु आचार की सहायता से शरीर की शुद्धि बिना किये मनुष्य ज्ञान की उपलब्धि का अधिकारी नही होता।

जैन-मतानुसार जीव निसर्गत मुक्त है। पर वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डाले रहते हैं। भोगात्मक जगत् तथा भोगायतन शरीर के साथ

जीव का सम्बन्ध कराने का प्रधान कारण कर्म ही है। उसीके साथ सम्बन्ध होने से जीव का बन्धन और उसके प्रभाव से उन्मुक्त होने पर जीव का मोक्ष निर्भर करता है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य से मोक्ष प्राप्त होता है।

चार्वाक्-मत मे भी आत्यन्तिक दु ख-निवृत्ति को मोक्ष-मुक्ति माना है। प्रत्येक क्लेश का निकेतन यही भोगायतन शरीर है। इसके पतन के साथ ही आत्यन्तिक निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। 'मरणायेवापवर्ग ' मरण ही अपवर्ग है।

समर्थ रामदास के मत मे असार निरसन के बाद जो सार वचा सो निर्गुण ब्रह्म। वही हम है। तत्त्वप्राप्ति के साथ ही 'मै-पन' चला गया व निर्गुण ब्रह्म ही शेष रह गया—'स अहम्' इस विचार से आत्म-निवेदन हुआ। भक्त-भगवान् की एकता हो गई। विभक्तता छोडकर भक्त हो गया—यह अनन्यता ही सायुज्य मुक्ति है। प्राणी भ्रम से 'कोऽहम्' कहता है, विवेक होते ही 'सोऽहम्' कहने लगता है। निर्गुण ब्रह्म से अनन्य समरस होते ही 'अहम्सोऽहम्' दोनो मिट जाते हैं। शाश्वत वाकी रह जाता है।

स्वप्न के राजा रक जागृति मे मिथ्या हो जाते है। ज्ञानी जानता है कि जो जन्मा है, वह मर जाता है। जिन्हे आत्मज्ञान हुआ है, वही बडे, सच्चा बडा एक परमात्मा ही है। हरिहरादि उसीमे आ जाते है। परमात्मा निर्गुण निराकार है। वहा उत्पत्ति, स्थिति और लय का प्रश्न ही नही है। स्थान-मान नाम-रूप ये सब अनुमान है।

ब्रह्मप्रलय मे इन सब विचारो का अन्त हो जाता है। ब्रह्म-साक्षात्कार के समय जो अशेष कल्पनाओ का लय होता है, वही है ब्रह्म-प्रलय। जो इस ब्रह्म का संपूर्ण स्वरूप जानते हैं, वे लोकोद्धार के लिए ब्रह्म का निरूपण करते है। वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हैं।

वन्ध से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। प्राणी अपने सकल्प से वधता है, 'जीव-पन' से वद्ध होता है। 'मैं जीव हू' अनेक जन्मो के इस सकल्प से जीव की देहबुद्धि वढती है और वह अल्प हो जाता है। मैं जीव हू, मुझे वन्धन है, जन्म-मरण है, बुरे-भले कर्मो का पाप-पुण्यात्मक फल मुझे भोगना है, इत्यादि कल्पनाओ से जीव अपने-आपको बाध लेता है। इनसे छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

स्वरूप-जागृति ही मोक्ष है। अज्ञान-रूपी रात के जाते ही सकल्प-दु खों का

नाश होकर प्राणी तत्काल मुक्त होता है। सकल्प से बधा जीव विवेक के द्वारा ही मुक्त हो सकता है।

अभेद-वृत्ति को ही सायुज्य मुक्ति—जीव का परमात्मा मे सब तरह एकरस हो जाना—है। नदी जैसे सागर मे मिलती है, उसी तरह भगवान् व भक्त के एक हो जाने पर विभक्तता का अनुभव नही होता।

दृश्य-भाव जाकर फिर आत्म-साम्राज्य को भोगे, उसकी अपेक्षा दृश्य देह-भान के रहते हुए ही आत्म-समाधान रहे—इसमे विशेषता है। माया के रहते हुए भी उसे मिथ्या समझना, देह रहते हुए भी विदेह जैसे रहना—यह समाधान—शान्ति है।

वन्ध-मोक्ष, माया-ब्रह्म, लक्ष्य-अलक्ष्य, ध्यान-ध्याता इत्यादि पक्ष जहा खतम हो जाते हैं, वह आत्मा मोक्ष-स्वरूप है। उस निर्विकल्प मे कल्पना विलीन हो जाती है व केवल ज्ञप्ति-मात्र सूक्ष्म ब्रह्म वाकी रहता है। वस, काम वन गया। भव-मृगजल समाप्त हुआ, मिथ्या वन्धन टूट गया, अद्वैत का द्वैत गया, नि सग की सग-व्याधि छूटी, निष्प्रपच इस प्रपच (उपाधि) से मुक्त हुआ, एकान्त को एकान्त मिल गया, अनन्त के अन्त का अन्त आ गया, अमृत अमर हो गया, निर्गुण निर्गुण हो गया, सन्निध रहते हुए भी जो खो गया था, वह मिल गया।

सन्त विनोवा का कहना है—ब्रह्म-निर्वाण का अर्थ है देह को फेंककर व्यापकतम होना। इसी स्थिति को वौद्धो ने निर्वाण कहा है। वौद्धो को निषेधक भाषा—निर्वाण—अच्छी लगी। इसका अर्थ है मनुष्य अहन्ता को भुलाता जाय। मनुष्य का मोह देह के साथ ही नष्ट हो जाय, शून्य हो जाय। किन्तु वैदिको को 'ब्रह्म-निर्वाण' जैसी विधायक भाषा रुचिकर लगी। उन्होने सोचा कि मोक्ष को अभाव-रूप वताने की अपेक्षा भाव-रूप वताना ज्यादा अच्छा है। हम नष्ट हो गये, शून्य हो गये, ऐसा कहने की अपेक्षा हम व्यापक हो गये, अनन्त हो गये, यह कहना अच्छा है। वौद्ध कहता है कि तुम 'मैं नष्ट हो गया' यह कहने से घवराते क्यो हो? मैं अनन्त होऊगा, व्यापक होऊगा, नर्वमय होऊगा, ऐसा कहने मे जो अस्तित्व का मोह है, उसे छोड दो। इसपर वैदिक जवाव देता है—प्रश्न भय व मोह का नही है, अनुभूति का है। अनुभूति के खिलाफ खयाल वनावें कैसे? अनेक साधनाओ के फलस्वरूप जव अद्वैत अनुभूति के द्वारा मैंने ईश्वर को अपने अन्दर समा लिया है तो फिर मैं यह कैसे मानू कि मैं मिट गया। अत यही कहना ज्यादा उचित है कि सव अ-वस्तुओ का निराकरण

करने के वाद बचनेवाला जो मैं वही मैं व्यापक हो गया, ब्रह्म-मय हो गया। सच पूछिये तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द केवल विधायक नही है, वह निषेधक अर्थ को अपने पेट मे समाकर विधायक वना है। वह उभय अर्थ का सग्राहक है। 'ब्रह्म-निर्वाण' कहने के वाद 'मैं' चला गया, ब्रह्म शेष रह गया। अत "एक ब्रह्म च शून्य च य पश्यति स पश्यति।"

श्री रामकृष्ण परमहस कहते है—"जीव की अहन्ता का नाश होने पर शिवत्व प्राप्त होता है। यही शिव जब शव होता है, अर्थात् मृत हो जाता है तब आनदमयी माता उसके मन मे विराजमान होती है। 'मुक्त होगे कब ? 'अहम्' जायगा जब।"

"मैं उसका दास हू, मै उसकी सन्तान हूं, मै उसका अश हू—ये अहंकार फिर अच्छे हैं। ऐसे अभिमान से भगवान् मिलता है।"

यो देखने से मालूम पडेगा कि मोक्ष के ध्येय के विषय मे यद्यपि दार्शनिको व अनुभवियो मे प्राय मतैक्य है, फिर भी स्वरूप के विपय मे मत-वैषम्य है। मोक्ष चूकि बुद्धि के द्वारा समझने की वस्तु नही है, साधना द्वारा अनुभव करने की वस्तु है, अत जिज्ञासु, साधक, भक्त, श्रेयार्थी के लिए उचित है कि यह अपनी साधना मे ही तन्मय हो रहे। इसीसे वह अपने ध्येय तक पहुच सकेगा और जब उसतक पहुचने लगेगा तो मोक्ष का सही रूप अपने-आप मालूम होता जायगा।

**"नि संग भाव से ईश्वरार्पणपूर्वक वेदोक्त कर्मों को ही करता हुआ पुरुष निष्कर्म-सिद्धि (ज्ञानावस्था) को प्राप्त कर लेता है। वेद में जो (स्वर्गादि) मिलने की फल-श्रुति है, वह केवल कर्म में रुचि उत्पन्न करने के लिए ही है।" ॥४६॥**

इसमे यह शर्त रक्खी गई है कि जो कर्म किये जाय, वे नि सग भाव से अर्थात् आसक्ति-रहित होकर करे। और जो-कुछ करे, वह भी अपने लिए नही, ईश्वर के लिए—सेवा भाव से—करे। इससे उसके चित्त के मल धुलकर, अविद्या, अज्ञान, मिटकर ज्ञान का प्रकाश मिलेगा। उसको वही सिद्धि मिलेगी जो, निष्कर्मता मे सिद्धि—मोक्ष—माननेवालो को मिलती है। जब कर्म-काण्ड का जोर वहुत वढ गया था तब योगियो व ज्ञानियो को उसका निषेध करना पडा था और इसके विना भी सिद्धि—मोक्ष—प्राप्त हो सकती है, ऐसा प्रतिपादन किया था। ऐसा भी मत पाया जाता है जो कर्म-मात्र का निपेध करके केवल ज्ञान से ही मोक्ष मानता है। श्री शकराचार्य ने भी इसपर ज़ोर दिया मालूम होता है। परन्तु

चित्त-शुद्धि के लिए कर्म की आवश्यकता को वह भी मानते हैं। वर्तमान युग मे इस वाद की गुजाइश नही रही है, अत इसपर अधिक चर्चा करना अनावश्यक है। भिन्न-भिन्न कामना से किये गए यज्ञो के स्वर्गादि भिन्न-भिन्न फलो का उल्लेख वेदादि ग्रन्थो मे मिलता है। भागवतकार कहते हैं कि ये तो प्रलोभन मात्र हैं। उनका कोई महत्त्व नही है, न वे खास ध्यान देने योग्य ही हैं।

**"जो शीघ्र ही पर-स्वरूप आत्मा की (अहकार-रूप) हृदय-ग्रन्थि को खोल लेना चाहता है उसे उचित है, कि वह वेद-विधि तथा तन्त्रोक्त विधि से नियमानुसार भगवान् की, केशव की पूजा करे।"** ॥४७॥

तन्त्र का अर्थ वह शास्त्र है, जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है और जो साधको की रक्षा करता है—

"तनोति विपुलानर्थान् तत्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥"

अत तन्त्र का व्यापक अर्थशास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान व तद्विषयक ग्रन्थ आदि हैं। परन्तु यहा अभिप्राय उन धार्मिक ग्रन्थो से है, जो यन्त्र-मन्त्रादि समन्वित एक विशिष्ट साधन-मार्ग का उपदेश देते हैं। इनका दूसरा नाम 'आगम' है। 'निगम' कर्म, उपासना व ज्ञान के स्वरूप को बताता है, 'आगम' इनके साधन-भूत उपायो को सिखलाता है। आगम तीन प्रकार के है—वैष्णव, (पाञ्चरात्र या भागवत) शैव तथा शाक्त, जिनमे क्रमश विष्णु, शिव, शक्ति को परादेवता-रूप मे उपासना विहित है। वैष्णव तन्त्रोक्त पूजाविधि आगे (अ० ११, श्लो० २७) सविस्तर बताई गई है।

मनुष्य को काम्य कर्मों मे प्रेरित करनेवाला व कर्त्तापन का भाव पैदा करनेवाला उसका सबसे बडा शत्रु अहकार है। यह जब सूक्ष्म-रूप मे रहता है तो ससार मे भेद-भाव व पृथकता का कारण होता है, जब यह स्थूल-रूप धारण करता है तो अहन्ता व अभिमान हो जाता है, जिसमे उन्मत्त होकर मनुष्य नाना प्रकार के सुख-भोग की इच्छा करता है व अपने सिवा किसीको कुछ नही समझता। प्रत्येक कर्म अपने ही लिए करता है, व उनका कर्त्ता भी अकेला अपने को ही मानता है। इससे वह नाना प्रकार की उलझनो मे फसता चला जाता है और अहकार की गाठ दृढ होती जाती है। जबतक यह अहकार प्रबल रहता है तबतक मनुष्य की रुचि आत्मा की ओर नही होती, जो कि उसका असली रूप है। इस हृदय-ग्रन्थि को

खोलने का सरल उपाय भगवान् केशव की पूजा है। वैदिक विधि यज्ञ-हवन-प्रधान है। तन्त्रविधि मूर्ति-पूजन-प्रधान है। जिसको जो विधि ठीक जचे, उसीका वह अवलम्बन करे। दोनो विधियो के द्वारा पूजन तो एक ही भगवान् का करना है और वह भी निष्काम भाव से—केवल चित्त-शुद्धि के लिए।

**"(सेवा के द्वारा) गुरु की कृपा का पात्र होकर उनकी बतलाई हुई विधि के अनुसार अपनी अभिमत मूर्ति के द्वारा महापुरुष नारायण की पूजा करे। प्रथम शरीर व अन्तःकरण को शुद्ध करके प्रतिमा के सम्मुख बैठकर प्राणायाम आदि के द्वारा नाडी-शुद्धि करे और फिर अंग-न्यास से अच्छी तरह देह-रक्षा कर भगवान् का पूजन करे।" ॥४८-४९॥**

मूर्ति-पूजा का अभिप्राय है अपनी सब इन्द्रियो को विषयो से हटाकर एकमात्र भगवान् मे लगा देना। अव्यक्त परमात्मा का तो कोई रूप है नही, जिसका ध्यान किया जा सके, व्यक्त परमात्मा सृष्टि-रूप मे उपलब्ध होता है, जिसकी व्यापकता इतनी है कि साधारण व्यक्ति का ध्यान केन्द्रित होना शक्य नही। इस असुविधा को दूर करने के लिए मूर्ति की कल्पना प्रादुर्भूत हुई। वैदिक साहित्य मे इसका विधान नही मिलता। यह माना जाता है कि बुद्ध-धर्मियो ने सर्वप्रथम इसका प्रचार भारतवर्ष मे किया, फिर वैदिक या ब्राह्मणधर्मियो ने इसे अपनाया। परमात्मा की विविध शक्तियो-रूप कई देवताओ की कल्पना की गई है और उनकी मूर्तिया बनाई गई है। अपनी भावना के अनुसार साधक कोई मूर्ति चुन ले व उसकी पूजा करे। सारा उद्देश चित्त को शुद्ध करना, एकाग्र करना है, अत पहले शरीर-वस्त्रादि शुद्ध कर लेना चाहिए। फिर चित्त मे भी विकारो को हटा लेना चाहिए। स्वार्थ-साधना के, हिसा के, विषय-भोग के विचारो को दूर हटा लेना चाहिए। पर प्राण का सयम, प्राणायामादि के द्वारा, आरम्भ करे। प्राणायाम की विधि किसी जानकार या गुरु से सीख ले। इससे चित्त स्थिर और शरीर के भीतरी अवयवो की शुद्धि होती है। फिर अगन्यास करे। इस क्रिया मे प्रत्येक अग मे इष्टदेव के निवास की भावना की जाती है, या वह अग उसको समर्पित किया जाता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि अब उसकी रक्षा का भार परमात्मा पर है। साधक निश्चिन्त हुआ।

**"बाह्य प्रतिमा अथवा हृदय मे, जहां भी पूजन करना हो, उसके लिए जो-कुछ पूजन-सामग्री मिले उसको, पूजा-स्थान को तथा शरीरादि को पहले शुद्ध**

**करे, फिर आसन पर जल छिडककर अर्घ्य, पाद्य आदि के पात्रो को यथास्थान रक्खे। तदनन्तर एकाग्रचित्त होकर अगन्यास करने के उपरान्त मूलमन्त्र के द्वारा प्रतिमा का पूजन करे।" ॥५०-५१॥**

इसमे भी शुद्धि व न्यास पर ही ध्यान दिलाया गया है।

**"अपने-अपने उपास्यदेव की अग (हृदयादि) उपाग (आयुधादि) और पार्षदसहित मूर्ति की उसके मूलमन्त्र द्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, नाना वस्त्र, आभूषण, गन्ध, माला, अक्षत, पुष्पहार, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से विधिवत् पूजा करे। फिर स्तोत्रों द्वारा स्तुति करके भगवान् हरि को नमस्कार करे।" ॥५२-५३॥**

यह षोडशोपचार पूजाविधि है, जो सर्वत्र प्रचलित है। इसमे मूर्ति को पत्थर मानकर पूजा की जाती है। इसीलिए पहले भगवान् का आवाहन मूर्ति मे किया जाता है फिर पूजा-विधान। यह सब भावना व धारणा का ही खेल है। अपनेको भगवान् मे मिलाने, भगवान्मय बनाने की प्रक्रिया है। जो इसमे विश्वास न करते हो, वे अपने इष्ट भूत-हित या लोक-कार्य या आदर्श मे इसी प्रकार तल्लीनता प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इस तरह बाह्य उपचार भी भले ही भिन्न-भिन्न स्वीकार करें। स्थूल विधि-विधान उतने महत्त्वपूर्ण नही हैं, जितनी भीतरी भावना या प्रक्रिया। इसे सर्वदा याद रखना चाहिए।

**"इस प्रकार अपने आत्मा को भगवद्रूप विचारता हुआ भगवान् की प्रतिमा का पूजन करे। फिर निर्माल्य को सिर पर रखे और पूजित हुए भगवद्-विग्रह को यथास्थान रख दे।" ॥५४॥**

इसमे 'आत्मा को भगवद्रूप विचारता हुआ' विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। पूजा का मूल अभिप्राय यही है।

**"इस प्रकार अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि में अथवा अपने हृदय में जो भगवान् श्री हरि का पूजन करता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।" ॥५५॥**

केवल प्रतिमा की ही जरूरत नही है, अग्नि आदि बाहरी किसी भी वस्तु को, बल्कि अपने हृदय मे ही, भगवान् की धारणा करके उसका पूजन किया जा सकता है। भगवान् कहा नही हैं ?

: ४ :

# अवतार

[राजा जनक के भगवान् के अवतारो के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछने पर द्रुमिल ने मुख्य-मुख्य अवतारो व उनके प्रयोजनो का वर्णन इस अध्याय मे किया है।]

**राजा ने कहा—"इस लोक में श्री हरि ने स्वेच्छा से धारण किये अपने जिन-जिन अवतारो से जो लीलाए की है, कर रहे हैं अथवा करेंगे, वे सब हमसे कहिये।" ॥१॥**

'लीला' से मतलब यहा 'चरित्र' से है।

**द्रुमिल बोले—"हे राजन्, जो पुरुष अनन्त भगवान् के अनन्त गुणो की गणना करना चाहता है, वह मन्दबुद्धि है। सम्भव है, पृथ्वी के रजःकणो को किसी प्रकार किसी समय कोई गिन भी ले, परन्तु सर्वशक्तिमान् भगवान् के गुणो का कभी कोई पार नहीं पा सकता।" ॥२॥**

द्रुमिल शायद सोच मे पड गये कि भगवान् के अनन्त तो गुण है, अनन्त ही रूप हैं, अत अनन्त ही अवतार हैं। जो-कुछ नाम-रूपात्मक दीखता है, वह सब उसका अवतार ही तो है। अत. कैसे उसकी गिनती व वर्णन करू ? तव उन्होने कहा कि भाई, यो तो उनकी शक्ति, गुण, अवतार आदि का कुछ पार नही है। फिर उनमे से मुख्य-मुख्य को छाटकर कहने लगे—

**"अपने रचे हुए पचभूतो के द्वारा ब्रह्माण्ड-रूप पुर की रचना करके जब भगवान् आदि देव नारायण ने अपने अशभूत जीव-रूप से उसमें प्रवेश किया तो उनका 'पुरुष' नाम हुआ।" ॥३॥**

पहले सृष्टि-रचना का वर्णन आ चुका है। परमात्मा के स्पन्दन का जब फैलाव शुरू हुआ तो उसका रूप अण्डे की तरह बना। वही ब्रह्माण्ड कहलाया। यह परमात्मा के रहने का पुर हुआ। फिर उसने इस पुर मे अपने चित् अश से प्रवेश

किया, जिसे जीव कहते हैं। इस तरह पुर मे प्रवेश करने के कारण उसका नाम 'पुरुष' हुआ। यह पहला या आदि अवतार समझना चाहिए। यहा यह ध्यान मे रखना चाहिए कि साख्य की 'पुरुष' की परिभाषा इससे भिन्न है। भागवतकार अद्वैत-सिद्धान्त के अनुयायी हैं।[1]

सूक्ष्म रूप से विचार करे तो सृष्टि को मूर्त्तरूप प्राप्त होने मे ईश-सकल्प, देव-सकल्प और ऋषि-सकल्प—ये तीन सकल्प कारण हुए है। ईश-सकल्प के सूक्ष्म परमाणु हुए, देव-सकल्प के उनकी अपेक्षा स्थूल और ऋषि-सकल्प के उनसे भी अधिक स्थूल हुए। ईश-सकल्प से देव-निर्माण हुए और देव-सकल्प से ऋषि तथा मानव। ईश-सकल्प से प्रथमत मन और अनन्तर आकाशादि अपचीकृत पचतत्त्व निर्माण हुए। इनसे स्थूल पचतत्त्व उत्पन्न हुए। ईश-सकल्प के ये स्थूल मूर्तरूप ही प्रकृति-परमाणु हैं। ईश-सकल्प से धाता उत्पन्न हुए और उनमे 'यथापूर्व कल्पयामि' की भावना उत्पन्न हुई। उस भावना मे आदित्य परमाणु और उनसे सूर्य-ग्रहो-सहित सूर्य-माला उत्पन्न हुई। इसके अनन्तर मानस पुत्रादि मानस-सृष्टि हुई और फिर जारज। जन्म को प्राप्त होनेवाला जीव जगदात्मा सूर्य से सूर्य-परमाणु और फिर मन के लिए चन्द्रमण्डल से चन्द्र-परमाणु ग्रहण करता है और नीचे उतरते हुए वह अन्य ग्रहो मे भी अपने प्रारब्ध कर्मभोग के लिए उन-उन ग्रहोपग्रहो के शुभाशुभ-फलदायी परमाणु ग्रहण करके पृथ्वी पर आता और माता की कोख में आकाश, तेज, अप्, वायु, पृथ्वी—इन पचीकृत तत्त्वो से अपने प्राण-शरीर के सजातीय प्राण-परमाणुओ का सग्रह कर अपना अन्नमय शरीर निर्माण करता है और इस प्रकार पूर्व कर्मानुरूप भोग भोगने के लिए अपने प्राणमय, मनोमय, वासना-मय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोसहित भोगायतन अन्नमय शरीर धारण करके माता की कोख से बाहर निकलता है। सूर्य-मण्डल से आदित्य-प्राण-परमाणु

---

[1] "उन परम पुरुष ने जीवो के अदृष्टवश क्षोभ को प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवो की उत्पत्ति-स्थान-रूप अपनी माया मे वीर्य स्थापित किया। तब उससे हिरण्मय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। इस महत्तत्त्वरूप कूटस्थ ने अपने मे स्थित विश्व को प्रकट करने के लिए अपने स्वरूप को आच्छादित करनेवाले प्रलयकालीन अन्धकार को अपने ही तेज से पी लिया।"

—(भाग० ३।२६।१९।२०)

और चन्द्र-मण्डल से चन्द्र-परमाणु लेकर जीव जब पृथ्वी पर आता है तब ज्योतिषी लोग उनकी लग्न कुण्डली व राशि-कुण्डली फैलाते और उन-उन ग्रहो का बलाबल देखकर जीव के सुख-दुःखादि भोग के स्थान और समय निर्दिष्ट कर देते है। इससे यह पता लगता है कि जीव के अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश सूर्य से दैनन्दिन गति के साथ प्रसूत होनेवाले प्राण-परमाणुओ से बने हुए हैं। यह समस्त दृश्यादृश्य जगत् सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राण-परमाणुओ मे भी सत्ता, चेतना और ज्ञान अबाधित, सवलित सथवा सघटित है। सूर्य-मण्डल से निकले हुए प्राण तेजोरूप हैं। साधारण मनुष्य भी स्वप्न की अवस्था मे अपने शरीर को प्रकाश-रूप ही देखता है, चाहे रात अधेरी हो और समीप कोई दीपक भी जलता हुआ न हो।

**"जिनके विराट् शरीर में इस समस्त त्रिभुवन का समावेश है, जिनकी इन्द्रियो से देहधारियों की इन्द्रियां व कर्मेन्द्रियां, स्वरूप से स्वत सिद्ध ज्ञान (आत्मा) श्वास-प्रश्वास से बल (देह-शक्ति), ओज (इन्द्रिय-शक्ति), और क्रिया-शक्ति तथा सत्वादि गुणो से स्थिति, उद्भव और लय होते हैं, वे ही आदि कर्त्ता नारायण हैं।" ॥४॥**

यह विराट् शरीर का वर्णन है, जिसे दूसरा अवतार कह सकते है। विराट् शरीर के रूप मे जब परमात्मा के व्यक्त स्वरूप की कल्पना की गई और मनुष्य-शरीर भी जब उसीकी एक कृति है तो वह उसकी प्रतिकृति भी मान ली गई, या यो कहिये कि मनुष्य ने अपने शरीर की रचना को देखकर ही उसके शरीर आदि की कल्पना की है। इस कल्पना के आधार पर ही यह स्वरूप-वर्णन किया गया है व उसकी किस शक्ति से मनुष्य या देहधारी की कौन-सी शक्ति या इन्द्रिय मिली है, इसका सम्बन्ध बैठाया गया है। इसमे कोई शक नही कि यह कल्पना इस मूल तथ्य पर खडी की गई है कि व्यक्त सृष्टि अव्यक्त परमात्मा का एक रूप ही है और जीवात्मा परमात्मा का ही एक अश है।

**"प्रथम जगत् की उत्पत्ति[1] के लिए उनके रजोगुण के अश से ब्रह्मा हुए, फिर वह आदि पुरुष ही ससार की स्थिति के लिए (अपने सत्वाश से) धर्म और ब्राह्मणो**

---

[1]तब सम्पूर्ण प्राणियो से गौरवान्वित हो तुम सप्तर्षियो से घिरकर सब प्रकार की औषधि और सब तरह के छोटे-बडे बीज लेकर उस विशाल नौका पर चढकर

की रक्षा करनेवाले यज्ञपति विष्णु तथा तमोगुण के अंश से सर्ग—सृष्टि-सहारक रुद्र हुए। इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे प्रजा में उत्पत्ति, पालन और सहार होते रहते हैं।" ॥५॥

साख्य-मतानुसार सत्त्व, रज, तम प्रकृति के तीन गुण हैं। वेदान्ती सत्, चित्, आनन्द तीन गुण ब्रह्म के मानते हैं। परन्तु कही-कही सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण भी परमात्मा के ही मानकर वर्णन किया गया है, जैसा कि प्रस्तुत श्लोक मे है। प्रकृति भी चूकि, वेदान्त-मत मे परमात्मा की ही शक्ति है, अत तत्त्वत इसमे कोई अन्तर नही पडता। उत्पत्ति, स्थिति व लय सृष्टि मे तीन नियम अवाधित देख पडते हैं। ये परमात्म-शक्ति के सूचक हैं। इनके तीन प्रतिनिधि—देवता मान लिये गए है और एक-एक गुण से एक-एक की उत्पत्ति कल्पित की गई है। इनमें स्थिति, अर्थात् पालन विष्णुदेव का काम है, जो कि उत्पत्ति व सहार की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है। अत समाज मे विष्णु का महत्त्व ही अधिक है और अधिकाश अवतार इन्हीके माने गए है। ये शक्तिया ब्रह्म के सकल्प रूप मे अवतरित होती हैं। यह सारा विश्व भी ब्रह्म का सकल्प ही तो है, जैसा कि ऊपर बता चुके हैं। इस 'त्रिमूर्ति' को भगवान् का तीसरा अवतार कहना चाहिए।

विष्णु को यज्ञपति कहा गया है। परमात्मा को भी यज्ञ-पुरुष कहते हैं। गीता मे कहा है—मैंने प्रजा के साथ ही यज्ञ की सृष्टि की है। अत यहा हम यज्ञ का स्वरूप समझ लें तो अच्छा।

यह सृष्टि ही यज्ञ रूप है। पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुए व उन्होंने सृष्टि रचना-रूप यज्ञ-कर्म आरम्भ किया। भागवत (२।६।२२-२७) मे स्वय ब्रह्मदेव कहते हैं—"जब इस विराट् पुरुष के नाभि-कमल से मेरा जन्म हुआ तो इसके अवयवो के सिवा मुझे कोई और यज्ञ-सामग्री नही मिली। तब मैंने उसके अवयवो से ही यज्ञ-पशु, वनस्पति, कुशा, यह यज्ञभूमि, यज्ञ-योग्य उत्तम काल, पात्रादि वस्तुए, औषधिया, घृत, रस, लोहा, मृत्तिका, जल, ऋक्, यजु, साम, चातुर्होत्र, यज्ञो के नाम,

---

सूर्यादिक प्रकाश न रहने के कारण सप्तर्षियो के तेज से ही आलोकित हो निश्चिन्त भाव से उस प्रलयकालीन जल मे विचरोगे।"

इन्ही बीजो के आधार पर नई सृष्टि उत्पन्न होती है।

(भाग० ८।२४।३४-३५)

मन्त्र, दक्षिणा, व्रत, देवता, सकल्प, तन्त्र, गति, मति, प्रायश्चित्त और समर्पण—यह समस्त यज्ञ-सामग्री एकत्र की। इस प्रकार उस पुरुष के अवयवो से सामग्री एकत्र कर मैंने उसीसे उस यज्ञ-पुरुष परमेश्वर का यजन किया।"

यज्ञ मे अग्नि और आहुति—दो प्रधान वस्तुए होती है। आहुति अग्नि मे जलती है—वह यज्ञ की क्रिया है। आहुति पडती रहने से अग्नि प्रज्वलित रहती है। यह उसका फल हुआ। प्रत्येक वस्तु को कायम रखने के लिए, प्रत्येक क्रिया को जारी रखने के लिए कुछ भोजन चाहिए। प्रत्येक पदार्थ निरन्तर गतिशील है, अत कुछ-न-कुछ खोता रहता है। इस कमी की पूर्ति परमात्म-तत्त्व—भगवान् के अक्षय शक्ति-भण्डार—से होती रहती है। उसीके बल पर सब पदार्थ कायम रहते हैं और सृष्टि-चक्र चलता रहता है। इसी तरह क्रिया को प्रेरणा व आकर्षण-बल चाहिए। वह भी उसे परमात्मा से ही प्राप्त होता है। यह बन्द हो जाय तो न जीव रहे न पदार्थ, न कोई क्रिया। यही यज्ञ है। यह सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ है और इसका कर्त्ता होने के कारण भगवान् यज्ञ-पुरुष और इसकी रक्षा करते रहने के कारण उसकी पालन-शक्ति विष्णु को यज्ञपति कहा है।

इस प्रकार यज्ञ दैनिक कर्म हुआ। जो इस प्रकार अभावो को पूर्ति नित्य नही करते, वे उसका फल भुगते बिना नही रह सकते जो कि दु खरूप ही हो सकता है। पेड की जड मे पानी न सीचने से वह सूख जायगा व तुमको फल-फूल-पत्ते आदि न मिलेंगे। बच्चो को दूध न पिलाओगे तो वे मर जायगे व तुम उनके सुख से वचित रह जाओगे। इसका यह भी अर्थ होता है—'दोगे तो मिलेगा' या 'लेना हो तो कुछ दो।' मनुष्य ने ईश्वर या प्रकृति के यज्ञ-कर्म से शिक्षा लेकर अपने घर या समाज मे जो यज्ञ-प्रथा प्रचलित की, उसमे उसका यही उद्देश्य रहा। उसने देखा कि हमे परमात्मा से—उसकी भिन्न-भिन्न शक्तियो (देवताओ) से ही अपने जीवन की सब सामग्री मिलती है। हम उनका उपभोग करते हैं। यदि हम उसके इस अभाव की पूर्ति न करेंगे या बदले मे उन्हे कुछ न देंगे तो हम उन्हे पाने के अधिकारी न रहेंगे। लेकिन अब देना कैसे चाहिए ? परमात्मा व उनकी शक्तिया तो मिलना ठीक, दीखती तक नही। सिर्फ दो ही वस्तुए होती है, जो उसकी प्रत्यक्ष विभूति या प्रतीक कही जा सकती हैं—सूर्य और अग्नि। सूर्य तक मनुष्य पहुच नही सकता व अग्नि सूर्य का ही तेज है। अत. अग्नि का ही आश्रय उसने लिया। फिर उसने देखा कि अग्नि पदार्थों का रूपान्तर कर सकता है। हम कोई भी पदार्थ

उसमे डाले, वह उसे भस्म कर देता है, राख यहा रह जाती है और पदार्थ का प्राण या तत्व वायुमण्डल मे प्रवेश कर जाता है और ठेठ परमात्म-तत्त्व मे जा मिलता है। अत. यदि कोई वस्तु परमात्मा या देवताओ तक पहुचाना है तो उसका सरल तरीका उसे यज्ञ या हवन ही मालूम हुआ। मनुष्य के मन मे भिन्न-भिन्न इच्छाए रहती हैं। उनकी पूर्ति के लिए भी वह यज्ञ का अवलम्बन करने लगा। अब यज्ञ मे दो भावनाए काम करने लगी—एक तो सृष्टि-चक्र को अव्याहत चालू रखने के लिए परमात्मा के निमित्त बलि या आहुति देना। यह हुआ उसका निष्काम कर्म। दूसरे अपने पुत्र, वित्त, सुख, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति के निमित्त। यह हुआ काम्यकर्म।

इसी कल्पना के आधार पर पचमहायज्ञ का विधान हुआ। पीछे काम्ययज्ञ स्वार्थप्रधान होने के कारण हेय समझा जाने लगा व उसका असली रूप कायम रह गया। अर्थात् यह कि सृष्टि-चक्र को या सकुचित अर्थ मे कहे तो समाज-व्यवस्था या जीवन को चालू रखने के लिए अपनी तरफ से किया जानेवाला त्यागमय कर्म। 'बलि' या 'आहुति' जब ऊचे उद्देश से, सेवा, परोपकार, दयाभाव से की जाती है तब वह त्याग-रूप होती है, यहातक कि अब तो 'बलिदान' 'आहुति', का अर्थ ही 'त्याग' हो गया है। 'यज्ञार्थ कर्म करो' का अर्थ ही 'सेवा या त्याग-भाव से कर्म करो' हो गया है। गाधीजी ने 'यज्ञार्थ चरखा कातो' की पुकार इसी भावना से प्रेरित होकर उठाई है।

**"धर्म की पत्नी दक्षकन्या मूर्ति के गर्भ से भगवान् ने शान्तात्मा ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायण के रूप में अवतार लिया। उन्होने आत्मतत्त्व को लक्षित करानेवाला कर्मत्याग-रूप कर्म (साख्य-निष्ठा) का उपदेश किया और स्वय भी उसीका आचरण किया। वे, जिनके चरणो की मुनिवर सेवा करते हैं, आजकल भी (बदरिकाश्रम में) विराजमान् हैं।" ॥६॥**

नर-नारायण के रूप मे यह चौथा अवतार हुआ। परमात्मा सूक्ष्म से स्थूल व स्थूलतर, अव्यक्त से व्यक्त व व्यक्ततर होता जा रहा है। ये अवतार सृष्टि-रचना या विकास के एक-एक नवीन युग के सूचक भी माने जाते हैं। जैसे पुरुष-रूप होना एक युग, विराट् रूप होना दूसरा युग, त्रिमूर्ति होना तीसरा, व नर नारायण-रूप होना चौथा, व इसी क्रम से आगे समझ सकते हैं। त्रिमूर्ति के माता-पिता नही थे। नर-नारायण के माता-पिता है। यह वह काल था जबकि मनुष्य-सख्या बहुत ही

कम थी, सब वस्तुओ का सुपास था, न समाज था, न समाज की जटिलताए थी, न उनके छल-प्रपच आदि दोप ही थे। स्वभावत ही दूसरा कोई कर्त्तव्य न रहने से मनुष्य आत्मलीन रहा करता होगा और इस अद्‌भुत मृष्टि के रचयिता भगवान् का ही विचार-चिन्तन करता रहा होगा।

सनातनधर्मियो का यह विश्वास है कि वह अमर है और आज भी बदरिकाश्रम—हिमालय—मे निवास करते है। इसपर अविश्वास करने का सहसा कारण नही है, क्योकि कई सिद्ध पुरुषो ने आपद्‌ग्रस्त भक्तो का संकट दूर करने के लिए योग का प्रक्रिया से अन्नमय शरीर मे निकलकर प्राणमय शरीर के द्वारा दूर देशो मे जाकर उन्हे बचाया है। आज भी तिब्बत-चीन के लामाओ मे यह शक्ति है और उसके अनुभवी लोगो ने यह बात लिख रखी है कि ये लोग प्राणायाम की सहायता से अन्नमय कोश से प्राणमय कोश को निकाल लेने की क्रिया सिद्ध कर लेते हैं।

अन्नमय कोश पार्थिव शरीर को कहते हैं, प्राणमय कोश इससे सूक्ष्म रूप को। हमारे इस भूलोक की अपेक्षा सूक्ष्म और मूक्ष्मतर लोक 'भुव' और 'स्व' हैं। भुवर्लोक मे रहनेवाले जीवों मे कामदेव, रूपदेव और अरूपदेव—ये तीन एक-से-एक ऊची कोटि के देव है। कामदेव प्राणमय शरीर रखते हें। मनोमय शरीरधारी देवों तक इनकी गति होती है। रूपदेव मनोमय शरीरधारी होते है और अरूपदेव वासनामय शरीर-धारी अर्थात् कारण देहधारी होते है। अरूपदेव कभी-कभी मनोमय शरीर धारण करते हैं, प्राणमय शरीर सहसा नही धारण करते।

अरूपदेवो की कोटि से भी उच्च कोटि के देवो की और चार श्रेणियां है। ये श्रेष्ठ देव ग्रहमालाविष्ठित देव है। उपर्युक्त तीन देव-कोटियो से विशेष सम्बन्ध न रखनेवाले पर, पृथ्वी, अप, वायु और तेज इन तत्त्वो पर स्वामित्व रखनेवाले चार देवराज है। ये इन चार तत्त्वो के साथ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, इन चार दिशाओ के भी राजा हैं। पुराणो मे इनके धृतराष्ट्र, विरूपाक्ष, विरुद्धक और वैश्रवण नाम बताये हैं। इनके अधीन गन्धर्व, कुम्भक, नाग और यक्ष है, जो निम्न-कोटि के देवदूत हैं। इन चार महाराजाओ के वर्ण यथाक्रम शुभ्र, नील, रक्त और हैम है। प्रत्येक धर्मग्रन्थ मे किसी-न-किसी नाम से इन राजा-महाराजाओ का वर्णन अवश्य हुआ है।

विधाता ने इन महाराजाओ को पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाले मनुष्यो के कर्मो का नियन्त्रण-कार्य सौपा है। अर्थात् पृथ्वी पर रहनेवाले मनुष्यो की उन्नति के

सूत्र इन्हीके हाथो मे हैं। अखिल विश्व के जो कामदेव है, उन्हे लिपिका कहते हैं। प्राणमय शरीरवाले जीव के कर्मानुसार भुवलोक मे उसका अधिवास-काल जव समाप्त होता है तव ये लिपिका देव उसके कर्माकर्म का हिसाव देखने और उस जीव को भावी अनुभव-क्षेत्र दिलाने के लिए दूसरे जन्म के योग्य प्राणमय शरीर-निर्माण करते हैं और पृथ्वी, अप, वायु, तेज—इन चार तत्त्वो के अधिपति देव-राज लिपिका के उपदेशानुसार उस जीव का अन्नमय शरीर गढते है। मनुष्य को इच्छा-स्वातन्त्र्य दिया गया है और तदनुसार कर्म-स्वातन्त्र्य भी। इसलिए भूलोक मे आकर मनुष्य अपनी इच्छानुसार सदसत् कर्म करता है, फिर उन्ही कर्मो के अनुसार उसका भावी जन्म निर्धारित होता है।

अन्नमय कोश से प्राणमय कोश वाहर निकल सकता है और इससे अन्नमय कोश की असत्यता, प्रमेय, प्रमाण और प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध होती है। अन्नमय कोश का छूटना अर्थात् लौकिक मृत्यु का होना अन्नमय कोश से प्राणमय कोश का निकलना है, उद्‌गम है, मृत्यु नही। इस प्रकार प्राणमय कोश की सत्यता जच जाने पर अन्नमय व प्राणमय कोशो का परस्पर विच्छेद होना मृत्यु नही, किन्तु अवस्थान्तर है, यह वात सामने आ जाती है। प्राणमय-कोश से मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश की परम्परा या अनुभूति होने पर—शिव के ऐक्य को जानना ही प्राणमय शक्ति के सिद्ध होने की फलश्रुति है। यह स्थूल शरीर प्राणमय शरीर का वस्त्र ही है। अत यदि नर-नारायण अपने प्राणमय शरीर से आज भी विद्यमान हो तो आश्चर्य नही। श्री ज्ञानदेव ने जीवित समाधि ली थी। वाद मे एकनाथ ने समाधि-मन्दिर को खोला और उनके साथ उनका समागम, वातचीत प्रसिद्ध है।

**"ये अपने घोर तप द्वारा मेरा पद छीनना चाहते हैं—ऐसी आशका करके इन्द्र ने उन्हें तपोभ्रष्ट करने के लिए कामदेव को उसके दल-बल के सहित नियुक्त किया और उनकी महिमा न जानने के कारण वह बदरिकाश्रम में जाकर अप्सरा-गण, वसन्त, मन्द-सुगन्ध वायु और स्त्रियो के कटाक्ष वाणो से उन्हे वींधने की चेष्टा करने लगा।" ॥७॥**

कथा है कि नर-नारायण उत्पन्न होते ही तप करने चले गय। जव हम किसी एक वात पर मन या शक्ति एकाग्र करने लगते हैं तो शुरू मे दूसरे सकल्प, विचार, भावना—अच्छी-बुरी सव प्रकार की—प्रवल होने लगती है। रह-रहकर ध्यान

हटता व दूसरी बातो की ओर जाता है। हमारे मन मे कई तरह का मन्थन भी चलता रहता है, जिसमे कभी भय व कभी प्रलोभन के भाव आते हैं। ध्यानावस्था मे ये विचार, सकल्प, भावनाए या विकार मूर्त-रूप मे आये जान पडते है। साधक कभी-कभी इनके भय से अभिभूत हो जाता है, कभी उनके मोहो व प्रलोभनो के चक्कर मे पड जाता है। इसी दशा का वर्णन पुराणो मे पूर्वोक्त जैसे रूपको व कथाओ के द्वारा किया गया है। बुद्ध की साधना के समय भी ऐसी वृत्तियो या विकारो के आक्रमण का वर्णन बौद्ध-साहित्य मे मिलता है। इन्द्र सब शक्तियो—देवताओ—का राजा है। अच्छी-बुरी, शुभ-अशुभ सब शक्तिए—प्रेरणाए उसके अधिकार मे रहती हैं। उसे एक सूक्ष्म नियामक यन्त्र समझिये। मैं एक सकल्प करके बैठा तो उसकी प्रबलता के अनुसार प्रबल तरग वायुमडल मे उठी व उस नियामक यन्त्र—इन्द्र—की तरफ चली। वहा मेरे मन की सुप्त सकल्प—व विकार-तरगे पहले ही से बीजरूप मे विद्यमान् है। उनमे क्षोभ-हलचल उत्पन्न हुई। इधर मेरे मन मे दूसरे सकल्प-विकल्प उठने लगे। उनकी तरगे भी वहां पहुची। इससे वे अधिक जाग्रत होकर मेरी ओर दौडी व मुझे प्रभावित करने लगी। मैं अपने पूर्व सकल्प मे दृढ रहा तो यह विकार-तरंगे प्रभावहीन होकर शान्त हो जायगी और मेरी जय या सिद्धि हुई समझी जायगी। यही प्रक्रिया इस रूपक के द्वारा बताई गई है। साधना मे पहले प्रिय वस्तुओ से बिछुडने की कल्पना ज्यादा जोर मारती है। पीछे अनिष्ट, भय आदि की कल्पनाए। पहले प्रिय वियोग, पीछे अनिष्टयोग ही स्वाभाविक मालूम होता है। ससार मे मनुष्य को प्रिय लगनेवाली व मोहित करनेवाली वस्तुए काम-प्रधान ही रहती है। इसीलिए अप्सराओं व उनके साथी वसन्त आदि की चढाई का वर्णन पहले आता है। इन्द्रदेव भी पहले शायद मीठा जहर देना पसन्द करते है। 'जो गुड दीन्हे ते मरे माहुर काहे देय।'

**"इन्द्र की कुचाल को जानकर कुछ विस्मय करते हुए आदिदेव नारायण ने भय से कापते हुए उन कामादि से हँसकर कहा—हे मदन, हे मन्द मलयमारुत, हे देवांगनाओं, डरो मत। हमारा आतिथ्य स्वीकार करो। उसे ग्रहण किये बिना ही जाकर हमारा आश्रम सूना न करो।" ॥८॥**

जब अप्सरादि का हमला हुआ तो नर-नारायण फौरन सचेत हो गये। विकार या शत्रु के मुकाबले के दो ही तरीके है—या तो उसे खदेड दिया जाय या हजम कर लिया जाय। खदेडने मे अधिक सहारक बल की व हजम करने मे अधिक क्षमा-

बल की जरूरत है। नि सन्देह दूसरा बल अधिक श्रेष्ठ व सात्विक तथा उभय पक्ष के लिए हितकर है। नारायण ने प्रतिकारक की भूमिका ग्रहण करने के बजाय अतिथि-सत्कार करनेवाले यजमान की भूमिका ली। उनका तिरस्कार करने के बजाय उनका स्वागत किया। उनसे शकित और भयभीत होने के बजाय उलटा उनको अभय-दान दिया। उनको क्रुद्ध करने की अपेक्षा लज्जित करके अपने वशीभूत करने का मार्ग ग्रहण किया।

जब हम किसी सत्पुरुष का काम बिगाडने जाते हैं तो ऊपर से चाहे कितना ही बल-प्रदर्शन का आविर्भाव दिखाया जाय, भीतर से हमारा मन भय-शकित रहता है। यही अवस्था इन देवागनाओ की हो रही थी। ऊपर से अपने स्वामी इन्द्र की आज्ञा पालन करनी थी, किन्तु भीतर से उनका हृदय काप भी रहा था।

**"हे राजन्, अभयदायक दयालु नारायण के ऐसा कहने पर लज्जा से सिर झुकाये हुए देवगण करुण स्वर से इस प्रकार बोले—हे विभो, आप मायातीत और निर्विकार हैं तथा आत्माराम धीर पुरुष निरन्तर आपके चरण-कमलो की वन्दना करते हैं। आपके लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि स्वय अविचल रहकर हम अपराधियो के प्रति भी इतनी उदारता का परिचय दे रहे हैं।" ॥९॥**

नारायण की उदारता या अविचलता से इन्द्र के वे गण लज्जित हो गये। उन्होने देखा कि यह कोई असाधारण पुरुष, अवतारी विभूति है। ऐसी भावना से वे उनकी स्तुति करने लगे।

**"जो आपके ही सेवक हैं, उनके मार्ग में देवगण अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं, क्योंकि वे उनके धाम (स्वर्गलोक) को लाघकर आपके परमपद को प्राप्त होते हैं और उनके अतिरिक्त जो केवल कर्मकाण्ड में लगे रहकर यज्ञादि के द्वारा देवताओ को उनका भाग देते रहते हैं, उन्हें कोई विघ्न नहीं होता। तथापि यदि आप उनकी रक्षा करने लगते हैं तो वे भक्तजन समस्त विघ्नो के सिर पर पैर रख देते हैं (और अपने लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं होते)।" ॥१०॥**

अब उन्होने असली बात भी प्रकट कर दी। सत्य का यही प्रताप है। क्षमा मे यही गुण है। अपराधी अपना रहस्य व षड्यन्त्र खुद ही आपके सामने खोल देता है। आपका अभय-दान उसमे कुछ भी न छिपा रखने की प्रवृत्ति पैदा करता है। ये देवता भक्तो के मार्ग मे अनेक बाधाए खडी करते हैं, क्योंकि उनके लोक को लाघकर वे आगे बढना चाहते हैं। इसका साधारण अर्थ यह हो सकता है कि जब

साधक या भक्त अपनी उन्नति करते हुए स्वर्ग से भी ऊपर उठता है तो स्वर्ग के प्रलोभन उसे थोडी देर तक रोकते है।

यहा भक्ति की श्रेष्ठता और कर्म-काण्ड की कनिष्ठता भी बताई गई है। यज्ञ-यागादि करके जो देवताओ को उनका भाग दिया करते है, उनसे देवता सन्तुष्ट रहते हैं। जो सीधा परमात्मा को भजते हैं, उनके मार्ग मे ये विघ्न खडा करते है। इस प्रकार यज्ञ-याग व देवताओ की ओर से ध्यान हटाकर एक परमात्मा की ओर ही ध्यान देने का सकेत भागवतकार करते है और इन विघ्नो की परवा न करने का आश्वासन भक्तो को देते है, क्योकि खुद भगवान् उनके रक्षक है।

**"तथा कुछ लोग, जो तपस्वी होने पर भी आपके उपासक नही है, अपार समुद्र के समान भूख, प्यास (शीत, ग्रीष्म और वर्षा) तीनो कालो के गुण, वायु तथा रसना और शिश्नेन्द्रिय के वेगो को पार करके भी निष्फल क्रोध के वश में हो जाते है। मानो (समुद्र पार करके) भी गौ के खुर बराबर गड्ढे मे डूब जाते हैं और अपनी कठिन तपस्या को भी खो बैठते है।" ॥११॥**

इसमे तपस्या से भक्ति की श्रेष्ठता बताई गई है। तप की सिद्धि से अक्सर अभिमान और अभिमान के अवमान व अवहेलना या आज्ञा के उल्लघन करने पर क्रोध उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। इन्द्रिय तथा मन के वेगो का दमन करने के लिए वे नाना प्रकार के क्लेश कर सयमो की साधना करते है। परन्तु आपकी भक्तिरूपी स्निग्धता हृदय मे न रहने के कारण क्रोध के वशीभूत हो अपनी तपस्या बरबाद कर देते है। भक्त तो खुद ही अपनेको स्वल्प व नम्र समझता है, फिर भगवान् का वरद्-हस्त उसके सिर पर रहता है, अत उसकी भक्ति वृथा नही जा सकती, यह अभिप्राय है।

**"उनके इस प्रकार स्तुति करने पर नारायण ने उन्हे विचित्र वस्त्रालंकारो से सुसज्जित, अद्भुत रूप-लावण्यमयी अनेक स्त्रियां अपने आश्रय में सेवा करती हुई दिखलाई।" ॥१२॥**

यह नारायण की भोग-तृप्ति या अनासक्ति का दृश्य है। अप्सराए उन्हे मोहित करने, तपोभ्रष्ट करने के लिए आई थी। उन्होने दिखाया कि तुमसे भी बढकर सुन्दरिया मेरे यहा मौजूद है, मैं उन्हीमे मोहित नही हू तो तुम्हारी क्या कथा? तुमने गलत आकर आक्रमण किया—अपना माया-जाल फैलाया।

**"साक्षात् लक्ष्मीजी के समान रूपवती उन स्त्रियो को देखकर उनके रूप-**

**लावण्य की महिमा से कान्तिहीन हुए वे देवगण उनके अंग की दिव्य गध से मोहित हो गये।" ॥१३॥**

हिन्दू-धर्म-साहित्य मे लक्ष्मी व मोहिनी दो स्त्री-रूप तथा कामदेव व श्रीकृष्ण पुरुप-रूप सौन्दर्य के प्रतिनिधि माने गए है। लक्ष्मी शुद्ध सात्विक सौन्दर्य की व मोहिनी कामुक सौन्दर्य की मूर्ति है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण शुद्ध व कामदेव कामुक सौन्दर्य के रूप हैं। मनुष्य ने नाना वर्ण आकृति रूप सृष्टि मे अद्भुत सौन्दर्य देखा। योगियो ने ध्यान और समाधि मे अनन्त तेज व सौन्दर्य का अनुभव किया। तो यह सौन्दर्य आया कहा से ? ऐसा सुन्दर रूप-रग-तेज निर्माण करना मनुष्य के बस का तो था नही। नील-नभो-मडल मे रग-विरगे और चित्र-विचित्र आकारवाले वादलो की, बिजली की चमक की, इन्द्र-धनुष की, रात के समय चमकनेवाले लाखो मणिमय रत्नदीप जैसे तारो की जगमगाहट की, सूर्योदय व सूर्यास्तकालीन रमणीय दृश्यो की सुन्दरता का चित्रण अभी तक कोई कर सका है ? इनका चितेरा तो वह विश्वनिर्माता ही हो सकता है और यह सौन्दर्य-सामग्री भी—सृष्टि-सामग्री भी उसने अपने मे से ही प्राप्त की है। 'सत्' कला से द्रव्य, 'चित्' कला से प्राण-रस लेकर 'आनन्द' अवस्था मे उमने सौन्दर्य-सृष्टि की है। इस सत्य को सामने रखकर मनुष्य ने अपनी सारी बुद्धि-शक्ति खर्च करके स्त्री और पुरुष मे भगवान् की पूर्वोक्त सुन्दर मूर्तिया—अभिव्यक्तिया—चित्रित की हैं। रूप और रग की विचित्रता का जो समन्वयात्मक प्रभाव मन पर पडता है, वही सौन्दर्य है। उससे जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, उसे साहित्य-शास्त्र मे 'रस' कहते हैं। शुद्ध सौन्दर्य की प्रतिनिधि और सृष्टि-पालक विष्णु की पत्नी—शक्ति—होने के कारण उसे सव मातृस्थानीय मानते हैं।

**"तव अति दीन हुए उन देवानुचरो से नारायण ने हँसते हुए कहा—इनमें से किसी एक को जो तुम्हारे अनुरूप हो, स्वीकार कर लो, वह स्वर्गलोक की भूषण-रूप होगी।" ॥१४॥**

अव उन्होने राजा इन्द्र को भी छकाने या लज्जित करने का उपाय किया। कहा—इनमे मे एक अति सुन्दरी को तुम लोग स्वर्ग मे ले जाओ। वह उसकी भी शोभा वढावेगी।

**"तव वे देवदूत 'वहुत अच्छा' कह उनकी आज्ञानुसार उनमें से अप्सराओ में श्रेष्ठ उर्वशी को आगे कर प्रभु को प्रणाम करने के उपरान्त स्वर्गलोक को चले**

गए।" ॥१५॥

"स्वर्ग में पहुचकर उन्होने देवराज इन्द्र को प्रणाम कर सभा में सब देवताओं के सामने भगवान् नारायण का बल और प्रभाव कह-सुनाया। उसे सुनकर इन्द्र अति भयभीत और विस्मित हुआ।" ॥१६॥

अपने षड्यन्त्र को इस प्रकार विफल देख इन्द्र केवल विस्मित ही नही भय-भीत हो गया। दूसरो से, खासकर सत्पुरुषो से जो ईर्ष्या करते हैं और उनके कार्यो मे विघ्न डालते हैं, उनकी अन्त मे यही दशा होती है। वे अपने इस पापकृत्य और सत्पुरुष के प्रभाव-बल को देखकर भीतर-ही-भीतर डर जाते हैं।

"इसी प्रकार हंसावतार लेकर भगवान् अच्युत ने आत्मज्ञान का उपदेश किया। तथा दत्तात्रेय, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और हमारे पिता श्री ऋषभदेवजी—ये सब भी जगत् के कल्याणार्थ लिये भगवान् विष्णु के कलावतार ही है। इनके अतिरिक्त हयग्रीव अवतार में भगवान् मधुसूदन ने वेदो का उद्धार किया।" ॥१७॥

पुराणो मे कुल २४ अवतार माने गए है। १. विराट् पुरुष (नारायण) २. ब्रह्मा, ३ सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, ४ नर-नारायण, ५ कपिल, ६ दत्तात्रेय, ७ सुयज्ञ, ८ हयग्रीव, ९ ऋषभ, १० पृथु, ११ मत्स्य, १२ कूर्म, १३ हस, १४ धन्वन्तरि, १५ वामन, १६ परशुराम, १७ मोहिनी, १८ नृसिह, १९ वेदव्यास, २० राम, २१ बलराम, २२ कृष्ण, २३ बुद्ध, २४ कल्कि (भावी) ये लीलावतार कहे जाते है। यो काल, स्वभाव, कार्यकारण-रूपा प्रकृति, मन, पञ्चभूत, अहकार, सत्वादि गुण, इन्द्रिया, ब्रह्माण्ड शरीर, ब्रह्माण्ड का अभिमानी तथा सम्पूर्ण स्थावर-जगम जीव भी उसी पुरुष के रूप (भाग० २।७।४१-४२) या अवतार ही हे। इन्हे तत्वावतार कह सकते हैं। इन २४ मे १० प्रधान अवतार हे, जिन्हे विकास-क्रम से इस प्रकार रख सकते हैं— १ मत्स्य, २. कच्छप, ३ वराह, ४ नृसिह, ५ वामन, ६ परशुराम, ७ राम, ८ कृष्ण, ९ बुद्ध, १० कल्कि।

वैष्णव (पाचरात्र) मतानुसार भगवान् जगत् के परम मगल के लिए अपने ही आप चार रूपो की सृष्टि करते है—१ व्यूह, २. विभव, ३ अर्चावतार, ४ अन्तर्यामी अवतार। 'व्यूह' मे वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध चार तत्वों का समावेश होता हे। वासुदेव (सबमें बसे हुए परमात्मा) से सकर्षण (जीव) की

उत्पत्ति होती है। सकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उसमे अनिरुद्ध (अहकार) की। यही 'चतुर्व्यूह सिद्धान्त' पाञ्चरात्र का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। 'विभव' का अर्थ अवतार है, जो सख्या मे ३९ माना जाता है। विभव दो प्रकार के होते है, (क) 'मुख्य' जिनकी उपासना मुक्ति के लिए की जाती है तथा (ख) 'गौण' जिनकी पूजा मुक्ति के वास्ते की जाती है। पद्मनाथ, ध्रुव, मधुसूदन, कपिल, त्रिविक्रम आदि की गणना 'विभव' मे की जाती है।

अर्चावतार—पाञ्चरात्र विधि से पवित्र किये जाने पर प्रस्तरादि की मूर्तिया भगवान् के अवतार मानी जाती है। सर्व-साधारण की पूजा मे इनका उपयोग होता है। इनको अर्चावतार कहते है।

अन्तर्यामी—भगवान् सब प्राणियो के हृत्पुण्डरीक मे वास करते हुए उनके समस्त व्यापारो के विधायक है। वह अन्तर्यामी-रूप है।

जो अवतार कलारूप से होता है, उसे कलावतार कहते है। जो भगवत्-शक्ति हमारे जगत् की केन्द्रवस्था है, वह षोडशकला की समष्टि मानी गई है। इस कला-रूपी शक्ति से जितनी कलाओ के विकास को लेकर अवतार होता है, उसे कला-वतार कहते है। एक या अनेक कलाओ के विभिन्न अवतार हो सकते है। कला की अपेक्षा भी जो न्यून शक्ति का आविर्भाव होता है, उसे अशावतार व अश की अपेक्षा भी न्यून शक्ति के अवतार को विभूत्यवतार कहते है।

स्वय भगवान् के प्रादुर्भाव को विभवावतार कहते हैं, जिसके दो भेद हैं—मुख्य व गौण। मुख्य विभव साक्षात् अवतार व गौण विभव आवेशावतार। आवेशावतार के भी दो भेद है—१ शक्त्यावेश—आवेश काल मे केवल शक्ति का विकास होता है—और २ स्वरूपावेश—भगवान् अपने अप्राकृत विग्रह समेत किसी चेतन शरीर मे आविष्ट होते हैं।

इसी तरह कल्पावतार भी जो कल्प या युग की आवश्यकता के अनुसार होता है, वह अर्चावतार भी है। जिस अर्चा-मूर्ति मे विश्वासी श्रद्धा-सम्पन्न भक्त भगवान् का आविर्भाव चाहता है, उसमे वे आविर्भूत हो जाते है। पौराणिक धारणा के अनु-सार श्रीकृष्ण पूर्ण षोडश कलावतार माने जाते है।

आधुनिक विचारो के अनुसार महापुरुषो को आगे की सन्तान अवताररूप मे मानने लगती है।

अवतार की उपयोगिता के बारे मे परमहस रामकृष्णदेव कहते हैं—

"जहाज खुद अनायास जाता ही है। साथ-साथ बडे-बडे बोटो को भी खीच ले जाता है। इसी प्रकार जब महापुरुष अवतार लेते है तब वे भी अनायास बद्ध जीवो को खीच ले जाते है।

"बडे-बडे गहतीर जब वहते है तब कितने ही मनुष्य उनपर चढकर चले जाते हैं। वे नही डूबते। पर एक तिनके पर एक कौवा भी बैठे तो वह डूब जाता है। इसी प्रकार जब महापुरुष आते है तो उनका आश्रय लेकर कितने मनुष्य तर जाते हैं।

"रेल का इजन माल से भरी गाडियो को अनायास खीच ले जाता है। ऐसे ही अवतार भी पाप से लदे जीवो को अनायास मुक्ति की ओर खीच ले जाते है।

"जो राजा होता है, उसीकी अमलदारी के सिक्के चलते है। वैसे ही जब जो अवतार होता है तब उसीके आदेश के अनुसार चलना चाहिए। इससे झटपट काम बनता है।"

"प्रलय-काल में मत्स्यावतार लेकर मनु ने पृथिवी और ओषधियो की रक्षा की। वराह-अवतार में जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार करते समय दितिनन्दन हिरण्याक्ष का वध किया, कूर्मावतार में समुद्र-मन्थन के समय मन्दराचल को अपनी पीठ पर धारण किया तथा (हरि-अवतार) में अपनी शरण में आये ग्राहग्रस्त आर्त गजराज का उद्धार किया।" ॥१८॥

"उन्ही भगवान् ने (भिन्न-भिन्न अवतारो में) किसी समय समुद्र में गिरकर स्तुति करते हुए तपस्या से अति क्षीण शरीर ऋषियो को बचाया (अथवा गोष्पद-मात्र जल में डूबते तथा स्तुति करते हुए बालखिल्यादि ऋषियो का उद्धार किया) वृत्रवध के कारण ब्रह्महत्या के भय से छिपे हुए इन्द्र की रक्षा की तथा दानवो के द्वारा बन्दी बनाकर रखी हुई देवताओ की अनाथ स्त्रियो को छुडाया और नृसिह अवतार में सज्जनो को अभय करने के लिए दैत्यराज हिरण्यकश्यप का वध किया।" ॥१९॥

"देवासुर-सग्राम में भगवान् ने देवताओ के लिए दैत्यो का वध करके विभिन्न मन्वन्तरो[1] में अपनी शक्ति से त्रिभुवन की रक्षा की। फिर वामन अवतार लेकर भिक्षा के छल से इस पृथिवी को दैत्यराज बलि से लेकर देवताओ को

---

[1] देखिये परिशिष्ट १२

दिया।" ॥२०॥

"हैहयवश को नष्ट करने के लिए भृगुकुल में अग्निरूप परशुराम अवतार लेकर उन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर दिया। फिर उन्होंने रामावतार में समुद्र का सेतु बाधा और लका के सहित दशशीश रावण का नाश किया।" ॥२१॥

"भूमि का भार उतारने के लिए अब वह ही अजन्मा[२] हरि यदुकुल में श्रीकृष्ण रूप से अवतीर्ण होकर ऐसे अद्भुत कर्म करेंगे जो देवताओ के लिए भी दुष्कर हैं। आगे बुद्धावतार लेकर यज्ञ के अनधिकारियो को अहिंसावाद से मोहित करेंगे और कलियुग के अन्त में कल्कि अवतार लेकर शूद्र-जाति के राजाओ का वध करेंगे।" ॥२२॥

कृष्णावतार के लिए भविष्यत् काल की क्रिया का प्रयोग किया गया है, जिससे सूचित होता है कि भागवत् की रचना रामावतार के वाद व कृष्णावतार के पहले की गई है। इतिहासवेत्ताओ का मत है कि छठी सदी मे गुप्त राजाओ के समय मे हिन्दू-धर्म का पुनरुद्धार करने के लिए सब पुराणो का नवीन सस्करण किया गया था व प्राचीनता की छाप विठाने के लिए भविष्यत् काल की क्रिया का प्रयोग किया गया, क्योकि दशम स्कन्ध मे सारे कृष्णावतार की लीलाए भूतकालिक क्रिया मे ही लिखी गई हैं। ऐतिहासिको का यह भी मत है कि व्यास कई थे। जो भी कथा कहता या पुराण लिखता, वह व्यास कहलाता था। व्यक्ति का नही, वल्कि गद्दी या पद का नाम 'व्यास' था। सम्भव है, भिन्न-भिन्नकालीन कई व्यासो ने मिलकर भागवत् रची हो या उसे वर्तमान रूप दिया हो।

"हे महावाहो, अतुल कीर्ति विश्वनाथ भगवान् हरि के ऐसे ही अनेक जन्म और कर्मों का महात्माओ ने वर्णन किया है।" ॥२३॥

---

[२] देखिये परिशिष्ट १३

: ५ :

# पूजा-विधि

[इस अध्याय मे राजा निमि के शेष दो प्रश्नो का—'भक्तिहीनो की दशा कैसी होती है ?' और 'किस युग मे किस प्रकार भगवान् का पूजन करना चाहिए'— उत्तर क्रमश चमस और करभाजन ने दिया है। जो वर्ण-धर्मानुसार कर्म नही करते है, सुख-स्वार्थ, अभिमान मे ही चूर रहते हैं या जो हिंसात्मक यज्ञ-याग मे ही डूबे रहते है, उनकी दुर्गति बताई गई है। करभाजन ने कहा कि सतयुग मे भगवान् की उपासना शम, दम और तपस्या के द्वारा, त्रेता मे वेद त्रयीरूप कर्म-काण्ड की विधि से, द्वापर मे वैदिक और तान्त्रिक विधि से, अर्चन द्वारा तथा कलि मे सकीर्तन-प्रधान यज्ञो द्वारा की जाती है। कलि मे नाम-सकीर्तन ही सुगमता से मुक्ति दिलाता है और यदि अनुरक्त भक्त से अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो उसके हृदय मे विराजमान् प्रभु उन सबका मार्जन कर देते है। तद्-नुसार इन धर्मो का आचरण करते हुए इधर राजा निमि परमपद को प्राप्त हुए और उधर वसुदेव-देवकी मोह रहित हो गये।]

**राजा ने कहा—"हे आत्मज्ञानियो में श्रेष्ठ मुनिगण, जिनकी कामनाएं शान्त नहीं हुई और इन्द्रियां भी जिनके वश में नहीं है तथा जो प्राय भगवान् हरि का भजन भी नही करते, उनकी क्या गति होती है ?" ॥१॥**

**चमस बोले—"भगवान् आदि पुरुष के मुख, बाहु, जघा और चरणों से सत्वादि गुणो के अनुसार आश्रमो के सहित पृथक्-पृथक् ब्राह्मणादि चार वर्ण उत्पन्न हुए।" ॥२॥**

इस रूपक का मूलाधार "ब्राह्मोऽस्य मुखमासीत् बाहूराजन्य कृत । उरूयदस्य तद् वैश्य पद्भ्या शूद्रो अजायत' पुरुष सूक्त का यह मत्र है। मनुस्मृति मे इसीका अनुवाद किया गया है। "सर्वस्यास्यतु सर्गस्य कर्माण्यकल्पयत्" विष्णु पुराण मे

कहा है—

ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ।
पादोरुवक्षः स्थलतो मुखतश्च समुद्गता. ॥

कई लोग इसका शब्दार्थ लेकर अनर्थ या अवुद्धिगम्य अर्थ करके वृथा वाद-विवाद बढाते हैं व शास्त्रार्थ करते है। इसका भावार्थ तो यह है कि जैसे सारे शरीर मे मुख श्रेष्ठ और ज्ञान स्थानीय है, उसी प्रकार समाज-रूपी शरीर मे ब्राह्मण श्रेष्ठ है, ज्ञान-प्रधान है और उसका स्थान ऊचा है, जिस प्रकार बाहु शरीर की रक्षा मे व भिन्न-भिन्न सत्कार्यों मे काम आती हैं, अत बल की सूचक और महत्त्व-पूर्ण है, उसी तरह समाज मे क्षत्रिय बाहु स्थानीय हैं, समाज की रक्षा, पीडितों का भाव उनका काम है और वे बल या सत्ताप्रधान हैं। जिस प्रकार शरीर जाघो पर खडा रहता है, उसी तरह समाज का पोषण वैश्यो द्वारा होता है, अत वे समाज के स्तम्भ—जघा-स्थानीय हैं और अर्थ-धन-सम्पत्ति-प्रधान हैं, एव जिस तरह पाव शरीर मे दौड-धूप का ही काम करते हैं और सारे शरीर का बोझ उठाते हैं, उसी प्रकार जो शारीरिक श्रम-प्रधान है और जिनकी सेवा पर समाज टिका रहता है, वे पादस्थानीय श्रम-प्रधान शूद्र हैं।

प्रकृति या परमात्मा के—सत्त्व, रज, तम—तीन गुणो के अनुसार मनुष्यो मे भी तीन मुख्य प्रवृत्तिया उत्पन्न हुई। सत्वगुण व्यवस्थिति, नियम, या ज्ञान-प्रकाश प्रधान है। अत समाज मे जो पठन-पाठन प्रिय, धर्म ज्ञान मे रुचि रखने-वाले थे वे सतोगुणी माने गए और ब्राह्मण कहलाये, जो बल-क्रिया-प्रधान थे वे क्षत्रिय, जो सुख-भोगाभिलाषी थे वे वैश्य की श्रेणी मे रखे गये व क्रमश रजोगुणी तमोगुणी कहलाये। जिनमे कोई विशेष प्रवृत्ति, सस्कार या गुणो का प्रादुर्भाव या विकास नहीं दीख पडा, वे 'शूद्र' नाम से सबोधित हुए और शरीर-श्रम-प्रधान गिने गए। यह व्यवस्था सृष्टि की उत्पत्ति होते ही बन गई होगी, ऐसी बात नही है। जब समाज काफी आगे बढ गया है, उसके काम व जटिलता बढने लगी है और कार्य-विभाग करने और कार्य का उत्तरदायित्व भिन्न-भिन्न लोगो पर सौंपे बिना समाज मे व्यवस्था नही रहने लगी होगी व समाज की उन्नति रुक गई होगी तब यह व्यवस्था बनी है। चूकि सब प्रकार की प्रेरणाए मनुष्य को भगवान् के चित्स-मुद्र से ही मिलती हैं और भगवान् का विष्णु-सकल्प—सृष्टि का कल्याण व उन्नति करनेवाला सकल्प—सदा सर्वत्र प्रवर्तित ही रहता है, अत यह व्यवस्था भगवान्

ने बनाई—ऐसा कहने की प्रथा पड गई है। कर्तृत्व का अभिमान खुद न ग्रहण करके परमात्मा को सौंपने की निष्काम भावना ने भी इसमे काफी काम किया है।

चार वर्ण तो समाज की कार्य-व्यवस्था की दृष्टि से हुए। इसके साथ ही व्यक्तिगत जीवन की उन्नति के लिए भी आश्रम-व्यवस्था ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ व सन्यास—चलाई गई। सौ वर्ष की मनुष्य की आयु मानकर पच्चीस-पच्चीस वर्ष के चार विभाग कर दिये, जो मनुष्य-जीवन मे उत्तरोत्तर विकसित होनेवाली चित्तवृत्तियो के अनुशीलन के आधार पर बनाये गए। युवावस्था व कामविकार के परिपुष्ट होने के पहले तक की अवस्था मे 'विद्याध्ययन व शरीर-सवर्धन मुख्य रखा गया। विद्याध्ययन के बिना निर्वाह तथा स्वकर्तव्य-पालन की योग्यता नही प्राप्त हो सकती और शरीर-सवर्धन के बिना गृहस्थ-जीवन का कर्त्तव्य दाम्पत्य-सुख का स्वाद नही ले सकता। इसमे गुरु-सेवा, विनय, ब्रह्मचर्य आवश्यक था। युवावस्था पुष्ट होने पर गृहस्थी का भार-बोझ, ससार-कर्त्तव्य वहन करना उसकी जिम्मेदारी हुई। इस अवस्था मे मनुष्य को ऐसा ही जीवन प्रिय होता है। फिर पच्चीस वर्ष गृह-सुख-भोग व समाज-कार्य करने से जो अनुभव प्राप्त होता है, उससे तथा इधर लडके-बच्चे काम-काज सभालने योग्य व उत्तर-दायित्व के आकाक्षी भी हो जाते है, इसलिए उनपर घर का भार-बोझ रखकर कुछ निश्चिन्तता पाने की वृत्ति उत्पन्न होती है। उत्साह व भावना-प्रधान परन्तु अनुभवहीन किन्तु महत्त्वाकाक्षी लडको-बच्चो से अनुभवी माता-पिता का सघर्ष शुरू होने लगता है। उसको बचाना भी अभीष्ट है। अत युवा-सन्तति को काम करने की अधिक सुविधा व आजादी मिले तथा वृद्धो के अनुभवो से वचित भी न रहे, इस दूरदर्शिता से वानप्रस्थाश्रम का निर्माण हुआ व गृहस्थ तथा समाज-कार्य मे सलाह-सूचना भर देते रहने की जिम्मेदारी वानप्रस्थी की मानी। फिर सन्यास। जब सन्तान बिल्कुल योग्य हो गई, बल्कि वानप्रस्थ की सीमा तक पहुचने लगी तब वृद्ध सलाहकार का स्थान उनके लिए खाली करके खुद केवल परमात्म-चिन्तन व लोक-सेवा मे लग जाय। यह सन्यास-आश्रम की व्यवस्था हुई।

सन्यास-आश्रम मे कर्म-निषेध की व्यवस्था पाई जाती है। परन्तु वहा कर्म-काण्ड से अभिप्राय है, कर्म-मात्र से नही और यदि हो भी तो अब वह समयोपयोगी नही है। सन्यास के मूल मे जो त्याग, निश्चिन्तता व लोकोपकार की भावना है, वही गृहणीय है। समाज की वर्तमान गति-विधि के अनुसार उस भावना का

लौकिक स्वरूप निश्चित होना चाहिए और यह वाह्याचार समाज की आवश्य-कताओ के अनुसार समय-समय पर बदलते रहना भी चाहिए।

इसमे कही भी ऊच-नीच की भावना या घृणा, तिरस्कार के लिए स्थान नही है। परस्पर सहयोग से अपनी तथा समाज की सेवा या उन्नति ही लक्ष्य व अभीष्ट है।

**"इन वर्णाश्रमो मे उत्पन्न जो लोग अपने उत्पत्ति-स्थान आदिनारायण को नहीं भजते अथवा उनका अनादर करते हैं, वे अपने स्थान से भ्रष्ट होकर नीचे गिर जाते हैं।" ॥३॥**

ये वर्णाश्रम यदि अपने-अपने काम करते हुए भी भगवान् को भूल जाते हैं तो उनकी अवोगति हुए बिना नही रहती , क्योकि जबतक मनुष्य सदा-सर्वदा प्रति-क्षण यह याद नही रखता कि भगवान् घट-घट मे रहते हैं, वह हमारे सब मानसिक विकार, विचार व शारीरिक कर्मों को देखते हैं, हमारी कोई बात उनसे छिपी नही रह सकती, जिस कर्म को हम एकान्त मे किया समझते हैं, उसे भी वह जरूर देखते हैं तबतक सुख-भोग, स्वार्थ, अज्ञान, मद, मोह, प्रतिहिंसा, द्वेष के वशीभूत हो उससे नाना प्रकार के कुकर्म होने की आशका व सम्भावना रहती है। दूसरे यदि सबमे भगवद्भाव रखना छोड दे तो उसमे कई उपयोगी गुणो का विकास न हो सकेगा—जैसे आत्मभाव, समता, न्याय, सहयोग आदि। भजने का अभिप्राय यही है कि सदा-सर्वदा उन्हे याद रखें, उनके प्रति आदर व भक्तिभाव रखकर नम्र रहें। व एकमात्र उन्हीके लिए जियें व उन्हीके लिए मरे।

**"हा, जो-कोई हरिकथा अथवा हरिकीर्तन से अनभिज्ञ हैं, वे स्त्री-पुरुष और शूद्रगण तो आप जैसे भगवद्भक्तों की दया के ही पात्र है, अर्थात् उन्हें अज्ञान से निकालकर आप लोगो को भगवद्भजन में प्रवृत्त करना ही चाहिए।" ॥४॥**

ऊपर तो द्विजातियो की, उच्च वर्णवालो की बात हुई। अब अपढ स्त्रियो तथा शूद्रो की क्या गति हो ? वे भगवान् पर श्रद्धा तो रखते हैं, परन्तु उसके स्वरूप व गुण आदि को नही जानते, न वे कथा-कीर्तन की विधि आदि ही जानते हैं। तो जो श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे उन्हे ज्ञान-दान देकर भगवान् का मार्ग बतावें व उसपर चलावे।

**"बहुत-से ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य वेदाध्ययन तथा यज्ञोपवीतादि सस्कारो के कारण हरिचरणो की सन्निधि का अधिकार पाकर भी वैदिक अर्थवाद से मोहित**

हो जाते है ।" ॥५॥

अपढ-कुपढ तो ठीक, विद्वान् और सस्कारवान् द्विजातियो के लोग भी कई बार वेदो के मुख्य अभिप्राय को भूलकर गौण वातो को प्रधान मान लेते है। इससे भगवान् के नजदीक पहुचने की योग्यता रखते हुए भी वे भटक जाते हैं । मुख्य अर्थ को छोडकर अवान्तर बातो को अर्थवाद कहते हैं। किस तरह ? सो अगले श्लोको मे बतलाते है ।

**"कर्म का रहस्य न जाननेवाले तथा उद्धत व मूर्ख होकर भी अपनेको पण्डित माननेवाले वे लोग इस फल-श्रुति की मधुर वाणी से मोहित होकर बड़ी प्रसन्नता से बहुत ही मीठी-मीठी बाते किया करते है ।" ॥६॥**

मुख्य बात को छोड़कर जो गौण बात को ग्रहण करता है, वह पण्डित होकर भी वास्तव मे मूर्ख ही है। वह है तो मूर्ख पर तारीफ यह कि लगाता अपनेको वडा पण्डित है। कर्म का रहस्य तो वह जानता नही, सिर्फ वेदो या पुराणो मे कही गई कर्म-फल की वढिया-बढिया बातो के चक्कर मे आकर फूला फिरता है। वह इतना नही समझता कि स्वर्ग के रमणीय सुख-साधनो आदि की फल-श्रुति तो अज्ञ, अज्ञानियो को कर्म मे प्रवृत्त करने के लिए प्रलोभन-मात्र है ।

**"वे कर्माभिमानी लोग रजोगुण की अधिकता से घोर सकल्पवाले, बड़े कामी, सर्प के समान क्रोधी, पाखण्डी, अभिमानी और पापी होते हैं तथा भगवान् अच्युत के प्रिय भक्तो की हँसी किया करते है ।" ॥७॥**

वे कोई कर्मकाण्ड के अभिमानी हो जाते है और जो सरलता व नम्रता से भगवान् के भजन-पूजन या प्रिय सेवा कार्यों मे लगे रहते है, उनका मजाक उडाते हैं । हिंसात्मक यज्ञ-यागादिक करते रहने से उनके सकल्प भयकर होते है। वे नाना प्रकार की कामनाओ से युक्त होते है। अत उनमे विघ्न पडने से साप की तरह क्रोधित हो काटने दौडते है। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अनेक पाखण्ड रचते है। अपनी सफलताओ पर अभिमान से फूले नही समाते। और इन दुर्वृत्तियों व दुर्गुणो के फलस्वरूप अनेक दुष्कृत्यो के कर्त्ता होकर पापभागी होते है ।

**"वे सभी—लम्पट पुरुष जिनमे प्रधानत मैथुन ही सुख है ऐसे गृहो में आसक्त होकर परस्पर वहां के भोगो की हो चर्चा किया करते है। वे लोग कर्म के रहस्य से अनभिज्ञ होते है तथा अन्नदान, विधि और दक्षिणा से रहित यागादि करते हुए उदर-पूर्ति के लिए पशुओ को मारते रहते है ।" ॥८॥**

निष्काम कर्म या ईश्वर-प्रीत्यर्थ या सेवाभाव से किये कर्म का रहस्य, महत्त्व न जानकर वे लोग हिंसापूर्ण पशु-वलियुक्त यज्ञयागादि कर्म करते रहते हैं। विषय-भोग व गृह-सुख ही उनके जीवन का लक्ष्य होता है और दिन-रात भोग, स्त्री, मैथुन आदि की तथा इनमे लिप्त सभी—पुरुषो की ही चर्चा किया करते है और अच्छे तथा आवश्यक विषयो का ज्ञान भले ही उन्हे न हो, पर इस शास्त्र के वे पण्डित होते हैं और न जाने कहा-कहा मे इस-सम्बन्धी जानकारी वटोर-वटोरकर रखते है।

**"धन-वैभव, अच्छा कुल, विद्या, दान, रूप, बल और कर्म आदि के गर्व से अन्धी वुद्धिवाले विचारशून्य होकर वे दुष्ट भगवान् के सहित भगवद्भक्त महात्माओ का तिरस्कार करते हैं।" ॥९॥**

धन-वैभव आदि स्वत मनुष्य को मदान्ध नही वनाते। मनुष्य की वृत्ति उन्हे अच्छा या वुरा वना देती है। अच्छी भावनावाले इनका सदुपयोग कर इन्हे शक्ति-साधन वना लेते हैं। वुरे विचारवाले इन्हें कुकर्म-साधन वना लेते है।

**विद्या विवादाय धन मदाय। शक्ति परेशा परपीडनाय।**
**खलस्य साधोर्विपरीतमेतत्। ज्ञानाय, दानाय, च रक्षणाय॥**

विद्या, धन और शक्ति खल के हाथ मे पडी तो विवाद, मद और परपीडन के काम आई। साधु के हाथ पडी तो ज्ञान, दान और रक्षण मे लगी। अत चूकि वे कामना वासना-युक्त हो यज्ञादि कर्म करते थे, इन सामग्रियो का उपयोग उनके मद को वढानेवाला हो जाता था, फिर वे ईश्वर-सेवा तो दूर उलटा ईश्वर व उसके सेवको—भक्तो, साधु-सन्तो का तिरस्कार भी करने लग जाते है।

**"क्योकि जो आकाश के समान समस्त देह-धारियो में सर्वदा स्थित और उनके प्रिय आत्मा है, उन वेद-वर्णित भगवान् के विषय में वे अज्ञजन कुछ नहीं सुनते और वातचीत में भी तरह-तरह की कामनाओ की ही चर्चा करते रहते है।" ॥१०॥**

कोई भगवान्, उनके आदेश, उनके मार्ग आदि के वारे मे उनसे कुछ कहते-सुनते भी हैं तो उनसे दूर भागते हैं। कहते हैं—हम वाल-वच्चेदार हैं। अभी खाने-कमाने के दिन हैं। भगवद्भजन के लिए बुढापा अभी दूर है। पहले स्वार्थ, फिर परमार्थ। "भूखे भक्ति न होय गुपाला।"

**"लोक में स्त्री-प्रसग तथा मद्य-मास के सेवन में जीव की स्वभाव से ही सदा**

**प्रवृत्ति है। शास्त्रो मे उनके लिए कोई विधान नही हैं। अत उन्हे क्रमश. विवाह, यज्ञ, और सौत्रामणि यज्ञ में सुराग्रह के द्वारा ग्रहण करने की व्यवस्था है। वास्तव मे इनकी निवृत्ति ही इष्ट है।" ॥११॥**

मनुष्य एक उन्नत पशु ही है। अत· उसमे पशुत्वसूचक कई प्रवृत्तिया देखी जाती हैं। उसने काफी उन्नति की है, फिर भी हिंसा-प्रतिहिंसा, मैथुन की प्रवृत्ति छूटी नही है। बल्कि ऐसा जान पडता है कि मद्य, मास और मैथुन की उसकी प्रवृत्ति मानो स्वाभाविक ही हो गई हो। पशु तो फिर भी आवश्यकतावश ही उन प्रवृत्तियो मे लगते हैं, परन्तु मनुष्य तो इन्हे भोग-विलास के साधन बना लेता है। जव मनुष्य-समाज मगठित होने लगा, गृह और कुटुम्ब की व्यवस्था वनने लगी तब यह अमर्याद मद्य, मास, मैथुन का व्यवहार कैसे चल सकता था? अतः तत्कालीन समाज-व्यवस्थापको ने तरकीब से रोक लगाई। मैथुन की मर्यादा तो विवाह-प्रणाली के द्वारा वाध दी, मास की यज्ञ-प्रसाद के रूप मे ही लेने की छुट्टी रखकर तथा मद्य को सौत्रामणि-यज्ञ मे ही लेने का विधान करके। यह व्यवस्था निवृत्तिपरक है, उत्तेजक नही है।

**"धन का भी एकमात्र फल धर्म ही है, जिससे कि विज्ञान के सहित ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसके पश्चात् शान्ति मिलती है, परन्तु लोग उसका दुरुपयोग घर गिरस्ती के लिए ही करते है और (अपने सिर पर खडी) इस शरीर की दुस्तर मृत्यु को नही देखते।" ॥१२॥**

वैसे तो धन का उपार्जन, रक्षण, दान या उपयोग सब धर्म के लिए—जिससे व्यक्ति व समाज का धारण, पोपण व सत्वसशुद्धि होती रहे ऐसे कामो के लिए—हे, जिससे उसे लौकिक ज्ञान और विज्ञान—पारलौकिक ज्ञान या ईश्वर-प्राप्ति सुलभ हो, एव उसके लिए दु ख, क्लेश का कोई कारण न रहकर शान्ति लाभ हो। परन्तु मूर्ख लोग घर-गिरस्ती के कामो मे ही लगे रहते हैं। असली उद्देश्य को भूल जाते है और उसमे ऐमे वेखबर होकर डूबे रहते हैं मानो ईश्वर के यहां से अमरता का पट्टा लिखा लाये है। सिर पर मौत खडी है, न जाने कब कूच का डका बजने लगेगा, इसको भूल जाते हैं। ऐसे मनुष्य को सावधान करने के लिए ही कहा है—"गृहीतइवकेशेपु मृत्युनाधर्ममाचरेत्"।

**"सोत्रामणि यज्ञ मे मद्य का केवल सूंघ लेना ही विहित है, पीना नहीं। यज्ञादि में पशु के आलभन स्पर्श का विधान है, हिसा करने का नहीं तथा केवल सताानो-**

त्पत्ति के लिए ही स्त्री-प्रसग में प्रवृत्त होना चाहिए, विषय-सुख के कारण नही —इस विशुद्ध धर्म को वे मूर्ख नही जानते ।" ॥१३॥

जैसे-जैसे मनुष्य-समाज मे सभ्यता व दयाभाव बढता गया वैसे-वैसे हिंसा को कम करने की ओर प्रवृत्ति बढती गई। बल्कि यो कहना चाहिए कि असयम से सयम की ओर प्रगति होती गई। पहले स्वच्छन्दतापूर्वक मद्य, मास, मैथुन का उपयोग होता था, पीछे विवाह व यज्ञो के प्रसाद के रूप मे सेवन करने की अनुमति रही। बाद मे केवल स्पर्श करने व सूघने का ही विधान कर दिया गया। पश्चिमी सभ्यता व शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप अब फिर तीनो के बाध टूट रहे हैं। सन्तानोत्पत्ति की मर्यादा की तरफ तो उनका ध्यान गया है, पर वह सयम की दृष्टि से नही, कुटुम्ब का बोझ बढ जाने व रति-सुख मे बाधा पडने के भय से। रहा मद्य-मास, सो इसका तो बोलवाला ही समझिए। हिन्दुओ मे भी अब मास खाने का प्रचार किया जा रहा है और गौ-मास मे भी घृणा हटती जा रही है। हिन्दूधर्म अबतक इसीलिए जीवित है और सदैव जीवित रहेगा, क्योकि इसमे मूल तत्व को सुरक्षित रखकर समाज की आवश्यकतानुसार आचार-धर्म मे परिवर्तन करने की गुजायश रखी गई है। उसका यह सिद्धान्त है कि जगत् परमात्मा से उत्पन्न हुआ है और अन्त मे परमात्मा मे ही लीन होनेवाला है। अत उन्होने ऐसे ही नियम व व्यवस्थादि निर्माण किये है, जो उसे परमात्मा की तरफ ले जाने मे सहायक हो। अनुभव से उन्होने देख लिया है कि सर्वतोमुखी सयम ही—असयम या भोग नही—समाज की लौकिक व पारलौकिक उन्नति का—प्रेय और श्रेय का—साधन बन सकता है। भोग का तत्काल अन्त ही बल, उत्साह की कमी व दूरवर्ती अन्त दु ख निश्चित है। इसके विपरीत सयम मे बल, ओज, तेज, उत्साह की वृद्धि व परिणाम मे सुख की सिद्धि उसी प्रकार निश्चित है, जैसे दिन के पीछे रात व रात के पीछे दिन।

"इस यथार्थ तात्पर्य को न जाननेवाले जो दुष्ट अत्यन्त गर्वीले और अपने में अच्छेपन का अभिमान रखते है तथा किसी लाभ पर विश्वास करके पशुओ से द्रोह करते है, उनके वध किये हुए वे पशु मरकर उन्हींको खाते है।" ॥१४॥

इनके द्वारा यज्ञ मे पशु-बलि या हिंसा का घोर विरोध किया है। यदि इस प्रकार के हिंसा-विरोधी वचन बुद्ध व महावीर काल के बाद के—गुप्तराज्य-काल मे किये गए सस्करण के—भी मान लिये जाय तो भी वे व्यक्ति तथा समाज के

हितकर ही होने के कारण मान्य ही होने चाहिए। कोई वस्तु प्राचीन है या नवीन इसीपर से वह अच्छी या बुरी नही हो सकती। वस्तु की मूल उपयोगिता तथा देश, काल, पात्र के अनुसार उसके लाभालाभ पर विचार करके उसके ग्रहण या त्याग का निश्चय करना चाहिए। मूल सिद्धान्त जैसे सत्य, न्याय, समता या तत्व जैसे आत्मा-परमात्मा ही अपरिवर्तनीय या त्रिकालावाधित हो सकते है। इनके आधार पर जो नियम, नीति, व्यवस्थाए बनाई जायगी, उन्हे तो समय की आवश्यकता के अनुसार वदलना ही पड़ेगा, जैसा कि मनुष्य के वस्त्र अवस्था के मान से छोटे-बड़े बनाये जाते है।

**"इस अवश्य नष्ट होनेवाले शरीर (और एक गिन अवश्य छूट जानेवाले धन) मे स्नेह करके जो अन्य शरीरो मे अवस्थित अपने ही आत्मा भगवान् श्रीहरि से द्वेष करते हैं, वे अवश्य अधोगति को प्राप्त होते है।"** ॥१५॥

इसमे यह सुझाया गया है कि तुम द्वेष किसका करते हो? जिस किसीका तुम द्वेष करते हो, वह कौन है? वह तो ईश्वर का ही दूसरा रूप है, तुम्हारी ही आत्मा है। तुम अपना ही द्वेष कर रहे हो। वह न तो तुमसे भिन्न है, न तुम्हारा हानिकर्ता है। जब हम भेद की सकुचित दृष्टि से देखते है, तो वस्तु के एक ही पहलू पर हमारी दृष्टि रहती है, परन्तु अभेद की उदार दृष्टि से वस्तु का सारा रूप हमारे सामने आ जाता है, तब सब जगह हम अपनेको ही देखते व पाते हैं। तब किसकी हिंसा करें, किसका द्वेष करे? और सो भी इस शरीर के सुख के लिए, जो एक दिन जरूर ही मिट्टी मे मिल जानेवाला है और धन-सग्रह के लिए जो हमारे साथ नही जानेवाला है?

यह याद रखना चाहिए कि शरीर और धन को यहा स्वतन्त्र-रूप से तुच्छ नही वताया है, इनके खातिर दूसरो से द्वेष करने के लिए मना किया है। अपने साथी या पडौसी व्यक्ति से अधिक महत्त्व की या मूल्यवान् ये वस्तुए नही है, जो उनसे द्वेष-कलह करके भी इनकी रक्षा की जाय। इसका यह अर्थ नही है कि कोई अन्याय-अत्याचार से हमारा धन-जन हरण करना चाहे तो चुपचाप ऐसा होने दे। इसका आशय तो यह है कि हम अपने शरीर-सुख या धन-लोभ से दूसरो को न सतावे।

**"जिन्होने (पूर्णबोध के द्वारा) कैवल्य पद को प्राप्त नहीं किया, और न मूढ़ ही हैं, ऐसे अर्थ-धर्म-काम-रूप त्रिवर्ग में फसे हुए पुरुष एक क्षण को भी शाति**

**नहीं पाते और अपने-आप ही अपना सर्वस्व नष्ट कर देते है।" ॥१६॥**

मनुष्य की तीन श्रेणिया हैं—मूढ, कामी व केवली। मूढ श्रेणी मे सर्व-साधारण अपढ अज्ञ लोग आते हैं, जिन्हे धर्माधर्म, नीति-अनीति का विशेष ज्ञान नही होता है, जो सस्कारवश या परम्परागत रूढिवश जीवन व्यतीत करते है। कामी वे हुए, जो अर्थ और काम—कामिनी व काञ्चन—लौकिक सुख-साधन मे फसे रहते हैं और इन्हींकी सिद्धि के लिए धर्म का सहारा लेते या उपयोग करते हैं। तीसरे वे जो इनसे मुक्त होकर केवल आत्मा मे लीन रहते है। ससार को अपना आत्मा समझकर सबसे प्रेम, स्नेह रखते हैं और सबका हित करते रहते हैं। इनमे बीच की श्रेणी के अधिक दु ख पाते हैं। उन्हे एक मिनट भी चैन नही पडती। मूढ श्रेणीवालो मे न तो ऐसी महत्त्वाकाक्षा ही होती है, न उनके ऐसे साधन ही प्राप्त रहते हैं, जिनसे वे दिन-रात चिन्ता व अशान्ति मे डूबे रहे। मिहनत-मजूरी करके कमा खाया व बाल-बच्चो मे सुख से पडे रहे। एक तरह से यह जीवन शान्तिप्रद तो है। किसीने कहा है—उस ज्ञान की अपेक्षा, जिससे दु ख हो, वह अज्ञान जिससे सुख मिले, बेहतर है। इस श्रेणी के लोग खुद तो अधिक दु ख मे नही पडते है, परन्तु दूसरो को भी दु ख मे नही डालते हैं, बल्कि उनकी सेवा व सुख के ही साधन बनते है, किन्तु ये त्रिवर्गी तो न खुद चैन पाते है, न दूसरो को लेने देते हैं। दिन-रात हाय-हाय मे लगे रहते है। यहा भागवतकार को बीच की श्रेणी की दुरावस्था बताना मजूर है, न कि प्रथम श्रेणी की उपादेयता। सुख व शान्ति तो वास्तव मे ज्ञान व सयम मे है, जो तीसरी श्रेणी मे ही पाया जाता है। अत मनुष्य का उद्योग प्रथम दोनो श्रेणियो से निकलकर तीसरी श्रेणी मे आने का होना चाहिए, जिससे मनुष्य के लिए तीसरी श्रेणी सुलभ हो।

**"अज्ञान को ही ज्ञान समझनेवाले ये अशान्तात्मा आत्मघाती लोग काल के द्वारा अपने सम्पूर्ण मनोरथों के नष्ट हो जाने से अकृत-कार्य होकर अत्यन्त दुःख भोगते है।" ॥१७॥**

चूकि ये स्वार्थ-सिद्धि व विषय-भोग मे ही लिप्त रहते हैं, इनके ज्ञान-नेत्र फूट जाते हैं व ऊट-पटाग काम करने लगते है। जैसे भी मिले भले-बुरे साधन, योग्य-अयोग्य व्यक्ति, अच्छी-बुरी पद्धति का अवलम्बन करके वे सुख-भोग जुटाना चाहते हैं, किन्तु ये सब उनके लिए आत्मघातक व अशान्तिकर ही सिद्ध होते है। जहा विवेक नही, तारतम्य नही, सारासार-विचार नहीं, नीति-अनीति का ध्यान

नही, वहा सफलता व शान्ति कैसे मिल सकती है ? थोडे दिन के लिए इनका आभास हो भी जाय तो अन्त को उनके मनोरथ नष्ट होकर ही रहते है और वे असफलता का दु ख भोगते है ।

**"ये भगवद्विरोधी लोग अत्यन्त कष्ट से प्राप्त हुए अपने गृह, पुत्र, मित्र और धन आदि को यही छोड़कर विवश हो घोर अन्धकार (नरक) में पड़ते हैं ।" ॥१८॥**

इस जन्म मे तो दु ख भोगते ही है, पर अगले जन्म मे भी उसके प्रभाव से वे वचित नही रहते । बुराई और पाप का फल मनुष्य का तबतक पीछा नही छोडता जबतक कि वह पूरा-पूरा भुगत न ले । इस जीवन मे फल-भोग बाकी रह गया तो अगले जीवन मे वह भुगतना होगा । 'आप मरे जग डूबा' के अनुसार किसीको निश्चिन्त न रहना चाहिए, बने जहातक दुष्कर्म से बचना चाहिए, फिर भी हो ही जाय तो उसका फल जितनी जल्दी हो भुगत लेना चाहिए । यदि जल्दी न मिलता हो तो चिन्ता होनी चाहिए, जल्दी मिल जाय तो खुशी मनानी चाहिए । दु ख पाप करते समय होना चाहिए । फल भुगतते समय तो हल्कापन ही अनुभव करना चाहिए, मानो कर्ज उतर रहा है ।

**राजा ने कहा—"भगवान् का किस समय (युग में) कैसा वर्ण तथा कैसा स्वरूप होता है और किन-किन नामों और विधियो से उनकी पूजा होती है, यह सब आप वर्णन कीजिये[1] ।" ॥१९॥**

चूकि बाह्याचार—विधि-विधान—समयानुसार परिवर्तनीय होते है, निमि-राजा ने भगवान् की पूजा-विधि आदि के सम्बन्ध मे यह प्रश्न किया । इसका तात्पर्य इतना ही है कि हमारी इष्ट-उपासना के लिए देश-काल के अनुसार कार्य-

---

[1] समर्थ रामदास ने पूजा के चार प्रकार बताये हैं—

१ प्रतिमापूजन, २ अवतारोपासना, ३ अन्तरात्म-भजन, ४ निश्चल ब्रह्मोपासना । इनमे सब प्रकार की पूजा का समावेश हो जाता है ।

सब पूजा एक ही भगवान् को पहुचती हैं—

"जिस प्रकार पर्वतो से निकली हुई नदिया मेघ के जल से भरकर सब ओर से बहती हुई समुद्र ही मे गिरती है, हे प्रभो, उसी प्रकार समस्त उपासना-कार्य अन्त मे आप ही की प्राप्ति कराते हैं ।"

क्रम व रीति-नीति मे परिवर्तन करते रहना उचित है।

**"हे राजन्, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगो में भगवान् भिन्न-भिन्न वर्ण, नाम और रूपवाले होते हैं तथा उनकी पूजा भी भिन्न-भिन्न विधियो से ही होती है।" ।।२०।।**

अर्थात युगानुसार समाज-व्यवस्था, कार्य-प्रणाली भिन्न-भिन्न हो सकती है। भगवान्--मूल सिद्धान्त--तो एक ही है, उसके वाहरी रूप आदि मे ही परिवर्तन होता रहता है।

**"सत्ययुग में भगवान् शुक्लवर्ण चतुर्भुज जटाजूटधारी तथा वल्कल, कृष्ण मृगचर्म यज्ञोपवीत, रुद्राक्ष और दण्ड--कमण्डलु धारण करनेवाले होते हैं।" ।।२१।।**

**"उस समय के शान्त निर्वैर-हृदय और समदर्शी लोग उन भगवान् नारायण की शम, दम और तपस्या के द्वारा उपासना करते हैं। उस समय उनका हस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, मनु, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामों से सकीर्तन किया जाता है।" ।।२२-२३।।**

सत्ययुग सृष्टि का आदि युग है। उसमे स्वभावत ही मनुष्य का जीवन सरल था, न समाज था, न राज्य थे, सारी प्रकृति उसके जीवन के उपयोग के लिए खुली पडी थी। अत उन्हे किसीसे वैर-झगडा करने की जरूरत नही पडती थी। शान्ति से आपस मे मेल-जोल के साथ रहते थे। एक-दूसरे मे समानता का भाव रखते थे। शीत के कारण रग गोरा होता था, लम्बे वाल रखते थे। वल्कल पहनते थे। मृगचर्म आदि विछाते थे। वरतन वनने नही लगे थे, अत काठ के कमण्डलु से ही काम चला लिया करते थे। जैसी मनुष्य-जाति की स्थिति उस समय थी उसीके अनुरूप भगवान् के रूप की कल्पना और उसकी उपासना के साधन थे। समाज शायद वना ही नही था तो उसकी जटिलता और आडम्वर तो हो ही कहा से सकता था? अतएव उपासना-पद्धति भी सीधी और सरल थी। शम--मन की शान्ति, दम--इन्द्रियो का वश मे रखना, तप--परमात्मा की प्राप्ति, दर्शन या इच्छित वस्तु प्राप्त करने के लिए चारो ओर से सयमपूर्वक एकाग्रता।

**"त्रेतायुग में भगवान् रक्तवर्ण, चतुर्भुज, त्रिमेखलाधारी, सुनहले केशोवाले, वेदत्रयी रूप और स्रुक, स्रुवा आदि यज्ञपात्रो से सुशोभित होते हैं। उस समय के धर्मिष्ठ और ब्रह्मचारी पुरुष उन सर्वदेवमय भगवान् हरि का वेदत्रयी रूप**

**कर्मकाण्ड की विधि से पूजन करते है तथा वे विष्णु, यज्ञ, प्रश्निगर्भ, सर्वदेव, पुरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामो से पुकारे जाते है।" ॥२४-२५-२६॥**

यह उस समय का वर्णन है जब समाज बन गया था। उसमे धर्म के विधि-विधान बन चुके थे। तीन वेदो का प्रचार हो गया था। ब्रह्मवाद की स्थापना हो चुकी थी, लेकिन यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड जोरो पर थे। आर्य स्थानान्तर करके अधिक गर्म प्रदेशो मे आ गये थे। उनका गौरवर्ण अब रक्तवर्ण मे परिणत हो चला था। विधि-विधान-मय उपासना-पद्धति प्रचलित हो चुकी थी। श्रम-शौर्य-प्रधान युग था।

**"द्वापर में भगवान् श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, अपने चक्रादि आयुधों से युक्त तथा श्रीवत्सादि शारीरिक चिह्नो से व कौस्तुभादि बाह्य चिह्नो से सुशोभित होते हैं। हे राजन्, इस प्रकार उन छत्रचामरादि राजचिह्नो से युक्त परमपुरुष का वे परमात्मा के जिज्ञासु लोग वैदिक-तान्त्रिक विधि से अर्चन करते है। 'तथा वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एव षडैश्वर्य युक्त आपको प्रणाम है। ऋषिश्रेष्ठ नारायण, महापुरुषवर, विश्वेश्वर, विश्वरूप एवं सर्वभूतात्मा आपको बार-बार प्रणाम है'—इस प्रकार अनेक शास्त्रविधियो से द्वापरयुग में जगदीश्वर की स्तुति करते है। अब कलियुग की सुनिये।" ॥२७-२८-२९-३०-३१॥**

अब लोग समृद्ध होने लगे। अनार्यो से सम्बन्ध स्थापित हो जाने से उनके रग, मुखाकृति आदि मे फर्क पडने लगा। कीमती रेशमी वस्त्र बनने लगे। जीवन-सघर्ष बढने से तरह-तरह के हथियार निर्माण होने लगे थे। रत्नो, मणियो का आविष्कार हो चुका था। कई राज्य स्थापित हो चुके थे, छत्र-चामर आदि मुख्य चिह्न होते थे। उपासना की वैदिक के साथ तान्त्रिक विधि प्रचलित हो गई थी। नाना प्रकार की शास्त्र-व्यवस्थाए व विधिया चल पडी थी। यज्ञ याग की ओर से उदासीनता व पूजा-अर्चा की ओर रुचि हो चली थी। विश्वात्म, सर्वभूतात्म भावो का प्राबल्य हो गया था। इसी आत्मरूप मे भगवान् की स्तुति-स्तोत्र किये जाते थे।

**"उस समय कृष्णवर्ण, कृष्णकान्तिमय, सांगोपांग, तथा आयुध और पार्षदो से युक्त भगवान् कृष्ण की बुद्धिमान् लोग सकीर्तन-प्रधान यज्ञो द्वारा पूजा करते है।" ॥३२॥**

भागवतकार ने हिसा-प्रधान यज्ञो का निषेध करके कलियुग मे सकीर्तन-प्रधान यज्ञो का प्रचार किया है। पाञ्चरात्र या भागवत-धर्मो का प्रचार हो चुका था और भागवतकार को इसी धर्म की महिमा वढाना मजूर था। कलियुग मे समाज का वहुशाख विस्तार हो चुका है। नाना मत-मतान्तर फैल चुके थे। जीवन-सघर्ष भी काफी तीव्र हो गया है। अत परस्पर कलह नित्य ही देखे जाते हैं। वहुत श्रम करने, वहुत समय देने पर भी पेट-पालन वडी कठिनता मे होता है। ऐसी दशा मे श्रम-समय-साध्य पूजा-उपासना कैसे निभ सकती है ? अत सकीर्तन-प्रधान पूजा-अर्चा ही सरल साधन वन गया। यदि उपासना का अर्थ भगवान् मे लौ लगाना ही है, सवकुछ भगवन्-प्रीत्यर्थ करना ही है तो फिर उसके लिए तमाम आडम्वरो की क्या जरूरत है ? नाम-धुन ही काफी है।

आयुधो की पूजा का विधान शायद इसलिए शुरू हुआ हो कि शस्त्रो और औजारो की महिमा कलियुग मे वढ गई व पार्षदो की इसलिए कि विना उनके राजो-महाराजो तक पहुच नही हो सकती। छोटे राजाओ का जव यह हाल तो सर्व-राजेश्वर के यहा भी ऐसा ही तरीका होना चाहिए।

**"तथा इस प्रकार स्तुति करते है—हे शरणागत-पालक, हे महापुरुष, हम आपके चरण-कमलो की वन्दना करते है। जो सदा ध्यान करने योग्य, मायाकृत पराभव (मोह) को हरनेवाले, वाछित फल देनेवाले, तीर्थस्वरूप, शिव व ब्रह्मादि से वन्दित, शरणदायक, सेवको का दु ख दूर करनेवाले एव ससार-समुद्र के लिए जहाजरूप है। हे धर्मात्मन्, हे महापुरुष, पिता (दशरथ) के वचनो से सुरगण-वाछित, दुस्त्यज्य राज्य-वैभव को छोडकर जो वन को चले गए तथा प्रिया (सीताजी) के अभीष्ट कपट-मृग के पीछे दौडे, उन आपके चरण-कमलों की हम वन्दना करते है।" ।।३३-३४।।**

स्तुति-स्तोत्रो मे अक्सर भगवान् के गुण या महिमा या लीला—चरित्र—गाये जाते हैं। ये वहुत भावपूर्ण होते है और लय तथा रागदारी के साथ गाने से मुग्ध कर देते है, जिससे मनुष्य भगवान् मे डूवकर मस्त हो जाता है। सच्चे हृदय से जव ये प्रार्थनाए की जाती हैं तो वे भगवान् की करुणा, मगला, आह्लादिनी आदि शक्तियो को स्पर्श करके जाग्रत करती हैं और उनकी मनोकामना सिद्ध होती है।

**ह्लादिनी, सन्धिनी, सविदाभिधानान्तरगिका।**
**तटस्था वहिरगा च जयन्ति प्रभुशक्तय ।।**

उसकी अनन्त शक्तियो मे ये कुछ है। हम जिस शक्ति को शुद्ध चित्त से व मर्माहत हृदय से पुकारेगे, वही शक्ति उसके उत्तर मे हमारी सहायता के लिए दौड पडेगी। जो परमात्मा मे विश्वास न करते हो, वे भी यदि एक ही विषय या माग का निरन्तर चिन्तन व ध्यान करते रहे तो यह अनुभव करेगे कि उनके उद्देश्य की पूर्ति हो रही है। जिन भावो को हम भगवान् तक पहुचाना चाहते है, वे ही स्तुतियो—भजनो मे व्यक्त किये जाते है। या उन्ही भावो से पूर्ण स्तुति-स्तोत्र, भजन भक्त चुन लेता है। भक्त कभी विनय करता है, तो कभी अपनी दीनता दिखाता है, कभी रूठता है, कभी शिकायत करता है, कभी उलाहना देता है, कभी अपनेको उसके चरणो मे समर्पित कर देता है, कभी मिलन-सुख कभी वियोग-दुख अनुभव करता है। ऐसे अनन्य भाव उसके मन मे उठते है और वह उन्हे भगवान् तक पहुचाता जाता है और पहुचाकर महान् शान्ति, समाधान, कृतार्थता, निश्चिन्तता, अभय का अनुभव करता है।

यो तो मन मे उठनेवाली प्रत्येक तरग एक भाव है। परन्तु भक्ति-पथ मे भगवान् को पाने की अभिलाषा भगवान् के अनुकूल होने की अभिलाषा, या भगवान् मे रुचि होने की स्निग्ध अभिलाषा को भावना या भक्ति कहते है। भाव की ही एक अवस्था को 'रस' कहते है। यह एक अनन्य अखण्ड भावमयी अवस्था है। इसमे जो सुखास्वादन होता है, वही रस कहलाता है। यह भगवान् के 'आनन्द' गुण की झलक दिखाता है। इसीलिए भगवान् को 'रसो वै स' 'रस हेवाय लब्ध्वानदी भवति' कहा है। यही मन्त्र परब्रह्म के सम्बन्ध मे वैष्णवो के सिद्धान्त का बीज है। सम्पूर्ण भागवत-ग्रन्थ इसी बीज का विस्तार है।

यो तो भाव अनन्त है और उनके सन्धान भी असख्य प्रकारो के होते है, फिर भी कुछ भाव स्थायी कहलाते है और कुछ व्यभिचारी। रस मे अन्दर की वस्तु तो है भाव और बाह्य वस्तुए है विभाव तथा अनुभाव। विभावादिको के द्वारा पुष्ट होकर जो स्थायी भाव व्यक्त होता है, वही रस है।

'स एव रसाना रसतम' 'अस्मिता' अर्थात् 'मै हू' इस भावना का अनुभव, आस्वादन, रसन ही रस है। पञ्च इन्द्रियो के पाच विषयो मे मुख्यत जिह्वा के ही विषय को रस कहते है। इसीसे जीभ का नाम 'रसना' पडा है। मानस स्वाद का, बुद्धिपूर्वक विशेष प्रकार के अनुभव का भी सकेतन 'रस' शब्द से ही किया गया है।

'मैं हू' आत्मा का अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही 'आनन्द' है। परमात्मा सब साऽन्त भावो का विद्या द्वारा निषेध करके 'मैं मैं ही हू', 'मैं से अन्य कुछ भी नही है' अनन्त, आनन्द का सदा एकरस, अखण्ड स्वाद लेता है। जीवात्मा अविद्या द्वारा साऽन्त भावो को ओढकर 'मैं वह शरीर हू'—शरीर की सभी अवस्थाओ और क्रियाओ से अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। चाहे वह अवस्था या क्रिया सुखमय हो या दुखमय। 'काममय एवाऽय पुरुष' 'चित्त वै वासनात्मक।' अबुद्धिपूर्वक, अनिच्छापूर्वक, 'स्वाद' नही, किन्तु बुद्धि व इच्छा-पूर्वक 'आस्वादन' की अनुशायिनी चित्तवृत्ति का नाम 'रस' नही, अनुभव का स्मरण, प्रतिसवेदन आस्वादन 'रस' है।

जैसे पारमार्थिक अस्मिताऽनुभव रूपी रस पारमार्थिक 'आनन्द' ब्रह्मानन्द का पर्याय है, वैसे ऐहार्थिक व्यावहारिक अस्मिताऽनुभव रूपी 'रस' लौकिक काव्य-साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाले 'आनन्द' विपयानन्द का पर्याय है। यह आनन्द उस आनन्द की, यह रस, उस रस की छाया है, नकल है।

भाव जब चित्त मे अचल हो जाता है, तब उसे स्थायी भाव कहते है। वैष्णव शास्त्रो के अनुसार 'कृष्णरति' स्थायी भाव है। यह भगवान् की आनन्दमयी शक्ति है, जो जीव के अन्दर सूक्ष्म एव अप्रकट रूप से अवस्थित है। पर है यह सनातन।

काव्य-साहित्य मे ८-९-१० भिन्न-भिन्न सख्या रसो की मानी गई है। किन्तु वैष्णव शास्त्रकारो ने 'रति' अथवा 'स्थायीभाव' के पाच भेद करके उतने ही रस माने हैं—वे हैं—'शान्ति', 'प्रीति', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'प्रियता' या 'माधुर्य'। जब इन पञ्चविध स्थायी भावो का विकास होता है तो इन्हीसे पाच रस उत्पन्न होते है। जो 'शान्त', 'प्रीति', 'सख्य' 'वात्सल्य', 'मधुर' या उज्ज्वल कहलाते हैं।

भगवान् मे निरन्तर अबाध अनुराग होना शान्त भाव है। जब भगवान् के साथ व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब वह विकसित होने पर 'प्रेमाभक्ति' कहलाती है। इसे सामान्यत 'दास्य' रस कहते है। प्रीति रस का स्थायीभाव भक्त की यह सतत भावना है कि मैं भगवान् का अनुग्राह्य हू। इसमे भक्त के चित्त मे हीनता, दीनता, तथा मर्यादा का भाव सदा जाग्रत रहता है। 'सख्य' रस मे एकवर्ण, एकवेश, एक-से ही गुण, एक-से ही पद और एक-सी ही स्थिति के दो मनुष्यो का अपनी गुप्त-से-गुप्त बात को दूसरे से न छिपाना होता है। 'वात्सल्य' रस को 'ममता' भी कहते हैं। इसमे भगवान् भक्त के पुत्र या पुत्र-

वत् होकर रहते है। किन्तु रस की सर्वोच्च परिणति 'मधुर' रस मे होती है। यह अलकार-शास्त्र के शृगार रस का अतीन्द्रिय दिव्य स्वरूप है। लौकिक दाम्पत्य-प्रेम अहकार-मूलक है और भगवत्-सम्बन्धी माधुर्य-प्रेम परसुख-मूलक है। एक की सज्ञा 'काम' है, दूसरा 'प्रेम' कहलाता है। जब मधुर भाव उच्चतम भाव को प्राप्त होता है तो 'महाभाव' कहलाता है। प्रेम बराबर आगे बढता हुआ स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुराग की अवस्था को पार करके अन्त मे महाभाव की चरम सीमा को पहुच जाता है। यही भक्त का परम ध्येय है। यही परास्थिति है।

सभी रसो मे ८ सात्विक भाव होते हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। वात्सल्य मे स्तन्यस्राव ९वा है।

यहा पहले (३३वे) श्लोक मे एक महान् शक्तिशाली महापुरुष के रूप मे तथा दूसरे (३४वे) मे राम-रूप मे भगवान् की स्तुति की गई है। पहले मे एक डूबता हुआ मनुष्य पार होने के लिए भगवान् का पल्ला पकडना चाहता है। दूसरे मे वह राम के त्याग पर मुग्ध हो रहा है।

"इस प्रकार भिन्न-भिन्न युगो के लोग अपने-अपने युग के अनुरूप, वर्ण, नाम और रूपादि से समस्त पुरुषो के अधीश्वर श्रीहरि की पूजा करते हैं।" ॥३५॥

"हे राजन्, गुणज्ञ व सारग्राही सज्जन सबसे अधिक कलियुग को ही प्रिय मानते हैं, जिसमें भगवान् के नाम-संकीर्तन से ही सम्पूर्ण स्वार्थो की सिद्धि हो जाती है।" ॥३६॥

"इस जन्म-मरण के चक्र में पड़कर घूमते हुए प्राणियो का इस (हरिकीर्तन) से बढ़कर और कोई लाभ नहीं है, क्योकि इससे संसार-बन्धन टूट जाता है और परम शान्ति प्राप्त होती है।" ॥३७॥

"हे राजन्, सत्यादि युगो मे रहनेवाले लोग भी इस कलियुग में जन्म लेना चाहते हैं। इस कलि में कितने ही भगवद्भक्त महापुरुष जहा-तहां जन्म लेंगे।" ॥३८॥

'उनमें से अधिकतर द्रविड़ देश में होगे, जहां कि ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, महापवित्र कावेरी, प्रतीची और महानदी आदि नदियां बहती हैं। हे राजन्, जो लोग उन नदियो का जल पीते है, वे प्रायः शुद्धचित्त होकर भगवान् वासुदेव के भक्त हो जाते हैं।" ॥३९-४०॥

द्रविड देश के उल्लेख से सूचित होता है कि रामानुज के बाद का लिखा यह अश है। भक्ति-मार्ग का प्राबल्य, ऐतिहासिक काल मे, तामिल देश (दक्षिण भारत) से शुरू हुआ। वहा के 'आलवार' सन्त भगवान् नारायण के बडे भक्त थे। उन्होने अपनी मातृभाषा तामिल मे भक्ति-रस से परिपूर्ण हजारो कविताओ—गीत, भजनो की रचना की, जिससे भक्ति का बहुत प्रचार वहा हुआ। इनके पद्य वेदमन्त्रो की तरह पवित्र माने जाते है और इन्हे 'तामिल वेद' ही कहते हैं। प्रसिद्ध सस्कृत विद्वान् 'नाथ मुनि' ने तामिल वेद का पुनरुद्धार किया और श्रीरगम् के प्रसिद्ध मन्दिर मे भगवान् के सामने इनके गायन की व्यवस्था की। इन्हीकी परम्परा मे रामानुजाचार्य का जन्म हुआ, जिनके बाद से भक्तिपथ भारतवर्ष मे बहुत फैला। फिर वल्लभाचार्य व चैतन्य महाप्रभु ने इसे और पुष्ट किया। पिछले दो ने 'भागवत' को अपना महान् ग्रन्थ माना है। नाथ मुनि को लगभग १२०० (८२४-९२४ ई०) व रामानुज को कोई १००० (१०३७-११३७ ई०) वर्ष हुए हैं।

**"हे राजन्, जो समस्त कार्यों को छोडकर सम्पूर्ण-रूप से शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण किसीका भी दास अथवा ऋणी नहीं रहता।" ॥४१॥**

यहा यह दिखलाया है कि एक भगवान् की महान् शरण मे हो जाने की आवश्यकता है। दूसरे छोटे-बडे देवी-देवताओं या विभूतियो का पल्ला पकडना आवश्यक नही है। "एकहि साधै सब सधै सब साधै सब जाय। जो तू सीचै मूल को फूले-फलै अघाय।"

देवताओ की व्याख्या पहले की जा चुकी है। ऋषि कहते हैं त्यागशील, तप-प्रवृत्त, सात्विक विद्वानो को। भूतगण भगवान् रुद्र के गण हैं। पितृगण वे कहलाते हैं, जो मृत्यु के पश्चात् दूसरा शरीर धारण करने तक सूक्ष्म शरीर से वायुमण्डल के किसी क्षेत्र मे रहते हैं।

**"अनन्य भाव से अपने चरण-कमलो का ही भजन करनेवाले अपने अनुरक्त भक्त से यदि अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो उसके हृदय में विराजमान प्रभु उन सबका मार्जन कर देते है।" ॥४२॥**

अनन्य भक्त के लिए एक यह भी आश्वासन है कि यदि भूल-चूक मे उससे कोई बुरा काम भी बन पडे तो भगवान् उसे धो डालते हैं। वैसे जिसने अपने-आपको भगवान् के हाथो मे सौंप दिया है—एक ऊचे व पवित्र उद्देश के लिए अपना जीवन

अर्पण कर दिया है, उसके हाथ से जान-बूझकर सहसा बुरा काम क्यो होने लगा ? वह तो सदा चौकन्ना रहकर अपना कर्त्तव्य पालन करेगा। फिर भी भूल से, भ्रम से धोखे से, गफलत से, यदि अचानक कोई निषिद्ध कर्म हो जाय तो भगवान्—जो उसके हृदय मे ही बसते है, जिन्हे कही दूर खोजने नही जाना पडता, 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद' जहा उसे याद किया कि वह हाजिर है—फौरन उसे धो डालते है। कोई जान-बूझकर, वृत्ति बन जाने से जो दुष्कर्म करते हैं, उनमे व अचानक ऐसा कर्म कर बैठनेवाले मे बडा अन्तर है। पिछला फौरन पश्चात्ताप करेगा, अपनी ही निगाह मे अपनेको गिरा हुआ अनुभव करेगा, जिसके फलस्वरूप उसका वह सस्कार उसी समय क्षीण हो जायगा। किन्तु जिसकी वृत्ति ही दूषित बन गई है, जिसे कुकर्म का व्यसन हो गया है, वह उलटा उसे छिपाने की कोशिश करता है। कही से प्रकट हो जाय तो प्रकाशकर्ता पर टूट पडता है, उसके खिलाफ उलटा प्रचार करता है, और इस तरह अपनी पापवृत्ति को और मजबूत बनाता है। किन्तु भगवान् ने तो ऐसो के लिए भी आश्वासन दे रखा है और भागवत-धर्म की यही खूबी है कि वे भी सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करे तो पापो से मुक्त होने का मार्ग पा सकते हैं। भगवान् को तो सच्चा हृदय चाहिए। ढोग, पाखण्ड, बनावट की वहा किसी तरह गुजर नही है।

**नारद बोले—"इस प्रकार भागवत धर्मों को सुनकर उपाध्यायो के सहित मिथिलापति महाराज निमि ने उन जयन्ती-नन्दन—जयन्ती उनकी माता का नाम था—योगीश्वरो का पूजन किया।" ॥४३॥**

**"फिर सब लोगो के देखते-देखते वे सिद्धगण अन्तर्धान हो गये और राजा ने उन धर्मों का आचरण करके अन्त में परमपद प्राप्त किया।" ॥४४॥**

अन्तर्धान का अर्थ है अदृश्य हो जाना। यह एक प्रकार की योग-सिद्धि है, जिसमे सूक्ष्म शरीर—प्राण शरीर—धारण करके अदृश्य हुआ जाता है। जो इसमे विश्वास न करते हो, वे इसका यह भावार्थ ले सकते है कि वे वहा से तुरन्त इस प्रकार चले गए कि फिर एकाएक उनका पता नही चला कि कहा गये।

**"हे महाभाग, वसुदेवजी, तुम भी ससार से असंग रहकर इन सुने हुए भागवत धर्मो में श्रद्धापूर्वक स्थिर होने से परम गति प्राप्त करोगे।" ॥४५॥**

भागवत-धर्म सुन तो लिया, परन्तु इससे पूरा लाभ तभी मिलेगा जब और सब बातो से मन को हटाकर इसीमे सारी शक्ति लगाओगे और दृढतापूर्वक लगाये

रहोगे।

"तुम दोनो स्त्री-पुरुषो के यश से तो सारा ससार भरा हुआ है, क्योकि त्रिलोकीनाथ भगवान् हरि तुम्हारे पुत्र-भाव को प्राप्त हुए है।"[1] ॥४६॥

"भगवान् कृष्ण में पुत्र-स्नेह करते हुए उनको देखने, आलिगन करने, वार्त्तालाप करने, एव साथ-साथ सोने-बैठने और भोजनादि करने से तुम दोनो ने अपने अन्त करण को शुद्ध कर लिया है।" ॥४७॥

महापुरुष या सत्पुरुष के ससर्ग-मात्र से भी मन के मैल कटते हैं। बुरी प्रवृत्तिया अपने-आप दवती हैं। उनके पुण्याचरण का ऐसा प्रभाव होता है। फिर वसुदेव-देवकी को तो अवतारी पुरुष को अपनी गोद मे खिलाने, अपना दूध पिलाने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ था। अत नारदजी कहते है कि उनके ससर्ग से आपके

[1] भागवत मे देवकी श्रीकृष्ण की स्तुति करती है, क्योकि वह उनका असली रूप जानती थी——

"प्रभो, वेदो मे जिस परमार्थ तत्व को सबका आदि कारण बतलाया है, तथा जिसका अव्यक्त ब्रह्म (बृहत्) जो निर्भय, निर्गुण, निर्विकार, सत्तामात्र, निर्विशेष और निरीह कहकर वर्णन किया है, वे बुद्धि आदि के प्रकाशक साक्षात् विष्णु आप ही हैं।"

इस श्लोक के अर्थ की खूबी भी जान लेने योग्य है——

यहा अव्यक्तादि विशेपणो से उत्तरोत्तर परमाणु आदि की कारणता का निषेध करते हुए ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। 'अव्यक्त' कहने से परमाणु का भी बोध होता है, इसलिए 'ब्रह्म' अर्थात् (बृहत्) कहा। 'ब्रह्म' शब्द से प्रकृति भी ग्रहण की जा सकती है, इसलिए 'ज्योति' यानी चेतन कहा। वैशेपिक मतावलम्बियो का माना हुआ ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नादि गुणवाला आत्मा भी चेतन है, इसलिए 'निर्गुण' कहा। इससे मीमासको का ज्ञान-परिणामी आत्मा ग्रहण किया जा सकता है, इसलिए 'निर्विकार' कहा। कुछ लोग आत्मा को निर्विकार मानते हुए भी शक्तियो द्वारा परिणामी मानते हैं। अत 'सत्तामात्र' कहा। नैयायिको का सामान्य भी सत्तामात्र ही है, किन्तु प्रतिपक्षी विशेष के कारण वह सविशेष है, अत उसका भी निषेध करने के लिए 'निर्विशेष' कहा। निर्विशेप होने पर भी जगत् का कारण होने से ब्रह्म सक्रिय होना चाहिए, अत उसकी सक्रियता का वाध करने के लिए 'निरीह' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

चित्त के मल तो यो ही धुल चुके हैं। वह आगे के कदम के लिए तैयार हो चुका है।

**"जब वैर-भाव के कारण शिशुपाल, पौण्ड्र और शाल्वादि राजा लोग सोने, बैठने आदि में भी श्रीकृष्णचन्द्र की गति, चितवन और चेष्टा आदि का ध्यान रहने से ही, तच्चित्त रहने के कारण, उन्हींके समान हो गये तो जो उनके एकमात्र प्रेमी भक्त हैं, उनकी बात ही क्या है ?" ॥४८॥**

शिशुपाल आदि राजा श्रीकृष्ण से वैर रखते थे। अन्त मे उनके हाथो मारे भी गये, किन्तु सद्गति को प्राप्त हुए। इसीकी याद दिलाकर वे कहते हैं कि जबकि शत्रु-भाव से चिन्तन करने पर भी वे कृष्ण-रूप हो गये तो आप लोगो की सद्गति के विषय मे सन्देह ही क्या हो सकता है ? ध्यान की यही महिमा है। यदि किसी वस्तु से या व्यक्ति के छूटने के उद्देश्य से भी उसका बार-बार चिन्तन किया जाय, तो भी वह असर डाले विना नही रहते। ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए यदि कोई निषिद्ध भाव से भी स्त्री का चिन्तन करता रहेगा तो स्त्री-सम्बन्धी विचार आते ही रहेगे। किन्तु यदि किसी और काम मे लग जायगा तो ध्यान छूट जायगा।

**"माया-मानवरूप से जिन्होने अपने ऐश्वर्य को छिपा रखा है, उन परम पुरुष अव्यय और सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण में तुम पुत्र-बुद्धि मत करो।" ॥४९॥**

पुत्र-बुद्धि से एक तो मोह बना रहेगा, दूसरे उनकी महिमा को परखने से वचित रहोगे। ये दोनो बाते अनिष्ट है।

**"भूमि के भारभूत राजवेशधारी असुरों के नाश और सज्जनो की रक्षा के लिए ही अवतार लेनेवाले इन श्रीकृष्णचन्द्र का यश मुक्ति के लिए ही संसार में फैला है।" ॥५०॥**

अनेक अत्याचारी राजाओ को मिटाकर इन्होने सज्जनो को निर्भय किया है। अत. ससार मे मुक्तिदाता के रूप मे इनकी कीर्ति फैला है। आप भी इसी रूप मे इन्हे ग्रहण करे।

**"हे राजन्, यह सुनकर महाभाग वसुदेवजी व परम सौभाग्यवती देवकीजी ने अति विस्मित होकर अपना मोह छोड़ दिया।" ॥५१॥**

**"जो कोई सावधान होकर इस पवित्र इतिहास को स्मरण रखता है, वह इस लोक में मोह का नाश कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हा जाता है।" ॥५२॥**

: ६ :

# उद्धव की चिन्ता

[देवताओ, ऋषियो आदि का एक शिष्ट-मडल श्रीकृष्णचन्द्र के पास आता है। उनकी यथा-योग्य स्तुति करके प्रस्ताव करता है कि अब आपका जीवन-कार्य समाप्त होने पर है, हमारी प्रार्थना पर आपने जन्म धारण करके भूमि का भार उतार दिया, अब आपके परमधाम जाने का समय आ गया है। आप चलकर हम लोकपालो की रक्षा कीजिये। श्रीकृष्ण ने उन्हें आश्वासन दिया कि मैं तो पहले से ही इसकी तैयारी कर रहा था।

तब उन्होने द्वारकावासियो को बुलाकर प्रभास-क्षेत्र चलने की सलाह दी। कहा—"अब द्वारका शीघ्र ही समुद्र-गर्भ मे जानेवाली है। यहा नित्य-नये उत्पात भी होने शुरू हो गये हैं।" सब यादव प्रभास चलने की तैयारी मे जुट गये। उधर श्रीकृष्ण के परम भक्त उद्धव को शका हुई कि भगवान् तो परमधाम को चल देंगे तब मेरा क्या होगा? उसने उनसे अपने साथ ही ले चलने की प्रार्थना की। इस-पर भगवान् ने उसे तरह-तरह से ज्ञानोपदेश किया है। अगले अध्यायो मे इन्हीके सवाद-रूप मे यह ज्ञानामृत पाठको को मिलेगा।]

**श्री शुकदेव बोले—**

**"हे राजन्, एक बार अपने पुत्रो, देवताओ और प्रजापतियो के सहित ब्रह्मा-जी, भूत-गणों से घिरे हुए भूत-भावन भगवान् शकर, मरुद्गणो के सहित देवराज इन्द्र, बारहो आदि, आठो वसु, अश्विनीकुमार, ऋभु, अगिरा, रुद्र, विश्वे-देव, साध्यगण, देवगण, गन्धर्व, अप्सराए, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितृ-गण, विद्याधर और किन्नर—ये सब मिलकर श्रीकृष्णचन्द्र को देखने के लिए द्वारका आये, जिसके द्वारा नरलोक-मनोरम भगवान् ने सम्पूर्ण ससार के मल को हरनेवाला अपना परम पावन सुयश समस्त लोको में फैलाया था।" ॥१-२-३-४॥**

स्व० श्रीमधुसूदनजी ओझा वेद-विज्ञान के बडे पण्डित थे। उन्होंने माना है कि पूर्वोक्त लोको के दो-दो स्वरूप हैं—एक सूक्ष्म, दूसरा स्थूल। सूक्ष्म-रूप मे ये त्रिलोकी मे बिखरी हुई भिन्न-भिन्न शक्तियो के नाम हैं और उन्हींके आधार पर ब्रह्मदेव ने मर्त्य-लोक मे त्रिलोकी बनाई थी और इन्ही नामो के अनुसार जातियों व वर्गों का श्रेणीकरण किया था।

**"वे सब महती समृद्धि से सम्पन्न अत्यन्त देदीप्यमान द्वारकापुरी मे विराज-मान भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की अद्भुत छवि को अतृप्त नेत्रों से निहारने लगे और स्वर्गोद्यान, नन्दनवन में उत्पन्न हुए दिव्य पुष्पो की वर्षा से यदुश्रेष्ठ को आच्छादित करते हुए उन्होने (इस प्रकार) विचित्र पद और अर्थ-युक्त सुललित वाक्यावलि से जगन्नायक भगवान् की स्तुति की। ॥५-६॥**

**"देवगण बोले—'हे नाथ कर्ममय विकट बन्धन से छूटने के इच्छुक भावुक भक्तजन आपके जिन चरणारविंदो का अपने हृदय के भीतर निरन्तर ध्यान करते हैं, उन्हें हम बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वचन से प्रणाम करते हैं।" ॥७॥**

स्तुतियो के रूप मे ज्ञान-विज्ञान तथा तत्त्व-निरूपण करने की प्रथा प्राचीन काल मे बहुत थी। सत्व गुणो की उचित अवसर पर की गई प्रशसा को स्तुति कहते हैं। वह जब अत्युक्तिपूर्ण हो, स्वार्थ-सिद्धि के लिए हो, तो खुशामद कह-लाती है। जहा लोग किसीकी निन्दा करते हो और हमे यह अनुभव हो कि उसके साथ यह अन्याय हो रहा है तो वहा उसकी स्तुति गुणो का बखान करना सर्वथा उचित है, बल्कि आवश्यक है। मुहपर प्रशसा किसी उच्च उद्देश्य से ही करना मुनासिब है। सामने आलोचना या कहिये निन्दा और पीठ पीछे स्तुति, सज्जनता का लक्षण है। मुहपर तारीफ व पीछे निन्दा खलो का काम है।

भगवान् तो निन्दा-स्तुति से परे है। उनकी स्तुति तो हम अपने ही हृदय की शुद्धि, शान्ति, या बल-वृद्धि के लिए करते हैं।

कर्म का बन्धन बडा विकट है। एक कर्म से दूसरे व दूसरे से तीसरे—इस प्रकार कर्मों का ताता लगा ही रहता है। इस जन्म के कर्मो के सस्कार अगले जन्मो में भी कर्मो के बीज बनकर नये कर्म पैदा करते हैं। प्रलय के समय भी ये कर्मो के बीज वासना-रूप मे बाकी रहते है और नई सृष्टि के समय उगकर नये नाम-रूप धारण करते है। इनका ताता तभी टूट सकता है जब इन्हे—बीजो—को भून दिया जाय। भगवान् के चरणो मे सर्वतोभाव से अपनेको अर्पण कर देना, जिससे कर्त्ता-

पन का अभिमान व आसक्ति छूट जाय, कर्म के बीजो को भून डालने की क्रिया है। इसीकी ओर देवताओ ने यहा सकेत किया है।

**"आप अपनी त्रिगुणमयी माया से उसके गुणो में नियन्ता-रूप से स्थित होकर इस अनिर्वचनीय प्रपच की रचना, पालन और सहार किया करते हैं, किन्तु, हे अजित, आप इन कर्मों में लिप्त नहीं होते, क्योकि आप अपने अखड आनन्द में निमग्न और रागादि दोषो से रहित हैं।" ॥८॥**

पहले श्लोक मे बताया है कि भक्त अपने कर्म-बन्धन काटने के लिए आपके चरणो का अपने हृदय मे ध्यान करते है, तो इस श्लोक मे उसका कारण बताया गया है कि आप सृष्टि के उत्पादन, पोषण और सहार जैसे महान् कर्म मे लगे रहने पर भी उसमे लिप्त नही होते, क्योकि एक तो आप किसी स्वार्थ-साधन या विषय-भोग के लिए यह काम नही करते हैं। आप तो अपने आनन्द मे, निज-स्वरूप मे, अपने-आपमे मस्त रहते हैं। आपके सिवा दूसरा कोई है ही नही, तो फिर राग-द्वेष क्यो, व किससे उत्पन्न हो ? यह राग-द्वेष ही तो कर्मों को दूषित व बन्धन-कारक बना देता है। फिर यह जगत् भी आप ही हैं। आपने अपने मे से ही, अपने मनोरजन के लिए कहिये, इसे निर्माण किया है। अत आपकी शरण आना ही कर्म-बन्धन को तोडने का अचूक साधन है।

**"हे सर्वश्रेष्ठ पूज्य प्रभो, जिनके मन मलिन हैं, उन लोगो की विद्या, शास्त्र-श्रवण, स्वाध्याय, दान, तप और क्रिया से वैसी शुद्धि कदापि नही हो सकती जैसी कि आपके परम पावन यश के श्रवण द्वारा पुष्ट एव बढी हुई उत्तम श्रद्धा से सत्पुरुषो की शुद्धि होती है।" ॥९॥**

भागवतकार भक्ति-मार्गी है, अत अन्य साधनो की अपेक्षा भक्ति ही श्रेष्ठ है, यह दिखलाने के लिए दूसरे साधनो को गौण स्थान देते है। इसमे कोई शक नही कि भक्ति सबसे सरल साधन है और सर्व-साधारण के लिए है, परन्तु इसका यह अर्थ न लेना चाहिए कि दूसरे साधनो का दर्जा कम है। असल बात तो यह है कि जिसकी रुचि जिस साधन मे हो वही उसके लिए लाभदायी होता है।

**"हे भगवन्, मुनिगण अपने कल्याण के लिए जिनका प्रेमार्द्र हृदय से पूजन करते हैं, धीर सात्वतगण, वैष्णवगण, अथवा सात्वत-वशी यादव लोग समान वैभव (सालोक्यादि) की प्राप्ति और स्वर्ग के अतिक्रमण के लिए जिन्हें तीनो समय वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार व्यूहो द्वारा पूजते हैं, याजक-**

गण वेदत्रयी द्वारा बताई हुई विधि से अपने संयत हाथों में हविष्य लेकर यज्ञाग्नि में आहुति देते हुए जिनका चिन्तन करते है तथा आपकी माया के जिज्ञासु योगि-जन जिनका अध्यात्म-योग द्वारा ध्यान करते है और जो परम भागवतो के एकमात्र परम इष्ट है, आपके वे चरण-कमल हमारे समस्त अशुभ को भस्म करने के लिए अग्निस्वरूप हो।" ॥१०-११॥

अब वे भक्ति का एक उद्देश्य या फल बताते है। वे कहते है कि हे भगवन्, आपके चरण-कमल हमारे अशुभ आशयो को भस्म करे। भक्ति की खूबी ही यह है कि भक्त भगवान् से धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्र, राज्यैश्वर्य, यहातक कि वाज-वाज तो मुक्ति की भी इच्छा नही रखते। वे केवल यही चाहते हैं कि हमारे मलिन चित्त शुद्ध[1] हो और वे सदा-सर्वदा आपमे ही लगे रहे। बार-बार जन्म-मरण के फेरे भले ही करने पडे, माता के गर्भ मे रक्त-मास खाकर भले ही रहना पडे, पर तुम्हारे चरण न छूटे। तुम्हारी भक्ति हृदय से दूर न हो। 'हरिना नर तो मुक्ति न मागे, मागे जन्मोजन्म अवतार रे।' भक्त बड़े ऊचे दरजे के व्यापारी मालूम होते है। मुक्ति जिनका स्वरूप है, उन्हीको वे चाहते है। उसीको पा लिया तो फिर बाकी क्या रहा?

---

[1] चित्त-शुद्धि, या प्रायश्चित्त या पाप-निवृत्ति के लिए भागवत के नीचे लिखे वचन ध्यान देने योग्य हैं—

"कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तो से पाप-कर्मो का आत्यन्तिक नाश नही हो सकता, क्योंकि उनका अधिकारी अज्ञानी ही है। इसलिए अविद्या का नाश न होने के कारण उससे फिर भी पाप-कर्म होगे ही। अत सच्चा प्रायश्चित्त तो भगवत् स्वरूप का ज्ञान ही है।"

"जो पुरुष केवल पथ्यान्न ही भोजन करता है, उसपर रोगो का आक्रमण नही हो सकता। इसी प्रकार नियमानुसार आचरण करनेवाला पुरुष धीरे-धीरे कल्याण प्राप्त करने मे समर्थ हो जाता है।"

"जिस प्रकार बासो के वन मे प्रकट हुआ दावानल उन्हे जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार धर्मज्ञ और श्रद्धावान् धीर पुरुष तप, ब्रह्मचर्य, शम, दम, दान, सत्य, शौच एव यम और नियम—इन नौ साधनो से अपने मन, वाणी और शरीर द्वारा किये हुए महान् पापो को भी नष्ट कर देते है।

"हे विभो, आपकी कुम्हलायी हुई वनमाला से भगवती श्रीलक्ष्मीजी यद्यपि सौत के समान डाह करती हैं, क्योंकि माला और लक्ष्मीजी दोनों एक ही स्थान—आपके वक्ष.स्थल—में रहती है, तथापि भक्तों का प्रेमोपहार होने के कारण आप इस माला द्वारा किया हुआ अर्चन-पूजन स्वीकार करते ही हैं। ऐसे आपके चरण-कमल हमारे अशुभ को भस्म करने के लिए सदा अग्निस्वरूप हों।" ॥१२॥

इसमे भक्त का पद और ऊचा उठाया है। तुम्हारी यह वनमाला यद्यपि बासी हो चुकी है, तो भी लक्ष्मीजी उससे डाह करती हैं, क्योकि वह तो बासी होने पर भी दिन-रात छाती से लगी रहती है, किन्तु लक्ष्मी के नसीब मे चरण-सेवा ही रही। लेकिन तुम लक्ष्मी[1] के इस विरोधी रुख की परवा न करते हुए भी भक्तों की चढाई वन-माला से ही पूजा ग्रहण कर लेते हो।

"हे भूमन्, वामन अवतार में तीन धाराओ मे बहनेवाली त्रिपथगामिनी श्री गंगाजी जिसकी पताका थीं, तथा जो दानवों को भय और देवताओं को अभय देनेवाला तथा साधुओ को स्वर्ग और दुष्टों को नरक मे ले जानेवाला है, ऐसा आपका वह तीन डगों से युक्त चरण आपको भजनेवाले हम लोगों के पापों का परिशोध करे।" ॥१३॥

इसमे अपने पापो को धोने की प्रार्थना की गई है। गगाजी की तीन धाराएं मानी जाती हैं—स्वर्ग मे मन्दाकिनी, पृथ्वी पर भागीरथी और पाताल मे पाताल-गगा। वामन-अवतार मे भगवान् के तीन डग से इन तीन धाराओ की कल्पना की गई है। गगाजी का जन्म भगवान् के चरणो से होना प्रसिद्ध ही है। तुम्हारे वे चरण भक्तो को अभय-दान देते हैं और अभक्त उससे भयभीत रहते हैं। इसी

---

"कोई-कोई भगवत्परायण पुरुष केवल भक्ति के द्वारा ही अपने सम्पूर्ण पापों को उसी प्रकार सर्वथा ध्वस कर देते हैं जैसे सूर्य कुहरे को नष्ट कर देता है।

"पापी पुरुष अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियो को भगवान् मे लगाकर उनके भक्तो का सग करने से जैसा शुद्ध होता है वैसा तप आदि अन्य उपायो से नही हो सकता।

"मद्य के घडे को जैसे नदिया पवित्र नही कर सकती उसी प्रकार भगवान् से विमुख रहनेवाले पुरुष को उसके किये हुए प्रायश्चित्त शुद्ध नही कर सकते।" (६।१।११ से १६)

[1] देखिये परिशिष्ट १४

तरह साधु-सज्जनो को उच्च गति व दुष्ट दुर्जनो को नीची गति देते है। जब अकेली गगा ही सब पापो को धो डालने मे समर्थ है तो स्वत. भगवान् के चरणो से यह आशा क्यो न रखी जाय ? खासकर तब जबकि हम एकमात्र उसीके पूजक है—जबकि उसीके भरोसे हमने अपनी नाव छोड दी है।

**"काम-क्रोधादि के कारण जिनमें परस्पर संघर्ष हुआ करता है, वे ब्रह्म आदि सम्पूर्ण देहधारी नाक में नथे हुए बैलों के समान जिन कालरूप और प्रकृति-पुरुष से अतीत आपके वशीभूत हैं उन आप पुरुषोत्तम का चरण-कमल हमारा कल्याण करे।" ॥१४॥**

केवल इतना ही बस नही है कि हमारे अशुभ, पाप, भस्म हो। हम तो श्रेय चाहते है और उसका सामर्थ्य अकेले तुम्हीमे है। मामूली देहधारी से लेकर ठेठ ब्रह्मा तक तुम्हारे नचाये नाचते है। नथ जाने पर जैसे पशु सर्वथा अधीन हो जाता है, ससार के बडे-से-बडे शक्तिशाली व्यक्ति वैसे ही तुम्हारे अधीन है। वे आपस मे भले ही लडते रहे, परन्तु तुम्हारे अधीन तो उन्हे होना ही पडता है। अधिक क्या कहू, तुम स्वय काल-रूप हो। प्रकृति और पुरुष से भी परे हो। ये दोनो तुम्हारे ही दो पहलू है। तुम्हारा चेतनाश पुरुष है और क्रियाशक्ति प्रकृति है। जब ऐसे महान् समर्थ का पल्ला मैंने पकड़ा है तब मैं श्रेय से कम किस वस्तु की माग आपसे करू ?

काल का साधारण अर्थ ईश्वर की सहारिणी शक्ति लिया जाता है। समय को भी काल कहते है। मृत्यु को भी काल कहने का रिवाज पड गया है। हमे यहा इसका शास्त्रीय या वैज्ञानिक अर्थ समझ लेना चाहिए। देश मे जब वस्तु या पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति करते हैं तब उसमे जितनी देर लगती है, उसे 'काल' कहते है। यह छोटे-से-छोटा और बडे-से-बडा हो सकता है। एक छोटे-से भुनगे के जन्म व मृत्यु के बीच के थोडे-से फासले—जीवन—से लेकर सारे ब्रह्माण्ड के जन्म व लय तक के बीच के समय को काल ही कहेगे। वस्तु-मात्र गतिशक्ति हैं—चाहे छोटे-से-छोटे अणु हो, या बडे-से-बडे ग्रह, नक्षत्र आदि हो। गति का अर्थ है स्थानान्तर और रूपान्तर। दोनो मे दो सिरे होगे। एक वह जहा से पदार्थ ने गति करना शुरू किया, दूसरा वह जहा गति समाप्त हुई। अत दोनो सिरो का कारण काल माना जाता है। अर्थात् पदार्थ का जन्म व मृत्यु दोनो का कारण काल है। ईश्वर कालरूप है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह इस सृष्टि या ब्रह्माण्ड के

जन्म व मृत्यु का कारण है। हमे काल का परिचय सूर्य के उदय व अस्त से होता है। उसीसे हमने दिन-रात की व वर्ष, मास, दिन आदि की गिनती लगाई है। परन्तु यह हमारा काल तो उस महाकाल का एक अश-मात्र है। जहा सूर्य, चन्द्र आदि की पहुच नही है, या जब इनका भी आविर्भाव नही हुआ था तब भी काल तो था ही। अपने मूल-रूप मे वह अनन्त और अचिन्त्य है। ऋषियो ने उसे अव्यक्त परमात्मा ही कहा है।

हिन्दू ग्रन्थो मे काल की व्याख्या तरह-तरह से की गई है। "कलनात् सर्व-भूतानाम्"—जो सब पदार्थो का कलन या विनाश-साधन करता है, वही काल है। जिसके द्वारा द्रव्य का उपचय वा अपचय सघटित होता है उसे ही हम काल कहते हैं। साख्य के मत से आकाश तत्त्व से काल की उत्पत्ति होती है। नैयायिको के मत से काल नित्य पदार्थ है। 'येन मूर्तीनामुप चयायश्चापचयायश्च लक्ष्यते त काल-माहु ।' काल नित्य व अखण्ड-रूप से खडा रहता है। सूर्य की गति की सहायता से हम काल का विभाग करते हैं। यह कृत्रिम है। काल की रुद्र मूर्ति महाप्रलय की सूचक है। सहार की भैरवी मूर्ति ही काल का रूप है। काल-गर्भ से सारे भूत पदार्थों की उत्पत्ति होती है। काल-गर्भ मे ही सबका लय हो जाता है।

'कालः पचति भूतानि काल सहरति प्रजा.।'
'कालो हि जगदाधार ।'

कालशक्ति-रूप है। शक्ति की सख्या अगणित है। द्रव्य-मात्र शक्ति की ही मूर्ति हैं। इनमे ईश्वर की दो शक्तियो को—माया व काल—ही प्रधान कहा जा सकता है।

'अव्याहता. कलायस्य कलाशक्तिमुपाश्रिता.।
जन्मादयो विकारा षड् भावभेदस्य योनय'॥'

अद्वैत दृष्टि मे कालशक्ति परब्रह्म वा पराशक्ति से अभिन्न है। काल का दूसरा नाम रुद्र या सदाशिव है। पुराणो मे उसे यम भी कहा है। जैनमतानुसार जगत् के समस्त पदार्थ परिणामशील होते हैं। इस परिणमन के साधारण कारण के रूप मे काल की सत्ता मानी जाती है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व—ये पाचो काल के उपकार हैं।—वर्तना, परिणाम, क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य—। काल के विना पदार्थों की स्थिति की कल्पना नही की जा सकती। स्थिति का अर्थ हुआ पदार्थों का अनेक-क्षणव्यापी अवस्थान। काल के अवयवो को

बिना माने स्थिति की कल्पना निराधार ही है। वस्तु का परिणाम काल की सत्ता पर ही अवलम्बित है। कच्चे आम का पक जाना कालजन्य ही है। पूर्वापर क्षण-व्यापिनी क्रियाकाल के ही कारण सम्भव है। ज्येष्ठ तथा कनिष्ठता की कल्पना काल की सिद्धि को प्रमाणभूत बतला रही है। काल का विस्तार नही माना जाता। अत अस्तिकाय द्रव्यो से इस विषय मे वह भिन्न ही है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश मे अणु-रूप काल की सत्ता रत्नो की राशि के समान है। रत्नो के ढेर होने पर भी जिस प्रकार प्रत्येक रत्न पृथक् रूप से विद्यमान् रहते है, उसी प्रकार लोकाकाश मे काल अणुरूप से पृथक्-पृथक् स्थिर रहता है।

काल के दो भेद है—व्यावहारिक व पारमार्थिक। द्रव्यो के परिणाम से अनुमित दण्ड, घटी, आदि अवयव-सम्पन्न काल को व्यावहारिक काल कहते है। पारमार्थिक काल नित्य निरवयव है। वर्तना—पदार्थ की स्थिति—इसका सामान्य लक्षण है। अग व्यावहारिक काल के ही हो सकते है। अतः वह सादि व सान्त है। पर परमार्थिक काल एक अनवच्छिन्न रूप से सतत विद्यमान रहता है।

वैशेषिक दर्शन मे पृथिवी आदि द्रव्यो के समान काल एक पृथक् द्रव्य है। यह कालिक ज्येष्ठत्व व कनिष्ठत्व के द्वारा एव वस्तुद्वय की एककालता, भिन्नकालता, दीर्घकालता तथा अल्पकालता के द्वारा सिद्ध होता है। इसके गुण, सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग और विभाग हैं। यह वस्तुत. एक है। पर उपाधि-भेद से जाना जाता है।

प्राचीन साख्य मे प्रकृति-पुरुष के अतिरिक्त काल भी एक तृतीय पदार्थ माना जाता था—

> 'अनादिर्भगवान कालो नान्तोऽस्ति द्विज विद्यते।
> अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्त सयमः॥' (वि० पु०)
> 'काल—संज्ञा तथा देवी बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रम।
> त्रयोविशति तत्त्वाना गणं युगपदाविशत्॥' (भाग० ३।६।२)

इसी काल के कारण पुरुष के सान्निध्य मे क्षोभ उत्पन्न होना बतलाया जाता था। प्राणियो के कर्मादिको की फलोत्पत्ति का जब काल आता है तब सृष्टि होती है।

रामानुज-मतानुसार सत्वशून्य तत्व काल है।

नयो मे—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन—नित्यत्व को सकुचित करनेवाला तत्व 'काल'

है, जिसके कारण देहादिको से सम्बन्ध होकर जीव अपनेको अनित्य मानने लगता है।

वैदिक मान्यता के अनुसार जब पुरुष-प्रकृति के समन्वय से विश्व-रचना हुई तो पुरुष के काल एव यज्ञ-भेद से दो विवर्त हुए। काल-पुरुष अनादि, व्यापक है। यज्ञ-पुरुष सादि, परिच्छिन्न। व्यापक काल-पुरुष का कुछ प्रदेश परिच्छिन्न होकर यज्ञ-पुरुष कहलाने लगता है। काल-पुरुष सृष्टि का प्रथम प्रवर्तक है। स्वय यज्ञ-पुरुष भी काल-पुरुष का सहारा लेकर विश्वनिर्माण मे समर्थ होता है। उस महा-काल के उदर मे अनन्त विश्व-चक्र भ्रमण कर रहे हैं। मत्र सहिताओ मे 'काल' नाम से प्रसिद्ध तत्व उपनिषदो मे परात्पर नाम से प्रसिद्ध है। सर्वमृत्यु-वन अमृत तत्व का ही नाम परात्पर है। अमृत तत्व सत् है, मृत्यु तत्व असत् है।

'अन्तर मृत्योरमृत मृत्यावमृतमाहितम्।' (शत० १०।५।२)

'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत'।' (ईश०)

के अनुसार दोनो ओत-प्रोत हैं। सदसद्रूप अमृत-मृत्यु की समष्टि ही यह काल पुरुष है।

'अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।
'नैव वा इदमग्रेऽसदासीत् नैव सदासीत्।
आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्।
तस्मादेतद् ऋषिणाऽभ्यनुक्त—नासीदासीन्नो सदासीत्तदानीम्।'
(शत० १०।४।१)

इसी विलक्षण तत्त्व का नाम परात्पर है, और यही काल-पुरुष है। इस असीम परात्पर मे प्रतिक्षण विलक्षणधर्मा माया-बलो का उदय होता रहता है। इनमे शान्त रस अशान्ति से युक्त है। अशान्ति-गर्भित नित्य शान्ति ही उसका स्वरूप है। शान्त अमृत तत्व की अपेक्षा वह सर्वथा कम्प-रहित बिल्कुल स्थिर है। अशान्त मृत्यु-तत्त्व की अपेक्षा वह सर्वथा कम्प-रूप, गति-रूप है। जो माया-बल उस असीम को ससीम बना डालता है, जिसके प्रभाव से वह विश्वातीत विश्वचर और विश्व बन जाता है, जो शक्ति (बल) काल को यज्ञ-रूप मे परिणत कर डालती है, उसी महामाया का नाम प्रकृति है। इसीके समन्वय से वह काल-पुरुष अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से सीमित बनकर कामना के चक्र मे फस जाता है। एक-एक माया से एक-एक विश्वचक्र उत्पन्न होता है। मायाबल अनन्त है, अत विश्वचक्र भी अनन्त है।

अनंत विश्व अधिष्ठाता वह काल-पुरुष नियति-रूप खड्ग हाथ मे लिये सबपर शासन कर रहा है। सात लोक, चौदह भूतसर्ग, सारे विश्वचक्र सब उसीसे उत्पन्न है। सर्वेसर्वा काल-पुरुष के निरूपण मे श्रुति—

'कालो अश्नेव इति सप्तरश्मिः, सहस्राक्षो अजरो भूरिरेतः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा।'
'स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् काल. स ईयते प्रथमोनुदेव.।'
'स एव स भुवनान्याभरत् स एव स भुवनानि पर्यैत्।
पितासन्नभवत् पुत्र एषा तस्माद्वै नान्यत् परमास्ति तेज।
कालोऽम् दिवमजनयत् कालकाले ज्येष्ठ, काले ब्रह्म समाहितम्।
काल प्रजा असृजत्। कालोऽग्ने प्रजामंगिरा देवोऽथर्वा चाधिष्ठित।
इमञ्चलोकं परमञ्चलोकं पुण्यांश्चलोकान् विधृतीश्च पुण्या।
सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणाकालः स ईयते परमोनुदेव—' इत्यादि
(अथर्व सं० १९।६।५३-५४)

काल विश्वाभाव रूप है। वह अनात्मकाम होता हुआ भी काममय बन जाता है। 'एकोऽह बहुस्याम्' यही उस कामना का रूप है। इससे उसमे एक हृदय-बल (केन्द्रशक्ति) उत्पन्न होती है। वही मन है। मन से विश्वरेतभूत (उपादानभूत शुक्र) कामना का उदय होता है। 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेत प्रथम यदासीत्' (ऋग्वेद १०।१२९।४)

भागवत के अनुसार "यह परमात्म तत्त्व ही, जिससे महत् तत्वादि के अभिमानी भेददर्शी प्राणियो को भय लगा रहता है, वह रूप-भेद का आश्रय दिव्य 'काल' कहलाता है। जो सबका आश्रय होने के कारण सम्पूर्ण प्राणियो मे अनुप्रविष्ट होकर पञ्चमहाभूतो द्वारा उनका भक्षण करता है, वह जगत् का शासन करनेवाले ब्रह्मादि का भी प्रभु भगवान् काल ही ये यज्ञ-फलदाता श्रीविष्णु है। इसका कोई भी शत्रु अथवा वन्धु-बान्धव नही हैं। वह सर्वदा सावधान रहकर असावधान प्राणियो पर आक्रमण कर उनका सहार करता रहता है। इसीके भय से वायु चलता है, सूर्य तपता है, मेघ बरसता है, तारागण चमकते हैं, लता और औषधियो के सहित सम्पूर्ण वनस्पतिया समयानुसार फूल व फल धारण करती है। इसीसे बहकर नदिया बहती हैं और समुद्र अपनी मर्यादा से बाहर नही जाता तथा अग्नि प्रज्वलित होती है। पर्वतो के सहित पृथ्वी जल मे नही डूबती। इसीके शासन से

यह आकाश जीवित प्राणियो को श्वास-प्रश्वास के लिए अवकाश देता है। तथा महत् तत्त्व जल आदि सात आवरणो से घिरे हुए अपने शरीर रूप इस ब्रह्माण्ड की रचना करता है। इसीके भय से सत्वादि गुणो के अभिमानी विष्णु आदि देवगण, जिनके अधीन चराचर जगत् है, अपने जगत्-रचना आदि कार्यों मे तत्पर रहते हैं। काल-रूप अनादि किन्तु दूसरो का आदिकर्त्ता और अव्यय है। वह स्वय अनत होकर भी दूसरो का अन्त करनेवाला है। वह पिता से पुत्र की उत्पत्ति करता हुआ जगत् की रचना करता है और मृत्यु के द्वारा मारता हुआ सबका अन्त करने वाला है। (भाग० ३।२६।३७ से ४५)

"सग्रामे वर्तमानाना काल-चोदित कर्मणाम्।
कीर्तिर्जयोऽत्तपो मृत्यु सर्वेषा स्युरनुक्रमात्॥ (८।११।७)
"कालोबलीयान्वलिना भगवानीश्वरोऽव्यय.।
प्रजा. कालयते क्रीडन् पशु-पालो यथापशून्॥(१०-५१।१८)

**"आप ही इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं, क्योंकि शास्त्रो ने आप ही को प्रकृति, पुरुष और महतत्त्व का भी नियन्त्रण करनेवाला काल कहा है। शीत, ग्रीष्म और वर्षारूप तीन नाभियोवाले, गम्भीर वेगवाले कालरूप आप पुरुषोत्तम ही इस सम्पूर्ण ससार का क्षय करने में प्रवृत्त हैं।" ॥१५॥**

इसमे भगवान् के काल-रूप को और विशद किया गया है। वह न केवल विश्व की उत्पत्ति, स्थिति व लय का ही कारण है, वल्कि महत्, प्रकृति और पुरुष तक का भी काल है। वरसात, जाडा व गर्मी रूपी तीन नाभियो से युक्त वह सदा सबके लय मे प्रवृत्त है, सो भी वडी गभीर गति से। भगवान् के इस काल-रूप या मृत्यु का जव वर्णन सुनते हैं तो चित्त मे एक प्रकार का भय उत्पन्न होने लगता है। परन्तु विचार करके देखें तो मृत्यु भी शरीर की वैसी ही स्वाभाविक क्रिया है जैसे कि जन्म। जव हम दिन भर काम करके थक जाते हैं तो रात को सो लेते हैं और सुवह फिर तरोताजा होकर काम मे जुट पडते है। हमारा यह शरीर भी जब जीवन भर के परिश्रम से थक जाता है तो मृत्यु-रूपी नीद लेकर अगली योनि मे फिर नवीन दिन या जीवन शुरू करता है। इस नीद मे चूकि शरीरान्तर हो जाता है, इसलिए पिछले जीवन की स्मृति नष्ट हो जाती है और हम अपनेको नया मान लेते हैं। पुराने लोग भी हमारे नये जन्म का पता न पाने से हमे भूल जाते हैं। हम परस्पर वेगाने हो जाते हैं। इस तरह वास्तविक तथ्य पर जव पहुच जाते हैं

तो मृत्यु न तो भयानक मालूम होनी चाहिए, न अस्वाभाविक ही या अवाञ्च्छनीय ही। मृत व्यक्ति से जो हमारे स्वार्थ, सुख, आनन्द, प्रेम की हानि होती है उसीसे हम उसके वियोग मे रोते-चिल्लाते हैं।

**"आपकी प्रेरणा से ही यह अमोघ-वीर्य पुरुष प्रकृति से संयुक्त होकर महत्तत्व-रूप गर्भ को स्थापित करता है और फिर त्रिगुणमयी माया का अनुसरण करता हुआ वह महत्तत्व ही पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और मनरूप सात आवरणो सहित इस सुवर्ण वर्ण ब्रह्माण्ड की रचना करता है।" ॥१६॥**

हे महाकाल, तुम्हारी ही प्रेरणा से यह अमोघ-वीर्य जीव-पुरुष प्रकृति मे महत्रूपी बीज को स्थापित करता है और वह तुम्हारी त्रिगुणात्मक माया के अनुसार पहले हिरण्यगर्भरूपी महान् अण्डा बनता है। फिर पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार और मन-रूप सात आवरणो को लेकर विराट् रूप धारण करता है। सृष्टि के आदि मे परात्पर पुरुष या पुरुषोत्तम या अव्यय पुरुष अपने-आपमे मग्न, अव्यक्त रूप मे था। उसका वह रूप अचिन्त्य है। जब काल की प्रेरणा हुई तो उस अव्यक्त-शक्ति-समुद्र मे स्पन्दन या कम्प हुआ। यह उसका चिन्त्य रूप समझना चाहिए। कम्प के साथ ही शब्द हुआ, जिससे वेद-वाक्य—साहित्य—की रचना हुई, गति उत्पन्न हुई, जिससे रूप—आकार—बना। इसे महत् तत्त्व समझिये। यह गति पहले वुदवुदाकर—अण्डाकार—हुई जो ब्रह्माण्ड कहलाया। यह व्यक्त रूप हुआ। यह गति दो भागो मे बट गई—एक चेतन व दूसरी जड—अचेतन। दूसरी का नाम प्रकृति हुआ। चेतन ने मन व अहङ्कार रूप से जड मे प्रवेश करके उस वुदबुद—अण्डा—को सजीव बना दिया। इधर जड़ से पञ्च-महाभूत निर्माण हुए, जिनके आश्रय से उस अण्डे ने यह सृष्टि-रूपी बृहत् आकार—विराट् रूप धारण किया। यह अब मूर्त्तरूप हो गया।

यहा हम जीव के स्वरूप को अच्छी तरह समझ ले। वेदान्त-मतानुसार अन्त -करण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है। शकराचार्य की सम्मति मे शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्म-फल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं। जीव की वृत्तिया उभयमुखीन होती है। जब वे वहिर्मुख होती है तो विषयो को प्रकाशित करती है। और जब वे अन्तर्मुखी होती हैं तो 'अह' कर्त्ता को अभिव्यक्त करती है। जीव की उपमा नृत्य-शाला-स्थित दीपक से बडे सुन्दर-रूप से दी जा सकती है। जिस तरह रगस्थल मे दीपक, सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तक को समभाव से

प्रकाशित करता है और इसके अभाव मे स्वत प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहङ्कार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है और इनके अभाव मे स्वत चमकता रहता है। बुद्धि मे चाञ्चल्य होता है। अत बुद्धि से युक्त होने से जीव चञ्चल-सा प्रतीत होता है। वस्तुत वह शान्त है।

वैष्णव तन्त्रानुसार वासुदेव से जीव (सकर्षण) की उत्पत्ति होती है। यह जगत् भगवान् की लीला का विलास है। भगवान् के सकल्प या इच्छा-शक्ति का ही नाम 'सुदर्शन' है, जो अनन्त-रूप होने पर भी प्रधानतया पाच प्रकार का होता है—उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाशकारिणी शक्तिया, निग्रहशक्ति (माया, अविद्या आदि नामधारिणी तिरोधान शक्ति) तथा अनुग्रह शक्ति। जीव स्वभावत सर्व-शक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ होता है, परन्तु सृष्टि-काल मे भगवान् की तिरो-धान-शक्ति जीव के विभुत्व, सर्वशक्तिमत्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है, जिससे जीव क्रमश अणु, किंचित्कर तथा किंचितज्ञ बन जाता है। इन्ही अणुत्व आदि को मल कहते है। इन्हीसे जीव बद्ध बन जाता है और पूर्व कर्मो के अनुसार जाति, आयु तथा भोग की प्राप्ति करता है। इस विकट भव-चक्र मे वह निरतर घूमता रहता है। जीव के क्लेशो को देखकर भगवान् के हृदय मे कृपा का स्वत आविर्भाव होता है, इसीका नाम है अनुग्रहात्मिका शक्ति, जिसे आगम मे 'शक्तिपात' कहते हैं। जीवो की दीन-हीन दशा को देखकर करुणावरुणालय भगवान् का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वह जीवो पर अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं। अब जीव के शुभ-अशुभ कर्म सम होकर फलोत्पादन के प्रति व्यापारहीन हो जाते हैं। जीव इस दशा मे वैराग्य तथा विवेक को प्राप्त कर मोक्ष की ओर स्वत प्रवृत्त हो जाता है।

अद्वैत-मत मे जीव स्वभावत एक है, परन्तु देहादि उपाधियो के कारण वह नाना प्रतीत होता। परन्तु रामानुज-मत मे जीव अनन्त हैं, वे एक-दूसरे से नितान्त पृथक् हैं। देह तथा देही के समान जीव भी ब्रह्म से किसी प्रकार अभिन्न नही है। ब्रह्म से जीव नितान्त भिन्न है। जीव आध्यात्मिक आदि दु खत्रय से पीडित है। ऐसी दशा मे उसकी ब्रह्म के साथ अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है ? ब्रह्म जगत् का कारण तथा करणाधिप (जीव का अधिपति) है। दोनो अज हैं—एक ईश है, दूसरा अनीश, एक प्राज्ञ है, दूसरा अज्ञ। चिनगारी जिस प्रकार अग्नि का अश है, देह देही का अश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अश है। जीव ब्रह्म मे

अंशाशी भाव या विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध है।

माध्वमत मे जीव अज्ञान, मोह, दु ख, भयादि दोषो से युक्त तथा ससारशील होते है। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं—मुक्ति-योग्य, नित्य ससारी और तमोयोग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य रूप से पाच प्रकार के होते हैं। नित्य ससारी जीव सदा सुख-दु ख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीय कर्मानुसार ऊच-नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग नरक तथा भूलोक मे विचरण करता है। इस कोटि के जीव मध्यम मनुष्य कहे जाते हैं और वे कभी मुक्ति नही पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते हैं, जिनमे दैत्य, राक्षस तथा पिशाचो के साथ अधम मनुष्यो की गणना है। ससार मे प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक् बनाये रहता है। वह अन्य जीवो से भिन्न है तथा सर्वज्ञ परमात्मा से तो बिल्कुल भिन्न है। केवल ससार-दशा मे ही जीवो मे तारतम्य नही है, प्रत्युत मुक्तावस्था मे भी वह विद्यमान रहता है।

निम्बार्क-मत मे चित् या जीव ज्ञान-स्वरूप है। इन्द्रियो की सहायता बिना इन्द्रिय-निरपेक्ष जीव विषय के ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ है। जीव ज्ञान का आश्रय ज्ञाता भी है। वह ज्ञान-स्वरूप तथा ज्ञानाश्रव दोनो एक ही काल मे है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान, तथा गुणभूत-ज्ञान यद्यपि ज्ञानाकार की दृष्टि से अभिन्न ही है तथापि इन दोनो मे धर्माधर्मी-भाव से भिन्नता है। जीव कर्त्ता है। मुक्त हो जाने पर भी कर्तृत्व की सत्ता रहती है। जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है। जीव नियम्य है, ईश्वर नियन्ता है। वह ईश्वर के सदा अधीन है। मुक्त दशा मे भी ईश्वर के आश्रित रहता है। जीव परिमाण मे अणु तथा नाना है। वह हरि का अश-रूप अर्थात् शक्ति-रूप है।

वल्लभ-मत मे जब भगवान् को रमण करने की इच्छा होती है तब वे अपने आनन्दादि गुणो के अशो को तिरोहित कर स्वय जीवरूप ग्रहण कर लेते है। इस व्यापार मे क्रीडा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नही रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव मे दीनता उत्पन्न होती है, और यश के तिरोधान से हीनता, श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियो का आस्पद है, ज्ञान के तिरोधान से अनात्म-रूप देहादिको मे आत्मबुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दु ख की प्राप्ति करता है। ब्रह्म से आविर्भूत जीव अग्नि-स्फुलिगवत् नित्य है। वह ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणु-रूप है। भगवान् के अविकृत सदश से जड़ का

| | |
|---|---|
| ६. इसकी मर्यादाए नित्य बदलती रहती है, अत स्वरूप दृष्टि से नही बल्कि विकास अथवा सापेक्ष्य दृष्टि से परिणामी है। | ६ अपरिणामी है और परिणामो का उत्पादक कारण है। |
| ७. 'मैं' रूप मे जाना जाता है। | ७ 'तू' रूप से सम्बोधित होता है। |
| ८. उपासक है। | ८. 'वह' रूप मे जाना जाता है और और इसलिए उपास्य, एष्य, वरेण्य और शरण्य है। |

"आत्मा जब शरीर-परिमित ही प्रतीत होता है तव उसकी अल्पता के कारण वह मेरा (भगवान् का) अश जान पडता है। वायु के कारण समुद्र का जल जब तरगाकार हो उछलता है तो जैसे वह समुद्र का थोडा-सा अश ही दिखाई देता है वैसा ही इस जीवलोक मे मैं (भगवान्) चेतना देनेवाला, देह मे अहन्ता उपजाने-वाला जीव जान पडता हू।"

"जिस प्रकार स्रोत के जल मे एक लाठी या पटरा खडा कर देने से दो भाग मे (जल मे व जल के ऊपर) वह दो दीख पडता है, उसी प्रकार अखण्ड परमात्मा मायारूपी उपाधि द्वारा दो दीख पडता है।

"पानी का बुलवुला जिस तरह जल ही से उठता है, जल ही पर ठहरता है जल ही मे लोप हो जाता है, उसी तरह जीवात्मा व परमात्मा एक ही है। भिन्नता केवल वडे और छोटे की, आश्रय व आश्रित की है।" (ज्ञानेश्वरी)

ऊपर त्रिगुणात्मक 'माया' का जिक्र आया है। अत. यहा माया का स्वरूप भी जान लें तो ठीक रहेगा।

शकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दो का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है। परन्तु परवर्ती दार्शनिको ने इन दोनो शब्दो मे सूक्ष्म-अर्थ-भेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम 'माया' है। मायारहित होने पर परमेश्वर मे प्रवृत्ति नही होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। यह अविद्यात्मिका बीज-शक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है। यह परमेश्वर मे आश्रित होनेवाली महा-सुप्तिरूपिणी है, जिसमे अपने स्वरूप को न जाननेवाले ससारी जीव शयन करते है। अग्नि की दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ब्रह्म की अपृथक्भूता शक्ति है। माया त्रिगुणात्मिका ज्ञान-विरोधी भाव-रूप पदार्थ है, अर्थात् वह अभावरूप नही

है। माया न तो सत् है न असत्; इन दोनो से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। जो पदार्थ सद्रूप से या असद्रूप से वर्णित न किया जा सके उसकी शास्त्रीय सज्ञा 'अनिर्वचनीय' है। माया को सत् कह नही सकते, क्योकि ब्रह्मबोध से उसका बाध होता है। 'सत्' तो त्रिकालाबाधित होता है, अत यदि वह सत् होती तो कभी बाधित नही होती। उसकी प्रतीति होती है, इस दशा मे उसे 'असत्' कहना भी न्याय-सगत नही। क्योकि असद् वस्तु कभी प्रतीयमान नही होती। इस प्रकार माया मे बाधा तथा प्रतीति उभयविध विरुद्ध गुणो का सद्भाव रहने से माया को 'अनिर्वचनीय' ही कहना पडता है। प्रमाण को न सह सकना ही अविद्या का अविद्यात्व है। तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है। सूर्योदय-काल मे अन्धकार की भाति ज्ञानोदय-काल मे माया टिक नही सकती। अत यह भ्रान्ति आलम्बन-हीन तथा सब न्यायो से नितान्त विरोधिनी है। माया विचार को नही सह सकती। इस प्रकार प्रमाणासहिष्णु और विचार-सहिष्णु होने पर भी इस जगत् की उपपत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना युक्ति-युक्त है।

माया की दो शक्तिया होती हैं—आवरण तथा विक्षेप। इन्हीकी सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव-रूप को आवृत्त कर उसमे अवस्तु-रूप जगत् की प्रतीति का उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियो मे भी प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन शक्तियो की नि सदिग्ध सत्ता का अनुभव हुए बिना नही रह सकता। अधिष्ठान के सच्चे रूप को जबतक ढक नही दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना उसपर की नही जाती तबतक भ्रान्ति की उत्पत्ति हो नही सकती। भ्रमोत्पादक जादू के खेल इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ठीक इसके अनुरूप ही भ्रान्ति-स्वरूप माया मे इन दो शक्तियो की उपलब्धि पाई जाती है। आवरण-शक्ति ब्रह्म के शुद्ध-स्वरूप को मानो ढक लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म मे आकाशादि प्रपच को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन विस्तृत आदित्य-मण्डल को आच्छादित-सा कर देता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभवकर्त्ताओ की बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित-सा कर देता है। इसी शक्ति की सज्ञा 'आवरण' है, जो शरीर के भीतर दृष्टा व दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और

सृष्टि के भेद को आवृत्त कर देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान अज्ञानावृत रज्जु मे अपनी शक्ति से सर्पादि की उद्भावना करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा मे इस शक्ति के बल पर आकाशादि जगत्-प्रपच को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का अभिधान विक्षेप है। मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है। चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और उपाधि पक्ष की दृष्टि से वही ब्रह्म उपादान कारण है। अतः ब्रह्म की जगत्-कर्तृता मे माया को ही सर्व-प्रधानतया कारण मानना उचित है।

भागवत मे भगवान् की शक्ति को 'माया' कहा है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—"वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा मे किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश मे एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टि-दोष से दो चन्द्रमा दीख पडते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नही होती, वही माया है।

"सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय, तैसे ही बन्ध और मोक्ष—यह भ्रान्तिजनित आभास है। इस भ्रान्ति का कारण प्रत्यक् चैतन्य मे अज्ञान और ईश्वर-पुरुष मे ज्ञान-पूर्वक उपाधि। अज्ञान या उपाधि ही माया अथवा प्रकृति है। प्रत्यक् चैतन्य एव ईश्वर के भेद की प्रतीति भी मायाकृत आभास ही है। इस माया का स्वरूप अगम्य है। 'है' ऐसा भी नही कह सकते—और 'नही' कहे तो वह प्रतीत होती है। अत. 'अनिर्वचनीय' है। इसका भास अनादिकाल से चला आया है।'

"मायावादी को भी यह तो मानना ही पडता है कि माया मे नियमाधीनता है। जगत् केवल आभास हो तो भी वह अव्यवस्थित आभास नही कहा जा सकता। मायावाद के मूल मे वास्तविक अवलोकन तो इतना ही है कि १. हमको जगत् या देह का भान तभी हो सकता है जब मन का व्यापार चालू हो, २ जगत् हमको कैसा दिखाई देता है, यह हमारी मनोदशा पर भी अवलम्बित है। और इसलिए यह निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि जगत् के पदार्थों को हम जिस नाम-रूप से जानते हैं वही नाम-रूप सचमुच उन पदार्थों के अवश्य ही हैं और ३ मन के मूल मे या जगत् के मूल मे कोई स्थिर तत्त्व यदि हो तो वह सत्ता-मात्र चैतन्य ही है। इस अवलोकन का अर्थ इतना ही हुआ कि जैसे रग व रूप का भान हमे, यदि आखो का व्यापार बन्द हो जाय तो नही हो सकता, उसी तरह हमे अपने अस्तित्व से लेकर जगत् तक के किसी भी पदार्थ या भाव का भान बिना मन के व्यापार के

नही हो सकता। ज्ञाता बनने के लिए मन आवश्यक साधन है। ज्यो-ज्यों मन का व्यापार अधिक विकसित व शुद्ध होता जायगा व उसके द्वारा मिलनेवाला अनुभव अधिक सूक्ष्म और तलस्पर्शी होता जायगा, यहातक कि अन्त को उसके द्वारा अपने तथा जगत् के अस्तित्व के मूल मे स्थित चैतन्य सत्ता को भी ग्रहण कर सकता है।"

"अर्थात् मन की मलिनता, अशुद्धता, अविकसितता को अविद्या या माया या भ्रान्ति कहना चाहिए, शुद्ध, अभ्युदित, विकसित मन की क्रिया को विद्या व प्रतीति या अनुभव को ज्ञान कह सकते हैं।"

"वदली जैसे सूर्य को छिपा देती है, वैसे ही माया ने ईश्वर को छिपा रखा है। वदली हट जाने से जिस प्रकार सूर्य दीख पडता है, माया के दूर होने से उसी प्रकार ईश्वर दीख पडते हैं।"

"माया की पहचान होने पर वह तुरन्त भाग जाती है।"

"ब्रह्म व शक्ति मे भेद नही है। एक के बिना दूसरे को भिन्न नही किया जा सकता। आग व उसकी दाहिका शक्ति व दूध और उसके उजलेपन मे एक के बिना दूसरे को भिन्न नही किया जा सकता।"

"शक्ति के विना केवल ब्रह्म से कोई काम नही होता। जैसे केवल मिट्टी से कोई वस्तु नही वन सकती। मिट्टी मे पानी मिलने पर ही कोई वस्तु बनेगी।"

"ब्रह्म की जिस शक्ति से सृष्टि, स्थिति, प्रलय होता है, उसीका नाम माया है। वह दो प्रकार की है—विद्या-अविद्या। जिसके अन्तर्गत किये हुए कर्मों से जीव ईश्वर की ओर झुकता है, जिसके घेरे में विवेक और वैराग्य की क्रियाए पाई जाती हैं, उसे विद्या-माया कहते है। जहा काम, क्रोध आदि शत्रुओ के कार्य पाये जाते हैं, जिसके घेरे मे किये हुए कामो से जीव ससार मे दिन-दिन वधता जाता है उसे अविद्या-माया कहते हैं। अविद्या-माया के हाथ से छुटकारा पाने के लिए विद्या-माया का आश्रय लेना पडता है। पीछे जव ईश्वर मिल जाता है—ज्ञान होता है तव दोनो ही मायाए चली जाती है। जैसे एक काटा चुभ जाने पर उसको निकालने के लिए एक दूसरे काटे का सहारा लेना पडता है। जव पहला काटा निकल जाता है तो दोनो को फेक देते हैं।"

"विल्ली अपने वच्चो को दात से पकडती है पर दात उन्हे नही गडते। परन्तु वही जव चूहो को पकडती है तो वे मर जाते है। इसी प्रकार माया भक्त को व्रत्ता

लेती व दूसरो को नष्ट कर डालती है।"

"कामिनी व काचन ही माया है। इनके आकर्षण मे पडने से जीव की सब स्वाधीनता चली जाती है। इनके मोह मे पड़कर जीव ससार के वन्धन मे पड़ जाता है।" (परमहसदेव)

ब्रह्म से उलटी माया। निर्गुण-सगुण, अनन्त-सान्त, निर्मल, निश्चल निरुपाधिक—चचल, चपल, उपाधिरूप। यह सब माया से भासता और मिटता है। ब्रह्म इससे भिन्न है। माया उपजती है, मरती है, विकारशील है, ब्रह्म सर्वथा निर्विकारी है। माया सर्वकरी है, ब्रह्म कुछ भी नही करता। धारणा माया तक पहुच सकती है, ब्रह्म तक नही। माया के नाम-रूप, माया पाच भौतिक, ब्रह्म शाश्वत व एक। माया लघु व असार, ब्रह्म विभु व सार। माया इस पार की, ब्रह्म उस पार का। माया ने ब्रह्म को ढक लिया है। साधु-सन्त उसे पहचान लेते है, काई दूर करके साफ पानी लेने, पानी छोड़करदूध ले लेने की तरह।

## ब्रह्म व माया की विशेषताए

| ब्रह्म | माया |
|---|---|
| १. आकाश जैसा निर्मल | १ पृथ्वी जैसी गदली |
| २ सूक्ष्म | २ स्थूल |
| ३ अप्रत्यक्ष (इन्द्रिय-अगोचर) | ३. प्रत्यक्ष (इन्द्रिय-गोचर) |
| ४ सदासम | ४ विषम-रूपी, नानात्व-पूर्ण |
| ५ अलक्ष्य | ५ लक्ष्य |
| ६ असाक्षी | ६ साक्षी |
| ७ पक्ष नही | ७ दो पक्ष—जीव-शिव, वन्ध-मोक्ष, पाप-पुण्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति। |
| ८ सिद्धान्त पक्ष | ८. पूर्व पक्ष (खण्डन-मण्डन) |
| ९ निरन्तर परिपूर्ण | ९. पुरानी गुदडी |
| १० मौन उचित | १० जितना कहो उतना थोड़ा |
| ११ अभग | ११ नाना रूप, नाना रंग, नाना कल्पना, भगशील। |

उपाधि-रहित आकाश को ही निराभास ब्रह्म समझो। उसमे मूल माया उत्पन्न हुई। वह वायुरूप हुई व उसमे तीन गुण तथा पचभूत हुए वायु मे भान, वासना, वृत्ति इत्यादि रूपो मे जगज्ज्योति उर्फ ज्ञान-कला है। आकाश से वायु हुई। वह मुख्यत दो प्रकार की है—एक वह जिसे हवा कहते हैं व दूसरी यह जगज्ज्योति। इस जगज्ज्योति मे ही देव-देवताओ की अनेक मूर्तिया है। वायु मे जो भान है, उसे इच्छा व सकल्प कहते है। परन्तु उसका सम्बन्ध ब्रह्म से नही। ज्ञान-कला को ईश्वर, सर्वेश्वर कहते हैं।

ज्ञान-चैतन्य व वायु इसीको पुरुष-प्रकृति अथवा शिव-शक्ति नाम दिये गए हैं। वायु-शक्ति व ज्ञान या चैतन्य शिव (ईश्वर) ये दोनो एकरूप है। अत मूल माया को अर्धनारी-नटेश्वर कहते हैं। मूल माया के इस ज्ञान-तत्त्व का विस्तार ही यह ब्रह्माण्ड-रूप हुआ है।

निश्चल गगन मे चचल वायु वहने लगी। गगन व वायु मे भेद हे, उसी तरह निश्चल ब्रह्म मे चचल माया-रूपी भ्रम पैदा हुआ। ब्रह्म व भ्रम मे फर्क है। निश्चल ब्रह्म मे—'एकोऽह वहुस्याम्' रूपी जो स्फुरण, इच्छा, आदि-स्फूर्ति, मूल-प्रकृति, मूल माया है वह—अहस्फुरणरूप चेतना—ही ब्रह्माण्ड की महाकारण काया है। जिस तरह पिण्ड के स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण—ये चार देह है उसी तरह ब्रह्माण्ड के विराट्, हिरण्य-गर्भ, अव्याकृत व मूल माया, ये चार देह हैं। इन्हे ईश्वर-तनु-चतुष्टय कहते हैं। अहस्फुरण-रूप चैतन्य या ज्ञान-सत्ता ही मूल माया है। इसके परमेश्वर-वाचक अनन्त नाम है। उसमे नाम, रूप लिग-भेद न होने के कारण कई नाम पुरुषवाचक, कुछ स्त्रीवाचक हैं।

आदि सकल्प ही मूल माया है। उसे षड्गुणैश्वर्य-सम्पन्न कहते है। सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, साक्षी, द्रष्टा, ज्ञानघन, परेश, परमात्मा, जगज्जीवन, मूल पुरुष, ये सव नाम मूल माया के ही है। यह मूल माया ही अधोमुख हो गुण-माया हो जाती है।

इस माया नदी मे ऊपर की तरफ तैरते हुए जाने से उसके उद्गम मे सवकी भेट हो जाती है, क्योकि वही सवका विराम-स्थान है।

"अत, हे हृषीकेश, आप सम्पूर्ण चराचर जगत् के अधीश्वर है, इसीसे माया के गुण-वैषम्य के द्वारा उपस्थित हुए इन समस्त पदार्थों को भोगते हुए भी उनमे लिप्त नहीं होते, जव कि और लोग उनका स्वय त्याग करके भी उनसे डरते रहते

है।" ॥१७॥

इस तरह यद्यपि तुम सारे जड व चेतन के अधीश्वर हो तथापि तुम्हारी खूबी या महिमा यह है कि तुम इस सारे मायाकृत जगत् मे समाये हुए होकर भी माया के गुणो के चक्कर से बचे रहते हो। जीव-रूप से तुम माया-निर्मित सब पदार्थों का भोग करते हो—अपनी इस सारी सृष्टि का आनन्द लेते हो, फिर भी उसमे लिप्त या बँधे नही रहते, जबकि दूसरे लोग इन माया-पदार्थों को त्याग देते है, किन्तु फिर भी डरते रहते हैं कि कही फस न जाय। तुम भोग मे भी नि शक, निर्लिप्त हो। वे त्याग मे भी सशक रहते है।

यहा जीव और ईश्वर का भेद समझाया गया है। यो चेतन व अचेतन, अक्षर व क्षर, दोनो भाग परमात्म-रूप ही है, फिर भी सृष्टि मे जीव, जो चेतनाश है, उसका सीधा व स्पष्ट प्रतिनिधि है। यह जीव जबतक आत्माभिमुखी होता है, अर्थात् यह जानता व समझता रहता है कि मैं परमात्मा हू या उसीका अश हू, अपने प्रारब्ध से या ईश्वर की इच्छा से इस शरीर मे बध गया हू, यह शरीर मेरा असली रूप नही है, सच्चिदानन्दमय परमात्मरूप ही मेरी वास्तविकता है, तबतक वह ईश्वर, मुक्त, स्वतन्त्र है, अविद्या माया के बन्धनो से परे है। जब भोग मे लिप्त हो जाने से, इस असलियत को भूलकर इस शरीर का अभिमान धारण कर लेता है 'शरीर' को 'मैं' या आत्मा समझने लगता है, तब वह जीव-भाव को या बद्ध रूप को प्राप्त होता जाता है। यही अविद्या या माया है। अतः जो जीव ससार का भोग करते हुए भी उससे अलिप्त रहता है वह ईश्वर-रूप है और जो त्यागशील होते हुए भी उसमे आसक्ति रखता है, वह पामर बद्ध रहता है।

भोग करते हुए भी अनासक्त रहने की कला ही वास्तविक योग है। भगवान् ने अर्जुन को गीता मे व यहा उद्धव को बडी खूबी व विस्तार से यही योग बताया है। जो-कुछ करो वह ईश्वरार्पण-बुद्धि से, ईश्वर के ही लिए, करो—अपने लिए कुछ न करो। यदि मिठाई खा रहे हो—उसका स्वाद ले रहे हो—तो समझो कि मिठाई ईश्वर खा रहा है, यह मजा वही ले रहा है, यह शरीर या मुह तो एक मशीन-मात्र है, इसी तरह यदि जहर पीने का मौका आ गया तो उस समय भी नि शक रूप से यही भावना रहनी चाहिए कि इस जहर को पीनेवाला मैं नही, ईश्वर है, यदि मरा तो व जी गया तो वह भी ईश्वर ही है, बल्कि वह मिठाई या जहर भी तो ईश्वर से पृथक् नही है। और मिठाई या जहर देनेवाला भी तो उससे

जुदा नही है। इस तरह सबमे ईश्वर-भावना रखना ही सच्ची भक्ति है। समर्पण, शरण, प्रपत्ति, जो कुछ कहो, है। यही भक्ति का आत्म-निवेदन-रूप है। यही पराभक्ति है।

किसीमे जबतक आसक्ति न हो तबतक ससार के विषय-भोगो से अनासक्ति मुश्किल है। मन का धर्म ही है कि वह किसी-न-किसी विषय से सर्वदा सलग्न रहता है। सब ओर से हटाकर उसे कही-न-कही तो लगाना ही चाहिए। शून्य मे लगाना करोडो मे एक के लिए भले ही सम्भवनीय हो। अत यह युक्ति बताई गई कि भगवान् मे आसक्ति रखो। भक्ति का एक पहलू है ससार के विषय-भोगो से विरक्ति, व दूसरा पहलू है भगवान् मे रति या आसक्ति। तुमको गाने-बजाने का शौक है, तो भगवान् के भजन-कीर्तन मे उसे लगाओ और अपनी उमग पूरी कर लो। बजाय 'प्राकृतजनो' को खुश करने के तुम, इस तरह, ईश्वर को खुश करने में लग जाओ। यदि चित्रकला के शौकीन हो तो ईश्वर के सुन्दर चित्र आलेखो। उसमे न केवल तुम्हारी सौन्दर्य-कामना तृप्त होगी, बल्कि नवीन स्फूर्ति भी मिलेगी। यदि सुन्दर पति चाहिए तो परमात्मा से बढकर—श्रीकृष्ण से अधिक सुन्दर ससार मे कौन मिलेगा? मीरा ने यही तो किया था। वह जहर का प्याला कैसे पी सकी? अपने पति की कैसी सुन्दर झाकी उसने अपने भजनो मे की है? यदि दुर्भाग्य से तुम्हे अपना पति या पत्नी असुन्दर मिल गई है तो तुम भगवान् के सौन्दर्य से उसकी पूर्ति कर लो। सुखी बनने का, मुक्त होने का, स्वतत्र होने का, यही सर्वोत्तम उपाय है।

**"आपकी निर्विकारता का वर्णन कहातक किया जाय? जिनके इन्द्रियग्राम को मन्द मुसकानयुक्त चितवन से प्रदर्शित भावभङ्गीयुक्त भ्रकुटियो से चलाये हुए सुरत-मन्त्र-परिपुष्ट कामबाणो से सोलह सहस्र रमणिया भी बिद्ध नहीं कर सकीं" ॥१८॥**

श्रीकृष्ण-रूप मे भगवान् की अलिप्तता का उदाहरण देते हैं। तुम्हारी सोलह हजार सुन्दरी पत्निया थी।[1] न उनकी मधुर मुसकान, न कटाक्ष-बाण, न भावभगी, न भृकुटि-विलास, और न सुरत-मत्र जैसे काम-बाण ही तुम्हारी इन्द्रियो को चचल कर सके। और प्रकार के मोहो की अपेक्षा काम का मोह बडा प्रबल है।

---

[1]देखिये परिशिष्ट १५

यही मनुष्य की सच्ची परीक्षा है। जो साधक बडी-बडी घाटियो को पार कर जाते हैं या कर गये है वे काम और अभिमान की घाटियो मे जाकर रपट पडे हैं। लेकिन योगेश्वर कृष्णचन्द्र की यही साधना थी कि इतनी रमणियो के रहते हुए भी वे 'जल मे कमलवत्' रहे। उनके मोहपाश मे फसकर अपने किसी कर्त्तव्य को नही छोडा, न उनसे कभी मुह मोडा, न आलस्य या प्रमाद ही किया। जो उपदेश अनासक्ति का उन्होने दिया, उसे खुद अपने जीवन मे चरितार्थ भी कर दिखाया। बात वही है, जो हमारे जीवन मे हो, न कि जो हमारी जबान मे हो। इसका अर्थ यह हुआ कि ससार मे हम जो-कुछ करे वह कर्त्तव्य समझकर—न कि भोग या सुख के अर्थ या उद्देश से। जहा उसमे आनन्द या मजे की भावना हुई कि हम फसे। कर्त्तव्य-पालन मे ही आनन्द या सुख समझने की भावना वास्तविक अनासक्ति है। इससे जीवन का आनन्द व सुख मिलते हुए भी हम उसके दु ख या बन्धन से मुक्त रहेगे। पत्नी के साथ प्रेम किया, कर्त्तव्य समझकर, न कि उसे भोग की सामग्री मानकर, बच्चो को पाला-पोसा, पढाया-लिखाया तो कर्त्तव्य मानकर, न कि अपने भावी सुख की आशा से। मित्रो की सहायता की तो कर्त्तव्य व धर्म समझकर, न कि आगे उपकार होने या बदला पाने की आशा से। समाज-सेवा या देश-सेवा की या किसी गरीब-दुखिया के काम आ गये तो इसलिए नही कि दुआ, पद-प्रतिष्ठा, कीर्ति प्राप्त होगी, बडे या भले कहे जायगे, बल्कि इसलिए कि कर्त्तव्य व धर्म का तकाजा है। ऐसा मनुष्य सबका प्रिय होगा। सबका काम कर देगा व अपने लिए कुछ न चाहेगा। सच पूछिये तो सारा ससार उसे सुख पहुचाने के लिए, उसका प्रिय करने के लिए उत्सुक रहेगा, पर उसे उसकी चाह न होगी। इस कल्पना से या मानसिक अनुभव से ही उसे परम सन्तोष मिल जायगा कि इतने लोग मुझे चाहते है। बल्कि इसपर भी उसकी दृष्टि न रहेगी। इस सत्य को वह देखभर लेगा। और इस एहसास से उसे जितना सन्तोष होगा, उससे अधिक तृप्ति उसे उस समय अनुभव होगी जब वह किसी सत्कार्य के लिए स्वय कुछ कष्ट उठा रहा होगा। मोह-रहित होने का, अनासक्ति का, भक्ति का वास्तविक रहस्य यही है।

"आपके कथामृतरूपी जल के प्रवाह से युक्त आपकी कीर्ति-नदी तथा आपके पाद-प्रक्षालन के जल से उत्पन्न श्रीगगाजी दोनो त्रिलोकी की पापराशि को धोने में समर्थ हैं अत सत्सग-सेवी विवेकी जन श्रवणेन्द्रिय द्वारा आपकी कीर्ति-नदी

में और शरीर द्वारा श्रीगंगाजी में गोता लगाते हुए इन दोनों ही तीर्थों का सेवन करते रहते हैं।" ॥१६॥

इसमे भगवान् के कथामृत की महिमा गाई है। ससार मे दो गगाए हैं—एक तो तुम्हारे चरणोदक से निकली हुई, दूसरी तुम्हारे कथामृत-रूपी। दोनो मे ससार के पाप-मैल नष्ट होते हैं। एक है चरणोदक को वहानेवाली, दूसरी कथामृत को वहानेवाली। भक्त दोनो का सेवन तीर्थ की तरह करते हैं—एक मे नहाकर, दूसरी को अपने कानो से सुनकर। वह गगा एक ही जगह मिलती है, उसका स्थान नियत है। यह कथामृतरूपी गगा अपने घर मे भी बुलाई जा सकती है। यह इसकी विशेषता है।

"श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्, अन्य देवताओ और श्रीमहादेवजी के सहित आकाश में स्थित भगवान् ब्रह्माजी श्रीकृष्णचन्द्र को इस प्रकार स्तुति कर उन्हे प्रणाम करके बोले।" ॥२०॥

"श्रीब्रह्माजी बोले—हे सर्वात्मन् प्रभो, पहले हमने ही आपसे भूमि का भार उतारने के लिए प्रार्थना की थी, सो वह सब कार्य आपने यथोचित रूप से सम्पन्न किया।" ॥२१॥

"आपने सत्यपरायण साधु पुरुषो में धर्म की स्थापना भी कर दी और सम्पूर्ण लोको के मल को हरनेवाली अपनी कीर्ति का भी दशो दिशाओ में विस्तार कर दिया।" ॥२२॥

"आपने यदुकुल में अवतार लेकर इस अनुपम दिव्यस्वरूप को धारण कर जगत् के कल्याण के लिए उदार पराक्रम से युक्त अनेक कार्य किये हैं।" ॥२३॥

"हे भगवन्, आपके जो चरित्र है उनका श्रवण और कीर्तन करनेवाले साधु पुरुष कलियुग में सुगमता से ही अज्ञानान्धकार को पार कर जायगे।" ॥२४॥

कलियुग मे भक्ति-मार्ग ही सुगम व सुसाध्य है। इसकी ओर सकेत किया गया है। खुद भागवत के निर्माण का भी यही हेतु है। (देखिये, इसकी प्रस्तावना)

"हे पुरुषोत्तम, हे प्रभो, आपको यदुवश में आविर्भूत हुए एकसौ पच्चीस वर्ष बीत चुके हैं।" ॥२५॥

'हे सर्वाधार, अब देवताओ का कोई कार्य आपको करने के लिए शेष नहीं रहा और विप्रशाप से आपका यह कुल भी अब नष्ट प्राय हो गया है।" ॥२६॥

"इसलिए यदि आपकी इच्छा हो तो परम-धाम को पधारिये और लोको के

**सहित अपने दास हम लोकपालो का पालन कीजिये।" ॥२७॥**

ब्रह्माजी आदि प्रस्ताव करने आये है कि अब आपका जीवन-कार्य समाप्त हो चुका। अब स्वधाम को पधारिये। महापुरुषो के सामने जीवन-कार्य ही मुख्य होता है। उसीके लिए वे जन्मते है, जीते है और उसीके लिए मरते है। उसके हो जाने पर उन्हे जीने मे लुत्फ नही मालूम होता। इसी तरह सच्चे भक्त या अनुयायी भी वही है, जो ब्रह्मादि की तरह जीवन-कार्य समाप्त होने पर गुरुजनो के सामने 'रिटायर' होने का प्रस्ताव करते हुए नही सकुचाते। श्रीकृष्ण आदर्श महापुरुष थे व उनके भक्त ब्रह्मादि देवता भी आदर्श अनुयायी व सेवक थे। दोनो को ससार मे अधर्म का उच्छेद व धर्म की सस्थापना मजूर थी। उनके सामने कार्यप्रधान था, व्यक्तिगत भावनाए या सम्बन्ध नही। यदि हम सत्य के अनुयायी हैं, जो कि भगवान् के भक्त होने का ही दूसरा नाम है, तो हमे सदैव हरेक के प्रस्ताव व सूचना पर केवल न्याय, सत्य, औचित्य, धर्म की दृष्टि से ही विचार करना होगा। इससे हमारे निजी पद, कीर्ति, प्रतिष्ठा, महत्त्व, धन-सम्पत्ति आदि की हानि होती है या नही, यह विचार सामने न आने देना होगा। सत्य का या भगवान् का मार्ग ग्रहण करते हुए इन सबके प्रति हमारी वृत्ति उदासीन ही रहेगी।

**"श्री भगवान् बोले—हे देवेश्वर, तुम जैसा कहते हो मै भी वैसा ही निश्चय कर चुका हूं। मैने तुम लोगो का सम्पूर्ण कार्य कर दिया और पृथ्वी का भार भी उतार दिया।" ॥२८॥**

श्रीकृष्ण भी ब्रह्मदेव के प्रस्ताव का समर्थन करते है। उन्होने यह खयाल नही किया कि देखो, ये मेरे अनुयायी या सेवक होते हुए भी खुद मेरे ही जीवन से रिटायर होने का प्रस्ताव कर रहे है। ऐसा तुच्छ भाव उन्हे स्पर्श नही कर सकता था। ब्रह्मादि जिस शुद्ध व उच्च भावना से प्रेरित थे, उसको श्रीकृष्ण ने समझ लिया, उसकी कद्र करते हुए उन्होने उसका अनुमोदन ही किया और बोले—

**"यह यादवकुल बल, विक्रम और वैभव से उन्मत्त होकर संसार का ग्रास करना चाहता था, इसे मैने उसी प्रकार रोक रखा है जैसे किनारा महासागर को रोके रहता है।" ॥२९॥**

लेकिन अभी एक काम बाकी रहा है। ये यादव बडे उद्धत हो गये है। मदोन्मत्त होकर मानो ये पृथ्वी को खा ही डालना चाहते है। जैसे किनारा सिन्धु की लहरो को रोक रखता है वैसे ही मैंने इन्हे इस घोर कृत्य मे रोक रखा है। मेरा

यह काम और पूरा हो जाने दो। अगर मैंने जल्दी की और यह अधूरा रह गया तो यह अपने साथ ही पृथ्वी को भी ले डूबेंगे।

"इस उद्धत और बढ़े हुए यदुवंश का विनाश किये बिना यदि मैं चला जाऊंगा तो इस उच्छृंखल समुदाय द्वारा यह समस्त लोक नष्ट हो जायगा।" ॥३०॥

"अब, ब्राह्मणों के शाप से इनका नाश होने ही वाला है, अतः हे ब्रह्मन्, हे निष्पाप मैं भी इसका अन्त होने पर तुम्हारे धाम को जाऊंगा।" ॥३१॥

"श्री शुकदेवजी बोले—विश्वनाथ भगवान् के इस प्रकार कहने पर देवताओं के सहित श्रीब्रह्माजी उनको प्रणाम करके अपने लोक को चले गए।" ॥३२॥

"इसके अनन्तर, द्वारकापुरी में नित्य नये महान् उत्पात होते देखकर अपने पास आये हुए बड़े-बूढ़ों से भगवान् ने कहा।" ॥३३॥

"श्री भगवान् बोले—आजकल यहां सब ओर से ये बड़े-बड़े उत्पात होते रहते हैं और हमारे कुल को ब्राह्मणों का दुस्तर शाप भी लगा हुआ है। अतः, हे आर्यगण, यदि हम जीना चाहते हो तो मेरी सम्मति में अब हमको यहां नहीं रहना चाहिए। आओ, अब अधिक विलम्ब न करके आज ही परम पवित्र प्रभासक्षेत्र को चलें, जिसमें स्नान करने से चन्द्रमा दक्षप्रजापति के शाप से प्राप्त हुए क्षयरोग से मुक्त हो गये थे और दोषमुक्त हो जाने के कारण उनकी कलाएं फिर बढ़ने लगी थी। हम भी उसीमें स्नान करके पितरों और देवताओं का तर्पण करेंगे और उत्साहपूर्वक नाना सुस्वादु व्यंजनों से उत्तम ब्राह्मणों को भोजन करावेंगे। इस क्षेत्र में श्रद्धापूर्वक सत्पात्र को दान देकर हम उस दान के द्वारा इन महान् संकटों को उसी प्रकार पार कर जायंगे जैसे लोग सुदृढ़ नौका में बैठकर समुद्र के पार हो जाते हैं।" ॥३४-३८॥

उधर ब्रह्मदेव गये, इधर द्वारका में नित-नये उत्पात होने लगे। तब श्रीकृष्ण ने जो बड़े दूरदर्शी व व्यवहारकुशल थे, बड़े-बूढ़ों से कहा—बुद्धिमानी इसीमें है कि हम अब प्रभासक्षेत्र को चले चलें, द्वारका अब रहने लायक नहीं रह गई। ये नालायक यदुवंशी अब इसे तहस-नहस करनेवाले हैं। अच्छा हो कि हम तीर्थ में चलकर दान-धर्मादि ऐसे शुभ कृत्य करें, जिनसे इन संकटों से पार पा सकें। भूखों व सुपात्रों को भोजन व दान महान् पुण्य माना गया है। वैसे ही कु-पात्रों को दान—"मा प्रयच्छेश्वरे धनम्"—हानिकर है। कुपात्र स्वयं उसका दुरुपयोग करता है, जिसकी जिम्मेवारी से दाता बच नहीं सकता। एक मत यह है कि जो

हमारे दरवाजे मागने आ गया, उसकी पात्रता का इससे बढकर प्रमाण क्या है ? और हम पात्रता को देखनेवाले भी कौन होते है ? जो आ गया, जिसने हाथ पसार दिये, उसे नारायण समझकर ही दे देना चाहिए। मगर धर्मशास्त्रो मे तथा श्रीकृष्ण ने हमेशा सत्पात्र को ही दान देने का उपदेश किया है। इस मत-भेद का कारण यहा समझ ले तो अच्छा होगा।

मनुष्य की तीन भूमिका होती है—पहली भेद-भाव की अथवा स्वार्थयुक्त। दूसरी विवेक की अथवा न्याय-युक्त और तीसरी अद्वैत की अथवा अध्यात्म की। पहली भूमिकावाले दान-धर्म मे मावजा पाने की आशा रखते है। दूसरी भूमिका-वाले सामनेवाले की आवश्यकता देखकर दान देते है और मेरी समझ से तीसरी भूमिकावाले सबको नारायण समझकर ही व्यवहार करते हैं। अत सम्भवत पात्रापात्र का विचार उन्हे अग्राह्य हो। पहली भूमिका के लोगो को दूसरी मे ले जाने के व दूसरी भूमिकावालो को पहली मे न गिरने देने के उद्देश से पात्र को देखकर दान देने का विधान किया गया है।

"श्री शुकदेवजी बोले—हे कुरुकुलनन्दन राजा परीक्षित, भगवान् का ऐसा आदेश होने पर प्रभासतीर्थ को जाने के लिए यादव लोग अपने रथ आदि सजाने लगे।" ॥३९॥

"यह सब तैयारिया देखकर, भगवान् की आज्ञा सुनकर और नित्यप्रति के अनिष्टसूचक उत्पात देखकर श्रीकृष्णचन्द्र के अनुगत भक्त उद्धवजी एकान्त में जा जगत् के ईश्वर भगवान कृष्ण के चरणो पर शिर रखकर प्रणाम करने के अनन्तर हाथ जोडकर उनसे कहने लगे।" ॥४०-४१॥

"उद्धवजी बोले—जिनके सुयश का श्रवण और कीर्तन परम पवित्र है, ऐसे हे देवदेवेश्वर, हे योगेश्वर, आपने समर्थ होकर भी जो ब्राह्मणो के शाप का प्रति-कार नहीं किया, इससे हे प्रभो, प्रतीत होता है कि इस कुल का संहार करके आप भी इस लोक को अवश्य छोड देगे।" ॥४२॥

"हे केशव, मै तो आपके चरण-कमलो को आधे क्षण के लिए भी छोडना नहीं चाहता, अत हे नाथ, मुझे भी अपने साथ अपने धाम को ले चलिये।" ॥४३॥

श्रीकृष्ण का ऐसा आदेश पाकर जब सब यादव प्रभास जाने की तैयारी में अपने-अपने रथादि सजाने लगे तब परम भगवद्भक्त उद्धव को चिन्ता हुई व उन्होने अकेले मे श्रीकृष्ण से प्रार्थना की। भगवन् ! मुझको यहा अकेला छोडकर

आप स्वधाम को न सिधारे। मुझे भी अपने साथ ले चले। भक्तो के दो प्रकार होते हैं—एक तो वे जिन्हे भगवान् या इष्टदेव की समीपता के सिवा, उनकी प्रत्यक्ष सेवा के सिवा सन्तोष नही मिलता। दूसरे वे जिन्हे उनका कार्य अधिक प्रिय होता है। उस कार्य-सिद्धि के लिए उन्हे जहा-कही रहना पडे व जो-कुछ करना पडे, उसमे उन्हे कोई उज्र नही होता। बल्कि उसीमे वे आनन्द व सुख मान-कर कृतकृत्य होते हैं। पहले की प्रारम्भिक व दूसरे की आगे की भूमिका समझनी चाहिए।

**"हे कृष्ण, आपकी क्रीडाए मनुष्यो का परम-मगल करनेवाली हैं, उस कर्णा-मृत का पान करके आपका भक्त अन्य समस्त इच्छाओ को त्याग देता है।" ॥४४॥**

उद्धव ने कहा कि मैं इसलिए आपके साथ ही रहना चाहता हू कि जिससे आपकी लीलाए—चरित्र देख-देखकर व सुन-सुनकर मोद-मगल को प्राप्त करू। एव अपने मन की सिवा आपके दूसरी सब इच्छाओ को छोड सकू। क्योकि इस प्रकार नि स्पृह बनाने का सामर्थ्य अकेले आपमे, आपके सान्निध्य मे ही है।

**"सोने, बैठने, घूमने, घर में रहने और स्नान, क्रीडा तथा भोजन करने आदि समस्त व्यापारो में निरन्तर आपके साथ रहनेवाले आपके प्रेमी भक्त हम लोग अपने प्रिय आत्मा-रूप आपको कैसे छोड सकेंगे।" ॥४५॥**

**"आपकी भोगी हुई माला, चन्दन, वस्त्र और अलकारों को धारण करने तथा आपका उच्छिष्ट (जूठन) भोजन करनेवाले हम आपके दास आपकी माया को अवश्य जीत लेंगे।" ॥४६॥**

फिर वे दलील देते हैं कि जो आपके साथ सदा-सर्वदा रहते है वे हम आपके भक्त अब आपको छोडकर कैसे रह सकेंगे ? क्योकि हम तो नित्य आपकी पहनी माला पहनते हैं, आपकी जूठन खाते हैं और इस तरह आशा रखते है कि आपकी सेवा से आपकी दुस्तर माया को एक दिन तर जायगे। आपसे दूर रहकर हम इस उद्देश मे कैसे सफल हो सकते हैं ?

'ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम्॥ (ईश०)

इसमे बताये 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'—ईश्वर के त्यागे हुए का उपभोग करो—के अनुसार उद्धव आदि भगवान् की भुक्त वस्तुओ का उपभोग करते थे। इसका भावार्थ तो यह है कि मनुष्य जो कुछ प्राप्त करे वह पहले भगवान् को या

उसके मूर्त रूप—संसार या समाज—को अर्पण करके उसकी आवश्यकता से जो बचे उसको स्वय ग्रहण करे। अर्थात् हमारे पास जो कुछ है, उसके मालिक हम नही, बल्कि परमात्मा या समाज है। हम तो केवल उसके दिये को पाने के अधिकारी हैं और उसीमे हमे सन्तोष मानना चाहिए। उसीमे हमारा कल्याण भी है।

आजकल एक विचार-धारा यह चली है कि मनुष्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार नही। जो-कुछ है वह सब समाज का है। कइयो को यह नई बात मालूम होती है, और इसलिए वे उसका विरोध भी करते है। किन्तु दरअसल इसमे कोई नवीनता नही है। यह तो हमारे ऋषियो का बताया बहुत प्राचीन सिद्धान्त है और भक्तिमार्ग का तो मूलमन्त्र ही है। केवल अनभिज्ञ ही इस तत्त्व को नवीन बता सकते है या नवीन समझकर उसका विरोध कर सकते है। वस्तु नवीन हो या प्राचीन, हमे तो उसके गुण-दोष पर विचार करके ही राय बनानी व देनी चाहिए। पर यदि कोई बात कही से नवीन रूप मे आई हो तो इतने ही से भडक उठना न चाहिए। यदि वह हमारी प्राचीन वस्तु से मिलती है तो विरोध का कोई कारण ही नही है। यदि नही मिलती है, किन्तु आज हमे उपयोगी मालूम पडती है तो भी उसे अपनाने मे हिचक न होनी चाहिए। इसी तरह से हमारे विचार व व्यवहार-जगत् की समृद्धि सम्पन्न होती है।

**"जो वाताहारी (वायु भक्षण करनेवाले) ऊर्ध्वरेता और आध्यात्मविद्या में श्रम करनेवाले ऋषिगण हैं तथा जो निर्मलचित्त शान्त सन्यासी हैं, वे आपके ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं।"॥४७॥**

**"किन्तु, हे महायोगेश्वर, हम तो इस कर्म-कलाप में पडे हुए ही आपके भक्तों के साथ आपके चरित्र, बोलचाल, गति, मुस्कान, चितवन, परिहास और माया मानवरूप से की हुई अन्यान्य चेष्टाओ की परस्पर चर्चा, स्मरण तथा कीर्तन करके ही आपकी दुस्तर माया को पार कर लेंगे" ॥४८-४९॥**

उन्होने कहा—आपके साधक तीन प्रकार के होते हैं—तपस्वी, ज्ञानी और भक्त। तपी वे जो सब प्रकार के कठोर सयम से व्रत-पालन करके आपसे वरदान लेते हैं—ब्रह्मचर्य साधके, हवा-पत्ते खाके, पञ्चाग्नि तपके। ज्ञानी वे जो आत्मा व परमात्मा तथा जगत् व आत्मा के सम्बन्ध व स्वरूप को अच्छी तरह जानकर एक ओर आपमे लीन रहते हैं व दूसरी ओर या तो जगत् से विरक्त हो जाते है या 'जल मे कमलवत्' रहकर ससार-व्यवहार करते हैं। इन दो श्रेणियो के लोग तो

चित्त शुद्ध होने पर आपके ब्रह्मधाम को पाते हैं, पर तीसरे हम, भक्त, जो आपके ही भरोसे अपनी नैया छोड़े हुए हैं, और कर्म-मार्ग मे पडे हुए हैं। उनके पास आपकी मोहिनी माया को पार करने का उपाय आपके कीर्त्तन, भजन, आत्म-निवेदन के सिवा दूसरा नही है। हमारा सहारा तो आपके मानव-रूप की लीलाए ही हैं।

"श्री शुकदेवजी बोले—हे राजन्, इस प्रकार निवेदन किये जाने पर भगवान् देवकीनन्दन अपने अनन्य और प्रिय भक्त उद्धव से बोले" ॥५०॥

: ७ :

# दत्तात्रेय का शिष्य-भाव–१

[उद्धव की इस विनती पर श्रीकृष्ण ने उसे कहा कि आज से सातवे दिन द्वारकापुरी को समुद्र डुबो देगा—कलियुग का दौर-दौरा ससार मे हो जायगा। प्रजा की अधर्म मे रुचि हो जायगी। अत तुम सबसे निर्मोह होकर सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए मुझमे चित्त लगाकर रहो। भेद-बुद्धि छोडने से ज्ञान-विज्ञान मे युक्त होने पर जब तुम समस्त देह-धारियो के आत्म-स्वरूप हो जाओगे तो फिर ससार के कोई विघ्न तुम्हे बाधा न पहुचा सकेगे। इसका जीता-जागता उदाहरण श्री अवधूत दत्तात्रेय का है, जिन्होने २४ गुरु करके ऐसी स्थिति प्राप्त की है। मै इसी प्राचीन इतिहास के द्वारा तुमको यह बात समझाना चाहता हू। यह कहकर अगले तीन अध्यायो मे अवधूत ने २४ गुरुओ से क्या-क्या सीखा, इसका वर्णन किया है।]

"श्री भगवान् बोले—हे महाभाग उद्धव, तुम जो कुछ कहते हो, मै वही करना चाहता हूं। ब्रह्म और महादेव आदि लोकपालगण मेरे गोलोकगमन के इच्छुक है" ॥१॥

"मैने यहा देवताओ का सम्पूर्ण कार्य समाप्त कर दिया है। इसीके लिए मैने ब्रह्माजी की प्रार्थना से अपने अंश बलदेवजी के साथ अवतार लिया था।" ॥२॥

"अब विप्रशाप से दग्ध हुआ यह कुल भी परस्पर के युद्ध से नष्ट हो जायगा और इस द्वारकापुरी को आज से सातवें दिन समुद्र डुबो देगा" ॥३॥

मीठी होती है। कृष्ण-कोकिलाए अपनी मधुर वृत्ति से नि.शब्द का शब्द कूजन करती है, जिसे सुनकर सनकादिक सुखी होते और प्रजापति तटस्थ हो जाते हैं। मोर आनद से ऐसे नाचते हैं कि अप्सराए नाचना वन्द कर देती हैं और उमाकान्त अपना ताण्डव नृत्य भूल जाते हैं। ऐसी अद्‌भुत हरि-लीला है। द्वारकावासी विमल-हस मुक्त-मोती ही चुगते है, जिसे देखकर परमहस के भी लार टपका करती है। शुकादि पक्षी इसी लीला का अनुवाद करते हैं, जिसे सुनकर वेदान्त दग रह जाता है। द्वारका के पक्षियो की वोली से गुह्य का गुह्यार्थ प्रकट होता है। द्वारका मे वडा पक्का सौदा होता है। पर वहा दो अक्षरो का सच्चा सिक्का ही चलता है। जैसा लेना वैसा देना। किसीके लिए कुछ भी कम न होगा। यही यहा का व्यवहार है।"

"तथा हे साधो, जिस दिन मैं इस लोक को छोड दूगा उसी दिन से यह मगल-हीन होकर शीघ्र ही कलियुग से अभिभूत हो जायगा।" ॥४॥

"इस पृथिवीतल को मेरे छोड़ देने पर फिर तुमको भी यहां नहीं रहना चाहिए। क्योंकि, हे भद्र, कलियुग में प्रजा की रुचि अधर्म में ही होगी।" ॥५॥

"अब तुम अपने कुटुम्बी वन्धुजनों का सम्पूर्ण मोह छोडकर मुझमें भली-भाति चित्त लगाकर सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक पृथिवी पर विचरो।" ॥६॥

कृष्णजी ने उद्धव का प्रस्ताव मजूर नही किया। और उन्हे यही सलाह दी कि तुम मुझमे मन लगाकर सब कुटुम्बियो से मोह-माया छोडकर यही ससार मे विचरो, क्योकि वह नही चाहते कि उनकी चरण-सेवा के लिए उनके पास भक्तो की भीड वनी रहे। वह तो उन्हे मुक्त वनाकर ससार के दु खी, पीडितो, पतितो के उद्धार के लिए सुरक्षित करना चाहते हैं। उन्होने यह चेतावनी भी दे दी कि अव मेरे चले जाने पर जमाना वुरा आनेवाला है। लोगो मे अधर्म—अनीति—कलह जोर मारेगा। अत उसमे तुम तभी टिक सकोगे, जव सवमे समान दृष्टि रखकर चलोगे व मुझको कभी नही भूलोगे। चौवीस घण्टे अपने हर काम मे सोते, जागते, अकेले, भीड मे यही समझो कि मैं तुम्हारे सामने हू। तुम्हारे हर काम व हर भाव को देखता हू, इतनी जागृति रखकर चलोगे तो वेखटके रहोगे। यह कलि-काल तुमपर कोई असर न कर पावेगा। जव मेरा नाम लेते ही प्रेमाश्रु वहने लगें तव समझना कि तुम्हारी उपासना पूरी हुई, तुम कृतार्थ हो गये।

मैं तो ब्रह्मादि देवताओ की प्रार्थना पर देवकार्य करने आया था। अत उसकी

पूर्ति के वाद मेरा यहा रहना जरूरी नही है। तुम्हारा अभी प्रारब्ध शेप है, अत तुम तवतक मेरे वताये मार्ग पर चलते हुए यही रहो।

**"मन, वाणी, नेत्र और कर्ण आदि से यह जो कुछ प्रतीत होता है, सब नाशवान् है। मनोमय होनेके कारण इसे तुम माया ही जानो।" ॥७॥**

क्योकि आख, कान, मन आदि इन्द्रियो से यह जो कुछ हमे जगत् मे या जगत्-रूप भासता है, वह सव नाशवान् है, आज है, कल नही है। आज एक रूप है तो कल दूसरा। आज एक नाम से है तो कल दूसरे से। इसका क्या भरोसा किया जाय ? तुम पूछोगे कि तव यह है क्या ? तो समझो कि यह सब मन का खेल है, माया है। जगदीश्वर के मन मे एक कल्पना आई कि मै 'एक से वहुत होऊ' और यह जगत् रूप वन गया। समय पाकर हम सव नाम-रूपधारी वने। ईश्वर की दृष्टि मे यह एक खेल है, नाटक है जिसके दृश्य सतत वदलते रहते है। जिन्हे यह तत्त्व मालूम है, वे इस रहस्य को जान लेते है और इसके धोखे मे नही आते। जो नही जानते, वे इसे सच समझकर—यानी जो यह दीखता है, उसीको वास्तविक व स्थायी वस्तु मानकर इसीके आमोद-प्रमोद मे फसे रहते है। अत मै तुमको सावधान कर देना चाहता हू कि तुम इसके चक्कर मे मत पडो। तुम तो मुझमे ही ध्यान लगाओ।

**"असंयतचित्त पुरुष को ही भेद-वुद्धि होती है। वह गुण-दोषमय भ्रम ही है। उस गुण-दोषमयी बुद्धि के ही कर्म, अकर्म और विकर्मरूप भेद हैं। इसलिए चित्त और इन्द्रियो का सयम कर इस जगत् को अपने आत्मा में और अपने व्यापक आत्मा को मुझ परमात्मा में देखो।" ॥८-६॥**

ससार मे यह जो नाना रूप या विपय दिखाई देते है, ये वास्तव मे एक ही वस्तु-तत्त्व के विविध नाम-रूप हैं। जिन्होने अपने मन को सयम मे रखकर इस प्रश्न पर विचार किया है, उन्होने तो यह रहस्य जान लिया है। परन्तु जो अयुक्त—असंयतचित्त है, वे इसको इसी रूप मे सही मानते है, इसलिए एक को अच्छा दूसरे को वुरा कहते है। यह भी उनका भ्रम ही है। वास्तव मे यह सव एक ही ब्रह्म है। इसमे अच्छा-बुरा यह भेद ऊपरी दृष्टि से ही है। जैसे एक पेड की डाल, पत्ते, फूल, फल जुदा-जुदा दीखते है, पर असल मे वे एक ही पेड का विकास हैं, उसी तरह यह सारा विश्व एक ही परमात्म-तत्त्व का विकास है। अपने अज्ञान से हम इसमे नाना प्रकार के गुण-दोप देखते है और जिसे गुण या अच्छा समझते हैं, उसकी प्राप्ति, रक्षा, सग्रह आदि के लिए यत्न करते है। जिसे दोप या वुरा समझते है

उसको छोडने, फेकने, उससे दूर रहने का प्रयत्न करते हैं। इन्ही प्रयत्नो मे दूसरो से हमारे लडाई-झगडे होते है। यही हमारे कर्मों, विकर्मों या अकर्मों की जड है। अच्छा समझकर उसे पाने का यत्न करना कर्म, उलटे कार्य करने से वह प्राप्त हो सकती हो या बुरी वस्तु की प्राप्ति से बच सकते हो तो ऐसे कार्य विकर्म कहलाते हैं। मूढ बनकर बैठे रहना अकर्म है। फिर इन सबके वैसे ही फल भी निकलते हैं जो हमे भोगने पडते हैं। इन कर्मों व फलो का असर फिर हमारी बुद्धि पर होता है, जो हमे तदनुसार अगले कर्मों के लिए प्रेरित करती रहती है। इस तरह इस भेद-बुद्धि से यह सारा ससार-चक्र चलता रहता है।

अत तुम एक उपाय करो। अपनी इन्द्रिया और मन के आवेगो को रोक-कर—सासारिक बाह्य विषयो से मन को हटाकर सबसे पहले अपनी आत्मा मे ही सारे ससार को देखना आरम्भ करो। अर्थात् यह अनुभव करने लगो कि मेरी आत्मा ही यह जगत् है। उसीका यह विकास या फैलाव है। इसमे, मुझमे व ससार मे तत्त्वत कोई अन्तर नही है। मूलवस्तु दोनो मे एक ही है। सारे पेड मे एक ही जीवन-रस है, जो उसके प्रत्येक पत्ते, डाल, कली, फूल, फल मे पहुचता है। वैसे ही जो आत्मा मेरे अन्दर व्याप्त होकर मेरी प्रत्येक इन्द्रिय को चेतना देता है, वही सारे जगत् मे चेतन-शक्ति के रूप मे व्याप्त है। मन को विषयो से हटाकर जब शान्त चित्त से तुम इसका विचार करोगे तो तुम्हारा एकाग्र मन तुरन्त इसकी प्रतीति तुम्हे करा देगा।

इसी तरह तुम यह भी अनुभव करो कि यह जो ससार मे व्यापक तत्त्व—आत्मा—है, वह मुझ परमात्मा का ही एक अश है। वह उससे भिन्न नही है। अनन्त-अपार चेतन-समुद्र के एक अश-मात्र से यह सारा जगत् अनुप्राणित, सचा-लित, जीवित व कार्य-क्षम हो रहा है। जगत् में व मनुष्य-देह मे एक ही आत्मा समाया या पिरोया हुआ है। इसका एक सीधा-सा उदाहरण देता हू। हम अक्सर एक-दूसरे के सुख-दु ख से सुखी-दु खी होते हैं। भले ही साप, शेर व शत्रु ही क्यो न हो, जब वह मारा जाता है, पीडित होता है तो हमे दु ख क्यो होता है? सबके प्रति हमारे हृदय मे प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, दया, सहयोग का भाव क्यो पाया जाता है? इनका एक ही उत्तर है कि दोनो मे एक ही आत्मा, चेतन, प्राण-तत्त्व है। हम असल मे एक शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

"इस प्रकार ज्ञान और विज्ञान से युक्त होने पर तुम समस्त देह-धारियों के

**आत्म-स्वरूप हो जाओगे तथा आत्मानुभव से ही सन्तुष्ट होने के कारण फिर विघ्नो से बाधित न होगे।" ॥१०॥**

मैं और ईश्वर एक है, यह ज्ञान है, मै और जगत् एक हैं, तथा जगत् व परमात्मा भी एक ही है, यह विज्ञान हुआ।[1] इस प्रकार जब तुम ज्ञान व विज्ञान से युक्त हो जाओगे तो समस्त देहधारियो मे अपने-आपको रहता व समाया हुआ पाओगे। उनके लिए तुम आत्म-स्वरूप हो जाओगे। तब तुम्हारे मन मे भेद-भाव न रहेगा और इसलिए उसके सुख-दु ख, हानि-लाभ, यश-अपयश से भी परे रहोगे। यही आत्मानुभव कहलाता है। इससे तुम अपनेको सर्वदा सन्तुष्ट व कृतार्थ अनुभव करोगे। फिर जिन विघ्न-बाधाओ मे डरकर तुम मेरे साथ चलना चाहते हो, उनसे बाधित न हो सकोगे।

**"इस प्रकार गुण-दोष दोनो प्रकार की बुद्धि से छूटा हुआ पुरुष न तो दोष-दृष्टि से निषिद्ध का त्याग करता है और न गुण-बुद्धि से विहित का अनुष्ठान करता है—जिस प्रकार कि बालक।" ॥११॥**

इस प्रकार तुम गुण-दोष-बुद्धि से भी परे हो जाओगे। तब तुम्हारा आचरण एक बालक का-सा सरल-स्वाभाविक हो जायगा। बालक जो-कुछ करता है, सहज स्वभाव से करता है—अच्छा काम कर बैठा तो गुण या अच्छाई के विचार से नही, साहसी या बुरा कर बैठा तो वह भी बुराई की भावना से नही। उसकी सहज प्रवृत्ति जैसी प्रेरणा करती है वैसा वह करता चला जाता है। ऐसी ही वृत्ति ज्ञानी की हो जाती है। ज्ञानी अपने ज्ञान व साधना के बल पर चित्त की ऐसी सहज स्थिति बना लेता है कि गुण-दोष के प्रभाव से कर्म-कलाप अनुप्राणित नही होते, बल्कि सहज प्रेरणा से। जबतक भेद-बुद्धि, द्वैत रहता है तबतक अपने-आप अच्छे-बुरे का खयाल आ ही जाता है व उसके प्रभाव से बचना असंभव हो जाता है। अद्वैत-सिद्धि होने पर ही मन की ऐसी सहज अवस्था हो जाती है कि भावना, ज्ञान, कर्म एक साथ प्रवर्तित होते रहते है। द्वैतावस्था मे—साधकावस्था मे—पहले भावना जगती है, मन मे कोई भाव पैदा होता है, या प्रेरणा उठती है, फिर ज्ञान या बुद्धि से हम उसके गुण-दोष की विवेचना करके एक निश्चय करते है, तब उसे कार्य-रूप मे परिणत करने का आयोजन करते हैं। इन तीनो प्रक्रियाओ

---

[1] देखिये परिशिष्ट १५

मे काफी समय लगता है। परन्तु ज्ञानी व सिद्ध की यह त्रिपुटी इतनी सहज हो जाती है कि भावना के उठते ही निश्चय व उसके अनुसार कर्म तुरन्त आरम्भ हो जाता है। भावना इतनी शुद्ध, ज्ञान इतना तीव्र व कर्मवृत्ति इतनी सजग हो जाती है कि तीनो मे कोई सघर्ष नही होता। सव एक-दूसरे के अनुकूल सहयोगी व सहा-यता-तत्पर रहते हैं। यही पूर्ण सिद्धि है।

**"वह समस्त प्राणियो का सुहृद् ( शुभचिन्तक ) शान्त और ज्ञान-विज्ञान के अटल निश्चय से सम्पन्न होता है तथा सम्पूर्ण जगत् को मेरा ही स्वरूप देखता हुआ फिर किसी विपत्ति मे नहीं पडता।"** ॥१२॥

इस तरह जव वह ज्ञान-विज्ञान से इस निश्चय पर पहुच जाता है कि सवमे एक ही परमात्मा बसा हुआ है तो स्वभावत ही वह सवका सुहृद् हो जाता है। अव वह किसे अपना शत्रु समझे ? उसके तो सभी मित्र, सखा, भाई या आत्मरूप ही है न ? इस विचार और अनुभूति से उसके मन के सब द्वन्द्व, सव सघर्ष मिट जाते जाते हैं। वह शान्त हो जाता है। फिर उसे कोई विपदा क्यो सताने लगी ? जव ससार का प्रत्येक पदार्थ मैं हू, तो फिर मैं ही क्यो अपनेको कष्ट देने लगा, विपत्ति मे डालने लगा ? जिसे साधारण लोग विपत्ति समझते हैं वह भी तो मैं ही हू। जब इस रूप मे हम विपत्ति को देखेंगे, तो वह हमे परमात्मा ही दिखाई देगी। उससे जो भय हमे मालूम होता है, वह मन मे से निकल जायगा, जब भय चला गया तो फिर वह विपत्ति कहा रही ? दु ख, कष्ट, हानि आदि बुरी इसीलिए लगती हैं कि वे हमे भयभीत करती हैं। साप से हम इसलिए द्वेष करते हैं कि उसके विष मे मृत्यु का भय है। शत्रु से हम इसलिए चौकन्ने रहते हैं कि उसके आक्रमण से हमारी हानि का भय है। भय का अर्थ है अनिष्ट की चिन्ता या आशका। जब सव-कुछ हमारे लिए परमात्मा-स्वरूप है तो हमारे लिए अनिष्ट क्या रहा ? अव हम किस वात की चिन्ता या आशका रखे ? मेरे पास से एक वस्तु—समझिये मेरी सम्पत्ति—निकलकर तुम्हारे पास या किसी और के पास चली गई तो मुझे उस अवस्था मे खटकेगा जब मैं तुमको गैर समझता होऊगा। जब तुम अपने ही हो, मैं ही हू, तो फिर क्यो खटकने लगा ? जब मैं सवको ही अपना सुहृद् और अपने-को सवका सुहृद् समझकर वर्तूंगा तो कोई मुझपर या मैं दूसरे पर जोर-जब्र भी क्यो करने लगा ? यदि किया भी तो इसके इतने परिणाम हो सकते हैं—दूसरे ही लोग तुम्हारा विरोध, प्रतिरोध करने के लिए खडे हो जायगे, ऐसी आकस्मिक

कठिनाइया खडी हो जायगी कि तुम्हारा मनोरथ सफल न हो सकेगा। फिर जबर-दस्ती की नौबत तो उन्ही वस्तुओ के लिए आ सकती है, जिनपर मेरा ममत्व हो। मेरी आत्मा व मेरे शरणागत के सिवा मेरे ममत्व की कोई विशिष्ट वस्तु मेरे पास क्या रहेगी ? मेरी आत्मा को जो सबकी ही आत्मा है, कौन किसीसे छीन सकता है ? यह भाषा व विचार ही व्यर्थ है। शरणागत या आश्रित को भी, यदि मैं सचमुच इस स्थिति को पहुच गया हूं तो अव्वल तो कोई हाथ लगाने का साहस नही कर सकता, यदि मुझमे कसर रहने से किसीने किया भी तो मुझे उनकी रक्षा व बचाव मे अपनी सारी आत्मा व बल लगाने का साहस मिल जायगा। जितनी कचाई मुझमे होगी उतना बल मुझे लगाना पडेगा। नही तो जो विरोधी या आक्रामक होकर मेरे सामने आवेगा वह मेरे कदमो पर आकर गिरेगा। या मैं उसे अपना ही दूसरा रूप समझकर आलिंगन करने लगूगा। ससार के इतिहास मे ऐसे उदाहरणो की कमी नही है। भक्त व सन्त-साहित्य तो इनसे भरा पडा है। फिर यह अनुभव-गम्य है। जो ऐसी साधना करने लगेगा उसे इस शक्ति या स्थिति का अनुभव खुद ही होने लगेगा।

"श्री शुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान् का ऐसा उपदेश सुनकर महान् भगवद्भक्त और आत्मतत्व के जिज्ञासु उद्धवजी अच्युत को प्रणाम करके इस प्रकार बोले।" ॥१३॥

"श्री उद्धवजी बोले—हे योगेश्वर, हे योगवेत्ताओं के गुह्य निधि, हे योगस्व-रूप, हे योग के उत्पत्तिस्थान, आपने मेरे निःश्रेयस (मोक्ष) के लिए संन्यासरूप कर्म-त्याग का उपदेश किया।" ॥१४॥

"किन्तु हे भूमन्, हे सर्वात्मन्, मेरा ऐसा विचार है कि विषयलोलुप लोगो के लिए यह कामनाओ का त्याग कठिन है। विशेषतः आपमें जिनकी भक्ति नहीं है उनके लिए तो वह और भी दु:साध्य है।" ॥१५॥

भगवान का यह उपदेश सुनकर, जो कि सन्यास-रूप कर्म-त्याग-विषयक था, उद्धव बोला—हे योगेश, आप तो स्वय योग के जन्मदाता व भण्डार हैं, अत. आपने मुझे यह संन्यास-योग या कामना-त्याग का मार्ग बताया, जिससे मेरा श्रेय हो, मैं जगत् के सब दु खों व बन्धनो से सर्वदा के लिए छूट जाऊ, किन्तु मेरी एक कठिनाई पर आपने ध्यान नही दिया। ससार मे ऐसे ऊचे दर्जे के लोग बहुत थोड़े है, जो अपने स्वार्थ, विषय-भोग—सासारिक सुख को छोड बैठे हो। अधिकाश तो

विषय-लोलुप ही है, जिन्हे खाने-पीने, मौज-मजा उडाने, नाच-रग करने मे ही महान् ग्रानन्द ग्राता है, वे ग्रपनी इन कामनाग्रो को यो सहज मे कैसे छोड देंगे ? जिनका मन ग्रापकी ग्रोर है, जो ऊचा ग्रादर्श व ध्येय रखते है, स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ, परोपकार, दीन-दु खी की सेवा करते है, उनके लिए भी यह एकाएक कठिन है, फिर उनकी तो बात ही दूसरी है, जो ग्रापसे सर्वदा विमुख हैं।

**"हे नाथ, ऐसा ही मै भी हू। 'यह मै हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार की मूढ़ बुद्धि से युक्त होकर मै ग्रापकी माया से विरचित देह ग्रौर स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियो में निमग्न हो गया हू। ग्रत., हे भगवन्, इस दास को संक्षेप से कहे हुए इस सन्यासतत्व का इस प्रकार उपदेश कीजिये, जिससे कि मै सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकू।" ॥१६॥**

ग्रौर मैं भी ऐसो मे ही क हू। 'मैं व मेरा' इस ममत्व से मै भी बरी नही हू। ग्रापकी माया से बने पुत्र, कलत्र ग्रादि मे मेरा भी मन ग्रभी तक फसा ही हुग्रा है। ग्रत इतनी ऊची बात तो मेरे से भी शायद न सध सके। सो ग्राप ग्रपना उपदेश-रूपी प्रसाद मुझे इस तरह सरल बनाकर थोडे मे कहिये, जिससे मैं उसे सुगमता से ग्रहण कर सकू ग्रौर साध सकू। ग्रर्थात् योग व सन्यास तो मेरे बूते का नही है, ग्रौर कोई सरल रास्ता ग्रापके पास हो तो बताइये।

**"हे भगवान्, ग्राप सत्यस्वरूप स्वयप्रकाश ग्रात्मा ही है, ग्रापसे ग्रच्छा ग्रात्मज्ञान का उपदेशक तो मुझे देवताग्रो में भी दिखलाई नहीं देता। ये ब्रह्मा ग्रादि समस्त देहधारी ग्रापकी ही माया से मुग्धचित्त होकर इन मायिक पदार्थों को सत्य मान रहे है।" ॥१७॥**

ग्रापसे ही मैं इस बात की ग्राशा भी रख सकता हू, क्योकि ग्राप स्वय ग्रपने प्रकाश से प्रकाशित है। ग्रत इस विषय मे यथार्थ मार्ग-दर्शन करनेवाला मुझे ग्रापके ऐसा त्रिलोकी मे कोई नही दिखाई देता। फिर ग्राप सत्य-स्वरूप है, ग्रत ग्राप ही सन्मार्ग दिखा भी सकते हैं। ग्राप यदि कहे कि यह बात तो तुम ब्रह्मदेव ग्रादि से ही पूछ लेना तो, हे परमेश्वर, मुझे तो ये समस्त देहधारी, भले ही वे ब्रह्मदेव जैसे ही क्यो न हो, ग्रापकी इस माया मे ही ग्रसित मालूम होते हैं, क्योकि वे इन पार्थिव पदार्थों को सत्य मानकर चलते हैं। ग्रत उनसे निःश्रेयस के सरल मार्ग की क्या ग्राशा की जाय ?

**"ग्रत नाना प्रकार की ग्रापत्तियो से सन्तप्त होकर ससार से खिन्नचित्त**

**हुआ मैं निर्मल, अनन्त, अपार, सर्वज्ञ, ईश्वर, कालादि से अपरिच्छेद्य वैकुण्ठधाम मे रहनेवाले तथा साक्षात् नर के सखा नारायणस्वरूप आपकी शरण आया हूं।" ॥१८॥**

अत हे सबसे परे, सब दोषो से रहित, अनन्त, सर्वज्ञ, ईश्वर, सब प्रकार से—अकुठित वैकुण्ठधाम मे रहनेवाले नारायण, मैं तो आपकी ही शरण आया हू। ससार के दु खो से अब मैं ऊब गया हू, मेरा चित्त अब उससे बहुत त्रस्त हो गया है। आप चूकि मनुष्यो के सखा, हितैषी हैं, अत आप ही से प्रार्थना करने का साहस मुझे हुआ है। जब जड ही मेरे हाथ लग गई है तो मैं दूसरा सहारा क्यो व कहा ढूढू ?

**"श्रीभगवान्—ससार-तत्व का आलोचन करनेवाले मनुष्य प्राय स्वय ही अपने चित्त की अशुभ वासनाओ से अपना उद्धार कर लेते है।" ॥१९॥**

इसपर श्रीकृष्ण ने कहा—उद्धव, ससार मे श्रेष्ठ मार्ग तो यही हे कि मनुष्य स्वय अपना उद्धार करे। जो इस ससार-तत्व को जान लेते है, व इसमे निपुण हो जाते हैं वे अपनी कामनाओ, वासनाओ व चित्त के मलो से स्वय ही अपना छुटकारा कर लेते है, क्योकि ससार का वास्तविक रूप जान लेने के बाद मनुष्य उससे अधिक समय तक मोहित नही रह सकता। जब मोह न रहेगा, केवल कर्त्तव्य-भाव शेष रह जायगा, तब बुरी वासनाओ की, और इसलिए चित्त के विकारो की, मलिनता की जड अपने-आप कट जायगी।

**"(अपने हित या अहित को जानने में) समस्त प्राणियो का आत्मा ही अपना गुरु है। उनमें भी मनुष्य का आत्मा तो विशेष रूप से ऐसा ही हे, क्योकि वह प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा तुरन्त ही अपने श्रेय का निर्णय कर सकता है।" ॥२०॥**

क्योकि ऊधो, अपना हित-अहित जानने मे मनुष्य का सबसे बडा गुरु उसका आत्मा ही है। शुद्ध चित्त को ही मनुष्य की आत्मा समझ सकते है। चित्त के शुद्ध हो जाने पर ही, राग-द्वेष, भोगेच्छा, स्वार्थ-परायणता छूटने पर ही मनुष्य अपने व दूसरो के भी वास्तविक हित-अहित की छान-बीन कर सकता है। जबतक उसके मन मे अपना व पराया भाव बना रहेगा तबतक वह वास्तविक न्याय नही कर सकता। अपने की तरफ ढुलकेगा, पराये की तरफ से ध्यान हटेगा। यही न्याय का बीज है। पक्षपात अन्याय का ही सौम्य रूप है। अन्याय अपनो की भाषा में पक्ष-

पात और परायो की भाषा मे अन्याय कहा जाता है। मन की समतोल वृत्ति से ही न्यायशील हुआ जा सकता है। सबके प्रति सत्य व्यवहार का नियम रखने से समतोलता आती है। जब इस प्रकार शुद्ध या समचित्त होने से मनुष्य हिताहित-विचार करने के योग्य हो जाता है तब वह अपने श्रेय का निर्णय दो आधारो पर करता है। श्रेय का अर्थ है आत्यन्तिक हित, जिसे पाने के बाद अहित की या दु ख की सम्भावना ही न रहे। वे आधार हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष वह है जिसका हमे अपनी इन्द्रियो से ज्ञान या अनुभव हो सके। अनुमान वह तर्क है जो प्रत्यक्ष के आधार पर किया जाय। यह काम मन या बुद्धि के द्वारा होता है।

**"मनुष्यो में भी जो बुद्धिमान् पुरुष साख्य योग (प्रकृति-पुरुष-विवेक) में कुशल हैं, वे सर्व-शक्ति-सम्पन्न मेरे स्वरूप को भली-भाति देख पाते हैं।" ॥२१॥**

लेकिन इसमे भी जो साख्य व योग-शास्त्र से भलीभाति परिचित हैं, वे ही मेरे सर्वव्यापी व सर्व-शक्ति-सपन्न रूप को पहचान सकते हैं। चेतन-रूप से मैं कैसे सब-मे व्याप्त हू, यह साख्य-ज्ञान से जाना जा सकता है और योग-सिद्धियो से मेरी शक्तियों का कुछ अन्दाज हो सकता है। केवल अपने हिताहित को जान लेना अपने श्रेय का निर्णय कर लेना काफी नही है। जबतक कि मनुष्य को मेरी सर्व-व्यापकता व सर्व-शक्तिमत्ता का ज्ञान न होगा तबतक उसे अपनी शक्ति व विद्या का अभि-मान रहेगा, व उसकी साधना दूषित हो जायगी।

**"मैंने एकपद, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद, बहुपद और पाद-हीन रूप से नाना प्रकार के शरीरो की रचना की है, किन्तु उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय तो मनुष्य-शरीर ही है।" ॥२२॥**

**"क्योकि सयतचित्त पुरुष इसी देह में हेतु और फल का विचार करते हुए दिखाई देनेवाले गुण (बुद्धि आदि इन्द्रिय) रूप लिङ्गो के द्वारा अनुमान करके मुझ अग्राह्य का अनुसन्धान करते हैं।" ॥२३॥**

वैसे मैंने कई प्रकार की सृष्टि रची है, किन्तु मुझे उसमे मानुषी सृष्टि सबसे प्रिय है, क्योकि इसमे मनुष्य को मन-बुद्धि विकसित रूप मे दी गई है, जिससे वह मन को सयम मे लाकर, एकाग्र करके मुझ अग्राह्य का भी अनुमान कर लेता है। ऊधो, सच पूछो तो मेरे स्वरूप व शक्ति की कल्पना ही मनुष्य के लिए असम्भव है। जब मनुष्य मेरे रूप व शक्ति का वर्णन करने लगता है, तब मुझे हँसी आने लगती है। लेकिन मनुष्य के मन व बुद्धि को इनके विषय मे जाने बिना सन्तोष नही

होता। अतः अनुभवी व ज्ञानियो ने अपनी बुद्धि व शक्ति के अनुसार शब्दो द्वारा उनके वर्णन करने का जैसा-तैसा प्रयत्न किया है। उससे कुछ अनुमान किया जा सकता है। जबकि आम की मिठास व मिर्च का तीखापन शब्दो द्वारा प्रकट नही किया जा सकता, प्रेम, करुणा और हर्ष की भावनाओ के प्रकाशन मे शब्द थक जाते हैं, तब मेरे रूप व शक्ति के बारे मे उनकी गति कितनी हो सकती है ? तुम यह समझो कि मेरा बहुताश तो अचिन्त्य ही है। मेरे स्वल्पाश से मैं विश्वरूप मे प्रकट हुआ हू। किन्तु नर-देह मे ऐसा सामर्थ्य अवश्य है कि वह कार्य-कारण-पद्धति से बुद्धि, इन्द्रिय आदि के द्वारा सोचकर व अनुमान करके मुझे ग्रहण करने का यत्न करता है।

**"इस विषय मे अवधूत और महान् तेजस्वी यदु के संवादरूप इस प्राचीन इतिहास का उल्लेख किया जाता है।" ॥२४॥**

किन्तु सरल तरीके से तुमको समझाने के लिए एक प्रत्यक्ष उदाहरण देना ठीक रहेगा। कोरे सिद्धान्तो की बनिस्वत किसी व्यक्ति के जीवन का नमूना ज्यादा सहायक होता है। सिद्धान्त को हवाई बात कहकर उडा दिया जा सकता है। किन्तु जब किसीका उदाहरण सामने हो तो बडे-बडे सिद्धान्तियो या आलोचको को भी रुककर मानना व सोचना पडता है। अत जो बात मैं तुमको उपदेश से समझाना चाहता था, उसके लिए अब एक इतिहास सुनाता हू।

**"एक बार धर्मज्ञ राजा यदु ने एक सर्वथा निर्भीक महाविद्वान् युवा अवस्था-वाले अवधूत को विचरते देखकर पूछा—" ॥२५॥**

**"यदु—हे ब्रह्मन्, कर्तापन के भाव से रहित आपको ऐसी विमल बुद्धि किस प्रकार और कहां से प्राप्त हुई, जिसका आश्रय लेकर आप विद्वान् होकर भी बालक के समान (असग भाव से) विचरते हैं।" ॥२६॥**

**"लोग प्रायः आयु, यश अथवा वैभवादि के हेतु से ही अर्थ, धर्म, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासा में प्रवृत्त होते हैं।" ॥२७॥**

**"किन्तु आप तो समर्थ, विद्वान्, दक्ष, सुन्दर और मिष्ट भाषी होकर भी जड़, उन्मत्त अथवा पिशाच के समान न कुछ करते है और न चाहते ही हैं।" ॥२८॥**

**"संसार में सभी लोग लोभ और कामनाओ के दावानल से जल रहे हैं, किन्तु गंगाजल में खड़े हुए गजराज के समान उस अग्नि से मुक्त होने के कारण आप**

उससे सन्तप्त नहीं है।" ॥२९॥

"हे ब्रह्मन्, हम पुत्र-कलत्रादि ससार-स्पर्श से रहित एव आत्मस्वरूप में स्थित आपके आनन्द का कारण पूछते हैं, सो आप हमें बतलाइये।" ॥३०॥

एक बार राजा यदु ने एक अवधूत[1] को देखा जो युवा था और विद्वान् होते हुए भी बालक जैसे सहज स्वभाव से विचर रहा था। उन्हे स्वभावत बडा आश्चर्य हुआ व उनसे पूछा कि किस उपाय से आपने ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली? साधारण लोग तो-आयु, यश, धन, सम्पत्ति, पुत्र-दारादि की प्राप्ति के लिए, धर्म, अर्थ, काम या तत्वज्ञान का आश्रय लेते है, परन्तु आप तो इन सब गुणो से अलकृत होकर ऐसे अलमस्त से क्यो घूमते हैं? न तो आप कुछ चाहते ही है, न कुछ करते ही है। एक ओर जबकि ससार के लोग काम, लोभ आदि की आग मे रोज जलते रहते है, उन्हे किसी प्रकार शान्ति नही नजर आती, तहा आप गगा-प्रवाह मे खडे निश्चिन्त हाथी की तरह स्थिर गम्भीर हो रहे हैं। आप बिल्कुल ससारी बातो से अलग हो रहे हैं और अपने ही आनन्द मे मस्त हैं। सो अपने इस आत्म-स्वरूप मे स्थित रहने का कारण हमे बताने की कृपा करें।

"श्रीभगवान्—ब्राह्मणो के भक्त और अच्छी बुद्धिवाले यदु के इस प्रकार पूछने पर वे महाभाग द्विजश्रेष्ठ प्रसन्न होकर उस विनयावनत राजा से कहने लगे—" ॥३१॥

"अवधूत—हे राजन्, मेरे बहुत-से गुरु हैं, जिनको मैंने अपनी बुद्धि से ही स्वीकार किया है और जिनसे विवेक-बुद्धि पाकर मै बन्धन-रहित होकर स्वच्छन्द विचरता हू। वे इस प्रकार है—" ॥३२॥

अवधूत ने उत्तर दिया कि राजा इसका कारण यह है कि मैंने अनेक गुरुओ से अनेक गुण सीखे है, जिनके कारण मैं इस स्थिति को प्राप्त हुआ हू। वे गुरु मैंने किसीके कहने-सुनने से, किसीकी देखा-देखी नही किये हैं, न किसी गुरु ने बुलाकर ही मुझे दीक्षा दी है। मैंने तो इस सृष्टि के बहुतेरे प्राणियो व वस्तुओ से तरह-तरह की शिक्षाए ली हैं और उन्हीको मैं अपना गुरु मानता हू। सच्चा गुरु वही है

[1] अवधूत से मतलब दत्तात्रेय से है। दत्तात्रेय अत्रि व अनसूया के पुत्र थे। अ—त्रि=त्रिगुणातीत+अनसूया=असूया—अतीत अर्थात् बुद्धि (बोध) इन दो के सयोग से उत्पन्न निर्गुण-रूप।

जिससे हमे कुछ शिक्षा मिले। हम स्वेच्छा से व स्वबुद्धि से जो गुरु करेंगे, उसीसे हमे वास्तविक शिक्षा मिलेगी।

**"पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतग, मधुमक्षिका, हाथी, मधुहारी (शहद ले जानेवाला), हरिण, मीन, पिंगला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारी, बाण बनानेवाला, सर्प, उर्णनाभि (मकडी) और भृंगीकीट।" ॥३३-३४॥**

**"हे राजन्, मैंने इन चौबीस गुरुओ का आश्रय लिया था और इन्हींसे शिक्षा ग्रहण करते हुए मैंने इस लोक में अपनेको सुशिक्षित किया है।" ॥३५॥**

**"अब, हे ययातिनन्दन, मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, हे पुरुषसिंह, वह सब मैं ज्यों-का-त्यो तुमसे कहता हूं, सुनो।" ॥३६॥**

यो तो ससार की सभी चीजें मनुष्य को शिक्षा देती है, परन्तु मैं उन चौबीस गुरुओ के बारे मे ही तुमसे कहूगा जिनसे मुझे विशेष शिक्षा मिली है। उनके नाम ऊपर गिनाये हैं। अब मैं यह बता दू कि किससे क्या शिक्षा मिली।

**"पृथिवी पर नाना प्रकार के आघात और उत्पात होते है, किन्तु वह सदा समभावयुक्त और शान्त रहती है, उसी प्रकार, दैवमाया से प्रेरित प्राणी यदि कष्ट भी पहुचावें तब भी विद्वान् को चाहिए कि वह अपने मार्ग से विचलित न हो। यह धैर्य-व्रत मैंने पृथ्वी से सीखा है।" ॥३७॥**

पृथ्वी से मैंने धैर्यव्रत की शिक्षा ली है। देखो, पृथ्वी पर लोग नाना प्रकार के उत्पात करते हैं, तरह-तरह से उसे आघात पहुचाते है, मकान बनाते हैं, कुए खोदते हैं, खेती करते है, कारखाने खडे करते है, बडी-बडी लडाइया होती है, मुर्दे जलाते है, कब्रिस्तान बनाते हैं, मल-मूत्र का त्याग करते है, फिर भी वह इन सबको शान्ति के साथ सहती है। किन्तु वह अपने दैनिक परिभ्रमण से नही चूकती, न दुनिया को अपनी देन देने मे ही कसर रखती है। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि प्राणियो की ओर से जान-बूझकर हो या दैव-प्रेरित हो, आसमानी हो या सुलतानी हो, किसी भी तरह का आक्रमण, विघ्न-बाधा आवे तो उससे विचलित न हो, घबराये नही, डावाडोल न हो, व अपने कर्त्तव्य व धैर्य को न छोडे। शान्ति, क्षमा, व धैर्य के द्वारा उन सबको सहन करे व आगे बढता रहे।

**"साधु को चाहिए कि जिनकी सारी चेष्टाए सर्वदा दूसरो के लिए हैं और जिनका प्रादुर्भाव केवल परोपकार के ही लिए हुआ है, उन पर्वत और वृक्षो का**

**शिष्य होकर उनसे परोपकार करना सीखे।" ॥३८॥**

पृथ्वी ही नही, उसपर खडे पहाडो व पेडो से भी मैने शिक्षा ली है। देखो, इनका जीवन केवल परार्थमय है।[1] पहाडो को लोग खोदते हैं। सुरग लगाकर चट्टानें तोडते हैं, तो भी वे उन्हे कीमती पत्थर, सोना, तावा, रत्न देते हैं। तरह-तरह की वनस्पतिया व औषधिया, पेड, फूल, फल देते हैं। पेड भी अपने जड, फल, फूल, पत्ते आदि सभी अगो द्वारा परमार्थ करता है। 'इतते ये पाहन हनैं उतते वे फल देत,' सूखने पर लकडी ईंधन का काम देती है। खुद जलकर भी आपका भला करते हैं। अत इनका शिष्य होकर मनुष्य को परार्थता सीखनी चाहिए।

**"प्राणवायु जैसे आहारमात्र की इच्छा रखता है, किसी प्रकार के रूप, रस आदि की उसे आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार योगी को चाहिए कि जिसमें ज्ञान नष्ट न हो और मन-वाणी भी विकृत न हों ऐसे हित और मित आहार से ही सन्तुष्ट रहे, रसना आदि इन्द्रियो को प्रिय लगनेवाले पदार्थों की इच्छा न करे। तथा बाह्यवायु सर्वगामी होता हुआ भी जैसे स्वरूप से सदा निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार नाना प्रकार के विषयो को ग्रहण करता हुआ भी योगी उनके गुण-दोषो से मुक्त रहकर उनमें लिप्त न हो। गन्ध का वहन करता हुआ भी वायु जैसे सदा शुद्ध रहता है, उसी प्रकार इस पार्थिव शरीर में रहने के कारण इसके गुणो का आश्रय लेकर भी आत्मज्ञानी पुरुष उनमें आसक्त न हो। इस प्रकार**

---

[1]भागवत मे दधीचि कहते हैं—"मेरा यह प्रिय शरीर एक दिन स्वय ही मुझे छोडनेवाला है, इसलिए इसे मै आप लोगो के हित के लिए आज ही छोड देता हू।

"जो पुरुष इस अनित्य शरीर से जीवो पर दया करते हुए धर्म अथवा यश के उपार्जन का प्रयत्न नही करता, वह स्थावरो ( वृक्षादिको ) की दृष्टि मे भी शोचनीय है।"

"मनुष्य जो कि दूसरो के दु ख मे दु खी और सुख मे सुखी होता है, वही पुण्य कीर्तिशाली पुरुषो द्वारा सेवित अक्षयधर्म है।"

"कैसे दु ख की वात है कि जिनसे मनुष्य का कुछ भी स्वार्थ सिद्ध नही होता तथा जो दूसरो के ही योग्य और क्षण-भगुर हैं, उन धन-जन और शरीरादि से वह दूसरो का कुछ भी उपकार नही करता।" (६।१०।७ से १०)

**मने प्राणवायु से संयम और बाह्यवायु से असगता की शिक्षा ली है।"॥३९-४०-४१॥**

वायु दो प्रकार की है—एक प्राणवायु, दूसरी बाह्यवायु। प्राणवायु वह है जो हमारे शरीर के भीतर सचार करके फेफडो मे श्वासोच्छ्वास करती—निकालती है, जिससे मनुष्य के सजीव रहने की पहचान होती है। बाहरी वायु को सब जानते ही है। दोनो से हमे शिक्षा लेनी चाहिए। प्राणवायु केवल आहार की इच्छा रखता है। किसी प्रकार के रूप, रस आदि के चक्कर मे नही पडता। ये सब इन्द्रियो के विषय है, जिनसे वह कोई सरोकार नही रखता। उन सबको वह अनुप्राणित तो कर देता है, पर खुद उनसे अलिप्त रहता है। इसी प्रकार योगी को चाहिए कि वह केवल हित व मित आहार से ही सन्तुष्ट रहे, सो भी इतना ही कि जिससे न तो ज्ञान नष्ट हो, न मन-वाणी ही विकृत होने पावे। इसके अलावा जीभ, आख आदि इन्द्रियो को प्रिय लगनेवाले पदार्थों की इच्छा न करे। अब बाह्य वायु को देखिये। वह सब जगह बहता है, सबको छूता है, फिर भी किसीकी छूत उसे नही लगती। उसके मूलरूप मे कोई फर्क नही पडता। इसी तरह योगी भी भले ही नाना प्रकार के विषयो को ग्रहण करे, परन्तु वह उनके गुण-दोषो मे लिप्त न हो। यदि भोजन स्वादिष्ट बना है तो इसलिए अधिक न खा जाय, कुस्वादु बन गया है तो भूखा न रहे। ऐसे ही और विषयो के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। देखो, वायु गन्ध को इधर-से-उधर ले जाता है, सुगन्ध भी दुर्गन्ध भी, किन्तु फिर भी सदैव शुद्ध रहता है। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह भले ही शरीर मे रहने के कारण इसके गुणो का आश्रय ले, इसके स्वाभाविक कार्य करता रहे, परन्तु उनमे लिप्त न हो, फस न जाय, केवल कर्त्तव्य समझकर करता रहे। इस प्राण-वायु से सयम की व बाह्यवायु से असगता की शिक्षा मैने ली है।

**"मैने आकाश से जो सीखा है, वह बतलाता हूं—आत्मस्वरूप से सबके अनु-गत होने के कारण ब्रह्म स्थावर-जगम सभी उपाधियों में स्थित है। मुनि को चाहिए कि मणियो में व्याप्त सूत्र के समान उस सर्वगत आत्मा की व्याप्ति के द्वारा उसकी अपरिच्छिन्नता, असंगता और आकाशरूपता की भावना करे।" ॥४२॥**

**"जिस प्रकार तेज, जल और अन्नमय पदार्थों से तथा वायुजनित मेघादि से आच्छन्न हुआ भी आकाश उनसे अछूता रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी कालकृत गुणो से अलग है।' ॥४३॥**

अब आकाश से जो गुण ग्रहण किया सो सुनो। ब्रह्म आत्मस्वरूप मे, या जीव-रूप मे जैसे सृष्टि के सभी जड-चेतन स्थावर-जगम पदार्थों मे व्याप्त है, या जैसे धागा माला की सब मणियो मे या फूलो मे पिरोया रहता है, फिर भी सबसे अलग, अलिप्त रहता है वैसे ही स्थिति आकाश की भी है। घडे मे आकाश है, मकान मे आकाश है, परन्तु फिर भी वह दोनो से जुदा, अलिप्त है। इस तरह आकाश मे व्यापकता, असगता, अपरिच्छिन्नता—बिना रुकावट या सीमा खुला व फैला हुआ होना—ये गुण मैने देखे हैं। अत मनुष्य को चाहिए कि इन्हींकी भावना करे। फिर आकाश, तेज, जल और अन्नमय तथा वायु-जनित पदार्थों से जैसे आग, बादल, वृष्टि, पेड, अनाज आदि से ढका या घिरा हुआ होकर भी अछूता रहता है, उसी तरह हमारा आत्मा भी जीवन, मृत्यु, वर्ष, मास, आज, कल आदि कालकृत गुणो या उपाधियो से मुक्त व अलग है, ऐसा समझकर अपने-आपको सबमे रहते हुए भी सबसे अलग रखने की साधना करनी चाहिए, अर्थात् शरीर से सब आवश्यक कर्म करते हुए भी मन से उनसे अलग या दूर रहना चाहिए।

**"जल से मैने जो सीखा है, सो सुनो—स्वभाव से ही शुद्ध, स्नेहयुक्त, मधुर-भाषी और मनुष्यो के लिए तीर्थस्वरूप हुआ मुनि अपने साथियो को दर्शन, स्पर्श और यशोगान से ही जल के समान पवित्र कर देता है।"** ॥४४॥

अब जल के गुण सुनो। जल स्वभावत ही शुद्ध-स्वच्छ होता है। आकाश से शुद्ध गिरता है, धरती पर मैला हो जाता है, फिर भी तुरन्त ही स्वच्छ बनने का यत्न करता है और हो भी जाता है। वह जहा लगता है, वही भिगो देता है, तर कर देता है, अत वह स्नेहमय है। मीठा है, जीवनदायी है। मनुष्य को भी चाहिए कि वह इसी प्रकार शुद्ध, स्निग्ध, मधुर, तीर्थ रूप बनता हुआ अपने साथियो को दर्शन, स्पर्श व यशोगान से जल की तरह पवित्र करता रहे।

**"अग्नि से मैने यह शिक्षा ली है कि जितेन्द्रिय मुनि अग्नि के समान तेजस्वी, तप के कारण देदीप्यमान और अक्षोभ्य होता है, वह केवल उदररूप पात्र रखता है अर्थात् जो कुछ मिलता है, उसे पेट में डाल लेता है, सचय करके नहीं रखता तथा अग्नि के समान सर्वभक्षी होकर भी सयतचित्त होता है, और जिस प्रकार अग्नि कभी सामान्य रूप से अव्यक्त और कभी विशेष रूप से प्रकट रहता है, उसी प्रकार वह कभी गुप्त और कभी प्रकट होकर रहता है एव आत्मकल्याण की इच्छावालो से सेवित होता है। वह भिक्षा देनेवालो के अतीत और आगामी अशुभो को भस्म**

करता हुआ सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है। योगी को विचारना चाहिए कि भिन्न-भिन्न उपाधियों (काष्ठ लोहादि) में प्रविष्ट हुआ अग्नि जैसे तद्रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार विभु आत्मा भी अपनी माया से रचे हुए इस सत्-असद्रूप प्रपंच में प्रविष्ट हुआ उपाधियों के अनुसार चेष्टा करता है।" ॥४५-४७॥

अग्नि मे मैंने इतने गुण देखे—वह तेजस्वी होता है, उसमे हाथ डालने की गहना किसीकी हिम्मत नही होती। अपने तप से वह हमेशा दीप्तिमान रहता है। उसे धारण करना कठिन होता है। जो-कुछ उसमे डालो वह सब खा जाता है, जो कोई भी डाले उसे ग्रहण कर लेता है, लेकिन फिर भी उस खाद्य वस्तु के दोषो से वह सर्वथा मुक्त रहता है। फिर वह उदर पात्र होता है। अर्थात् जो-कुछ आहार उसे मिलता है, उसे वह उदर मे ही रखता है, दूसरा पात्र या स्थान उनके पास नहीं होता। फिर कभी तो वह धधकने लगता है व कभी बुझ जाता है। जो उसकी उपासना करते है, अग्निहोत्र, हवन, यज्ञादि करते है उनको श्रेय प्रदान करता है। सबका दिया खाकर उनके सब आगे-पीछे के अशुभो—दोषो को भस्म कर देता है। अग्नि जिस वस्तु मे—लकड़ी मे, लोहे मे या अन्य वस्तु मे—प्रविष्ट होता है उसीका रूप धारण कर लेता है। इस बात मे वह आत्मा से मिलता है। आत्मा भी जैसा शरीर होता है वैसा ही अपना रूप बना लेता है। पेड मे पेड का, लता मे लता का, पुरुष मे पुरुष का, स्त्री मे स्त्री का व पशु मे पशु का। यही सब गुण मनुष्य को अग्नि से सीखने चाहिए।

भिन्न अवस्थाओ से भी आत्मा का स्वरूप ज्यो-का-त्यो अबाध रहता है। अत चन्द्रमा से मैंने यह शिक्षा ली है कि परिवर्तन देह का धर्म है, आत्मा का नही।

काल का वेग जल-वेग की तरह है। जल की धारा मे कब नया पानी आया व पुराना वहा इसका पता नही चलता। इसी तरह काल का क्षण कब बीता और कब नया क्षण शुरू हुआ, इसका ज्ञान नही होता। इसी काल के प्रभाव से ससार मे पदार्थमात्र, जीव-मात्र की उत्पत्ति, वृद्धि व विलय होता रहता है। प्रत्येक क्षण मे यह सब क्रियाए होती रहती हैं, किन्तु हमे सहसा उनका बोध नहीं होता। उसी प्रकार जिस प्रकार कि अग्नि की शिखा या ज्वाला प्रतिक्षण घटती-बढती रहती है, पर हमे उसका पता नही चलता। अत हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि क्षय-वृद्धि देह का धर्म है और इसलिए उसका सुख-दु ख नही मानना चाहिए।

**"मैंने सूर्य से जो सीखा है, वह सुनो—सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणों से पृथ्वी के जल को खींचकर समयानुसार उसे बरसा देता है, उसी प्रकार योगी, गुणानुवर्तिनी इन्द्रियो द्वारा त्रिगुणमय पदार्थों से जो कुछ ग्रहण करता है, उनका त्याग भी कर देता है, उनमें आसक्त नहीं होता। योगी को विचारना चाहिए कि जल के पात्रो में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान व्यक्तिगत उपाधियो के भेद से ही स्थूल बुद्धिवाले लोगों को आत्मा व्यक्तिविशेष में स्थित-सा प्रतीत होता है। वस्तुत तो वह एक और अपरिच्छिन्न ही है।" ॥५०-५१॥**

अब सूर्य से मिलनेवाली शिक्षा सुनो। सूर्य अपनी किरणो से पृथ्वी के जल को खीचता है और समय आने पर फिर वर्षा के रूप मे उसे बरसा देता है। ऐसे ही योगी को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियो के द्वारा जो कि गुणो के प्रभाव से काम करती है, सृष्टि के त्रिगुणमय पदार्थों से जो-कुछ ग्रहण करता है, वह फिर यथा-समय ससार के उपकार के लिए त्याग दे। अर्थात् समाज से वह जो-कुछ अन्न-वस्त्र, ज्ञान, सुख, साधन, उन्नति के रूप मे पाता है, उसका बदला उसे समाज की समयोचित सेवा करके चुकाते रहना चाहिए। वह न तो इनमे आसक्त हो, न इस ऋण को चुकाने की जिम्मेवारी को ही भूल जाय। सूर्य एक है, परन्तु भिन्न-भिन्न जल-पात्रो मे वह अलग-अलग स्थित दिखाई देता है, यह भ्रम है। उन्हे जो भिन्न-भिन्न मानता है, वह मूर्ख है। इसी प्रकार आत्मा भी भिन्न-भिन्न शरीरो मे एक ही है। किन्तु जो स्थूल बुद्धि हैं, वे उनमे एक-एक-स्थ अर्थात् सबमे अलग-अलग मानते हैं। योगी को इस भ्रम से बचना चाहिए।

"मैंने कपोत (कबूतर) से यह सीखा है कि कभी किसीके साथ अधिक स्नेह अथवा सग न करना चाहिए। नहीं तो दीन बुद्धि कबूतर के समान क्लेश उठाना पडता है।" ॥५२॥

अब मैंने कबूतर से भी एक शिक्षा ली कि न तो किसीसे अति स्नेह ही करना चाहिए न किसी बात मे आसक्ति ही रखनी चाहिए। नही तो कबूतर के एक जोड़े की तरह दुर्गति होगी। उसकी कथा सविस्तर सुन लेना अच्छा होगा।

"हे राजन्! एक कपोत किसी वन में पेड़ पर घोसला बनाकर कुछ वर्षों तक अपनी स्त्री कबूतरी के साथ उसमें रहा।" ॥५३॥

"वे गृहस्थ और परस्पर के प्रेमबन्धन से बधे हुए कबूतर-कबूतरी दृष्टि से दृष्टि, अंग से अग और मन से मन मिलाये हुए रहते थे।" ॥५४॥

"(परस्पर) विश्वस्त होने के कारण वे उस वन्य प्रदेश मे एक साथ सोते, बैठते, घूमते, ठहरते तथा बातचीत, क्रीड़ा और भोजनादि करते।" ॥५५॥

"हे राजन्! अपनेको तृप्त करनेवाली अपनी कृपापात्री वह कबूतरी जब-जब जो कुछ चाहती, वह अजितेन्द्रिय कबूतर अत्यन्त कष्ट उठाकर भी, उसे वही यथेच्छ वस्तु लाकर देता।" ॥५६॥

"समयानुसार उस कबूतरी को पहला गर्भ रहा और उस सती ने अपने स्वामी के निकट घोसले में अण्डे दिये।" ॥५७॥

"श्रीहरि की अचिन्त्य शक्ति से अवयवों की रचना होने पर कुछ काल में उनमें से सुकोमल शरीर और रोएंवाले बच्चे हुए।" ॥५८॥

"उनका शब्द सुनते और कलरव से आनन्दमग्न होते हुए उन पुत्रवत्सल दम्पती ने बड़े प्रेम से उनका लालन-पालन किया।" ॥५९॥

"उन प्रसन्नचित्त बच्चो के सुकोमल स्पर्शवाले पखो से, कलरव से, बाल-चेष्टाओ से और फुदकने से उन माता-पिता को बड़ा आनन्द होता था।" ॥६०॥

"इस प्रकार भगवान् विष्णु की माया से मोहित होकर परस्पर स्नेह-बन्धन में बधे हुए और (निरन्तर उनके पालन-पोषण की चिन्ता से) व्याकुल हुए वे कबूतर-कबूतरी अपनी सन्तान उन बच्चो का पालन करते रहे।" ॥६१॥

"एक दिन बड़े कुटुम्बवाले वे दोनो कबूतर-कबूतरी चारा लाने के लिए गये और चारे की खोज में बहुत देर तक उस वन में इधर-उधर भटकते रहे।" ॥६२॥

"इधर अकस्मात् एक वनवासी बहेलिये ने उन कपोत शावको को घोसले के

आस-पास फिरते देखकर जाल फैलाकर पकड लिया।" ॥६३॥

"इतने में अपनी सन्तान के पोषण मे अति उत्सुक रहनेवाले वे कपोत-कपोती भी, जो वन में गये हुए थे, चारा लेकर अपने घोसले के समीप आये।" ॥६४॥

"कबूतरी अपने बच्चो को जाल में फसे और दु ख से चिल्लाते हुए देखकर स्वय भी अत्यन्त दु खित हो विलाप करती उनके पास दौड गई ॥६५॥

"इस प्रकार निरन्तर स्नेहबन्धन में बधी और दैवमाया से दीनचित्त हुई वह कबूतरी उन बच्चो को बधे देखकर बेसुध हो स्वय भी उस जाल में फस गई।" ॥६६॥

"तब वह कपोत अपने प्राणो से भी प्यारे बच्चो और प्राणप्रिया दु:खिता भार्या को जाल मे फसे देखकर अति दु खित होकर विलाप करने लगा।" ॥६७॥

"अहो, मुझ भाग्यहीन मन्द-मति की यह दुर्दशा तो देखो, जो मेरे ससार-सुख से तृप्त और कृतार्थ हुए बिना ही मेरा यह अर्थ, धर्म, कामरूप त्रिवर्ग का साधन बना-बनाया घर बिगड गया।" ॥६८॥

"अहो, मेरी सब प्रकार योग्य और आज्ञाकारिणी पतिव्रता पत्नी भी मुझे इस सूने घर में अकेला छोडकर अपने भोले-भाले बालको के साथ स्वर्ग सिधार रही है।" ॥६९॥

"इस प्रकार जिसके स्त्री और बच्चे नष्ट हो रहे है, ऐसा मै अत्यन्त दीन और विधुर (स्त्रीहीन) होकर इस सूने घर में अपने दु खमय जीवन को किसलिए रखने की इच्छा करू।" ॥७०॥

"इस प्रकार जाल में फसकर मृत्यु ग्रस्त हुए और (उससे छूटने के लिए) प्रयत्न करते हुए उन स्त्री और बच्चो को देखकर भी वह दीन और बुद्धिहीन कबूतर स्वयं भी उसीमे कूद पडा ॥७१॥

"तब उस कुटुम्बी कबूतर को तथा कबूतरी और बच्चो को पाकर अपनेको कृतकृत्य मानता हुआ वह निर्दयी बहेलिया अपने घर चला गया।" ॥७२॥

"इस प्रकार जो व्यक्ति कुटुम्बी व अशान्तचित्त होकर निरन्तर द्वन्द्व ही में पडा रहता है वह अपने कुटुम्ब के पालन-पोषण में ही लगे रहने से उस पक्षी की भाति स्नेहबन्धन के कारण दीन होकर दु:ख भोगता है।" ॥७३॥

"खुले हुए मुक्तिद्वार के समान इस मनुष्य-देह को पाकर जो उस कपोत के समान घर में आसक्त है उसे शास्त्र मे 'आरूढच्युत' (चढ़कर गिरा हुआ) कहा है।" ॥७४॥

: ८ :

# दात्तात्रेय का शिष्य-भाव–२

"मैंने अजगर से सीखा कि दु.ख के समान इन्द्रियो के सुख भी स्वर्ग अथवा नरक में स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं, अतः बुद्धिमान पुरुष उनकी इच्छा न करें।" ॥१॥

"मीठा हो या फीका, अधिक हो अथवा थोड़ा, जैसा टुकड़ा बिना मांगे अनायास ही मिल जाय उसीको अजगर के समान निरीह भाव से खा ले।" ॥२॥

"यदि भोजन न मिले तो प्रारब्ध भोग समझकर अजगर के समान उसके लिए कोई प्रयन्न करके बहुत काल तक निराहार ही पड़ा रहे।" ॥३॥

"मनोबल, इन्द्रियबल और शारीरिक बल से युक्त होकर निश्चेष्ट शरीर से पड़ा रहे, बिना निद्रा के भी सोया हुआ-सा रहे और इन्द्रिय युक्त होकर भी कोई व्यापार न करे।" ॥४॥

राजा, अजगर से मैंने यह सीखा है कि यह इन्द्रियो से मिलनेवाला अर्थात् विषय-सुख, चाहे कोई स्वर्ग मे हो या नरक मे, दु ख की तरह खुद ही चला आता है। अत मनुष्य उसके विषय मे निश्चिन्त रहे और उसकी कामना न करे।

"नारायण सुख दुख उभय, भ्रमत फिरत दिन रात।<br>बिन बुलाय ज्यो आ रहे, बिना कहे त्यो जात॥"

इसी तरह विना मागे अनायास जो-कुछ मिल जाय, चाहे वह मीठा हो, फीका हो, थोडा हो, ज्यादा हो, उसीको खाकर सन्तुष्ट रहे। यदि कुछ न मिले तो 'प्रारब्ध' का फल मानकर किसीकी निन्दा न करे और निराहार ही रह जाय। मनोबल, इन्द्रियबल, व शरीरबल से युक्त होकर भी अपने स्वार्थ के लिए निश्चिन्त रहे, जागता हुआ भी सोया-सा रहे, इन्द्रियो से युक्त होकर भी कुछ न करे, निष्क्रिय, अकर्मी रहे। मतलब यह कि अपने निर्वाह के लिए भगवान् पर श्रद्धा रखे।

"योऽसौ विश्वम्भरो देव स भक्तान् किमुपेक्षते"

इसपर विश्वास रखे। दूसरे, अपने सुख-दु ख के सम्बन्ध मे उदासीन रहे। ये दो बातें अजगर से सीखने योग्य हैं।

**"समुद्र से मैंने यह सीखा कि मुनि को निस्तरग समुद्र के समान शान्त, गम्भीर, अगम्य, अवेद्य, अनन्तपार और क्षोभ-रहित रहना चाहिए। जिस प्रकार नदियों के कारण समुद्र नही बढता और न ग्रीष्म ऋतु में घटता ही है उसी प्रकार नारायण-परायण योगी को भी पदार्थो के मिलने से प्रसन्न और न मिलने से उदास न होना चाहिए।" ॥५-६॥**

अब समुद्र के गुणो को सुनो। समुद्र वडा तूफान आने पर भी शान्त रहता है। ऊपर-ही-ऊपर लहरे भले ही उठे, किन्तु उसका अन्तस्तल ज्यो-का-त्यो अक्षुब्ध रहता है। फिर उसकी लम्वाई-चौडाई का भी पार नही, उसे पार करना भी कठिन है। यो छोटे-वडे कारणो से तो वह प्रभावित ही नही होता। कितनी ही नदिया उसमे आकर गिरती है, लेकिन वह वढता नही है और कितना ही पानी वादल उससे खीचकर ले जाते है तो भी वह घटता नही। अत मनुष्य को चाहिए कि वह निस्तरग समुद्र की तरह शान्त, गम्भीर, प्रसन्न, अक्षोभ्य व अविचल होकर रहे। न किसीकी प्राप्ति से खुश हो, न अप्राप्ति से दु खी।

**"अब मैंने पतग से जो सीखा है सो सुनो—पतग जैसे रूप पर मोहित होकर अग्नि मे जल मरता है उसी प्रकार अजितेन्द्रिय पुरुष देवमायारूपिणी स्त्री को देखकर उसके हाथ-पावो से प्रलोभित होकर घोर अन्धकार में पडता है।" ॥७॥**

**"स्त्री, सुवर्ण, भूषण और वस्त्रादि मायिक पदार्थो में जो मूढ़ भोग-बुद्धि से फसा हुआ है वह विवेक-बुद्धि को खोकर पतग की भाति नष्ट हो जाता है।" ॥८॥**

पतग दीपक की रोशनी पर—रूप पर—मुग्ध होकर उसपर गिरकर जल मरता है। इससे मनुष्य को यह नसीहत लेनी चाहिए कि रूप मारक होता है। रूप, सौन्दर्य ऊपरी चमक-दमक, यह मायामयी समझना चाहिए, चाहे स्त्री की हो, पुरुष की हो, या किसी भी पशु-पक्षी या वनस्पति आदि की हो। केवल रूप देखकर नही रीझ जाना चाहिए। उसके गुण को भी देखना चाहिए। वलिक अच्छी वात तो यह है कि पहले गुण को देखे, फिर रूप को। अच्छेगुण के साथ अच्छा रूप भी हो तो वहुत वढिया—फिर भी हमारा ध्यान गुण की तरफ ही विशेष रहना चाहिए। यदि गुण, कर्म व रूप ज्यादा हो तो उसकी ओर आख उठाकर भी

न देखना चाहिए। अन्त मे वह दुखदायी ही होगा। पीला होने से ही कोई सोना नही हो जाता। रूप व सौन्दर्य का ही शौक हो तो परमात्मा व जगन्माता लक्ष्मी, सरस्वती के सौन्दर्य की ओर निहारो, जिससे हृदय मे आनन्द के साथ पवित्र व ऊचे भाव हो। इसकी परवा न करके जो व्यक्ति स्त्री, (और स्त्री हो तो पुरुष) सोना-चांदी-जवाहिरात, गहने, कपड़े आदि की चमक-दमक मे फस जाता है और जो इन्हे केवल आनन्द, उपभोग या प्रमोद के लिए ही अपनाता है, जीवन के उच्च उद्देश्यो की पूर्ति के लिए नही, वह पतग की तरह अन्धा होकर उनपर जल मरता है।

यदि पतग का अनुकरण ही करना हो तो पतग जैसे रूप पर जल मरता है वैसे ही हम उच्च लक्ष्य पर अपने को न्यौछावर कर दे।

**"मैने मधुमक्खी से जो सीखा है वह कहता हूं—भिक्षुक को चाहिए कि गृहस्थो को किसी प्रकार का कष्ट न देते हुए मधुकरी वृत्ति का आश्रय ले और जितने से शरीर-यात्रा का निर्वाह हो जाय, ऐसा थोड़ा-सा अन्न कई घरो से मांग-कर खा ले।" ॥९॥**

**"भ्रमर जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पुष्पो से उनका स्वाद ले लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष को भी छोटे-बड़े सभी शास्त्रो से उनका सार ले लेना चाहिए।" ॥१०॥**

**'इसके अतिरिक्त यति को चाहिए कि मधु-मक्षिका की भांति भिक्षा में से सायंकाल अथवा दूसरे दिन के लिए संचय करके न रखे; कर और उदर को ही पात्र बनावे। अर्थात् जितना हाथ में आ सके और पेट में समा सके उतना ही अन्न ले। भिक्षुक को सायंकाल अथवा दूसरे दिन के लिए संग्रह नही करना चाहिए। नहीं तो अपने संचित मधु के साथ जैसे मधुमक्षिका नष्ट होती है उसी प्रकार यति भी संग्रह करने पर उस सगृहीत पदार्थ के साथ नष्ट हो जाता है।" ॥११-१२॥**

शहद की मक्खियो से इतनी बाते सीखने जैसी है—थोडा-थोडा लेकर, शरीर-रक्षा-मात्र के लिए, रखा जाय। जैसे वे सभी फूलो का रस-सार खीचकर मधु सग्रह करती है, वैसे ही विद्वानो को चाहिए कि वे शास्त्रो से सार-मात्र खीच लिया करें। शाम या कल के लिए न तो लावें न बचाकर ही रखे। कर और उदर को ही अपना पात्र बनावे। अर्थात् इधर हाथ मे लिया उधर मुंह मे डाला व जितना

हाथ मे आवे, या पेट मे समावे उतना ही लिया जाय। यदि वह सग्रह के लोभ मे, पडेगा तो जैसे सचित मधु के साथ मधु-मक्खी भी मारी जाती है वैसे ही वह भी अपने सग्रह के साथ नष्ट हो जायगा।

अपनी आवश्यकता से अधिक सग्रह करने का अर्थ है दूसरो को जो चीज मिलनी चाहिए, उसे हडप लेना। ससार मे न्याय की रक्षा व अत्याचार से बचाव तभी हो सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति इस बात का ध्यान रख के अपने लिए कोई वस्तु ले कि इसके बिना मेरा जीवन असम्भव तो नही होगा ?

**"मैंने हाथी से यह सीखा कि भिक्षु को उचित है कि पैर से भी लकड़ी की बनी हुई स्त्री का स्पर्श न करे, यदि करेगा तो हथिनी के अग-संग से जैसे हाथी बंध जाता है उसी प्रकार बध जायगा।" ॥१३॥**

**"बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि साक्षात् अपनी मृत्यु-रूप स्त्री को कभी स्वीकार न करे, क्योकि जो कोई स्त्री-सग करता है उसे सबल पुरुष उसी तरह मारते हैं जैसे हथिनी के पीछे लगे हुए हाथी को दूसरे हाथी मारते हैं।" ॥१४॥**

हाथी से मैंने यह शिक्षा ली है कि मनुष्य स्त्रियो के फन्दे में न पडे। उनके मोह-पाश से सौ कोस दूर रहे। अपना विवेक व होश-हवास न खोवे। भले ही स्त्री लकडी की पुतली ही क्यो न हो। उसे दूर से ही नमस्कार करे। देखो, हाथी हथिनी के पीछे ही बाधा जाता है। हाथी पकडनेवाले एक गड्ढा बनाते हैं। उसे तिनको से ढककर उसपर कागज की हथिनी खडी कर देते है। उसपर मोहित होकर ज्योही हाथी वहा जाता है, गड्ढे मे गिर जाता है और फिर बाध लिया जाता है। बुद्धिमान् मनुष्य अपनी स्त्री के भी मोह-जाल से बचता रहे। बल्कि उसके मोह को मृत्यु की तरह भयकर समझे। जो पुरुष स्त्री की आसक्ति मे फस जाता है उसे सबल पुरुष उसी तरह मारते हैं जैसे हथिनी के पीछे पागल हुए हाथी को दूसरे सबल हाथी मारते है।

स्त्रियो के मोह से बचने पर इतना जोर देने का कारण है। बाज लोग यह सवाल उठाते है कि पुरुष से बचने पर इतना जोर क्यो नही दिया गया ? इसमे स्त्री की निन्दा नही है, न पुरुष के साथ पक्षपात ही है। बल्कि स्त्री-पुरुष-स्वभाव के परीक्षण से यह नतीजा निकाला गया है। बात यह है कि काम का वेग स्त्री व पुरुष मे भिन्न-भिन्न प्रकार से आता-जाता है। पुरुष मे जहा बाढ की तरह एका-एक वेग से आता है और जल्दी उतर जाता है, स्त्री मे धीरे-धीरे आता है व धीरे-

ही-धीरे जाता है। अत काम के आवेग मे आया हुआ पुरुष अपनेको उतना सभाल नही सकता जितना स्त्री संभाल सकती है। यही कारण है कि पुरुप सदैव विषय-भोग मे पहल करता है। एक तो इसलिए पुरुष को सावधान किया जाता है, फिर स्त्री का वेग धीरे-धीरे शान्त होता है, व पुरुष का जल्दी, वेग से। इसका परिणाम यह होता है कि जहा पुरुष शान्त हो जाता है तहा स्त्री अशान्त बनी रहती है व पुरुष को छोडना नही चाहती। इसीसे स्त्री मे पुरुष से आठ गुना काम कहा गया है। यदि स्त्री-पुरुष इस मर्म को समझ ले तो एक-दूसरे की रक्षा करने के उपाय हाथ लग जायगे और न स्त्री इसे अपनी निन्दा समझेगी, न पुरुष ही अपने अधिक आत्म-विश्वास की डीगें हाकेगा।

**"मधुहारी से यह सीखा है कि लोभी पुरुष जिस पदार्थ का बड़े दुःख से संग्रह करते है उसे वे न तो स्वय भोगते है और न किसी दूसरे को देते है। मधु-मक्षिकाओ के मधु को मधुहारी की भाति उनके धन को भी कोई और अर्थवेत्ता ही भोगता है।" ॥१५॥**

**"मधु-मक्षिकाओं के मधु को जैसे मधुहारी उनके सामने ही खाता है, उसी प्रकार अति कष्टपूर्वक संगह किये हुए धन से तरह-तरह के गृहोचित सुखो की आशा रखनेवाले गृहस्थो के पदार्थों को भिक्षु उनसे भी पहले भोगता है।" ॥१६॥**

लोभ न रखने की शिक्षा मैंने मधुहारी से ली है। लोभी पुरुष बडे यत्न से पदार्थों का सग्रह करता है। न खुद भोगता है, न दूसरो को लेने देता है। मधुमक्खी की तरह उसे सचय करके रखता है। अन्त को एक दिन मधुहारी आकर जैसे छत्ते को तोडकर मधु ले जाता है वैसे ही लोभी या कजूस के धन को दूसरे अर्थवेत्ता ही ले जाकर भोगते हैं। मधुहारी मक्खियो के सामने ही उस मधु को चाटता है, उसी तरह गृहस्थ जिन वस्तुओ का सग्रह बडे कष्ट से करता है और उनसे कई प्रकार के गृहस्थोचित सुखो की आशा लगाये रहता है, उनको भिक्षु लोग, उनके पहले ही, व उनके सामने ही भोगते है। क्योकि गृहस्थो के यहा भिक्षु या ब्रह्मचारी को पहले भोजन करने का विधान है।

**"मैने हरिण से जो शिक्षा ली है वह सुनो—वनवासी यति को चाहिए कि कभी ग्राम्यगीतो को न सुनें। व्याध के गीतो से मोहित होकर बन्धन में पडे हुए हरिण से इसकी शिक्षा ले।" ॥१७॥**

**"स्त्रियो के ग्राम्य गाने-बजाने व नृत्य देखने-सुनने से हरिणीपुत्र ऋषिश्रृंग**

**उनके वशीभूत होकर उनके हाथ की कठपुतली हो गये थे।" ॥१८॥**

शिकारी मधुर गीत गा-गाकर हिरनो को फसाते हैं। हिरनो को मीठी तानो का वडा शौक होता है। उसपर लट्टू होकर वे सुध-बुध भूल जाते हैं और शिकारियो के फन्दे मे फस जाते हैं। अत यति को चाहिए कि वह ग्राम्य अर्थात् अश्लील शृगारी या गवारू गाने न सुनें, देखो ऋष्यशृग स्त्रियो के गाने-वजाने-नाचने को देख-सुन के ही तो उनके हाथ की कठपुतली वन गये थे। मतलब यह कि न तो अश्लील गाने ही सुनना चाहिए न गाना-वजाना और नाच मे इतने मुग्ध ही हो जाना चाहिए कि अपना आपा ही भूल जाय। ऊची व शुद्ध भावो से भरी हुई कला एक वस्तु है, वह सात्विक आनन्द देती है, व कामुक कला दूसरी वस्तु होती है, जो विकारो व वासनाओ को उभारती है। मनुष्य को चाहिए कि कामोद्दीपक कलाओ से अपनेको वचावे।

**"मछली से मैंने यह सीखा है कि बुद्धिहीन मत्स्य जैसे काटे में लगे हुए मास के टुकडे के लोभ से अपने प्राण गवा देता है, उसी प्रकार रसलोलुप मनुष्य इस अत्यन्त वलवती जिह्वा के वशीभूत होकर मारा जाता है।" ॥१९॥**

**"विवेकी पुरुष निराहार रहकर रसना के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियो को शीघ्र ही अपने वश में कर लेते हैं, रसना तो अन्न-त्याग से और भी प्रबल हो जाती है, अत इसका जीतना अति कठिन है। परन्तु अन्य इन्द्रियो को जीत लेने पर भी जबतक मनुष्य रसनेन्द्रिय को अपने वश में न करे तबतक वह जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके जीतने पर ही इन्द्रियो के सब विषय जीते जा सकते हैं।" ॥२०-२१॥**

मछली से मैंने जवान को वश मे रखना सीखा। खाने के लोभ से ही मछली काटे मे लगे मास के टुकडे को खाने लपकती है और मछुए के जाल मे फस जाती है। इस रसना को जीतने का लोग तरह-तरह से उद्योग करते हैं। वाज-वाज उपवास रखते हैं। किन्तु उनसे और इन्द्रिया भले ही कावू मे आ जाय, जीभ का जोर तो उलटा वढ जाता है, क्योंकि उपवास के वाद कडाके की भूख लगती है और फिर जवान को वस मे रखना मुश्किल हो जाता है। सच वात तो यह है कि मनुष्य भले ही दूसरी इन्द्रियो को जीत ले, लेकिन इससे उसे इन्द्रियजित नही कह सकते। रसना को जीत लेने पर ही वह जितेन्द्रिय कहला सकता है। जीभ जितनी रसप्रिय है उतनी और कोई इन्द्रिय नही। इसका नाम ही रसना पड गया है। फिर

कोई जीभ के जीतने से काम नही चलता। रस को जीतना चाहिए अर्थात् मन से ही रस का आनन्द लेना छोडना चाहिए। जो-कुछ हम ग्रहण करे वह शरीर व मन की पुष्टि के लिए हो, आनन्द के लिए नही। क्योकि रस को ही जहा एक बार जीत लिया तो फिर सभी इन्द्रिया अपने-आप जीती गई समझो। उनके लिए अलग से प्रयत्न करने की जरूरत नही रहती।

"हे राजकुमार, पूर्वकाल में विदेह नगरी में पिंगला नाम की एक वेश्या थी। उससे भी मैंने जो कुछ सीखा है, वह सुनो।" ॥२२॥

"एक दिन वह स्वेच्छाचारिणी किसी प्रेमी को अपने रमणस्थान में लाने की इच्छा से खूब बन-ठनकर बहुत देर तक अपने घर के द्वार पर खड़ी रही।" ॥२३॥

"हे नरश्रेष्ठ, वह अर्थलोलुपा गणिका जो कोई पुरुष उस मार्ग से निकलता उसीको देखकर समझती कि कोई बहुत धन देकर रमण करनेवाला धनवान् नागरिक होगा।" ॥२४॥

"किन्तु उसके वहां से होकर निकल जाने पर वह वेश्या विचारती कि कोई और बहुत धन देनेवाला धनी पुरुष मेरे पास आता होगा।" ॥२५॥

"इसी प्रकार की दुराशा से द्वार के पास खडे-खडे उसकी नींद जाती रही और कभी बाहर कभी भीतर आते-जाते उसे आधी रात हो गई।" ॥२६॥

"धन की दुराशा से प्रतीक्षा करते-करते जिसका मुख सूख गया है, ऐसी उस व्याकुल-चित्ता वेश्या को चिन्ता के कारण ही होनेवाला परम सुखकारक वैराग्य उत्पन्न हुआ।" ॥२७॥

"इस प्रकार चित्त में वैराग्य उत्पन्न होने पर उसने जो-कुछ कहा—वह मुझसे सुनो। हे राजन्! पुरुष के आशारूपी पाश के लिए वैराग्य खड्ग के समान है।" ॥२८॥

"हे तात, जिसको वैराग्य नहीं है, वह पुरुष देहबन्धन को नहीं छोड सकता, जिस प्रकार कि विज्ञानहीन पुरुष ममता का त्याग नहीं कर सकता।" ॥२९॥

पिंगला नाम की वेश्या को जब कोई ग्राहक आधी रात तक भी न मिला तो इस ग्लानि से उसके मनमे एकाएक वैराग्य प्राप्त हो गया। पहले वह चिन्ता व निराशा से जल रही थी, वैराग्य होने पर बडा सुख मालूम हुआ। राजा, जो तरह-तरह की आशाओ के पाश मे बधे रहते है, उनके लिए यह वैराग्य तलवार का काम देता है। जबतक भोगो से जी विरत नही होता तबतक शरीर-बन्धन नही छूट

सकता—उसमे होनेवाले दु ख, ताप, सन्ताप से शरीर वच नही सकता। प्रत्येक भोग—मोहयुक्त होकर प्राप्त किया भोग या सुख—अपने पीछे पश्चाताप व दु ख की विरासत छोड जाता है। उससे मनुष्य उसी प्रकार नही छूट सकता, जिस प्रकार कि विज्ञानहीन मनुष्य की ममता नही छूट सकती। 'ये मेरे हैं', यह भाव ममता कहलाता है। जब किसीके साथ हमारी ममता होती है तो एक ओर हम उसपर अपना अधिकार-सा मानने लगते हैं और दूसरी ओर उसके साथ विशेष रिआयत, पक्षपात करने लगते हैं। अधिकार मानने का फल तो यह होता है कि हम जबरदस्ती अनिच्छापूर्वक उनपर अपनी इच्छाए व आज्ञाए लादते हैं, और पक्षपात का फल होता है दूसरो के साथ अन्याय। ये दोनो फल अवाछनीय व हानिकर हैं। मनुष्य की यह ममता तभी छूट सकती है, जब उसे दूसरो के व अपने वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। जहातक व्यक्ति से सम्बन्ध है, जब मनुष्य यह समझ लेता है कि यह भी मेरी तरह परमात्मा की एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है, कुछ कारणो से मेरे सम्बन्ध या सम्पर्क मे आ गया है, अत हम परस्पर सचाई के साथ अपने-अपने कर्त्तव्यो का पालन करते हुए स्नेह मे रहे, एक-दूसरे पर ममत्व या अधिकार का भाव गलत है, तो ममता छूट जाती है। यही वात वस्तु के विषय मे भी समझना चाहिए। किसी वस्तु पर हमारा ममत्व उसी अश तक वाजिव है जिस तक कि वह हमारे कर्त्तव्य-पालन मे सहायक हो, न कि हमारे भोग-विलास को सधाने या वढाने मे। क्योकि ससार मे जो भी वस्तु परमेश्वर ने पैदा की है वह निश्चित उपयोग के लिए ही है। मनुष्य उनके द्वारा दु खी हो, पतित हो, यह उद्देश्य परमात्मा का हरगिज नही हो सकता।

**"पिंगला बोली—"अहो ! मुझ इन्द्रिय-परायणा के स्नेह का विस्तार तो देखो जो मैं मूर्खा इन तुच्छ और असद् वुद्धि प्रेमियो से सुख की कामना करती हू" ॥३०॥**

अहो, मैं कैसी वेवकूफ और अन्धी हू, किस तरह धन और भोग-वासना की गुलाम वन चुकी हू कि ऐसे खोटे और तुच्छ लोगो से सुख की व अपनी आशाओ की पूर्ति की उम्मीद रखती हू, जो अपनी काम-वासना वुझाने के लिए अपनी धर्म-पत्नियो को छोड-छोडकर मेरे पास आते हैं। उनसे वढकर खोटे और तुच्छ कौन हो सकते हैं ? और मैं उनसे भी गई-वीती हू जो ऐसे नराधमो को सन्तुष्ट करने के लिए अपना तन वेचती हू, अपनी प्रतिष्ठा और गौरव को मिट्टी मे मिलाती हू।

**"अरे, मै बडी बेसमझ हूं जो अपने समीप ही रमण करनेवाले तथा नित्य रति और धन के देनेवाले इन प्रियतम परम पुरुष (परमेश्वर) को छोड़कर कामना-पूर्ति में असमर्थ तथा दु.ख, भय, राग, शोक और मोह आदि देनेवाले इन तुच्छ पुरुषो को भजती हू" ॥३१॥**

अरे रे, मैने अपने उस सच्चे रमण को भुला दिया, जो सदा-सर्वदा मेरे पास ही रहता है, जो चौवीसो घण्टे रति व सारी दुनिया को धन-दौलत दे सकता है, जो हमेशा सबके उपकार व भले मे ही निमग्न है, जो सबका प्यारा है व जिसे सब प्यारे है, और मूर्खतावश ऐसे क्षुद्र और मेरी कामना-पूर्ति मे असमर्थ खाली हाथ लोगो के सेवन करने की इच्छा रखती हू, जो मुझे दु.ख, रोग, शोक, मोह के सिवा और कुछ नही दे जाते। ले तो जाते है मेरी इज्जत लूट के, लेकिन दे जाते है कुछ चादी के टुकडे और तरह-तरह के ताप-सन्ताप, बीमारिया व बदनामिया।

**"अहो, मैने इस अति-निन्दनीय आजीविका—वेश्यावृत्ति से व्यर्थ ही अपनी आत्मा को सन्तप्त किया। हाय! मै इन सभी लम्पट, अर्थ-लोलुप, और अनुशोचनीय पुरुषो द्वारा खरीदे हुए शरीर से रति और धन की इच्छा करती थी" ॥३२॥**

**"जो अस्थिमय टेढे-तिरछे बांसों,और थूनियो से बना हुआ है, त्वचा, रोम और नखो से आवृत है तथा नाशवान् और मल-मूत्र से भरा हुआ नौ द्वारोवाला घररूप यह देह है, उसका मेरे अतिरिक्त और कौन कान्त समझकर सेवन करेगी" ॥३३॥**

छि-छि मैंने वृथा ही पाप-वृत्ति का सहारा ले अबतक अपनी आत्मा का पतन किया। सो भी इन स्त्री-लोभी कामियो के पीछे! हाय-हाय! तुच्छ रति व द्रव्य के लिए मैंने अपनी आत्मा, सत्व, इन कुटिल लोगो के हाथ बेच दिया। अरे, इस शरीर को देखो। यह हड्डियो रूपी बासो की थूनियो के सहारे खडा है, रोम, चमडी, नखो से ढका हुआ है, भीतर सब प्रकार का मल भरा हुआ है, जो नौ द्वारो से निकलता रहता है। फिर यह कै दिन के लिए रहता है? मुझ जसी मूर्खा ही ऐसे क्षण-भगुर शरीर के सुख के खातिर ऐसे पाप कर्म कर सकती है।

**"इस विदेह नगरी में एक मै ही ऐसी मूर्खा और कुलटा हूं जो इन आत्मप्रद अच्युत परमात्मा को छोड़कर किसी अन्य से अपनी कामना पूर्ण करना चाहती हूं।" ॥३४॥**

**"ये सब शरीरधारियो के सुहृद, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं, अब मैं इनके ही हाथ बिककर लक्ष्मीजी के समान इन्हींके साथ रमण करूगी।" ॥३५॥**

**"अरी, ये जो भोग और भोग-प्रद पुरुष है, इन्होने मेरा कितना प्रिय साधन किया ? अथवा और भी आदि-अन्तवाले पुरुष तथा काल से भयभीत देवगण है वे भी अपनी भार्याओ को कितना सतुष्ट कर पाते है ?" ॥३६॥**

अब तो मैं अपने परम प्रियतम परमात्मा के ही साथ रमा जैसी बनकर रमण करूगी। अब उन्हीके हाथ बिकूगी। इन भोगो ने और भोग-पूर्ति करने वाले लोगो ने अबतक मेरा क्या प्रिय किया है ? इन्हे जाने दो। इन देवताओ को ही लो। वे भी अपनी भार्याओ को कितना सतोष दे पाते हैं ? जन्म-मरण का फेरा इनके भी पीछे लगा ही रहता है। मृत्यु और विनाश से ये भी डरते रहते हैं। जब देवताओ तक का यह हाल है तो मैं इन सबको छोडकर परमात्मा को ही क्यो न अपना सर्वस्व अर्पण करू ?

**"अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्म से भगवान् विष्णु प्रसन्न हुए हैं जिससे कि इस दुराशा से मुझको ऐसा सुखकारक वैराग्य उत्पन्न हुआ है।" ॥३७॥**

**"यदि मेरा भाग्य मन्द होता तो मुझको ये कष्ट न उठाने पडते, जोकि उस वैराग्य के हेतु है जिसके द्वारा मनुष्य गृह आदि के बन्धन को काटकर शान्ति लाभ करता है।" ॥३८॥**

अवश्य ही मेरे सत्कर्मो का उदय हुआ है। भगवान् मुझपर प्रसन्न हुए मालूम पडते हैं, क्योकि इस दुराशा से—इस कुकर्म से भी—मुझे सुखदायी वैराग्य प्राप्त हो गया। आम-तौर पर मनुष्य को जब कोई दु ख या निराशा होती है तो वह परमात्मा को कोसता है, दैव को दोष देता है, अपनी भूल, अपने कर्मों को नही देखता। यह उसका अज्ञान है, अधता है, कुसस्कारो का प्रभाव है। लेकिन पिंगला के पुण्य-कर्म उदय हो चुके थे, कुसस्कारो का अत आ चुका था, अतएव उसे इससे उल्टी भावनाए होने लगी। जब मनुष्य बुराई मे अच्छाई देखने लगता है तब सच-मुच यह उसकी सद्बुद्धि का, शुभ सस्कारो का लक्षण है। अत वह कहती है कि यदि मैं सचमुच ही मदभागिनी होती तो ये क्लेश मेरे लिए सुखदायी वैराग्य के कारण नही बनते। अत , इस विरक्ति ने तो मानो मेरे सब बधन काट डाले हैं। अब मैं आकाश मे उडनेवाली चिडिया की तरह सब तरह से स्वतत्र हू। अब मेरी शाति का ठिकाना नही। परमात्मा अब मैं तेरी ही शरण हू।

**"अतः अब मैं इस उपकार को शिरोधार्य कर विषय-जनित दुराशा को छोड़ उस जगदीश्वर की शरण में जाती हूं।" ॥३९॥**

**"अब मैं संतोष और श्रद्धापूर्वक प्रारब्ध-वश जो कुछ मिलेगा उसीसे जीवन-निर्वाह करती हुई इस आत्म-रूप रमण के साथ ही सानन्द विहार करूंगी।" ॥४०॥**

परमात्मा का यह उपकार मैं अपने सिर लेती हू। अब काम-भोग की सब इच्छाओ, सव दुराशाओ को, यही तिलाजलि देती हू और उस दयामय प्रभु का पल्ला पकडती हू। आज से मै व्रत लेती हू कि सहजभाव से अपने-आप जो कुछ मिल जायगा उसीको पाके जीवन विताऊगी। भगवान् पर, उसकी मगलमयता और विश्वभरता पर श्रद्धा रखकर सतोष के साथ शेष आयु व्यतीत करू गी। अब मैं तो उसी आत्मा-रमण के साथ गाऊगी, नाचूगी व सानन्द विहार करू गी।

**"ससार-कूप में पडे हुए, विषय-वासनाओं से नष्ट-दृष्टि और कालरूपी सर्प से डसे हुए इस आत्मा (जीव) की रक्षा परमात्मा को छोड़कर और कौन कर सकता है?" ॥४१॥**

**"जिस समय जीव संपूर्ण विषयो से उपरत हो जाता है उस समय यह स्वय ही अपना रक्षक हो जाता है। अतः प्रमाद-रहित होकर इस जगत् को निरन्तर कालरूपी सर्प से ग्रस्त हुआ देखे।" ॥४२॥**

जो मनुष्य ससार रूपी कुए मे पडा हुआ है, जिसके ऊपर उठने या इधर-उधर हिलने-डोलने की गुजाइश नही है, चारो तरफ नाना-प्रकार के विकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर से जकडा हुआ है और विषय-वासनाओ से जिसकी आखें फूट गई हैं, जिससे उसमे से निकलने का रास्ता भी नही सूझता, फिर उसमे काल-रूपी साप ने डस लिया हो तो उसका रक्षक ईश्वर के सिवा कौन हो सकता है? ऐसी ही दशा पिंगला की हो गई थी।

यो तो जब जीव को उपरति हो जाती है, विषय-भोग से जी ऊब उठता है, ग्लानि हो जाती है, तब एक प्रकार से वह खुद ही अपना रक्षक हो जाता है। बुराई से जी का हटना ही अपने-आप ढाल का काम देने लगता है। अत बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह सदा यह समझे कि काल सिर पर खडा है, यह जगत् उससे डसा हुआ ही है, अतः बिना किसी गफलत के, सजग रहकर इसमे बरते

और पिंगला की तरह बुराई मे से भी भलाई को आता हुआ देखे ।

**"अवधूत बोले—हे राजन् ! पिंगला वेश्या इस प्रकार निश्चय करके कान्ताभिलाषाजनित दुराशा को छोडकर शातभाव में स्थित हो अपनी शैया पर सो गई ।" ॥४३॥**

**"आशा ही परम दु ख है और निराशा (निरपेक्षता) ही परम सुख है, क्योंकि देखो, पिंगला कात की आशा छोड देने पर सुखपूर्वक सो गई ।" ॥४४॥**

जब उसकी निराशा मे वैराग्य ने उसे परमात्म-सुख की कुछ झलक दिखाई तो उसे शाति से नीद आगई । उसके जी का सारा बोझ उतर गया । पश्चात्ताप भूलो व पापो की असली दवा है । उसे केवल पश्चात्ताप ही नही हुआ, बल्कि, उसने परमात्मा के निमित्त ही अपना सारा भावी जीवन लगा दिया । उसके जीवन से यह शिक्षा मिलती है कि किसी बात की अपेक्षा से वढकर कोई दु ख नही, और निरपेक्षता से वढकर कोई सुख नही । निस्पृहस्य तृण जगत् ।"

**"चाह गई चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह ।<br>जाको कछू न चाहिए, सो जग शाहशाह ।।"**

: ९ :

# दत्तात्रेय का शिष्य-भाव—३

अवधूत बोले—"(हे राजन्, मैं ने कुरर पक्षी से यह सीखा है कि) मनुष्यों को जो-जो वस्तुएं अत्यन्त प्यारी हैं, उनका संचय करना ही उनके दुःख का कारण है। ऐसा जानकर जो अकिंचनभाव से रहता है अर्थात् कुछ भी सग्रह नहीं करता, वह उसीमें सुख पाता है।" ॥१॥

"एक कुरर पक्षी को, जो अपनी चोच में मांस लिये हुए था, बिना मांसवाले दूसरे बलवान् पक्षियो ने बहुत मारा, तब उसने उस मांस को छोड़कर ही शान्ति प्राप्त की।" ॥२॥

कुरर पक्षी से भी मैंने बोध ग्रहण किया है। वह यह कि मनुष्य के लिए अपनी प्रिय वस्तु का सग्रह भी दु खद हो जाता है, क्योकि उसपर दूसरो की आखे लगी रहती हैं व उनके मन मे द्वेष-दाह पैदा हो जाते है, समय पाकर वे उसे छीनने, चुराने या बिगाडने का यत्न करते है। एक कुररी के पास एक मास का टुकडा था। उसने भविष्य के लिए उसे बटोर रखा था। दूसरे बलवान पक्षियो ने, जिनके पास मास नही था, उसे देखा और उसपर टूट पडे। जब कुररी ने मास का टुकडा छोड दिया तब जाकर कही उसकी जान बची। इससे मैंने यह नसीहत ली कि मनुष्य को अकिंचन बनकर ही रहना उचित है। अपने श्रम, योग्यता व अन्त मे ईश्वर पर विश्वास रखकर वृथा सचय के फेर मे न पडे, क्योकि इससे वह अपने लिए चिन्ता का व दूसरो के लिए द्वेष का विषय होता है।

मनुष्य के लिए सबसे प्रिय परिग्रह उसके शरीर का है, क्योकि यही सव प्रकार के इन्द्रिय-सुखो का साधन है। अत वह शरीर का भी परिग्रह छोड दे—उसका अभिमान त्याग दे। शरीर से अभिमान छूट गया तो वह आत्म-स्वरूप हो गया। यही पूर्ण व सच्चा अपरिग्रह है। अतः मन को शरीर के विषयों से हटाकर

आत्मा के विषयो मे लगाना चाहिए।

**"(मैंने बालक से जो शिक्षा ली है उसके कारण) मुझको मान या अपमान का कुछ विचार नहीं है और न घर या परिवार की ही कोई चिन्ता है। मै तो अपने आत्मा मे ही क्रीडा करता हुआ और आत्मा में ही मग्न हुआ बालक के समान नि शक विचरता हू।" ॥३॥**

**"ससार में दो प्रकार के व्यक्ति ही चिन्ता से रहित और परमानन्दपूर्ण होते हैं। एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट बालक और दूसरा वह जो गुणातीत हो गया हो।" ॥४॥**

बालक से शिक्षा लेकर मैंने मानापमान को छोड दिया। लोग हमको बडा समझें, हमारी आव-भगत करें, हमारी बडाई करे—यह भावना मान कहलाती है। इसके विपरीत यथा-योग्य व्यवहार का न होना या न किया जाना अपमान कहलाता है। बालक के मन मे तो न ऐसी मान की इच्छा रहती है, न अपमान का ही भाव पैदा होता है। बालक को ससार का ज्ञान नही होता, इसलिए सहज स्वभाव से यह भावना रहती है। परन्तु सज्ञान पुरुष को चाहिए कि वह जान-बूझकर इस भावना से ऊपर रहे। ऐसी तटस्थता या तो बालको मे ही पाई जाती है या फिर पहुचे हुए साधुओ मे—गुणातीत मे। मान की इच्छा के मूल मे अहकार होता है। ज्ञानी मे शरीर के प्रति 'अहम्'-भाव नही होता—आत्मा के प्रति होता है। आत्मा सर्वव्यापक होने से उसका अहकार भी विश्व-व्यापी हो जाता है। जो विश्व मे व्याप्त है, वह किससे मान चाहे व क्यो चाहे ? फिर मान की इच्छा रखना निरर्थक है। यदि हम वास्तव मे योग्य व बडाई के लायक हैं तो लोग अवश्य ही हमारा आदर करेंगे। यदि नही है तो ऐसी इच्छा रखना मूर्खता ही हो सकती है। यदि कोई हमारा अपमान करता है तो इससे हमारा क्या बिगडता है ? अपमान करने-वाले की हीनता ही सूचित होती है। यदि ऐसे अवसर पर हम शान्त रहते हैं तो दूसरे लोग अपमान करनेवाले को शर्मिन्दा कर देते हैं या उसकी लानत मलामत करते हैं। यदि खुद इसमे उससे भिड जाते हैं तो हमारी क्षुद्रता ही प्रकट होती है।

**"(मैंने कुमारी से जो सीखा है वह सुनो)—एक बार एक कुमारी कन्या ने अपने बन्धु बान्धवों के कहीं बाहर चले जाने के कारण अपनेको वरण करने के लिए घर आये हुए लोगो का आतिथ्य स्वय ही किया।" ॥५॥**

**"हे राजन्, उनको भोजन कराने के लिए जब वह घर के भीतर एकान्त में**

धान कूटने लगी तो उसकी शंख की चूड़ियां बड़ा शब्द करने लगीं।" ॥६॥

"उस शब्द को निन्दाजनक समझकर वह बड़ी लज्जित हुई और उसने एक-एक करके सब चूड़ियां तोड़ डाली। दोनो हाथो में केवल दो-दो चूड़िया रहने दीं।" ॥७॥

"धान कूटने पर उन दो-दो से भी शब्द होने लगा, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ डाली। फिर एक-एक चूडी से शब्द नहीं हुआ।" ॥८॥

"हे अरिमर्दन, लोकतत्व की जिज्ञासा से पृथिवी पर विचरते हुए मैंने उससे यह शिक्षा ली कि बहुत लोगो के एक साथ रहने से तो कलह होता है और दो के भी एकत्र रहने से आपस में बात-चीत तो होती ही है। अतः कुमारी की चूड़ी के समान अकेला ही विचरे।" ॥९-१०॥

कुमारी से मैंने अकेले रहने की शिक्षा ली। उसके यहा मेहमान आये तो उनके स्वागतार्थ वह घर मे धान कूटने लगी। इससे उसकी चूडिया छनछनाने लगी। तो उसने सब उतारकर दोनो हाथो मे एक-एक चूडी रख ली। तब उनका शब्द बन्द हो गया। अत मैंने नतीजा निकाला कि जब बहुत-से लोगो को भीड होती है, तो जरूर लडाई-झगडा होता है। यदि दो भी रहते है तो भी कहा-सुनी हो जाती है। अत मनुष्य अकेला ही रहे। आवश्यकतानुसार लोगो से मिल-जुल लिया करे। इससे समय, शक्ति, शान्ति सबकी बचत होती है।

अनेकत्व तो ठीक द्वैत से भी मनुष्य को परे रहना चाहिए। एकत्व ही परम साध्य है। केवल शरीर से मनुष्य अकेला रहेगा तो एकागी हो जायगा। आत्मा मे एकता स्थापित करने के बाद उसे अपने लिए जन-सम्पर्क की जरूरत नही रहेगी—केवल लोक-सग्रहार्थ वह उनसे मिलेगा।

"(मैंने बाण बनानेवाले से यह शिक्षा ली है कि) वैराग्य और अभ्यास के द्वारा निरालस्य भाव से आसन और श्वास को जीतकर अपने वश में किये हुए चित्त को एक ही लक्ष्य (परमात्मा) में लगा दे।" ॥११॥

"उस परमानन्दरूप परमपद मे स्थित हुआ यह मन धीरे-धीरे कर्मरूपी धूलि को छोड देता है और फिर सत्त्वगुण के उद्रेक से रज और तम को त्यागकर यह ईंधनरहित अग्नि के समान शान्त हो जाता है।" ॥१२॥

"इस प्रकार आत्मा में चित्त का निरोध हो जाने पर इसे बाहर-भीतर कहीं भी किसी पदार्थ का भान नही होता। जिस प्रकार कि एक बाण बनानेवाले ने

बाण बनाने में लगे रहने के कारण पास ही होकर गई राजा की सवारी को नहीं देखा था।" ॥१३॥

वाण वनानेवाले से भी मैंने शिक्षा ग्रहण की है। वह यह कि अपने चित्त को एक ही लक्ष्य मे लगा दो, दूसरी सव वातो की ओर से ध्यान हटा लो[1] तभी मनुष्य सफलता प्राप्त कर सकता है। मनुष्य के लिए सवसे श्रेष्ठ प्राप्तव्य परमात्मा ही हो सकता है। अत वह उसीमे अपना सारा ध्यान एकत्र कर दे। वैराग्य और अभ्यास के बल पर ही वह ऐसा कर सकता है। दूसरी ओर से ध्यान हटाना वैराग्य और अपने लक्ष्य पर बार-बार हटते हुए भी, फिर-फिर करके ध्यान लगाना, वही उद्योग बार-बार करना, अभ्यास है। चाहे परमात्मा की सेवा आप करे, चाहे मन मे उसका ध्यान, दोनो के लिए यह आवश्यक है। मन मे ध्यान के लिए पहले प्राणायाम से श्वासोच्छ्वास को वश मे कर ले व आसन साध ले। फिर जाग्रत व सावधान रहकर उसीमे मन लगावे। जब मन ब्रह्म मे स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्म-विचार के सिवाय दूसरी बात मन मे नही आने पाती, तव प्रवृत्ति ब्रह्ममय होने लगती है। कर्म के बन्धन धीरे-धीरे टूटने लगते है। नये बाधनेवाले कर्म—आसक्तियुक्त कर्म—होने नही पाते व पुराने कर्मों के फलभोग नाश को प्राप्त होते रहते हैं। इससे रजोगुण व तमोगुण दबते व सत्वगुण प्रवल होता है। फिर आगे चलकर सत्वगुण भी इस तरह शान्त हो जाता है जैसे अग्नि विना ईंधन के अपने-आप शान्त हो जाता है।

---

[1]परमहस श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं—

एक स्त्री एक हाथ से ढेकी मे चिउडा कूट रही है और दूसरे हाथ से बालक को दूव पिलाती है और मुह से चिउडे का डाडम कर रही है, पर उसका ध्यान सदा इस वात पर रहता है कि ढेकी का मूसल हाथ पर न गिर जाय। इसी प्रकार ससार मे रहकर सब काम करो। पर ख्याल रखो कि कही ईश्वर के लक्ष्य से मन न हटे।

कुलटा स्त्रिया माता-पिता तथा परिवारवालो के साथ रहकर ससार के सभी कार्य करती हैं, परन्तु उनका मन सदा अपने प्रेमी मे लगा रहता है। ससारी जीव, तुम भी मन को ईश्वर मे लगाकर माता-पिता तथा परिवार का काम करते रहो।

'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेव विनश्यति।'

जैसे कि एक वाण वनानेवाला अपने काम मे इतना लवलीन रहा कि उसके सामने से राजा की सवारी का वडा जुलूस गाजे-बाजे के साथ निकल गया, लेकिन उसे पता ही न लगा। वह अपने कार्य—ब्रह्म मे ही—समाधिस्थ-सा रहा। उसे बाह्यान्तर का विल्कुल भान न रहा। ऐसी ही स्थिति मनुष्य की अपने लक्ष्य के विषय मे होनी चाहिए।

**"(मैंने सर्प से जो सीखा है, सो सुनो—) मुनि को चाहिए कि सर्प की भांति अकेला विचरे, किसी एक स्थान मे न रहे, प्रमाद न करे, गुहा आदि में पड़ा रहे, बाह्य आचारो से अपनेको छिपाये रखे तथा अकेला और अल्पभाषी हो।" ॥१४॥**

**"इस अनित्य शरीर के लिए घर बनाने के बखेड़े में पड़ना व्यर्थ और दु ख का ही कारण है। देखो, सर्प भी ता दूसरो के घरो में रहकर सुखपूर्वक बढ़ता है।" ॥१५॥**

अब सर्प से जो सीखा है सो सुनो। मुनि को चाहिए कि वह अकेला ही रहे। कही घर बनाकर न रहे। सदा चौकन्ना व सतर्क रहे। गुफा जैसे एकान्त स्थान मे रहे, कम बोले, प्रदर्शन न करे। अपने बाहरी आचार आदि दूसरो के सामने प्रकट न करे। फिर इस अनित्य शरीर के लिए घर आदि बनाने व बसाने की भी झझट मे न पडे। साप जैसे दूसरो के विल मे रहकर मजे से रहता है वैसे ही वह भी दूसरो के स्थानो का आश्रय लेकर रह ले। अपने लिए, अपने निमित्त न कोई वस्तु बनावे न सग्रह करे। देह-गेह के अभिमान से हीन होकर रहे।

**(मैंने मकड़ी से यह शिक्षा ली है—)"पूर्वकाल में अपनी माया से रचे हुए इस जगत् को, कल्प का अन्त होने पर, एकमात्र ईश्वर श्रीनारायणदेव ही काल-रूप से लय करके आत्माधार और सर्वाधिष्ठान रूप से अकेले ही रह जाते हैं। अपने ही शक्तिरूप काल के द्वारा सत्वादि गुणों के साम्यावस्था को प्राप्त हो जाने पर, प्रधान और पुरुष के नियन्ता, समस्त परावर (अलौकिक एवं लौकिक) प्रपंच के परम कारण वह आदिपुरुष कैवल्य रूप से रह जाते हैं। हे शत्रुदमन, फिर वह विशुद्ध विज्ञानानन्दघन निरुपाधिक भगवान ही केवल अपनी शक्ति (काल) के द्वारा अपनी गुणमयी माया को क्षुब्ध करके पहले (क्रियाशक्ति प्रधान) सूत्र (महत्तत्व) की रचना करते है। नाना प्रकार की सृष्टि रचनेवाले उस सूत्र को गुणत्रय का कार्य कहते है, जिसमें कि यह सम्पूर्ण विश्व ओतप्रोत है तथा जिसके**

**कारण जीव को ससार-बन्धन प्राप्त होता है।" ॥१६-२०॥**

**"जिस प्रकार मकडी अपने हृदय से मुख के द्वारा जाला फैलाकर उसमें विहार करने के पश्चात् उसको निगल लेती है, उसी प्रकार परमात्मा भी स्वय अपने में से ही इस प्रपच को फैलाकर फिर अपने मे ही उसका लय कर लेते है।" ॥२१॥**

मकडी जैसे अपने पेट का धागा मुख से निकालकर एक जाल फैलाती है, उसमे कुछ समय विहार करती है और फिर उसे लीलकर पेट मे समा लेती है वैसे ही परमेश्वर पहले तो सृष्टि को अपने मे से ही उत्पन्न करते है, उमे फैलाते हैं व फिर अपने ही अन्दर समेटकर रख लेते है। यह शिक्षा मैंने मकडी से ली है। परमात्मा की इस लीला को जरा विस्तार से समझ लो। एक सृष्टि का जब लय हो जाता है तब यह सारा विश्व परमात्मा मे लीन होकर अदृश्य हो जाता है व यह सारी विविधता नष्ट हो जाती है। वह सबकुछ एकाकार एक ही तत्त्वमय हो रहता है। वही श्रीनारायण देव है। अपने काल-रूप से अर्थात काल-शक्ति द्वारा वह सृष्टि का लय—साधन करते है। फिर वह अकेले ही इन सबके आधार या बीज-रूप से रह जाते हैं। अपना आधार भी वह खुद ही हो रहते है। यह सृष्टि प्रकृति के तीन गुणो—सत्व, रज, तम—का विस्तार है। प्रकृति मे जब क्षोभ होता है तब ये तीनो गुण घटने-बढने लगते हैं। इसीसे सृष्टि का बनना शुरू होता है। प्रलय के समय यही तीनो गुण फिर से साम्यावस्था मे हो जाते है। तब इस सारे लौकिक व अलौकिक प्रपच के परम कारण रूप वह आदि-पुरुष नारायण केवल-रूप से अर्थात् केवल अकेले रह जाते हैं। तीन गुणो से युक्त प्रकृति के समान जड-तत्व व पुरुष के चेतन-तत्व दोनो के वे नियामक हैं। इन्हींके बनाये नियमो के अनुसार पुरुष व प्रकृति अपना काम करते है। यह परमात्मा की सुप्त, अव्यक्त, कैवल्य अवस्था हुई। इस अवस्था मे वह अपने विशुद्ध आनन्द व विज्ञान मे मस्त रहते हैं। किसी प्रकार की सीमा-उपाधि से घिरे नही रहते हैं। कुछ समय के बाद वह फिर सृष्टि-रचना मे लगते हैं। सबसे पहले उनकी काल-शक्ति जगती है। उससे त्रिगुणात्मक माया मे हलचल शुरू होती है। तीनो गुणो मे घटा-बढी शुरू होती है। पहले क्रिया-शक्ति जाग्रत होती है व उससे युक्त सूत्र अर्थात् महत्तत्व का उदय होता है। यह तीनो गुणो के क्षोभ का परिणाम अर्थात् कार्य कहा जाता है। इसी महत् मे यह सारा विश्व ओत-प्रोत—लबालब भरा हुआ है।

जैसे वस्त्र मे चारो ओर सूत-ही-सूत होता है, वैसा ही। इसीलिए इसे सूत्र-सृष्टि-रूपी वस्त्र का धागा कहते हैं। वैज्ञानिक परिभाषा मे पदार्थ-मात्र मे, शक्ति-मात्र मे, प्रत्येक नाम-रूप मे जो धारणा (Sensibility) आकर्षण (Attraction) अपकर्षण (Repulsion) सायुज्य (Combination or Assimilation) वैयुज्य (Dissociation and Generation) सलग्नता (Adhesion) आदि धर्म पाये जाते हैं। उन समग्र का मिलकर नाम महत्-तत्व है। इस महत् के ही कारण जीव को ससार-बन्धन प्राप्त होता है अर्थात् चेतन पुरुष जीव रूप होकर ससार मे अवतीर्ण होता है। जब यह ससार बनकर फैल गया तो यही परमात्मा की, जीव की विहार-भूमि या लीला हुई। इसमे विहार करके फिर काल पाकर प्रलय अवस्था मे परमात्मा इसे अपने ही उदर मे मकडी की तरह रख लेता है। परमात्मा व सृष्टि का यह सम्बन्ध प्रत्येक जिज्ञासु, भक्त, साधक को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

**"मैंने भृ गी कीडे से यह सीखा है कि देहधारी जीव स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से जिस किसीमे भी सम्पूर्ण रूप से अपने चित्त को लगा देता है, अन्त में वह तद्रूप हो जाता हैं। जिस प्रकार भृ गीकीट द्वारा अपने बिल में बन्द किया हुआ कीडा भय से उसीका ध्यान करते-करते अन्त में अपने पूर्व-रूप को न छोड़ता हुआ भी उसीके समान रूपवाला हो जाता है।" ॥२२-२३॥**

भृ ग कीट से मैंने ध्यास-सम्बन्धी एक शिक्षा ग्रहण की। भृ गी अर्थात् गुनगुनी एक कीडा पकड लाती है और अपने बिल मे उसे बन्द कर देती है और उसपर गुनगुनाती रहती है। उसके भय से उसीका ध्यान उसे दिन-रात बना रहता है। फलत वह भृ गी बन जाता है। इससे मैं यह समझा कि कोई भी जीवधारी यदि स्नेह से, द्वेष से, अथवा भय से जिस किसीमे भी पूरे तौर से अपना ध्यान लगा देता है, तो वह उसी रूप को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म-रूप प्राप्त करने के लिए इसी तरह ब्रह्म का अभ्यास करने का उपदेश दिया जाता है। लेकिन अभ्यास के लिए किसी रूप का—आकार का—होना जरूरी है। ब्रह्म का आकार यदि कोई माना जाय तो या तो 'ॐ' या सारा विश्व ही कहा जा सकता है। उनकी भिन्न-भिन्न शक्तियो की या अवतारो की मूर्तिया भी ली जा सकती है। ऐसे ही किसी आकार का रूप अभ्यास से प्राप्त हो सकता। परन्तु ब्रह्म-स्थिति, ब्रह्म-निष्ठा इससे भिन्न । मुक्ति—ईश्वर मे मिल जाना—चार प्रकार की मानी गई है। एक

भगवान् के लोक मे पहुच जाना—सलोकता, दूसरे उनके निकट पहुच जाना—समीपता, तीसरे उनके रूप को पा जाना—सरूपता, चौथे उन्हीमे मिल जाना—सायुज्यता। ब्रह्मात्मैक्य यह उसकी चौथी दशा है। अभ्यास मे तीसरी अवस्था प्राप्त हो सकती।

समर्थ रामदास अपने दास-बोध मे सायुज्य मुक्ति के विषय मे लिखते है—बन्धन से मुक्त होने का नाम है मोक्ष। जीव अपने सकल्प मे बधता है। 'मैं जीव हू' अनेक जन्मो के इस सकल्प से जीव की देह-बुद्धि बढ जाती है और वह अल्प हो जाता है एव अपने स्वरूप को भूल जाता है। अत स्वरूप-जागृति का ही नाम मोक्ष है। अज्ञान की रात खतम होते ही सकल्प—दु खो का नाश हो जाता है व प्राणी तत्काल मुक्त हो जाता है। सकल्प से बधा जीव विवेक से ही मुक्त हो सकता है। अभेद भक्ति को ही सायुज्य मुक्ति कहते हैं। असार-निरसन के बाद जो सार बचा सो निर्गुण ब्रह्म है। वही हम है। तत्व-प्राप्ति के साथ ही 'मैं'-पन चला गया व निर्गुण ब्रह्म ही शेष रह गया—'स. अहम्' इस विचार से आत्मनिवेदन हुआ। भक्त-भगवान् की एकता हो गई। विभक्तता छोडकर भक्त हो गया—यह अनन्यता ही सायुज्य मुक्ति है। प्राणी भ्रम से 'कोऽहम्' कहता है। विवेक होते ही 'सोऽहम्' कहने लगता है। निर्गुण ब्रह्म से अनन्य समरस होते ही अहम्—'सोऽहम्' दोनो मिट जाते है। शाश्वत बाकी रह जाता है।

**"हे राजन्, इस प्रकार मैंने इतने गुरुओं से ऐसी-ऐसी शिक्षाए ली हैं। अब अपने शरीर से मैंने जो शिक्षा ली है, वह कहता हू, सुनो।" ॥२४॥**

**"मेरे विवेक व वैराग्य का हेतु यह शरीर भी मेरा गुरु है। उत्पत्ति और नाशही इसके धर्म हैं तथा निरन्तर कष्ट पाना ही इसका उत्तरोत्तर फल है। यद्यपि मैं इससे तत्त्व-चिन्तन करता हू तो भी मेरा यह निश्चय है कि यह पराया (अर्थात् स्यार, कुत्ते आदि का भक्ष्य) है। इससे मैं असग होकर विचरता हू।" ॥२५॥**

इन गुरुओ के अलावा इस शरीर से भी मैने शिक्षा ली है। इसीसे मैंने विवेक व वैराग्य ग्रहण किया है। विषयो से विरक्ति, व सारासार-विवेक इस मनुष्य शरीर मे ही शक्य है। फिर आपत्ति व नाश ही इसके धर्म है। यदि सावधान न रहे तो उत्तरोत्तर दु ख ही इसका फल है। मेरे तत्व-चिन्तन का सबसे बडा सहारा यही है। फिर भी मैं यह मानता हू कि अन्त को यह अपने काम आनेवाला नही है। स्यार, कुत्ते का ही भक्ष्य होनेवाला है। इस प्रतीति से मैं इसके प्रति असग

रहता हू, इसमे अपना ममत्व, स्वामित्व नही रखता।

देह से लाभ भी है और हानि भी है, देह से उपकार भी हो सकता है और अपकार भी, देह से पाप भी हो सकता हे और पुण्य भी। अत या तो देह का सदुपयोग करे, पुण्य कमाये, या देह का अभिमान छोडकर इसके प्रभावो से परे रहे। इसका उपयोग आत्म-प्राप्ति मे करे—इसे प्रभु का मन्दिर वनावे।

**"जीव जिस शरीर का प्रिय करने के लिए ही अनेक प्रकार की कामनाएं करता है, तथा स्त्री, पुत्र, धन, पशु, सेवक, गृह और अपने कुटुम्बियो का पोषण करता है, वड़े-वडे कष्ट उठाकर धन सचय करता है, वही आयु समाप्त होने पर स्वय तो नाश को प्राप्त होता ही है, परन्तु वृक्ष के समान अन्य देह के लिए (कर्म-रूपी) बीज बोकर उसके लिए भी दु ख की व्यवस्था कर जाता हे।" ॥२६॥**

मनुष्य इस शरीर की प्रिय कामनाओ की पूर्ति के लिए स्त्री, पुत्र, धन, पशु, सेवक, घर और अपने कुटुम्बियो को जुटाता व उनका सब तरह पोपण करता है। इतनी वडी-वडी जिम्मेवारिया अपने सिर पर लेता है—वहुत वडे कष्ट उठाकर, विपत्तिया सहकर धन को बटोरता है। वही यह देह पेड की तरह फल मे वीज उपजाकर नये शरीर के लिए इस जीवन को समाप्त कर देता है। यह जो तरह-तरह के कर्म करता है, इन्हीके सस्कार इसके अगले शरीर के लिए बीज का काम देते हैं।

**"जिस प्रकार बहुत-सी सपत्नियां (सौतें) गृहस्वामी को अपनी ओर खींचती हैं उसी प्रकार जीव को उनकी ज्ञानेन्द्रिया व कर्मेन्द्रियां पीड़ित करती रहती हे। इसे रसना कभी एक ओर खींचती है तो पिपासा दूसरी ओर। इसी प्रकार शिश्न अन्यत्र खीचता है तो त्वचा, उदर और श्रवणेन्द्रिय किसी और ही तरफ खीचने लगती हैं। ऐसे ही घ्राण एव चंचल नेत्र दूसरी ही ओर खींचते हे।" ॥२७॥**

इससे बेचारे जीव की वडी दयनीय दशा हो जाती है।

"भगवान ने अपनी अजेय माघाशक्ति से वृक्ष, सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु) पशु, पक्षी, डास और मत्स्य आदि नाना प्रकार की योनिया रचने पर उनसे सन्तुष्ट न होकर जब ब्रह्म-दर्शन की योग्यतावाले इस पुरुष-शरीर को रचा तभी प्रसन्नता प्राप्त की। अत यह मनुष्य-देह ही सर्वश्रेष्ठ है।" ॥२८॥

"यह मनुष्य-देह अनित्य होने पर भी परम पुरुषार्थ का साधन है। अत अनेक जन्मो के उपरान्त इस दुर्लभ नर-देह को पाकर बुद्धिमान् पुरुष को उचित

करने योग्य है। ऐसा गुरु वास्तव मे तो परमेश्वर ही हो सकता है—जो हमारे हृदय मे विराजमान है। यदि हम उसे समझ ले तो फिर गुरु की खोज ही समाप्त हो गई। मानो वह ससार के परम सत्य को पा गया।

**"श्री भगवान् कहते हैं—हे उद्धव, वे गम्भीर-बुद्धि ब्राह्मणश्रेष्ठ इस प्रकार यदु को उपदेश कर, उनसे विदा हो, उनके प्रणाम तथा पूजा आदि करने पर प्रसन्नचित्त से इच्छानुसार चले गए।" ॥३२॥**

**'इस प्रकार हमारे पूर्वजो के भी पूर्वज राजा यदु अवधूत के उपदेश को सुनकर सर्वथा नि सग होकर समदर्शी हो गये।" ॥३३॥**

सच्ची जिज्ञासा का ऐसा ही फल होना चाहिए। जो ज्ञान आचार मे परिणत न हो, जीवन का धर्म न बन जाय, वह कच्चा व अधूरा है। ज्ञान की परीक्षा आचार या कर्म है जैसे कि आचार ज्ञान का दीपस्तम्भ है।

: १० :

# संसार मिथ्या है ?

[म५था ञवनमुक्त अवधूत का उदाहरण देकर अब फिर श्रीकृष्ण उद्धव को ससार के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं। वह कहते हैं कि इस ससार मे प्रत्येक देह-धारी को जन्म-मरण निरतर लगे रहते है। अत ये मिथ्या अर्थात् नाशवान् हैं। लेकिन इन सवके अन्दर समाया हुआ जो जीव या चैतन्य है, वह एक, अखण्ड है। वह इस ढाचे मे उसी प्रकार भिन्न है जैसे अग्नि काष्ठ मे। इस वात को अच्छी तरह पहचानकर मनुष्य को चाहिए कि वह देह आदि पदार्थों मे सत्य-बुद्धि को त्याग दे, व यम-नियमो का सेवन करते हुए सद्‌गुरु की उपासना से मेरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करे। यज्ञादि अनुष्ठानो से भिन्न-भिन्न लोको की प्राप्ति जरूर होती है, लेकिन पुण्य क्षीण होने के वाद उन्हे फिर नीचे गिरना पडता है। अत काम्य कर्मों को छोडकर वह अनासक्त व ममता-हीन होकर एक ही आत्मा को सर्वत्र देखे।]

**"श्रीभगवान् वोले—हे उद्धव! मेरे कहे हुए अपने-अपने धर्मों में सावधान रहकर और मेरे ही आश्रित होकर अपने वर्ण, आश्रम और कुल के आचारो का निष्काम बुद्धि से आचरण करे" ॥१॥**

अत ऊधो, मनुष्य को चाहिए कि वह मेरे वताये हुए अपने-अपने धर्मों मे सावधान रहे, सर्वदा अपनेको मेरे आसरे छोड दे, एव अपने वर्ण, आश्रम, कुल के आचार का भली-भाति पालन करे, सो भी निष्काम-बुद्धि से।

वर्ण-व्यवस्था, जिसमे स्वभावानुसार समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र ये चार विभाग किये गए ये, प्राचीन आर्यों की वर्ण-व्यवस्था या चातुर्वर्ण्य कहलाती थी। यह सामाजिक संगठन था। वैयक्तिक उन्नति या साधना के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास यह आश्रम-व्यवस्था थी। कुल किसी प्रधान पुरुष के

पीछे वनता था और उसकी अपनी विशेषताए हो जाती थी। इन तीनो मे निर्दिष्ट आचारो का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक व उपयोगी होता था। यह पालन भी स्वार्थमय हेतुओ से नही, निष्काम भाव से, परोपकार-बुद्धि से, या ईश्वर-प्रीत्यर्थ, करने पर ज़ोर दिया जाता था, जिससे समाज मे स्वार्थ की होड न लगकर सेवा की, परोपकार की होड लगती थो। इन सबके अलावा, व्यक्तियो की अपेक्षा–फिर वह चाहे कितना ही महान् क्यो न हो–सदा परमात्मा पर–संसार की सर्वोच्च शक्ति पर या समष्टिसत्ता पर—अपना अवलवन रखने का उपदेश दिया जाता था। ईश्वर के सिवा किसीकी शक्ति की दाद न देने से एक ओर वे जहा किसीसे दवते न थे, तहा दूसरी ओर अभिमान भी नही बढ पाता था। एक किस्म की नम्रता, विनय-शालीनता उनमे लाई जाती थी।

आजकल यह वर्ण-व्यवस्था वहुत आलोचना की पात्र हो गई है। फिर भी महात्मा गाधी जैसे वर्तमान् जगत् के महापुरुष व डाक्टर भगवानदासजी जैसे आधुनिक काल के ऋषितुल्य विचारक इस व्यवस्था की खूबी पर मुग्ध है।[1] महात्मा-जी ने इसमे सिर्फ एक ही दोष घुस गया वताया है, और वह है ऊच-नीच का। इसलिए नीच समझे जानेवालो के प्रति घृणा व तिरस्कार-भाव आ जाता है।

**"(स्वधर्मानुष्ठान से)[2] शुद्ध चित्त होकर यह देखे कि विषयलोलुप पुरुष जिन त्रिगुणमय कर्मों को सत्य मानकर करते है, उन सबका परिणाम विपरीत ही होता है।" ॥२॥**

जव वह अपने धर्मानुसार निष्काम कर्म करेगा तो उससे उसका चित्त शुद्ध होता जायगा। काम, क्रोध आदि छ विकार ही चित्त के मल है। स्वार्थी कामो

---

[1]डाक्टर भगवानदासजी के वर्ण-व्यवस्था-सवधी विचार के लिए देखिये परिशिष्ट १६

[2]साराश कि अपने स्वभाव-धर्मानुसार ब्रह्मार्पण करके या समष्टि तथा समाज-हित की भावना से, प्रत्येक कर्म करे। कुलाचार, देवाचार, धर्माचार सबका आधार मुझे माने। प्रत्येक कर्म का अध्यक्ष मुझे समझे। मेरी अभिलाषा से ही प्रत्येक कर्म करे। कर्म के आदि, मध्य, अन्त सवमे मेरा ही स्मरण, ध्यान रहे। ऐसे सव कर्म अपने-आप निष्काम हो जाते हैं। उनके वन्धन से कर्त्ता मुक्त रहेगा।

से ये मल बढते है और नि स्वार्थी कामो से घटते हैं। स्वार्थी कामो मे लोगो का उत्तरोत्तर विरोध और नि स्वार्थी मे अर्थात् परोपकार मे उत्तरोत्तर सहायता-सहयोग वढता है। अत इन विकारो के वढने की गुजाइश कम रहती है। जब चित्त के मल धुल जाते है तो दृष्टि साफ हो जाती है, सही व सत्य विचार का रास्ता सरल हो जाता है। तब वह देखे और विचारे कि विषय-लोलुप लोग जो सात्विक, राजस व तामस गुणो[1] से प्रेरित होकर विविध कर्म करते हैं और मानते हैं कि ऐसा ही करना ठीक है तो उनका नतीजा उन्हे आखिर क्या मिलता है? वह इस नतीजे पर पहुचेगा कि सुख चाहते हुए भी, सुख के लिए इतना आकाश-पाताल एक रहते हुए भी, उनको उल्टा दु ख ही मिलता है—द्वेष, कलह, चिन्ता, निराशा, मनस्ताप यही उनके पल्ले पडता है।

**"सोये हुए पुरुष को (स्वप्नावस्था में) दिखाई देनेवाले पदार्थ तथा चिन्तन करनेवाले के मनोरथ जैसे नानारूप होने से मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार त्रिगुणात्मिका भेद बुद्धि ही मिथ्या है।" ॥३॥**

वह देख लेगा कि ससार मे यह जो मेरे व तुम्हारे—अपने व पराये का भेद-भाव है, या जो सृष्टि मे नाना प्रकार के आकार व रचनावाले पदार्थ दीखते हैं इनका यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला भेद वास्तव मे मिथ्या है। यह असलियत मे, गहराई मे जाकर सव एक ही तत्त्व मे समा जाते हैं, जैसे कि सारा पेड वीज मे। मनुष्य जव सोता है तो तरह-तरह के स्वप्न देखता है, या यो ही तरह-तरह के मनोरथ करता है। उस समय तो उसे वे प्रत्यक्ष व सच्चे ही मालूम होते हैं। किन्तु नीद खुल जानेपर सपने झूठे, अवास्तविक हो जाते हैं और सावधान होनेपर मनोरथ कल्पित मालूम होते हैं, वैसे ही दृश्य जगत् की यह भिन्नता और हमारा अपना मैं-मेरा यह भेद-भाव व माया के तीनो गुणो के प्रभाव का फल होने से

---

[1]त्रिगुण—"सत्त्व, रज, तम—इन तीनो गुणो से देह वना है। इनमे सत्व गुण उत्तम है। सत्त्व गुण के कारण हरिभक्ति, रजोगुण के कारण जन्म-मरण का फेरा व तमोगुण से अधोगति प्राप्त होती है। इनमे भी शुद्ध व शवल—पारमार्थिक व सासारिक ऐसे भेद हैं। परमार्थ-साधक को शुद्ध, ससारग्रस्त को शवल, औपाधिक या वाधक समझना चाहिए।" —दासबोध २।८

मिथ्या है।[1]

"मेरे परायण हुआ पुरुष निवृत्ति के लिए केवल नित्य नैमित्तिक कर्म ही करे, प्रवृत्तिजनक काम्य-कर्मो को छोड दे और जिस समय आत्म-जिज्ञासा (ब्रह्म-विचार) में भलीभाति प्रवृत्त हो जाय, उस समय कर्म-विधि की परवा न करे" ॥४॥

भेद-बुद्धि नष्ट होने से उसका मन धीरे-धीरे मुझमे मिलने लगेगा। तब भी उसे नित्य—नैमित्तिक—कर्म करते रहना चाहिए। लेकिन उन्हे मोक्ष की दृष्टि से, परमपद पाने की अभिलाषा से, करे, विषय-भोगो मे बाधनेवाले काम्य-कर्मो को छोड दे, जिनसे मन उलटा माया-मोह मे फस जाता है। इससे आत्मा-सम्बन्धी जिज्ञासा बढेगी और वह ब्रह्म-विचार मे डूबने लगेगा। जब उसे भली-भाति आत्म-प्रतीति होजाय तब फिर वह जो-कुछ करे स्वभावतः करेगा, कर्म से, विधि-निषेधात्मक नियमो से परे हो जायगा। वह स्वभाववश ही इन नियमो पर चलने लगेगा—इसलिए नही कि उनका विधान या निषेध किया गया है। यदि इनमे से कोई नियम उसके द्वारा टूटा या लाघा गया तो किसी ऊचे उद्देश्य से, महान् कार्य की सिद्धि के लिए, या वह नियम खराब हो तो मिटाने के लिए ही। इनके लिए उसके मन मे कोई घृणा नही पैदा होगी, बल्कि उसके लिए वे अनावश्यक व निरर्थक हो जायगे। जैसे जबतक हम बालक होते है, कोई काम माता-पिता व बडो की आज्ञा मानने के लिए करते है, किन्तु जब सज्ञान हो जाते हैं तो उन्ही

---

[1] सत्य = "ब्रह्म की दृष्टि से असत्य = माया नही है, व माया के रहते हुए ब्रह्म नही है। सत्य अथवा असत्य का सम्बन्ध देखनेवाले से होता है। देखने वाला = द्रष्टा व देखना = दर्शन जिसे अर्थात् द्रष्टा को हुआ, त्रिपुटी मिटी कि समाधान हुआ।"

"सत्य के बराबर पुण्य व असत्य के बराबर पाप नही। सत्य याने निश्चल ब्रह्म, स्व-रूप, और असत्य याने चचल, माया, दृश्य। पाप मिट जाने से निश्चल पुण्य शेष रह गया व उसमे अनन्य होने पर नामातीत हो गये। जब यह प्रत्यय हो जाय कि हम तो स्वत.सिद्ध वस्तु है, हमे देह-सबध नही है, तो फिर पाप के पहाड पलक मारते ही जलकर खाक हो जाते हैं। अनेक दोषो का क्षालन करनेवाला ब्रह्मज्ञान ही है—दूसरे साधन तो तुच्छ हैं।" —दासबोध

कार्यों को अपनी जिम्मेवारी समझकर अपने-आप करते या नही करते हैं।

[1]"मेरा भक्त यमो का निरन्तर सेवन करे और नियमो का भी समयानुसार यथाशक्ति पालन करे तथा मेरे स्वरूप के जाननेवाले, शान्त और साक्षात् मेरे ही स्वरूप गुरुदेव की सदा प्रेम और श्रद्धा से उपासना करे" ॥५॥

उद्धव, मेरे भक्त को चाहिए कि वह सत्य, अहिसा आदि यमो का नित्य पालन करे। यह अनिवार्य है, क्योकि इनकी बुनियाद पर ही श्रेय-जीवन की इमारत खडी है। शौच, सतोष आदि नियमो का पालन, समय व शक्ति देखकर करे,। इस तथा आगे की साधना के लिए गुरु की शरण जाय। प्रेम व श्रद्धा से गुरु की उपासना करे। गुरु मामूली न हो। यो तो जिससे भी हमे कुछ शिक्षा मिलती ह, जो हमसे किसी भी गुण, विद्या, शक्ति मे अधिक है। वह गुरु स्थानीय हे, परन्तु यहा गुरु उसे समझना चाहिए जो जीवन-निर्माण करे, जीवन को श्रेय का मार्ग बतावे। उसे मेरे स्वरूप का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। स्वभाव शान्त हो। अधिक क्या बताऊ, मुझ जैसा ही हो, ऐसा समझ लो। अब शिष्य के लक्षण सुनो—

"(उसे चाहिए कि) मान और मत्सर से रहित, कार्यकुशल, ममताशून्य, दृढप्रेमी, उतावलापन से रहित तथा आत्मतत्त्व का जिज्ञासु हो और परनिन्दा एव व्यर्थ-वचन से दूर रहे।" ॥६॥

शिष्य या साधक अपने जीवन मे दैवी सपत्तियो का उत्कर्ष साधे। किसीसे मान की इच्छा न रखे, जो काम हाथ मे ले उसे दक्षता से—सावधानी व योग्यता के साथ—पूरा करे, कोई वस्तु न मिले तो दूसरो से द्वेष न करे, सच्चा व पक्का

---

[1]जिसका ध्यान मुझमे लग जाता है, उसके काम्य-कर्म अपने-आप छूट जाते हैं। मुझमे प्रीति हो जाने से फिर ससार काकोई पदार्थ प्रेम—आसक्ति—योग्य नही जचता। जब तुच्छ विषय-भोग मे मनुष्य को इतना आनद मालूम होता है तो फिर सारे सासारिक विषयो के प्रभु मुझमे चित्त लगाने से उसे कितना आनद मालूम होगा? मुझमे चित्त लगाने का सरल व स्थूल उपाय है मेरे जगत्—मेरे शरीर—की सेवा मे प्रवृत्त होना। पहले प्रत्यक्ष की सेवा—उससे फिर मुझ अप्रत्यक्ष, अव्यक्त की ओर झुकाव हो जायगा। स्थूल से सूक्ष्म की ओर झुकाव हो जायगा। स्थूल से सूक्ष्म की ओर अपने-आप गति हो जायगी।

मित्र सबका बनकर रहे, 'यह मेरा है,' ऐसा ममत्व किसी व्यक्ति या वस्तु मे न रखे—सबको एक-समान अपना-सा समझे। फिर जल्दबाजी न करे, हर काम सोच-समझकर करे—हर बात सोच-समझकर बोले, ज्ञान व बोध की सदैव इच्छा रखे, उचित अवसर पर उचित सत्य, हित व मित बात कहे। वाचालता न करे। सदा प्रसन्नचित्त, आनन्दी बनकर रहे। खेद के अवसर आवे तो उन्हे मेरे अर्पण करके मेरे भरोसे मस्त रहे।

**"अपने परम-धनरूप आत्मा को सर्वत्र देखता हुआ समदर्शी होकर स्त्री, पुत्र, गृह, भूमि, स्वजन और धन आदि में अनासक्त एवं ममताहीन होकर रहे।" ॥७॥**

शादी हो या न हो, पानी रहे या न रहे, पुत्र हो या न हो, घर मिले या न मिले, खेती-बाडी रहे या चली जाय, स्वजन प्रसन्न हो या अप्रसन्न, रहे या न रहे, धन आवे या चला जाय, सब अवस्थाओ मे उदासीन, तटस्थ रहे, अपने चित्त की समता को न खोवे। इनकी प्राप्ति पर हर्ष या अभिमान से फूल न जाय, इनके नाश, वियोग पर दु ख व शोकभार से दब न जाय, न इनकी प्राप्ति, रक्षा व पालन के लिए कोई झूठा, गन्दा, अधर्म का काम ही करे। इन सबकी अपेक्षा मुझीको परमधन समझे। इन सबमे मुझीको व्याप्त माने। इससे उसकी दृष्टि सम-दर्शिनी हो जायगी। जबतक इनको स्वतत्र व पृथक् मानेगा, भेद-दृष्टि रहेगी व बुद्धि मे समता न आ पावेगी। जब इन सबको मेरा ही स्वरूप—मेरे ही भिन्न-भिन्न नाम-रूप—मानेगा तो आप ही सबमे सम-बुद्धि होने लगेगी। देह रहते ही विदेहता प्राप्त होने लगेगी।

**"जिस प्रकार दाह्य-काष्ठ से उसका दाहक और प्रकाशक अग्नि पृथक होता है, उसी प्रकार (दृश्यरूप) स्थूल एव सूक्ष्म शरीर से उनका साक्षी स्वय प्रकाश आत्मा विलक्षण (अत्यन्त भिन्न) है।" ॥८॥**

यह जो जड या भौतिक स्थूल व सूक्ष्म पदार्थ दिखाई देते है इनसे, इनके शरीर व ढाचे मे, इनमे चेतन-रूप से जो आत्मा रहता है, वह विलक्षण है, अत्यन्त भिन्न गुण-धर्म रखता है, वह स्वय-प्रकाश है। यह शरीर उसीके प्रकाश से प्रकाशित है, किन्तु वह आत्मा खुद ही अपने ही प्रकाश से प्रकाशित रहता है। वह शरीर के सब परिवर्तनो—उतार-चढावो—का साक्षी है। नदी-किनारे का पेड जैसे नदी के समस्त प्रवाहो को देखता है वैसे ही आत्मा हमारे अन्दर रोम-रोम मे रमा हुआ हमारे सब रूपान्तरो को सतत देखता है। देखो, लकडी मे आग

रहती है। वह उसे जलाती है। आग से लकडी प्रकाशमान होती है। परन्तु आग किससे प्रकाशित होती है ? वह अपनी ही शक्ति से प्रकाशित है। फिर भी वह काष्ठ से भिन्न है। इसी तरह आत्मा की स्थिति समझो।[1]

**"काष्ठ में प्रविष्ट हुआ अग्नि जैसे ध्वस, उत्पत्ति, सूक्ष्मता, महत्ता एव अनेकता आदि काष्ठ के गुणो को ग्रहण कर लेता है वैसे ही जन्म-मरण आदि देह के धर्मों को आत्मा ग्रहण कर लेता है। वास्तव मे वे धर्म उसके नहीं हैं।" ॥९॥**

लकडी मे प्रवेश करके अग्नि लकडी के जैसा लम्बा, टेढा, गोल आदि रूप तथा ध्वस, उत्पत्ति, सूक्ष्मता, महत्ता एव अनेकता आदि गुणो को ग्रहण करता है, वैसे ही आत्मा को समझो। वह भी देह मे प्रविष्ट होकर उसके जन्म-मरण आदि देह-धर्मों को प्राप्त कर लेता है, वास्तव मे ये उसके धर्म नही हैं।[2]

---

[1] "परमार्थ के माने है अध्यात्म, मोक्ष। परमात्व-तत्व सब सारो का सार है। वह अखण्ड, अक्षय, अपार है। उसे न चोर-भय, न राज-भय, न अग्नि-भय। यह परम-गुह्य है, अत परमार्थ कहलाता है। इसकी प्राप्ति से जन्म-मृत्यु के फेरे टलते है और सायुज्य-मुक्ति अपने पास ही मिल जाती है। विवेक से माया का निरसन होता है, सारासार-विचार स्फुरित होता है। अन्तर मे ही परब्रह्म का अनुभव होता है। चारो ओर ब्रह्म भासता है। ब्रह्मभास मे ब्रह्माड डूब जाता है। पचभूतो का उपद्रव शान्त हो जाता है। प्रपच मिथ्या हो जाता है। माया की नि सारता प्रकट हो जाती है। ब्रह्म-स्थिति प्राप्त होने से सारे सशय ब्रह्माड के बाहर चले जाते हैं। जिसे परमार्थ सध गया वही वास्तविक राजाधिराज है। जिसे नही सधा वही दीन-दरिद्र।

—दासबोध ?।९

[2] विचार के लिए मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इतने भाग कर सकते हैं। शरीर स्थूल दृष्टिगोचर है, मन अदृश्य और सूक्ष्म है। शरीर जड़ है, मन जड व चेतन दोनो है। शरीर की तरफ झुकने पर, शारीरिक प्रभावो से प्रभावित होने पर वह जड, व बुद्धि तथा आत्मा के प्रभावो से प्रभावित होने पर चेतन होता है। दोनो से प्रभावित होने के कारण वह डावाडोल, अस्थिर होता है। बुद्धि आत्मा की तरफ अधिक झुकती है। मन को विवेक से प्रभावित करती रहती है। सार और असार का बोध कराके आत्मा की ओर प्रवृत्त करती है। बुद्धि जब

**"चेतनस्वरूप पुरुष का जो यह सत्त्वादि गुणो से बना हुआ शरीर है, इस जन्म-मरणरूप संसार को उसीके निमित्त से समझना चाहिए।" ।।१०।।**

यो समझो कि यह शरीर आदि प्रकृति के तीन गुणो की रचना है। इसमे चेतन पुरुष जीवरूप से निवास करता है। वास्तव मे तो यह प्रकृति और चेतन-पुरुष दोनो ही परमात्मा के अश, रूप, शक्ति हैं। इन सबके दो बडे भाग हो जाते हैं। एक भाग है सत् चित् आनन्द—यह पुरुष है, दूसरा सत्व, रज, तम यह प्रकृति है। जगत् का स्थूल विविध रूप प्रकृति के द्वारा बना है और उसमे सच्चिदानन्द परमात्मा अपने अशरूप से प्रविष्ट होकर उसे सचेतन बनाता है। यह ससार बनता है और बिगडता है, देह उत्पन्न होता है और मरता है। यद्यपि ये क्रियाए शरीर की, आकार की ही होती है तो भी जीव उन सबमे समाया हुआ होने के कारण उसीकी मान ली जाती है। इस बात को भूलकर तुम यह समझो कि जीवन-मरण-रूप जो ससार है वह वास्तव मे परमात्मा के ही भोग के निमित्त है। जीवरूप धारण करके वह इसका सुख-स्वाद लेता है। जबतक यह जीव यह याद रखता है कि मै इस देह से व इसके सुख-दु खो से अलिप्त परमात्मा हू तब-तक वह इनके कर्म-फलो से नही बधता, जैसे बिजली को चाहे आप लैम्प मे लगा दीजिये, चाहे इजिन मे, चाहे मनुष्य को जलाने के यन्त्र मे लगा दीजिये, चाहे रेडियो मे, वह सब जगह अलिप्त होकर अपना काम कर देगी, उसे इन कर्मों के अच्छे-बुरे होने से सुख-दु ख से कोई सरोकार नही, परन्तु यदि वह यह मानने लगे कि लैम्प मै हू, इजिन मैं हू, जलाने का यन्त्र मैं हू, रेडियो मै हू तो इनके कर्मों का व उनके फलो का अधिकार, प्रभाव या परिणाम उसे स्वीकार किये बिना गति न रहेगी।

**"इसलिए जिज्ञासापूवक अपने अन्त करण मे स्थित उस अद्वितीय परमात्मा को जानकर क्रमश (अन्य पदार्थों मे हुई) इस सत्यत्त्व बुद्धि को त्याग दे।" ।।११।।**

अत भक्त को उचित है कि वह इन दृश्य पदार्थों मे जो सत्य-बुद्धि रखता है उसे त्याग दे और अपनी जिज्ञासा के द्वारा परमात्मा को पहचाने। वह कही दूर

---

स्थिर, निर्मल, अकप हो जाती है तो आत्मा का रूप धारण करने लगती है। उसमे आत्मप्रतीति होने लगती है। ये चारो भेद वस्तुत. तो सद्वस्तु आत्मा के ही हैं। आत्मा ही देह-धर्मों को धारण करता है।

नही है। हमारे हृदय मे ही मौजूद है। वह सौ-पचास या अनेक नही है, जो उसे तलाश करने मे दिक्कत या परेशानी हो। वह एक व अद्वितीय है। अत उसीको एकमात्र सत्य मानकर अन्य वस्तुओ को मिथ्या समझे।

**"आचार्य नीचे की अरणि है, शिष्य ऊपर की और उपदेश मध्य का मन्थन-काष्ठ है, तथा सुखप्रद-ब्रह्मविद्या उनकी सन्धि है।" ॥१२॥**

यह ज्ञान ही ब्रह्म-विद्या है। इसे एक प्रकार की (यज्ञ की) अग्नि समझो। यज्ञ मे अग्नि दो अरणियो—एक प्रकार की लकडी—को रगडकर उत्पन्न की जाती है। उसमे आचार्य को नीचे की अरणि समझो जो आधार-रूप है। शिष्य को ऊपर की, जो गुरु के सहारे रहता व चलता है। गुरु का उपदेश दोनो के मध्य का मथन-काष्ठ है व ब्रह्मविद्या उनकी सधि है, जिससे ज्ञान-रूप अग्नि प्रकट होती है।

**"वह (ब्रह्मविद्यारूप) अति निपुण और विशुद्ध बुद्धि-गुणो से उत्पन्न हुई माया का ध्वस कर देती है और फिर इस ससार के कारणरूप गुणो का नाश करके ईधनरहित अग्नि के समान स्वय भी शान्त हो जाती है।" ॥१३॥**

यह ब्रह्म-विद्या रूप अग्नि, जिसे अति विशुद्ध और निपुण-बुद्धि ही समझो, तीन गुणो से उत्पन्न इस माया का—इस अज्ञान का (कि यह जगत सत्य है, तथा इसकी विचित्रता, विविधता वास्तविक है) ध्वस कर देती है। और जब ससार के कारण-रूप वे गुण ही नष्ट हो जाते है, उनकी असलियत हमारी समझ मे आ जाती है, तब यह बुद्धि—ब्रह्मविद्या—खुद भी ईधन-हीन अग्नि की तरह शान्त हो जाती है। उसमे चचलता नही रहती। इसका कार्य था वास्तविकता का, वस्तु-सत्ता का ज्ञान करा देना। सो करा दिया। अब उसका कोई प्रयोजन बाकी न रहा। अत पके फल की तरह वह अपने-आप टपक पडी।

**"हे उद्धव, यदि तुम कर्मों के कर्ता और सुख-दु खरूप फलो के भोक्ता इन जीवो का नानात्व तथा स्वर्गादि लोक, काल, कर्म-प्रतिपादक शास्त्र और आत्मा (जीव) की नित्यता स्वीकार करते हो, और यह समझते हो कि घट, पट आदि बाह्य आकृतियो के भेद से उनके अनुसार ही बुद्धि उत्पन्न होती और बदलती रहती है, तो हे प्रिय, इस प्रकार भी शरीर और सवत्सरादि कालावयवों के जन्म, मरण आदि भाव निरन्तर होते रहने सिद्ध होते हैं और यहा भी कर्मों के कर्त्ता तथा सुख-दु खादि के भोक्ता जीव की पराधीनता लक्षित होती है। तो फिर उस परवश जीव को लाभ ही क्या हो सकता है?" ॥१४-१७॥**

देखो, यह जीव वास्तव मे तो परमेश्वर का ही अश या रूप है, परन्तु फिर भी वह ससार मे परवश देखा जाता है। तुम जैमिनी आदि मुनियो के मीमासा-तत्व के अनुसार देखो, चाहे विज्ञानवादियो—न्यायाचार्यों के सिद्धान्तानुसार देखो, देहधारियो के जन्म-मरण आदि भाव निरन्तर रहते हुए सिद्ध होते हैं। मीमासक लोग जीव को कर्मो का कर्ता और सुख-दु ख रूप फलो का भोक्ता मानते है। अर्थात् कोरी क्रियाशक्ति या भोग-वासना के रूप मे जीव या मनुष्य-शरीर मे नही पाया जाता, बल्कि करने की व भोगने की 'अहन्ता' के सहित अर्थात् 'मैं कर्त्ता हू' और 'मैं भोक्ता' हू, इस कर्तापन व भोक्तापन के भाव के सहित पाया जाता है। ये लोग जीव को एक नही अनेक मानते है और जीव के साथ ही, स्वर्गादि लोक, काल[1], शास्त्र (कर्म-प्रतिपादक) को भी नित्य मानते है। जितने पदार्थ है ,उनकी भी स्थिति कोवे नित्य व यथार्थ मानते है। जैसे पानी प्रवाह-रूप से नित्य है उसी तरह अर्थात् पदार्थों के अणुओ मे सतत परिवर्तन होते हुए भी उसका रूप वह यही पदार्थ है, इस तरह पहचाना जा सकता है। इसी तरह विज्ञानवादियो

---

[1] काल के सम्बन्ध मे विस्तृत विचार पीछे (अ० ६ श्लो० १४) किया ही गया है। आधुनिक वैज्ञानिको के मतानुसार काल एक परिमाण वा दिशा है। वस्तु की स्थिति का बना रहना काल पर अवलम्बित है। कोई वस्तु या घटना चाहे एक पल बनी या होती रहे और चाहे एक युग या कल्प तक होती रहे। यह स्थिरता या सततता एक अलग परिमाण है, जिसे काल कहते है। देश जैसे वस्तु-सत्ता की मर्यादा है, काल उसी तरह घटना या कर्म की मर्यादा है। गतिशीलता से ओतप्रोत व्यापक होने के कारण वस्तु-सत्ता-मात्र घटनाओ का समूह है और काल-परिमाण की मर्यादा मे निरतर स्थिति के कारण देश मे मर्यादित है। जब काल स्थिति का कारण व परिमाण है, घटनाओ को निरतर जारी रखता है, तो साथ ही वस्तु-सत्ता के घनत्व के घटते-बढते रहने का भी कारण है और इस तरह देश की वक्रता की वृद्धि व ह्रास का भी कारण है। 'कालयति' 'प्रेरयति'—काल सबकुछ कराता है। सबको प्रेरित करता है, बडा बली है, शक्ति का प्रेरक रूप है। गति शक्ति वस्तु-सत्ता का, दिक् सूचना देश का, व स्थिति-रक्षा प्रेरणा शक्ति काल का मूल है। गति, देश व काल—इन तीनो सामग्रियो से 'कर्म' घटित होता है। गति, देश, काल व वस्तु तीनो जो अनातम के तीन रूप हैं, शक्ति ही है।

के अनुसार घट, पट, आदि बाह्य आकृतियो के भेद से, उनके अनुसार, बुद्धि ही उत्पन्न होती और विभिन्न रूप धारण करती है, तो भी यही सिद्ध होता है कि देहधारियो मे जन्म-मरण आदि भाव रहते हैं। क्योकि शरीर की जन्म, बालपन, जवानी, बुढापा, मृत्यु आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाए व समय के भिन्न-भिन्न परिवर्तन—ऋतु, मास, दिन, रात आदि हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं। दोनो मतो से कर्म के कर्ता व सुख-दु खादि के भोक्ता के रूप मे जीव की पराधीनता ही सूचित होती है। और ऐसी परवशता मे रहने मे जीव को क्या लाभ हो सकता है ?

**"कर्मकुशल विद्वानो को भी कुछ सुख नहीं होता और मूर्ख को सदा दु ख ही नहीं भोगना पडता" ॥१८॥**

जीव जो परवश होकर दु ख भोगता है उसके लिए यदि कहो कि जो कर्म-कुशल नही है वही दु ख भोगता है, तो ऐसा कोई नियम नही देखा जाता, क्योकि सर्वकुशल विद्वानो को भी सर्वथा सुख मिलता नही देखा जाता और न मूर्ख ही सदा दु खी पाये जाते है। ऐसी दशा मे यदि कोई यह अभिमान करता हो कि हम कर्म-कुशल होने मे सुखी है तो यह बेकार की बात है।

**"हम कर्मकुशल होने से सुखी है—यह व्यर्थ अभिमान ही है। यद्यपि कुछ लोग सुख की प्राप्ति और दु ख की निवृत्ति के उपाय को जानते है, तथापि वे भी उस उपाय को नहीं जानते जिससे कि फिर मरना ही न पडे।" ॥१९॥**

हा, इनमे कुछ लोग ऐसे जरूर होते है जो सुख की प्राप्ति और दु ख-निवृत्ति का उपाय जानते है, परन्तु इतने से काम नही चलता। जबतक जन्म व मृत्यु पीछे लगे है तबतक, सच पूछो तो, कोई भी पूरी तरह सुख-दु ख के द्वन्द्व से नही छूट सकता। अत असल बात है जीवन-मरण की समस्या को सुलझा लेना। मनुष्य को ऐसा उपाय कर लेना चाहिए, जिससे उसे मरना ही न पडे।

**"जिस प्रकार वध-स्थान पर ले जाये जाते हुए वध्य मनुष्य को मिष्ठान्न और माला-चन्दन आदि कोई भी योग्य पदार्थ सुखी नहीं कर सकता उसी प्रकार जिसकी मृत्यु समीप है उसे कौन-सी सुख-सामग्री अथवा काम्य वस्तु प्रसन्न कर सकती है ?" ॥२०॥**

मनुष्य यह भूल जाता है कि मैं मृत्यु के मुह मे फसा हुआ कौर हू। यदि वह इस बात को याद रखे तो उसे ससार की कोई सुख-भोग सामग्री या काम्य वस्तु प्रसन्न नही कर सकती। फासी के तख्ते पर ले जाये जानेवाले व्यक्ति को कोई

मिष्ठान्न, माला-चन्दन आदि योग्य पदार्थ दिये जाय तो वे उसे कैसे अच्छे लग सकते है ?

**"दृष्ट सुख की भांति श्रुत सुख भी परस्पर की स्पर्धा, असूया, नाश और क्षय आदि के कारण दोषयुक्त ही है तथा नाना प्रकार के विघ्नों से युक्त कामनाओ के कारण भी कृषि के समान निष्फल है।" ॥२१॥**

श्रुत कहते हैं स्वर्गादि-सम्बन्ध व दृष्ट कहते है लौकिक वस्तुओ को। कोई यह कहे कि जीव जो यज्ञयागादि विविध काम्य कर्म करता है, उनसे उसे इस लोक के सुख तथा स्वर्गादि लोको की प्राप्ति भी तो होती है, क्या यह लाभ नही है ? तो मैं कहता हू कि ये सुख भी दोप-युक्त है, क्योकि इनमे परस्पर की स्पर्धा, डाह होती है, जिससे कलह और अशान्ति मचती है। फिर ये स्थायी नही हैं—घटते-वढते या मिलते-मिटते रहते हैं। फिर जिन कामनाओ के लिए ये किये जाते हैं उनमे अनेक प्रकार के विघ्नो की सम्भावना रहती है। जिनके खिलाफ वे कामनाए पडती है, वे नाना प्रकार के विघ्न व वखेडे खडे करते है, व व्यक्ति खुद भी उन कामनाओ की पूर्ति के लिए अनेक कबाडे करता है, जिससे अपने-आप आये दिन नये-नये विघ्न व सकट खडे होते रहते हैं। अत जैसे किसान की खेती का वहुत थोडा भाग उसके पल्ले पडता है—कीडे-मकोडे, पशु-पक्षी आदि से बचाते हुए जो घर आता है, उसे भी राज्याधिकारी भिन्न-भिन्न रूपो मे ले जाते है—वैसे ही वह भी प्राय. निष्फल जाता है।

**"यदि विघ्नो से प्रतिहत न होकर कोई धार्मिक कृत्य (यज्ञादि) सम्पन्न हो जाता है तो उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक को भी जीव जिस प्रकार जाता है, वह सुनो।" ॥२२॥**

मान लो कि इन सब विघ्नो को पार करके कोई धार्मिक कार्य—काम्य-कर्म—सफल भी हुआ तो उसमे जीव स्वर्गादि लोको को ही जाता है, वह कोई बड़ी वाछनीय या श्रेयस्कर गति नही है। वहा जीव किस प्रकार जाता है व फिर क्या होता है, यह भी सुन लो।

**"अपने पुण्यो के द्वारा प्राप्त हुए शुभ्र विमान पर आरूढ हुआ वह मनोहर वेषधारी पुरुष सुर-सुन्दरियो के साथ विहार करता है तथा गन्धर्वगण उसका गुणगान करते हैं।" ॥२३-२४॥**

**"उस समय किंकिणी जाल से सुशोभित और इच्छानुसार गमन करनेवाले**

**विमान पर चढ़कर वह देवताओं के विहारस्थल नन्दनादि उपवनो में अप्सराओ के साथ आनन्दपूर्वक क्रीडा करता हुआ एक दिन अवश्य होनेवाले अपने पतन को नहीं जानता।" ॥२५॥**

जो काम्य कर्मों के लिए देवताओ को पूजते हैं, वे स्वर्ग मे जाते है। वहा नाना प्रकार के सुख-भोग करते हुए यह भूल जाते हैं कि इन पुण्यो के क्षीण हो जाने पर फिर हमे नीचे गिरना होगा। और हालाकि इन सुखो को छोडने की तवीयत नही होती तो भी काल-नियम के अनुसार उन्हे स्वर्ग-सुख छोडकर दूसरी गति प्राप्त करनी ही पडती है। अत इन तुच्छ सुखो के लिए कोई कार्य करना फिजूल है।

**"जबतक उसके पुण्य शेष रहते है, तबतक वह स्वर्ग मे चैन की वशी वजाता रहता है। परन्तु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहने पर भी उसे नीचे गिरना पडता है। क्योंकि काल की चाल ही ऐसी है।" ॥२६॥**

**"यदि कोई जीव असत् पुरुषों के कुसग में पडकर अधर्मरत, अजितेन्द्रिय, स्वेच्छाचारी, कृपण, लोभी, स्त्रैण और प्राणिहिंसक होकर बिना विधि के ही पशुओ का वध करके भूत-प्रेतादि को बलि देता है तो वह अवश्य ही परवश होकर नरक मे जाता है और अन्त में घोर अन्धकार में पडता है।" ॥२७-२८॥**

यह तो उन लोगो की बात हुई जो विधिपूर्वक कर्म करते है और जो निर्विघ्न समाप्त हो जाते हैं। परन्तु ऐसे लोग भी हैं, जो कर्म का विधि-विधान कुछ नही जानते। मनमाने ऊट-पटाग कर्म करते हैं, नीच लोगो की कुसगति मे पड जाते है, जिससे खोटे कर्मों मे ही उनकी प्रवृत्ति हो जाती है। उनकी न जवान अपने कावू मे है, न हाथ, न पाव, न जननेन्द्रिय। अत वे निरकुश व स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। न धर्म का, न कुल का, न बिरादरी का, किसीका ख्याल या लिहाज नही रखते हैं। उनके लोभ का ठिकाना नही, कोई अच्छी चीज कही देखी नही कि उनका मन ललचाया नही। इसलिए उन्हे दूसरो के सामने दीन बनकर जाना व रहना पडता है, फिर स्त्रियो की सगति मे, स्त्रियोचित व्यवहार मे, स्त्रियो की रहन-सहन मे, स्त्री-वशता मे जिन्हे सुख व आनन्द आता है, व जीवो की हिंसा से जिनका जी नही दुखता, विना नियम व विधि के ही वे पशु-हिसा करके भूत-प्रेतादि के नाम पर वलि चढा देते हैं, ऐसे आदमी अवश्य ही परवश होकर नरक अर्थात् दु खमयी गतियो को पाते हैं व अन्त मे घोर अन्धकार-अज्ञान के भागी होते हैं।

**"इस शरीर से, दुःख ही जिनका फल है, ऐसे कर्मों को करता हुआ पुरुष उन कर्मों के द्वारा पुन· देह धारण करता है। अत इससे इस मरणधर्मा जीव को क्या सुख मिल सकता है ?" ॥२९॥**

एक बार जो इस शरीर से ऐसे कर्म किये, जिनका फल दु खमय ही है तो उनके परिणाम मे वैसी ही योनि और बुद्धि प्राप्त होती है, जिससे फिर दुष्कर्म मे प्रीति व रुचि होती है। यह चक्कर चलता ही रहता है, जबतक मनुष्य अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य व कर्म-स्वातन्त्र्य-शक्ति से लाभ उठाकर सत्कर्म व निष्काम कर्म करने की प्रवृत्ति न बना ले, या सब तरह से मेरी ही शरण न आ जाय। वर्ना इस प्रकार बार-बार के फेरो से मरण-धर्मा जीव को क्या सुख हो सकता है ?

**"लोक और कल्पजीवी लोकपालो को भी मुझसे भय है, तथा जिसकी आयु दो परार्ध है उस ब्रह्मा को भी मुझसे भय लगा रहता है।" ॥३०॥**

यह मृत्यु अर्थात् काल मनुष्य के ही पीछे लगा हुआ हो, अकेला वही उससे डरता हो सो बात नही। ये सारे लोक और एक कल्प तक जिनकी आयु है, वे सब लोकपाल भी, यहातक कि दो परार्ध आयु रखनेवाले ब्रह्मदेव भी मेरे इस काल-रूप से भय खाते है। किसीकी कितनी ही बडी आयु क्यो न हो, उसकी एक सीमा मैंने बना दी है। उसके बाद मेरा कालरूप उन्हे उसी रूप मे नही रहने देता, या तो उनका रूपान्तर हो जाता है या मुझमे लीन होकर मेरे स्वरूप मे मिल जाते है। इस रूपान्तर का ही दूसरा नाम जन्म-मृत्यु है। मेरे स्वरूप मे मिल जाने पर ही मनुष्य मृत्यु को जीतकर अमर हो सकता है।

**"गुण कर्म करते है और गुण गुणो को कर्म में प्रवृत्त करते है। जीव तो अज्ञानवश इन्द्रियादि से युक्त होकर (अर्थात् उनमें अहबुद्धि करके उनके किये हुए) कर्मों के फलो को भोगता है।" ॥३१॥**

'गुण' के दो अर्थ होते है—इन्द्रिया, सत्व, रज, तम, ये त्रिगुण। श्रीकृष्ण कहते है, ऊधो, वास्तव मे कर्म तो इन्द्रिया करती है। त्रिगुण उन्हे प्रेरित करते है। जिस समय जिस गुण का ज़ोर होता है वैसा ही इन्द्रिया करने लगती है। सत्व गुण का जोर होने से अच्छे विचार, अच्छी भावनाए जगती है और शुभ कर्म मे प्रवृत्ति होती है। रजोगुण का ज़ोर बढने पर राग-द्वेषात्मक वृत्ति बढती है और तमोगुण के ज़ोर मारने पर नीद, आलस्य, असावधानी बढती है। गुणो को उभारने मे हमारे पूर्व-सस्कार, वर्तमान सगति व वातावरण, प्रस्तुत विषय आदि

और उद्धव, यह जो काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि नाम लिये जाते है, इनके द्वारा भी वास्तव मे मेरा ही निरूपण किया जाता है। गुणो की विपमता से ये भिन्न-भिन्न नाम मेरे या मेरी शक्ति, गुण आदि के पड गये है। काल मेरा ही स्वरूप है। यह पहले अच्छी तरह समझा दिया गया है। जीव तो मेरा चेतन-रूप है, यह सर्वविदित है। 'वेद' अर्थात् शब्द-ब्रह्म का अर्थ भी पहले स्पष्ट किया जा चुका है। लोक, स्वर्ग आदि चौदह लोक ब्रह्माण्ड की तहरूप है। स्वभाव का वैज्ञानिक अर्थ इस प्रकार है—निश्चित दिशा मे क्रिया, प्रक्रिया के चलने, रहने और बढने की प्रवृत्ति जब परिस्थिति के अनुरूप व अनुकूल बन जाती है तो विशेप प्रकार की क्रियाओ का एक सिलसिला बध जाता है, जिसे स्वभाव कहते है। इस स्वभाव को एक ओर से विवेक प्रेरित करता है, दूसरी ओर से प्रत्यगात्मा या जीव। यही स्वभाव नैसर्गिक बुद्धि के अन्तिम विकास का रूप है। इसे अपरा प्रकृति की चित् शक्ति का विकास या परिणाम भी समझा जा सकता है। सक्षेप मे स्वभाव ईश्वरी शक्ति का ही विकास या परिणाम है। गीता मे मैंने कहा है कि आध्यात्म मेरा स्वभाव कहलाता है। इसका अर्थ यह है कि परमात्मा सर्वत्र समान रूप से रहते हुए भी, प्रत्येक प्राणी के चित्त मे तथा पदार्थ मे भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाशित होता है और इससे प्रत्येक प्राणी तथा पदार्थ मे भिन्न-भिन्न लक्षणोवाले भिन्न-भिन्न आत्मा निवास करते हो। यह परमात्मा का अध्यात्म भाव है और प्राणी की व्यक्तिगत प्रकृति अथवा स्वभाव (अपना भाव) रूप मे देखा जाता है। किसी पदार्थ का जो विशेप धर्म, लक्षण, चिह्न, प्रवृत्ति, जिसके द्वारा वह दूसरे पदार्थों से जुदा किया जा सके, उसे उसका स्वभाव कहते हैं। धर्म से अभिप्राय है ससार को धारण करनेवाली नियामक—नियम-रूप शक्ति।

**उद्धवजी बोले—"हे विभो, देह के (कर्म और उसके फलादि) गुणो में रहता हुआ भी यह देहधारी जीव कैसे उनके बन्धन में नही पड़ता और यदि (आकाश के समान) अनावृत होने के कारण गुणो से उनका कोई सम्बन्ध नही है तो फिर वह उनमें बध कैसे जाता है।" ।।३५।।**

**"इस प्रकार गुणो से मुक्त हुआ पुरुष किस प्रकार रहता है, कैसे विहार करता है, किन लक्षणो से जाना जाता है, क्या खाता है, क्या त्यागता है, तथा किस प्रकार सोता, बैठता अथवा चलता है ?" ।।३६।।**

**"हे अच्युत, हे प्रश्न का यथार्थ उत्तर देनेवालो मे श्रेष्ठ, मेरे इन प्रश्नो का**

उत्तर दीजिये और एक ही आत्मा नित्यबद्ध तथा नित्यमुक्त किस प्रकार है, मेरी इस शंका को निवृत्त कीजिये।" ॥३७॥

तो अब मुझे आप यह बताइये कि गुणों के प्रभाव में रहता हुआ भी मनुष्य उनसे मुक्त कैसे रह सकता है? और ऐसे मनुष्य की पहचान क्या है? फिर एक ही आत्मा कैसे तो नित्यमुक्त व कैसे नित्यबद्ध हो सकता है? मेरे इन प्रश्नों का उत्तर देने की कृपा कीजिये।

: ११ :

# भगवान् का कौन ?

[इसमे बताया गया है कि जीव अविद्या से बन्ध और विद्या से मोक्ष को प्राप्त होता है। आत्मा वास्तव मे न बद्ध है, न मुक्त। 'मैं कर्ता हू,' इस भावना से बद्ध और परमेश्वर कर्त्ता है, मैं तो केवल निमित्त हूं, इस भावना से मुक्त होता है। भक्त या साधु के अट्ठाईस लक्षण बताये गए हैं—१. सबपर कृपालु, २ वैरभाव-हीन, ३. क्षमाशील—प्रतिहिंसाशून्य, ४ सत्यशील, ५. शुद्ध-चित्त, ६. समदर्शी, ७ सर्व-हितेच्छु, ८ कामना-मुक्त, ९ सयमी, १० मृदुल स्वभाव, ११ सदाचारी, १२ अकिंचन, १३ नि स्पृह, १४ मिताहारी, १५. शान्त चित्त, १६ स्थिर-बुद्धि, १७ मेरा शरणागत, १८. आत्मतत्व-चिन्तक, १९ अप्रमादी, २०. गभीर स्वभाव, २१ धैर्यवान, २२ शरीर-धर्म-विजयी, २३ अमानी, २४. मानदाता, २५ समर्थ, २६ मिलनसार, २७ करुणामय और २८ सम्यक ज्ञानयुक्त।]

**"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव! गुणो के कारण ही मुझे बद्ध या मुक्त कहा जाता है, वस्तुत नही, और गुण माया-मूलक हैं, अत वास्तव में मेरा न बन्धन है, न मोक्ष।" ॥१॥**

**"शोक, मोह, सुख, दु.ख और देह की उत्पत्ति सब माया ही के कार्य हैं और यह संसार भी स्वप्न के समान बुद्धिजनित प्रतीति ही है, यह वास्तविक नहीं है।" ॥२॥**

आत्मा की बद्धता और मुक्तता-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर मैं पहले देता हू। मैं अर्थात् आत्मा वास्तव मे न तो बद्ध होता है, न मुक्त। आत्मा तो स्वभावत ही शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वतन्त्र है। माया[1] के गुणो मे जब वह फस जाता है, तीनो गुणो का प्रभाव जब उसपर पड़ने लगता है और वह अपनेको शरीर द्वारा किये गए कर्मों का जिम्मेवार मानने लगता है तब वह बद्ध हो जाता है। जो कर्म की जिम्मे-

---

[1] देखिये परिशिष्ट १७

करेगा उसे फल की जिम्मेवरी भी लेनी पड़ेगी, यही कहना है। उसके विपरीत गुणो से, अतएव कर्म के कर्तृत्व उनके फलो के भोक्तृत्व से जो परे है, वही मुक्त है। फिर ये शोक, मोह, दु ख-सुख और देह की उत्पत्ति भी माया के ही कार्य है। माया अर्थात् अविद्या से ग्रसित होकर जब हम कार्य करते है और अहन्ता रखकर करते हैं तो उनका फल शोक-मोहादि ही हो सकता है। कर्मों के जो सस्कार बीज-रूप मे बच रहते है उन्हीसे फिर देह की उत्पत्ति होती है। जो भी कर्म हम करते हैं वे प्रत्येक हमारे मन पर अच्छा-बुरा सस्कार छोड जाते हैं। जब मनुष्य मरता है तो ये सस्कार उसके सूक्ष्म देह के साथ लिप्त रहते हैं। प्रत्येक स्थूल वस्तु का एक सूक्ष्म रूप होता है। उस सूक्ष्म रूप मे स्थूल आकार के सभी गुण बीज-रूप मे विद्यमान रहते हैं। मनुष्य के सूक्ष्म-रूप को लिंग-देह कहते हैं। इसे मनुष्य-शरीर का बीज-रूप समझना चाहिए। मनुष्य जब मरता है तो स्थूल देह तो उसका छूट जाता है, किन्तु यह सूक्ष्म शरीर या लिंग-देह बना रहता है, जो इन तमाम सस्कारो या वासनाओ का समूहमात्र होता है। यह फिर अपने अनुकूल शरीर की प्राप्ति का अवसर खोजकर वैसा शरीर पा जाता है और उसीके अनुकूल उसकी बुद्धि-वृत्ति या चित्त-प्रवृत्ति बनती है। अत यह सारा खेल माया का ही है। यह ससार जो हमें दीखता है वह भी हमारी बुद्धि को होनेवाली एक प्रतीति ही है, जैसा कि स्वप्न मे अनुभव होता है। इसकी वास्तविक सत्ता नही है।

**"हे उद्धव! देहधारियो के मोक्ष और बन्धन की कारणभूता विद्या और अविद्या को भी मेरी माया से रची हुई मेरी आद्या शक्तिया ही जानो।" ॥३॥**

और यह जो विद्या तथा अविद्या कही जाती है, ये भी माया से रची हुई मेरी आदि शक्तिया हैं। अविद्या से जीव बन्ध मे व विद्या से मोक्ष को पाता है। असल मे मैं विद्या और अविद्या दोनो से परे हू। मेरी ही एक शक्ति तो विद्या दीखती है और दूसरी अविद्या। यही माया का प्रभाव है। माया मेरी उस अनिर्वचनीय स्थिति को कहते है जब परस्पर-विरोधी बाते मुझमे देखी जाती हैं। 'सृष्टि मे तीनो गुणो' के भाव प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देते हैं। इन तीनो गुणो के कर्मो से ही यह सर्व जगत् ऐसा व्याप्त हुआ प्रतीत होता है कि एक ओर सामान्य जीव इसके मोह-जाल मे फसे रहकर इससे परे अविनाशी परमात्मा को समझ ही नही सकते और इसीलिए यह मानते हैं कि यह सब त्रिगुण-प्रकृति का ही कार्य है। इसकी ओर विद्वान् लोग भी परमात्मा तथा इन त्रिगुणो के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध

समझा जाय और त्रिगुण के भाव परमात्म-स्वरूप होने पर भी परमात्मा को उससे अलि-त तथा परे किस प्रकार समझा जाय, इस विषय मे असमजस मे पड जाते है और विविध प्रकार के कल्पना-जाल मे फस जाते हैं। इस प्रकार परमात्मा की यह त्रिगुणात्मक प्रकृति एक अटपटी समस्या है, इसलिए जिस तरह बाजीगर के कौशल या युक्तियो को माया कहते हैं, उसी तरह इसे परमात्मा की दैवी माया कहते है। यह प्राणियो के ज्ञान को अज्ञान से ढक देती है और केवल परमात्मा के ज्ञान से ही समझी व पार की जा सकती है। किन्तु समझकर भी वाणी द्वारा समझाई नही जा सकती।

माया का अर्थ ही है विद्या से नाश पानेवाली और उसके अभाव मे अद्भुत चमत्कारी प्रतीत होती हुई वस्तु।

**'हे महामते ! मेरे अशरूप एक ही जीव[1] को अविद्या से अनादि बधन और विद्या से मोक्ष की प्राप्ति हुई है।" ॥४॥**

यह जीव मेरा ही अश-रूप है। इस एक ही जीव को अविद्या से बन्धन व विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है।

**"हे तात ! अब मै तुझसे एक ही धर्मी में स्थित बद्ध और मुक्त इन दो विरुद्ध धर्मवालो की (अर्थात् जीव और ईश्वर की) विलक्षणता का वर्णन करता हूं।" ॥५॥**

अब मैं तुमको एक ही धर्मी (व्यक्ति) मे स्थित, बद्ध और मुक्त अर्थात् जीव और ईश्वर दो विरुद्ध धर्मवालो की विलक्षणता का वर्णन करता हू। दो व्यक्तियो मे दो परस्पर-विरुद्ध धर्म हो—एक स्याह हो, दूसरा सफेद हो, एक सच्चा हो, दूसरा झूठा हो, एक क्रोधी हो, दूसरा शान्त—यह तो समझ मे आ सकता है, परन्तु एक ही व्यक्ति बद्ध और मुक्त दोनो हो यह अवश्य विलक्षण है। ऐसा व्यक्तित्व एक परमात्मा का ही है। इसका रहस्य अब मैं तुम्हे समझाता हू।

**"ये दोनो पक्षी (बद्ध जीव और मुक्त ईश्वर) समान (चेतन स्वरूप) और सखा (नित्य अवियुक्त) हैं तथा ये एक ही वृक्ष (शरीर) में स्वेच्छा से घोसला बनाकर रहते हैं। उनमें से एक (जीव) तो उसके फलो (सुख-दुःखादि कर्मफलो) को खाता (भोगता) है और दूसरा (ईश्वर) निराहार (कर्म-फलादि से असंग**

---

[1] देखिये परिशिष्ट १८

साक्षीमात्र) रहकर भी वल (ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्यादि) में पहले से अधिक है।" ॥६॥

यो समझो कि ये दो समान अर्थात् चेतन-स्वरूप पक्षी है। एक वद्ध जीव और दूसरा मुक्त ईश्वर। ये दोनो सखा हैं, अवियुक्त है, एक दूसरे से अभिन्न हैं। दीखने मे दो है पर वास्तव मे एक ही हैं, जुडवा भाई-वहनो की तरह। ये एक ही वृक्ष पर—शरीर मे—घोसला वनाकर—घर वनाकर रहते हैं। इन्हे किसीने इसके लिए मजवूर नही किया है। अपनी मर्जी से ही रहते हैं। लेकिन इनमे से एक—जीव—तो उसके फलो को—सुख-दु खादि कर्म-फलो को—खाता अर्थात् भोगता है और दूसरा ईश्वर—निराहार ही रहता है, अर्थात् कर्मफलादि से अलिप्त, साक्षीमात्र रहता है, उन्हे केवल दूर से देखता भर है, छूता तक नही। फिर भी आश्चर्य यह कि वह वल अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द, सामर्थ्य आदि मे पहले से (जीव से) अधिक है।

जीवन-शोधनकार के शब्दो मे—

यह जीव-भाव व ईश्वर-भाव वास्तव मे हमारे चित्त से, जो व्यापक चैतन्य का ईश्वर-वद्ध अश है, सम्बन्ध रखता है। चित्त का जो व्यापार व विचार हमारे शरीर तक ही सीमित रहता है, वह उसका जीव-भाव व जो ब्रह्माण्ड पर असर डालता है वह ईश्वर-भाव है। जैसे सूर्य एक स्थान मे रहते हुए भी उसका प्रकाश दूर तक फैलता है, व लोहचुम्बक की शक्ति लोहे के वाहर भी मौजूद रहती है और दूसरी वस्तु के साथ स्पर्श मे न आते हुए भी उसपर अपनी शक्ति चला सकती है, वैसे ही मनुष्य का चित्त भी केवल अपने शरीर मे ही समाया हुआ नही है वल्कि उसके वाहर—ब्रह्माण्ड पर भी उसका व्यापार चलता है। जीव-स्वभाव मे उसे पृथक् ब्रह्माण्ड से अपनेको अलग माननेवाले व्यक्तित्व का भान रहता है। परन्तु उसीमे से उसका ईश्वर-स्वभाव उत्पन्न होता है। वह ब्रह्माण्ड पर अपनी सत्ता चलाना चाहता हैं, उसमे वनाव-विगाड, सुधार आदि करने का प्रयत्न करता हैं। प्रत्येक चित्त मे अपनी एक सृष्टि बनाने, उसमे परिवर्तन करने व उसका नियन्ता वनने की कम-ज्यादा प्रवृत्ति रहती है। इसका मूल तो उसके जीव-स्वभाव मे है, किन्तु व्यापार ब्रह्माण्ड मे है। चित्त की यह वृत्ति उसका ईश्वर-स्वभाव है और इस ईश्वर-स्वभाव का पृथक्करण करेंगे तो इसमे अनेक ब्रह्मा, विष्णु, शकर (उत्पत्ति, पालन और सहारकारिणी प्रवृत्तियो) का समावेश होता है। इस प्रकार

जीव-भाव व ईश्वर-भाव ये चित्त (निश्चित भाषा मे महत्) के साथ जुडे हुए धर्म है। सिक्के के दो पहलुओ की तरह ये दोनो भाव एक ही साथ रहते है। जीव-स्वभाव के विकास के साथ चित्त के ईश्वर-स्वभाव के स्वरूप मे अन्तर पड़ता है व ईश्वर-स्वभाव मे पडनेवाला अन्तर जीव-स्वभाव मे परिवर्तन करता है।

कही भी अकेले ईश्वर-तत्व का होना जीव मे सम्भव नही, न किसीका केवल जीव होना ही शक्य है। प्रत्येक मे कुछ ईश्वर-भाव और कुछ जीव-भाव अवश्य रहता है।

ऐसी कल्पना की जाती है कि यह ब्रह्माण्ड जो दिखाई देता है, एक विशाल शरीर है, उसको धारण करनेवाला विराट् कहलाता है। इस कल्पना के आधार पर पूर्वोक्त परिभाषाओ को स्पष्ट किया जाता है। फिर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे विभिन्न प्रकार से वासुदेवादिक व्यूह, ब्रह्मादि त्रिमूर्ति, तथा ब्रह्माण्डादि देहो की कल्पना पर विश्वास बैठाने का यत्न किया जाता है।

**"जो निराहार है वह (ईश्वर) तो अपनेको और अपने से भिन्न प्रपंचादि को जानता है, किन्तु जो कर्मफलरूप पिप्पलान्न का भोक्ता है, वह (जीव) नही जानता। इनमें जो अविद्यायुक्त (जीव) हैं वही नित्यबद्ध है और जो ज्ञानमय (ईश्वर) है वही नित्यमुक्त है।" ॥७॥**

इनमे जो निराहार है वह ईश्वर है।, वह ज्ञानवान है। अपनेको तथा अपने से भिन्न प्रपचादि को जानता है। उसे पता है कि यह सारा विश्व का फैलाव मेरा व मुझसे ही वना हुआ है। इसे उसने अपनी ही क्रीडा के लिए अपनी लीला से वनाया है। अत वह उसमे वद्ध नही होता, नही फसता। किन्तु जो अपनेको कर्मफ्ल-रूप पिप्पलान्न का भोक्ता मानता है—जो अपनी अहन्ता के साथ अपने को ज्ञाता, कर्ता व भोक्ता समझता है—वह (जीव) अज्ञान-ग्रस्त है। वह नहीं जानता कि मै क्या हू, मेरा असली रूप क्या है, इस देह या जगत् से मेरा क्या सम्वन्ध है ? अत वह देहाभिमानी हो जाता है। यही अविद्या है और इससे युक्त होने के कारण वह नित्यवद्ध है।

**"स्वप्नावस्था से उठे हुए व्यक्ति के समान विद्वान् देहस्थ होकर भी (देहाभिमान न होने के कारण) देहस्थ नहीं होता और अज्ञानी स्वप्नद्रष्टा के समान देहस्थ न होकर भी देहस्थ रहता है, (अर्थात् देह का अभिमान करके देहजनित नाना आपत्तियों को भोगता है।)" ॥८॥**

अब ज्ञानी या विद्वान् तथा अज्ञानी मे क्या फर्क है सो तुम्हे बताता हू। विद्वान् शरीर मे रहते हुए भी शरीरस्थ न होने-जैसा रहता है, क्योकि उसने देहाभिमान छोड दिया है। देह के साथ अर्थात् भौतिक वस्तुओ व विषयो के साथ जो अहन्ता व ममता है, इसमे मनुष्य के पीछे उसके सुख-दु ख लग जाते हैं। जिसे हम अपना समझते हैं, उसके सुख-दु ख से स्वभावत ही सुखी-दु खी होते हैं। लेकिन जब हम केवल कर्त्तव्यपालन-भर का सम्बन्ध उनसे रखते है तो सुखी-दु खी होने से बचते हैं और उनका हित भी अधिक कर पाते हैं। अत विद्वान् या ज्ञानी की स्थिति स्वप्न से जाग्रत हो जानेवाले व्यक्ति की है। इसके विपरीत अज्ञानी या मोहग्रस्त की स्थिति स्वप्न मे सोये हुए के समान है, जो सपने की चीजो व दृश्यो को सत्य माने हुए है। वह देह का अभिमान करके देहजनित नाना आपत्तियो को भोगता है।

**"अत इन्द्रियो के द्वारा विषयो के तथा गुणों के द्वारा गुणो के ग्रहीत होने पर भी विद्वान् कभी अहकार नहीं करता (अर्थात् यह नहीं मानता कि मै उनको ग्रहण करता हू )क्योकि वह तो सर्वज्ञ अविकारी है।" ॥९॥**

अत जो विद्वान् है वह इन्द्रियो के द्वारा विषयो को भोगते हुए भी, शरीर से प्राय सभी सासारिक कर्म करते हुए भी, उनका अहकार उसे नही होता। उनके कर्तापन की जिम्मेदारी वह अपने ऊपर नही लेता। इसी तरह प्रसगानुसार सात्विक, राजस या तामस जैसे दीखनेवाले कर्म करते हुए भी और उनके वैसे ही फलो को भोगते हुए भी वह भोक्तापन की जिम्मेवारी नही लेता। बल्कि यह मानता है कि यह तो माया या प्रकृति के गुणो का खेल है। गुण, गुणो मे ही ये विकार, भेद या प्रभाव उत्पन्न करते हैं, मै तो इन सबसे जुदा, केवल साक्षीमात्र या यत्रवत् काम करनेवाला हू। इस तरह वह अविकारी रहता है।

**"अज्ञानी पुरुष इस दैवाधीन शरीर के द्वारा गुणो की प्रेरणा से होते हुए कर्मों में 'मै कर्ता हू' ऐसी भावना करके बध जाता है।" ॥१०॥**

लेकिन अज्ञानी पुरुष की स्थिति इसके विपरीत है। वह शरीर यो दैव के अधीन है। पूर्वकाल के अवशिष्ट-सस्कार भावी जीवन के लिए दैव 'कहलाते हैं। वैसे दैव का अर्थ है देवता—ईश्वर की प्रकाशित होनेवाली शक्तिया। मनुष्य के अवशिष्ट-सस्कार, वासना या सचित कर्मों का ज्ञान या स्मृति खुद उसको नही रहती, परन्तु परमात्मा के दैवी बलो को उनका ज्ञान रहता है, बल्कि उनका

नियन्त्रण और नियमन भी उनके अधीन है। मनुष्य अपने पूर्व-कर्मों के अनुसार इन देवताओ की योजना से अगला शरीर पाता है, अत. इसे दैवाधीन कहा गया है। यह वासनात्मक या लिगदेह आत्मा के आश्रित रहता है—ऐसा साख्यवेत्ताओ का कथन है। यह इन्द्रियो से अगोचर और आकाश की तरह सूक्ष्म होता है तो भी वज्र से भी कठोर और दुर्भेद्य है। शरीर के मरने से इस लिंग-देह का नाश नही होता। वरन् जिस प्रकार वृक्ष की जडें जिस ओर पानी मिलने की सम्भावना होती है उसी ओर फैलने की सहज प्रवृत्ति करती है उसी प्रकार सनातन सत्ता-रूप अप्रकट वस्तु को ही अक्षर, परमपद कहते हैं और जो इसके भाव को प्राप्त होते हैं, उन्हीका लिंग-देह भी विलीन हो जाता है और उस परमात्मा को पहुचकर निर्वाण को प्राप्त होता है।

अब तुमने समझ लिया होगा कि ऐसे दैवाधीन शरीर से जो कर्म-कलाप होते है—विविध गुणो के जोर या प्रेरणा से जो-कुछ कार्य बनते है, उनमे खुद कर्ता-पन का अभिमान रखना, यह कहना व मानना कि ये सब कर्म मेरे किये हुए है, कितनी भूल है। राज-नियम के अनुसार फासी की सजा देनेवाला न्यायाधीश और फासी की डोरी खीचनेवाला जल्लाद यदि फासी की जिम्मेवारी अपने पर लें तो मूर्ख ही कहे जायगे। अत हमारा बन्ध या मोक्ष वास्तव मे हमारी इस भावना—अभिमान—पर ही अवलम्बित है।

**"इस प्रकार विवेकी पुरुष विरक्त रहकर सोने, बैठने, घूमने-फिरने, स्नान करने, देखने, छूने, सूघने, भोजन करने और सुनने आदि में गुणो को ही कर्त्ता मानने से बन्धन में नही पड़ता, प्रत्युत् प्रकृतिस्थ रहकर भी आकाश, सूर्य और वायु के समान असंग ही रहता है तथा असग भावना से तीक्ष्ण की हुई अपनी विमल बुद्धि से समस्त संशयो को काटकर स्वप्न से जगे हुए पुरुष के समान नानात्व के भ्रम से निवृत्त हो जाता है।"** ॥११-१२-१३॥

इस तरह जो पुरुष विवेकी है, जो पुरुष व प्रकृति के भेद व सीमाओ को समझता है, जो ( साख्यशास्त्र के अनुसार ) यह जानता है कि पुरुष ( जीव ) अलिप्त है, प्रकृति—त्रिगुण—ही सारी उखाड-पछाड करती है, बधन या मोक्ष जो कुछ है, सब चित्त का है, पुरुष या आत्मा या जीव से उसका कोई सरोकार नही, (सामान्यत चित्त और आत्मा का भेद मनुष्य के मन मे जाग्रत नही रहता, अत वह आत्मा की जगह अक्सर 'चित्त' शब्द का ही प्रयोग कर दिया करता

है। अशुद्ध चित्त कोचित्त, व शुद्ध चित्त को आत्मा कहते हैं ) वह अपने समस्त व्यवहारो मे—खाने, पीने, देखने, मोने आदि मबमे गुणो अर्थात् प्रकृति को ही कर्त्ता मानता है, अत उनके फलो के बन्धन मे नही पडता। वल्कि प्रकृतिस्थ रहकर भी, प्रकृति की तरह सब काम करते हुए भी, आकाश, सूर्य व वायु के समान, असग, अलिप्त रहता है। आकाश सब वस्तुओ को धारण कर रहा है, क्योकि उसका स्वभाव है, इसलिए नही कि उमे इसका श्रेय प्राप्त करना है, या अभिमान रखना है। वह घडे मे भी है, मकान मे भी है, फिर भी घटत्व या गृहत्व से अछूता है, मूर्य अपने स्वभावानुसार उदय व अस्त होता है, नित्य अपने नियमित चक्रानुसार भ्रमण करता है, किसीसे कहने नही जाता कि उठो, जागो और काम करो, किसीपर उपकार करने की या अपने बडप्पन की कोई भावना नही रखता व इसीलिए आता-जाता है कि उसका स्वभाव है। ससार के समस्त कार्यो का प्रेरक होकर भी वह खुद सबसे अलिप्त है, अपने परिभ्रमण मे मस्त है। वायु वहती है, इसलिए नही कि उमे किसीगे ठण्डक या गर्मी लेनी है, किसीको सुगध या दुर्गन्ध पहुचानी है, किसीसे प्रशसा-पत्र लेना है, वल्कि इसलिए कि उसका स्वभाव है, उसमे वहे विना रहा ही नही जा सकता। सरदी, गर्मी व गध को वहन करते हुए भी वह उसमे लिप्त नही होती। इन सबके ये काम इस भान, जागृति या अभिमान के साथ नही होते कि ये कुछ कर रहे हैं। इनमे इन्हे कोई विशेषता मालूम नही होती। जैसे रोज नीद ले लेने मे सोना मनुष्य का स्वभाव वन गया है, जब कोई सोता या नीद लेता है तो हमे आश्चर्य नही होता, न सोनेवाले को उसमे कोई विशेषता ही मालूम होती है। इस प्रकार विरक्त पुरुष अपनी सब प्रवृत्तियो से, उनके करते हुए भी, अलिप्त रहता है, केवल स्वभाव-वश ही वह उन कार्यों को करता है। इनमे उसे न तो कोई विशेषता मालूम होती है, न कोई अभिमान ही होता है। छोटे-से-छोटा काम हो तब भी वह सहज स्वभाव से करता है और महान्-से-महान् हो तब भी वह उसी सरलता व सहजता से कर डालता है और उसके चित्त मे विशेषता, अभिमान, उपकार जैसा कोई भाव उदय नही होता। क्योकि उसने असग या अनासक्त की भावना से अपनी वुद्धि को पैना बना लिया है—मोह, आसक्ति से वुद्धि मे जो कई प्रकार के विकार, मर्यादाए, क्षुद्रता व सकोच आ जाते है, उन्हे मिटाकर बुद्धि को शुद्ध व प्रखर बना लिया है और उससे अपने मन की समस्त शकाओ, सशयो को काट डाला है, जिससे स्वप्न से

जगे पुरुष की तरह वह नानात्व-रूपी भ्रम से निवृत्त हो गया है। साख्य-मतानुसार ज्ञान का अर्थ है अपनी कैवल्य दशा को समझ लेना, व वेदान्त मतानुसार ज्ञान का फल है नानात्व या भेद-बुद्धि का मिट जाना। दोनो स्थितियो का अन्तिम फल एक ही होता है। जो अपनी कैवल्य दशा को समझ लेता है, वह भी अपनेको कर्ता न मानकर कर्म-फलो से नही बधता व जो भेद-बुद्धि को मिटा देता है व त्रिगुणातीत हो जाने के कारण कर्म-फलो की पहुच के बाहर हो जाता है। दोनो का अन्तिम परिणाम एक ही है—फलो के बधन से मुक्ति। साख्यवादी प्रकृति के मत्थे कर्म-प्रवृत्ति का दोष मढकर अपनेको बचाता है, तहा वेदान्ती सबको अपने उदर मे समाकर डकार ले लेता है।

**"जिसके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की समस्त चेष्टाएं सकल्पशून्य होती हैं, वह देह में स्थित रहकर भी उसके गुणो से मुक्त है।"** ॥१४॥

आत्मदर्शी ऋषियो का कथन है कि स्वरूपभूत इस आत्मा की रचना ज्ञान-मात्र है। आत्मा ज्ञानरूप होने के कारण सकल्पो का जनक है, सत्यरूप होने के कारण इसके सकल्प सत्य ही होते है। इस तरह आत्मा सत्यकाम व सत्यसकल्प है। प्राणियो को जो अपनी सत्य-कामता और सत्य-सकल्पता का अनुभव नही होता, उसका कारण है उनके चित्त की अशुद्धि, चचलता और अव्यवस्थितता। परन्तु चित्त की शुद्धि के साथ ही वह इन्हे पहचानने लगता है और यह भी समझने लगता है कि अपनी जो कुछ स्थिति है, वह अपनी कामना और सकल्प का ही परिणाम है। परमात्मा ऐसे अनेक प्रकार के काम व सकल्प का आधार-भूत है। सकल्पो के गुण व शक्ति विविध प्रकार की है और वे परस्पर-विरोधी भी हैं। ऐसे अनन्त संकल्पो के परिणाम-स्वरूप यह अनन्त प्रकार की सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है। ये सकल्प क्या है—ईश्वर-रूपी चैतन्य-सागर मे उठनेवाली हलकी-भारी अनुकूल-प्रतिकूल परस्पर-विरोधी लहरे है।

काम, सकल्प, वासना, इच्छा—ये सब शब्द थोडे-थोडे छाया-भेद से एकार्थी ही है। कोई भी साधारण चाह काम या कामना कहलाती है। जननेन्द्रिय को तृप्त करने की इच्छा को भी काम कहते हैं, पर यह रूढार्थ है। काम मे जब निश्चय व योजना का मेल होने लगता है तो वह सकल्प हो जाता है। जब काम विषय-विशेष से सलग्न हो जाता है, आसक्त होने लगता है, तब वह वासना कहलाने लगता है। इच्छा व काम को समानार्थी समझना चाहिए।

सकल्प से कर्म की उत्पत्ति होती है। सकल्प से ही कर्म की योजना बनती है। कर्म को पूरा हुआ देखने की आकाक्षा भी सकल्प ही है। अत कर्म के अथ से इति तक सकल्प का ही पसारा है। मनुष्य जबतक इस सकल्प से मुक्त नही होता तबतक वह कर्म-जाल से नही छूट सकता। कर्म-जाल से जबतक नही छूटेगा तबतक फल-भोगरूपी बधन भी टूटने का नही। अत इसका उपाय खोजना चाहिए। सकल्पो का निवास-स्थान मनुष्य का चित्त है। यह चित्त ही उसका शत्रु या मित्र हो जाता है। यह चित्त यदि हमारा मित्र है तो वह हमे बुद्धि की स्थिरता, समता तथा आत्मनिष्ठा जैसा लाभ करा सकता है, और यदि शत्रु है तो जाने कहा-कहा के खाई-खन्दक मे गिराकर नष्ट कर सकता है। यही मनुष्य का तारक या मारक है। अत चित्त के अनुशीलन से ही सकल्प-त्याग की सभावना हो सकती है। परमात्मा की भक्ति, ज्ञान, सत्सग, ध्यान-धारणादि, जप-तपादि सब चित्त को वश मे करने के ही साधन है। मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार इनमे से किसी एक को चुन ले।

इस प्रकार जिसने अपने मन, प्राण, इन्द्रिया सबकी क्रियाओ मे अपने चित्त को सकल्प-शून्य कर लिया है, अर्थात् वह जो कुछ करता है स्वभाववश, स्वभावत , कर्त्तव्य-बुद्धि से, सहजभाव से करता है, सकल्प की प्रेरणा से, चाह करके या खसूसन नही। ऐसा पुरुष देहस्थ होते हुए भी, देह से सब प्रकार के कर्म-व्यापार करते हुए भी, प्रकृति के—तीनो गुणो के, या कर्म-फल प्रभावो मे परे हो जाता है।

**"जिसके शरीर को चाहे हिंसक लोग पीडा पहुचावें और चाहे कभी कोई दैवयोग से पूजनादि करने लगे, फिर भी वह विद्वान् किसी प्रकार विकृत नहीं होता।" ॥१५॥**

ससार मे चार प्रकार के लोग होते है—एक वे जो बेमतलब लोगो को पीडा पहुचाते हैं। इसीमें उन्हे मज़ा आता है। दूसरे वे जो पीडा पहुचाने पर बदले मे पीडा पहुचाते हैं। तीसरे वे जो न पीडा पहुचाते है, न पहुचने देते है। चौथे वे जो पीडा पहुचाने के बदले मे उलटा सुख पहुचाते हैं। पहले को हम दुष्ट, दूसरे को सामान्य, तीसरे को सावध और चौथे को साधु कहेगे। इसी तरह एक तरह के लोग वे होते हैं, जो आदर व पूजा पाने के लिए उत्सुक रहते है, खुद योग्य न होने पर भी उसकेलिए मरते हैं, चलाकर ऐसे आयोजन करते हैं कि उनका मान हो, दूसरे वे जो मिल जाय, तो प्रसन्नता से ले लेते हैं, तीसरे वे जो आग्रह करने पर भी उससे बचते हैं और चौथे वे जिनके लिए आदर-अनादर सब समान है। पहले को हम

स्वार्थी, दूसरे को सभ्य, तीसरे को साधक और चौथे को सिद्ध कहेगे । इनमे ज्ञानी या विद्वान् वह है जो जान-बूझकर भी पीडा पहुचाने पर या दैवयोग से पीडा हो जाने पर उससे विचलित नही होता । मन मे क्रोध या दु ख नही लाता, प्रारब्ध का भोग समझकर शान्त रहता है, या इसी प्रकार कोई दैवयोग से या योजना करके पूजा करे तो भी उसके हर्ष से अपनेको बचा लेता है । दोनो अवस्थाओ मे वह मन मे किसी प्रकार का विकार नही पैदा होने देता ।

**"गुण-दोष से रहित समदर्शी मुनि को उचित है कि किसीके भला या बुरा कर्म करने अथवा वाणी से भला या बुरा बोलने पर न तो स्तुति ही करे न निन्दा ही ।" ॥१६॥**

जिस व्यक्ति ने अपनेको गुण-दोष-दृष्टि से ऊपर उठा लिया है, अर्थात् जो गुणो को देखकर गुणी पर रीझता नही व दोषो को देखकर दोषी से घृणा नही करता, वह किसीके अच्छा काम करने पर न उस व्यक्ति की स्तुति करेगा, न बुरा काम करने पर उसकी निन्दा ही । अथवा यदि कोई जबान से भी बुरा-भला कहे तो भी उसकी स्तुति या निन्दा न करेगा । इसका अर्थ यह नही है कि उसकी बुद्धि मे अच्छे-बुरे कर्म या अच्छी-बुरी वाणी को पहचानने की शक्ति नही रहेगी । बल्कि यह कि वह गुण या दोष के कारण ही किसीकी निन्दा या स्तुति नही करेगा, अपनी समता नही खो देगा । वह उन्हे अच्छाई-बुराई का भेद समझाकर बुराई से हटायेगा, परन्तु दूसरो के सामने उसकी निन्दा-स्तुति नही करेगा ।

**"मुनि को चाहिए कि किसी प्रकार का भला या बुरा कर्म न करे, न कुछ भला या बुरा कहे और न चित्त में ही विचारे । ऐसी वृत्ति का अवलम्बन कर केवल आत्मा मे ही रमण करता हुआ जड के समान विचरे ।" ॥१७॥**

वह न भला कर्म करे न बुरा और न कुछ भला-बुरा कहे ही, न चित्त मे ही लावे । ऐसी तटस्थ वृत्ति का अवलम्बन कर, व अपने आप-मे ही—अपनी आत्मा मे ही—रमण करता हुआ, मग्न रहता हुआ, इस तरह निर्द्वन्द्व रहे कि वह जो कुछ भी करेगा, या जो कुछ बोलेगा, या जो कुछ चित्त मे लावेगा वह इस भावना से नही कि यह अच्छा है या बुरा, बल्कि इसलिए कि उसका स्वभाव हो गया है । गुण व दोष-बुद्धि से किसी काम को करना या न करना एक बात है । इसमे एकत्व भावना का अभाव है । लेकिन स्वभाव ही ऐसा बन जाना चाहिए कि अपने-आप ही अच्छे कर्मों मे प्रवृत्ति और बुरे कर्मों से निवृत्ति होती रहे, निरन्तर सात्विक

विचार व सात्विक आचार का अभ्यास करते रहने से फिर स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि गुण-दोष का विचार ही नही करना पडता, अपने-आप उचित व्यवहार होता चला जाता है, जैसे पशु-पक्षी कई बाते स्वभाव मे, जन्मजात प्रेरणा से, करते हैं वैसे ही। इसका यह अर्थ नही कि वह बुरे को अच्छा और अच्छे को बुरा समझने लग जायगा—बुरे-भले की पहचान ठीक-से नही रहेगी, बल्कि यह कि उसे इस प्रकार विचार करने की ज़रूरत ही नही रह जायगी, वह स्वभावानुसार व्यवहार करेगा और दूसरो को ऐसा मालूम होगा मानो कोई जड पुरुष हो।

**"जो पुरुष शब्द-ब्रह्म (वेद) का पारङ्गत होकर भी परब्रह्म मे परिनिष्ठित नहीं हुआ (अर्थात् समाधि आदि के द्वारा जिसने परमात्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं किया) उसे दुग्धहीना गौ को पालनेवाले के समान अपने श्रम के फल मे केवल परिश्रम ही हाथ लगता हैं।"॥१८॥**

शब्द-ब्रह्म वेद या ज्ञान या शास्त्र-ज्ञान को कहते हैं। जो व्यक्ति वेदो का तो पण्डित हो, शास्त्रो मे पारङ्गत हो, परन्तु यदि उसकी निष्ठा ब्रह्म मे नही हो गई हो, उसका स्वभाव ब्रह्ममय नही हो गया हो, तो उसका श्रम व्यर्थ है। कोरे पाण्डित्य से कुछ आना-जाना नही, असल बात है वृत्ति को तदनुकूल बनाना। यो किसी कोरमकोर व्यक्ति की अपेक्षा तो यह शब्द-ज्ञानी फिर भी अच्छा है, क्योकि उसकी बुद्धि पर ज्ञान के कुछ सस्कार तो पडे हैं, उसकी वृत्ति के बदलने मे उससे सहायता ही मिलेगी। परन्तु जो मनुष्य इतने पर ही सन्तोष मान लेता है, उसका परिश्रम दूध न देनेवाली गाय को रखने जैसा व्यर्थ होगा।

**"न दूध देनेवाली गाय, बदचलन स्त्री, कुसतति, पराधीन शरीर, अधर्म से कमाया या सचित किया हुआ धन तथा वाणी जो मेरे गुण-गान से—धर्म या कर्त्तव्य-रूप विषयो से शून्य हो, इनका सग्रह वही मनुष्य करता है, जिसकी तक-दीर में दु ख-ही-दु ख लिखा हो।"॥१९॥**

जो लोग धार्मिक परम्परा मे विश्वास रखते हैं, उनका ध्यान यहा 'परतत्र देह' पर दिलाना ज़रूरी है। ईश्वर-भक्ति का अर्थ गुलामी व गुलामी के जुल्मो या परिणामो को चुपचाप बर्दाश्त कर लेना नही है। बल्कि उसका सच्चा अर्थ तो है कि उसका सिर अब ईश्वर के अलावा किसीके सामने नही झुकेगा। उसने भगवान् की गुलामी स्वीकार कर ली, अब वह किसी दूसरे का गुलाम न रहा। जो भगवान्

की गुलामी नही करता उसे या तो किसी दूसरे व्यक्ति की या अपनी इन्द्रियो की गुलामी स्वीकार करनी पडेगी। जो ईश्वर-भक्त है, वह पूर्ण, स्वतन्त्र, निर्भय, नि.शक हो गया। उसे न राज-भय सता सकता है, न चोर-भय, न मृत्यु-भय। गुलामी मनोवृत्ति सब भयो की जड है। ईश्वर की शरण जाने का अर्थ ही यह है कि अब उसे और किसीके शरण जाने की या और किसीकी धौंस सहने की जरूरत नही रही।

**"वह वाणी फिजूल है, निष्फल है, जिसमें मेरे पवित्र गुण-कर्मों का वर्णन न हो।" ॥२०॥**

जो हमारा इष्ट या आराध्य है उसीके सिलसिले मे यदि हमारी वाणी का उपयोग न हो तो वह व्यर्थ है। भगवान् के जन्म व कर्म क्या हैं ? यह सृष्टि, इसकी उत्पत्ति, भगवान् का जन्म है, इसकी स्थिति, गति व लय भगवान् के कर्म हैं। इन सबका रहस्य जानना व उसका वर्णन करना वाणी का कार्य होना चाहिए। इसी तरह भगवान् के अवतार भी उनके जन्म व अवतारो के विविध कार्य उनके कर्म हैं। जो वाणी इस तरह के ज्ञान-प्रचार मे काम न आती हो, विज्ञ या धीर पुरुष उसे नही अपनाया करते।

**"इस प्रकार आत्मजिज्ञासा से अपने में भेद-भ्रम का उच्छेद करके अपने निर्मल चित्त को मुझ सर्वव्यापी परमात्मा में अर्पण करके उपरत हो जाय।" ॥२१॥**

इस प्रकार आत्मजिज्ञासा के द्वारा मेरे सब रहस्य को जान ले, जिससे उसका भेद-भ्रम मिट जाय। ससार के नानात्व मे जो उसकी भावना है, वह मिटकर एकत्व भावना का सचार हो जाय। इस भेद-भाव के निकल जाने से उसका चित्त स्वच्छ, निर्मल, हलका हो जायगा। 'मैं तू' के भेद से चित्त मे जो नाना विकार उत्पन्न होते थे, अब वे शान्त होने लगे। अब 'तू' कही नही रहा, सब जगह 'मैं' ही 'मैं' हो गया। या 'मैं' कही न रहा, सब जगह 'तू-ही-तू' हो गया। या न मैं रहा, न तू, सब जगह नारायण-भाव हो गया। जब चित्त की ऐसी वृत्ति होने लगे तो सबकुछ मुझ सर्वव्यापी परमात्मा मे अर्पण करके श्रेयार्थी सासारिक विषय-भोगो से उपरत हो जाता है। उनमे उसका मन ही नही लग सकता। केवल जीवन-निर्वाह या कर्त्तव्य-पालन भर के लिए वह उन्हे ग्रहण करता है। उनमे फस नही जाता। जैसे कोई समुद्र पर तैरता रहता है उसकी लहरो मे डूब नही जाता, उसी तरह।

**"यदि तुम मन को परमात्मा में निश्चलतापूर्वक स्थिर करने मे असमर्थ हो**

**तो निरपेक्ष होकर सपूर्ण कर्म भली-भाति मेरे ही लिए करो।" ॥२२॥**

परन्तु यदि इस तरह मन को परब्रह्म मे लगाना तुम्हारे वस का न हो, ब्रह्म-भाव से सव काम व व्यवहार करना तुम्हारे लिए शक्य न हो तो मैं एक और सरल तरकीव वताता हू। जो कुछ करो उसमे फल की अभिलाषा या आसक्ति छोड दो। यह समझकर कर्म करो कि मुझे किसी प्रकार का फल नही चाहिए, मैं तो ईश्वर के निमित्त सव करता हू। ईश्वर जैसा भला-वुरा फल भेज देगा, उसको ईश्वर का प्रसाद समझकर ग्रहण कर लूगा। भगवान् के प्रसाद मे जैसे स्वाद नही देखा जाता, वैसे ही मैं इसके फलो के कडवे या मीठेपन सुख या दु ख रूप पर ध्यान न दूगा। ऐसी वृत्ति वना लोगे तो भी तुम उसी स्थिति को पहुच जाओगे जिसपर ब्रह्मभावी पहुचता है। ब्रह्म-भाव मे स्थित रहना उसके आगे की एक सीढी मात्र है।[1]

**" हे उद्धव, लोको को पवित्र करनेवाली मेरी अति कल्याण कारिणी कथा को सुनने से, मेरे दिव्य जन्म और कर्मो का ज्ञान, स्मरण और वारम्वार अभिनय करने से तथा मेरे आश्रित रहकर अर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्ग का मेरे लिए ही आचरण करने से श्रद्धालु पुरुष मुझ सनातन परमात्मा में**

---

[1] रामकृष्ण परमहस कहते हैं—"लोग समझते हैं कि हमने ब्रह्म को जान लिया, परन्तु वे यह नही जानते कि ब्रह्म मन, वाणी का विषय नही। वह अगोचर है, अनिर्वचनीय है। समाधि-अवस्था मे ही उसका अनुभव होता है जवकि मन-वुद्धि शान्त हो जाते हैं। ब्रह्म का यथार्थ वर्णन शब्दो मे नही किया जा सकता। नमक की पुतली समुद्र की थाह लेने जल मे घुसी और अदर जाकर जल ही मे घुल-मिल गई एव अभिन्न हो गई। अव थाह कौन ले ?

"शकराचार्य ने मनुष्यो को शिक्षा देने के लिए थोडा-सा शुद्ध सात्विक अहकार रख छोडा था, इसी कारण वह उपदेश दे सके। ब्रह्म-साक्षात्कार के वाद मनुष्य मौन रहता है, क्योकि वुद्धि का कार्य तभी तक रहता है जवतक साक्षात्कार नही हुआ। ब्रह्मवित् समस्त जगत् को ब्रह्म के ही रूपान्तर के रूप मे देखता है। सव धर्म-मार्ग सत्य हैं, भगवान् ने पृथक्-पृथक् मनुष्यो को न्यूनाधिक शक्ति दी है। चीटी से ब्रह्मापर्यत सवमें ईश्वर विराजमान है। परन्तु किसीमे उसका विकास थोडा है, किसीमे ज्यादा।"

निश्चल भक्ति प्राप्त कर लेता है।" ॥२३-२४॥

इस तरह जो पुरुष श्रद्धा से मेरा गुणगान करता है, मेरी कथाओ को सुनता है, मेरे दिव्य जन्म-कर्म का बार-बार स्मरण व अभिनय करता है और ससार मे जो कुछ अर्थ, धर्म, काम-रूप त्रिवर्ग है, उसका आचरण मेरे ही लिए, मेरे ही आश्रित होकर करता है वह अवश्य मुझ सनातन परमात्मा मे निश्चल भक्ति[1] प्राप्त करता है।

ससार मे मनुष्य जितने कार्य करता है उनके तीन हेतु हो सकते हैं—या तो द्रव्य-प्राप्ति के लिए, या धर्म-सिद्धि के लिए, या अपनी वासनाओ की पूर्ति के लिए, सुखोपभोग के लिए। इनमे सूक्ष्म विचार किया जाय तो ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य की मूल व सबसे प्रबल इच्छा सुखभोग की ही है—अर्थात् काम की ही है। काम का सकुचित अर्थ भी है—जननेन्द्रिय की तृप्ति। सन्तानोत्पादन इसका फल व गृह-सुखो की आशा इसमे प्रोत्साहक कारण मिल जाने से यह कामेच्छा अन्य सुख-इच्छाओ से कई गुना अधिक प्रबल रहती है और मनुष्य को बेकाबू कर देती है। परन्तु मनुष्य आमतौर पर नाना प्रकार की सुख-साधनाओ के ही पीछे पडा

---

[1] **भक्ति**—परमहसदेव कहते है—"समाधि के बाद भी योगी को भक्ति की जरूरत है। अहभाव समाधि-अवस्था मे तो लीन हो जाता है, परन्तु पीछे वह फिर आ घेरता है। परमेश्वर को कोई अपनी विद्या या बुद्धि-बल से नही पा सकता। षड्दर्शनो की भी वहातक पहुच नही। इसके लिए तो श्रद्धा व भक्ति चाहिए। यदि किसीके हृदय मे भक्ति व प्रेम है तो उसे नैवेद्य पूजन आदि उपचारो की जरूरत नही।"

"यदि मन पवित्र न हुआ और भगवान् के पादपद्मो मे श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न न हुई तो पढना-सुनना सब व्यर्थ है। भक्ति तीन तरह की है—सात्विक, राजस, तामस। सात्विक भक्त अपनी साधना का प्रदर्शन नही करता। यह आत्मानुभव के बहुत निकट है। राजस मे प्रदर्शन व आडम्बर होता है। तामस बडे जोर से 'जय काली' चिल्लाते हैं। उन्हे एक तरह का डाकू ही समझो।"

सन्त विनोबा का कहना है कि भक्ति की आर्द्रता के बिना ज्ञान सूखे चूने की तरह है।

"यदि सुई के छिद्र मे धागा पहनाना चाहते हो तो उसे पतला करो। मन को ईश्वर मे पिरोना चाहते हो तो दीन-हीन अकिंचन बनो।"

रहता है। यह सुख बिना साधनो के, उपकरणो के भोग-सामग्री के नही मिल सकता। अत इसकी सिद्धि के लिए अर्थ का जन्म हुआ। अर्थ का सकुचित अर्थ है धन, द्रव्य—व्यापक अर्थ है सुख-साधन-सामग्री। जब मनुष्य अपनी कामनाओ की सिद्धि के लिए—सुख-प्राप्ति के लिए साधन जुटाने लगता है तब अनुकूल या प्रतिकूल, अच्छे या बुरे साधन की छटनी करनी पडती है। अनुकूल-प्रतिकूल का विचार अपने उद्देश की सिद्धि की दृष्टि मे व अच्छे बुरे का विचार उसके स्थायी रहने की इच्छा से। वही वस्तु स्थायी रह सकती है जिसका दूसरे लोग भी स्वागत करें, पसन्द करे। वे तभी पसन्द या अनुमोदन करेंगे जब उनके सुख-स्वार्थ मे वह बाधक न होती हो। अत जो अपने सुख की साधक व दूसरे के सुख की विघातक न हो वह बात अच्छी व इसके विपरीत बात बुरी समझी जाने लगी। यही नीतिशास्त्र या धर्म की बुनियाद है। इस प्रकार काम मे अर्थ व अर्थ से धर्म अपने-आप उत्पन्न हो गया। परन्तु कई लोगो को स्वतन्त्र-रूप से भी काम के बजाय अर्थ या धर्म अधिक प्रिय होने लगता है। यह उनकी उन्नति या विकास का लक्षण है। श्रीकृष्ण कहते है कि किसी भी उद्देश मे मनुष्य कार्य करे वह यदि मेरे नाम पर, मेरे लिए, अर्थात् सदुद्देश मे, ऊचे लक्ष्य व पवित्र भाव से, करता है तो वही आरम्भ मे मेरी भक्ति और अन्त मे मेरी स्थिति को पा जाता है।

**"सत्सग द्वारा प्राप्त की हुई मेरी भक्ति से वह मेरा उपासक हो जाता है। और वह सत्पुरुषो द्वारा दिखलाये हुए मेरे परमपद को सुगमता से प्राप्त कर लेता है।" ॥२५॥**

मेरी ऐसी भक्ति सत्सग से प्राप्त होती है। जिसके शुभ सस्कारो का उदय होने लगता है उसे सत्सग की इच्छा होती है। ऐसी प्रेरणा को भक्तजन 'ईश्वर-कृपा' कहते हैं। क्योकि जब उसे ऐसी इच्छा नही होती थी उस स्थिति से वह अपनी तुलना करता है तो सत्सगति के लाभ व सुख की इस अवस्था को वह एक वरदान ही समझने लगता है। इधर सत्सगति से उसमे नम्रता आने लगती है। जब मनुष्य अपने ही गुणो व विशेषताओ पर ध्यान रखता है तब अहकार-प्रवृत्ति होती है। जब दूसरे के गुणो की कद्र करने लगता है तो नम्रता-प्रवृत्ति होती है। सत्सग से स्वार्थ-भाव, भोग-कामना, कम होने लगती है तो दूसरो के सुख-दु ख के प्रति दृष्टि जाती है व उनसे समभाव, होने लगता है। इसीसे उनके गुणो व विशेषताओ के लिए मन मे आदर उत्पन्न हो जाता है। यह नम्रता उसे इस सु-स्थिति

का कारण अपने मे नही खोजने देती व ईश्वर की कृपा पर आरोपित करती है।

जब सत्सगति की इच्छा उदय होती है तो सत्पुरुष भी अपने-आप आने व दीखने लगते है। वास्तव मे सत्पुरुष तो हमारे आस-पास ही बहुतेरे रहते हैं। पर अबतक हमारी दृष्टि उनतक नही जाती थी, क्योकि वैसी इच्छा ही नही उत्पन्न हुई थी। अब छोटा बच्चा, घर का पशु व नौकर भी सत्पुरुष गुरु जैसा मालूम होने लगता है; क्योकि तब हमारी दृष्टि दोष देखने की तरफ या गुणो की उपेक्षा की ओर थी और अब विपरीत हालत हो गई। एक दफा गाधारी ने कृष्ण से शिकायत की कि कृष्ण तुम तो समदर्शी हो, तुम्हारे लिए दुर्योधन व युधिष्ठिर दोनो समान हैं, फिर क्या कारण है कि तुम दुर्योधन की निन्दा और धर्मराज की स्तुति करते रहते हो ? कृष्ण ने कहा कि इसका रहस्य किसी दिन समझाऊगा। एक दिन राजसूय-यज्ञ मे उन्होने दुर्योधन को बुलाकर कहा कि इन भोजन करनेवाले ब्राह्मणो मे जो सर्वश्रेष्ठ हो उसे ये सौ मुद्रा दक्षिणा दे आओ। उसने दक्षिणा लौटा कर कहा—मुझे तो इनमे कोई भी अच्छा ब्राह्मण नही दिखाई दिया व सबके अवगुण व त्रुटिया बताने लगा। तब उन्होने युधिष्ठिर को मुद्रा की थैली सौंपकर वैसा ही आदेश दिया, उसने भी थैली लौटा दी। मगर कहा—मुझे तो सब एक-से-एक बढकर अच्छे मालूम होते है, मैं किसे सर्वश्रेष्ठ समझू ? कृष्ण ने गान्धारी की ओर देखकर कहा—अब तुमने समझा, मैं क्यो युधिष्ठिर की प्रशसा व दुर्योधन की निन्दा करता हू। दोष-दृष्टि होने के कारण दुर्योधन को सबमे दोष दिखाई दिये व गुणग्राहक होने के कारण युधिष्ठिर को सबमे गुण-ही-गुण दीखे।

अत जब सत्पुरुषो की ओर दृष्टि गई तो वही दीखने लगे व उनका सत्सग भी होने लगा, जिससे सत्पथ मे प्रवृत्ति होने लगी। उससे मेरे प्रति भक्ति और वढी। अब मेरी उपासना होने लगी, मेरे गुणो का ध्यान व उनकी प्राप्ति की भावना होने लगी। सत्सगति से उसे मेरे परमपद का यथार्थ ज्ञान होने लगता है और सत्पुरुषो की सहायता से वह उसे सुगमता से पा भी लेता है।

**"उद्धवजी बोले—हे उत्तम कीर्त्तिशाली प्रभो ! आपकी सम्मति में साधु किसको कहना चाहिए ? और साधुजन जिसका आदर करते हैं, ऐसी आपके प्रति किस प्रकार की भक्ति उपयोग मे लाई जाय ? हे पुरुषाध्यक्ष ! हे लोकेश्वर ! हे जगत्पते ! मुझ विनीत, अनुरक्त और शरणागत भक्त से यह सब वर्णन कीजिये हे प्रभो, आप परब्रह्म, चिदाकाश-स्वरूप तथा प्रकृति से परे पुरुष-**

**रूप हैं। हे भगवन्, आप अपनी इच्छा से ही यह पृथक् शरीर धारण कर अवतीर्ण हुए है।" ॥२६-२७-२८॥**

सत्पुरुष व सत्संगति की महिमा सुनकर उद्धव ने पूछा—प्रभो, साधु को कैसे पहचाना जाय ? आपकी उस भक्ति का स्वरूप क्या है ? जिसका साधुजन इतना आदर करते हैं। आप मेरी इस जिज्ञासा को तृप्त कीजिये। क्योकि मैं एकमात्र आपकी ही शरणागत हू। फिर आपपर इसकी जिम्मेदारी भी है। क्योकि आपने अपनी इच्छा से ही सद्धर्म की स्थापना के लिए मनुष्य-रूप मे यह अवतार लिया है। अतएव अपने भक्तो को समुचित ज्ञान देना, उनकी कठिनाइयो को हल करके उन्हे आगे बढने का प्रोत्साहन देना आपका कर्त्तव्य ही है। वैसे तो आप परब्रह्म और चिदाकाश-स्वरूप हैं। आपका यह मानवी-रूप असली नही है। आप तो प्रकृति से परे पुरुष-रूप हैं। चैतन्यमात्र आपकी सत्ता है। इस आकाश को यदि चैतन्य से लबालब भरा हुआ कल्पित करे तो आपकी सत्ता का अनुमान हो सकता है। परन्तु मनुष्यो और प्राणियो के हित के लिए ही आपने उस स्वतन्त्र चैतन्य-रूप या स्थिति को छोडकर यह मानव-रूप धारण किया है।

**"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव ! जो समस्त देहधारियों पर कृपा करता है, किसीसे वैर-भाव नहीं रखता, तथा क्षमाशील (प्रतिहिंसा से शून्य) है, सत्यशील, शुद्धचित्त, समदर्शी और सबका हितकारी है, जिसकी बुद्धि कामनाओ से मारी नहीं गई है, जो सयमी, मृदुल-स्वभाव, सदाचारी और अकिंचन है, जो नि स्पृह, मिताहारी, शान्तचित्त स्थिर-बुद्धि, मेरा शरणागत, आत्मतत्व का मनन करने-वाला, प्रमादरहित गम्भीर स्वभाववाला और धैर्यवान् है, जो देह के छ धर्मों (क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह जन्म और मरण) को जीत चुका है, स्वय मान की इच्छा नहीं करता तथापि औरो का मान करनेवाला है तथा समर्थ, मिलनसार, करुणामय और सम्यक् ज्ञानयुक्त है (मेरी सम्मति मे इन अट्ठाईस लक्षणोंवाला पुरुष ही श्रेष्ठ साधु हैं।)" ॥२९-३१॥**

ऊधो, यो तो साधु या सत्पुरुषो के लक्षणो का अन्त नही है, क्योकि ज्यो-ज्यो वह साधु होता जाता है त्यो-त्यो वह मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होता जाता है। अत जो गुण-धर्म मेरे हैं वे ही उसके होते जाते हैं। परन्तु साधारण पहचान के लिए अट्ठाईस लक्षण तुम्हे बताता हू, सो सुनो।

पहली बात तो यह कि वह समस्त देहधारियो के प्रति कृपालु रहता है।

किसीकी बुराई निगाह मे आई तो भी मिठास, कृपा व स्नेह से वह उसे दूर करने की प्रेरणा व उपाय करता है। कटु वचन कहकर वह उसका तिरस्कार नही करता। अच्छे व बुरे सभी लोग उसके नजदीक आश्वस्त रहते हैं, उसकी कृपा का उन्हे सदैव भरोसा रहता है। माता, पिता या गुरु से जैसे पुत्र या शिष्य सदैव मृदुलता, कृपा, वात्सल्य की आशा रखते है, वैसे ही सत्पुरुष की स्थिति समझो।

उसे किसीसे वैर-भाव नही रहता, क्योकि वह किसीसे कुछ चाह नही रखता। उसने अपनी आवश्यकताए इतनी कम रखी हैं कि जिससे उसे किसीसे शत्रुता करने की जरूरत नही रहती। जब मनुष्य अपनी आवश्यकता अनाप-शनाप बढा लेता है और उनकी पूर्ति के लिए दूसरो की सुख-सुविधा का ध्यान नही रखता तो अपने-आप दूसरो से शत्रुता हो जाती है। ससार मे ऐसे बहुत कम लोग है, जो अकारण किसीसे शत्रुता रखते हो। हा, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए लोग अलबत्ता दूसरो को कष्ट मे डाल देते हैं, परन्तु साधु पुरुष ऐसो से भी वैर-भाव नही रखता। उनकी उचित माग की पूर्ति मे वह कभी बाधा नही डालता, भरसक उसमे सहायक ही होता है। और अनुचित माग मे वह शरीक या सहायक नही होता। उसे प्रेम से समझाकर उससे परावृत्त करने का यत्न करता है। ऐसो के प्रति तो उलटा शत्रु भी वैर-भाव भूलने लगता है।

फिर वे क्षमा-शील होते है। किसीने उन्हे नुकसान पहुचाया या कुछ बिगाड कर दिया तो बदले मे वे उसका अहित नही चाहते। व्यक्तिगत अपराधो को वे सदैव क्षमा कर देते हैं। हा, यदि सामाजिक या नैतिक दोष किसीने किया हो तो अलबत्ते वे उसकी उपेक्षा नही करते, परन्तु उनके सुधार का उपाय दण्ड नही प्रायश्चित्त होता है। या तो वे उसे समझाकर उसीसे प्रायश्चित्त कराते हैं या स्वत अपनेको दण्ड देकर उसकी आख खोलने का प्रयत्न करते है। मगर उसे सताने की कल्पना तक उन्हे छू नही जाती। जब अपराध को मन से भी भुला दिया जाता है तब वह क्षमा कहलाती है। ऊपर से क्षमा कर दी व मन मे गाठ बाधकर रखी तो उससे न अपनेको शान्ति मिलती है न दूसरे को सुधार की प्रेरणा। हमारी आन्तरिक गाठ कही-न-कही अन्तराय पैदा करती रहती है।[1]

---

[1] इसके सम्बन्ध मे ज्ञानदेव की व्याख्या इस प्रकार हैं—"अलकार जिस भावना से शरीर पर पहने जाते हैं, वैसे ही जो सबकुछ सहता है, आध्यात्मिक,

वे सत्यशील होते हैं। सत्य ही सोचने, सत्य ही बोलने व सत्य ही करने का आग्रह रखते हैं। ऐसी सत्य-शीलता की ओर मनुष्य तभी अग्रसर हो सकता है जब पहले वह अपने चित्त मे पक्षपात को हटाने का उपाय करे, पक्षपात से अन्याय व अन्याय मे सत्य का घात होता है। पक्षपात दो कारणो मे होता है। एक तो हमारी स्वार्थ-भावना से, दूसरे, दूसरो के प्रति राग या आसक्ति होने से। उसका यह विश्वास रहता है कि सत्य[1] के अवलम्बन से सदैव उभय पक्ष का कल्याण होता है। हो सकता है कि सत्य कभी-कभी किसीको कडवा या बुरा लगे। परन्तु इसके लिए सत्य कहते या करते हुए हिचकने की जरूरत नही है। आप अपने प्रेम व सद्भाव की मिठास जिसे अहिंसा कहते हैं, उसे इसमे इस तरह जोड दीजिये कि जिससे वह कटु या तीव्र न लगे। जैसे कुशल वैद्य रोगी को मिठास मिलाकर कडवी दवा पिलाते हैं।

हमने जो कुछ किया या सोचा, वह सच ही है, इसकी क्या पहचान? आप अपने मन को निष्पक्ष और निष्पृह बनाकर सोचिये और जो निर्णय हो उसपर डटे रहिये।

---

आधिदैविक और आधिभौतिक ताप जिनमे मुख्य हैं, ऐसे उपद्रवो के समुदाय आ पडने पर भी जो तनिक विचलित नही होता, जिस सन्तोष से इच्छित वस्तु की प्राप्ति को स्वीकार करता है उसीसे जो अनिष्ट बात का भी सम्मान करता है, जो मानव-अपमान को सहता है, जिसमे सुख-दुःख समा जाते है, जो निन्दा व स्तुति से द्विधा नही होता, जो उष्णता से नही तपता, शीत से नही कपता, और कोई भी सकट प्राप्त हो उसमे नही डरता, अपने सिर का भार जैसे मेरु नही जानता अथवा वाराह अवतारी भगवान् जैसे पृथ्वी को बोझ नही समझते अथवा पृथ्वी जैसे चराचर भूतो के बोझ से नही झुकती वैसे ही सुख-दुःखो के द्वन्द्व प्राप्त होते हुए जो श्रमी नही होता, नद और नदियो के समुदाय आ उपस्थित होते ही समुद्र जैसे जल के प्रवाह से अपना पेट भर लेता है वैसे ही जिसमे न तो सहने की ही वार्ता है, न जिसे यह स्मरण होता है कि मैं कुछ सहता हू, शरीर को जो प्राप्त हो वही जो अपना कर रखता है और उसे सहकर अभिमान के वश नही होता—इस प्रकार जिसमे दुःख-रहित क्षमा रहती है, उससे ज्ञान की महिमा बढती है।"

[1]सत्य की विशेष व्याख्या के लिए देखिये परिशिष्ट १८ अ

तबतक, जबतक कि फिर आपको किन्ही कारणो से यह न प्रतीत हो कि हमने निर्णय करने मे भूल की है। आपके लिए वही सत्य है। हो सकता है कि यह सत्य शुद्ध न हो, पूर्ण न हो। परन्तु यदि आपकी वृत्ति मे सत्य है तो आप अवश्य किसी दिन शुद्ध सत्य को पा लेगे। शुद्ध या पूर्ण सत्य तो ससार मे एक ही हो सकता है, जहा सत्य-शोधको की एकवाक्यता हो, वहां तो सत्य मान लेने मे कोई बुराई ही नही है, जहा मतभेद हो वहा उनके अनुभव की कमी या दृष्टि-बिन्दुओं का भेद हो सकता है। उनमे अपनी बुद्धि से आपको जो ग्रहणीय मालूम हो उसे फिलहाल सत्य मानकर आगे अपनी खोज जारी रखिये।

उसका चित्त शुद्ध होता है। न उसे अपने स्वार्थ की सिद्धि करनी होती है, न भोग-वासना की ही पूर्ति, न दूसरे को हानि पहुचाने की भावना होती है। इन सबके फल-स्वरूप उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये चित्त के मल या विकार माने जाते हैं। सबका मूल 'काम' है। काम की अपूर्ति से क्रोध उत्पन्न होता है, व पूर्ति होते रहने से लोभ तथा मोह—वस्तुओं से लोभ व व्यक्तियो से मोह—अति काम-सिद्धि से मद व दूसरो की काम-सिद्धि देखकर मत्सर उत्पन्न होता है। साधु ने तो सब लौकिक सुख-भोग की कामनाए छोड रखी हैं, ईश्वर या उसकी तथा उसके जगत् की सेवा से बढकर उसकी और कोई चाह या कामना नही रही है, अत. ये विकार उसके मार्ग मे बाधा नही डाल सकते।

वह समदर्शी होता है। वह सबमे एक ही आत्मा—नारायण का निवास देखता है। अत. सबके प्रति समभाव रखता है, चाहे गाय हो या कुत्ता, या मनुष्य, या राजा, या रक, अछूत या चण्डाल, या साप या शेर, सदा सबका भला चाहता व करता है। जिस प्रेम से वह अपने पुत्र की सेवाशुश्रूषा करेगा उसीसे वह बीमारी या कष्ट की हालत मे कुत्ते, चाण्डाल, या साप की भी करेगा। समदर्शिता की परीक्षा सामनेवाले के दु ख-सुख-विपत्ति के समय होती है। यदि किसीपर कोई कष्ट या विपत्ति नही है तो आम तौर पर सभी थोडा-बहुत सम-भाव रखते हैं। परन्तु सच्चे समदर्शी वही हैं, जो विपत्ति के समय किसी भेद या विषमता के प्रभाव मे न आकर घृणा, तुच्छता, तिरस्कार या उपेक्षा का भाव न लाकर, आत्मीय व स्वजन की तरह सेवा-सहायता करते हैं। 'सुख के साथी बहुत है दु ख के बिरले होय।'

सबका हितकारी होता है। सबमे एक ही—बल्कि अपनी ही—आत्मा का अनुभव करता है, अत. सदा सबके हित मे तत्पर रहता है। इसका अर्थ यह नही कि उसे योग्य-अयोग्य की तमीज नही होती, गुण-दोष का विवेक नष्ट हो जाता है, बल्कि यह कि उनके बावजूद वह सबमे एक भावना रखकर उनका हित-साधन करता है। गुण की अवस्था मे हित-साधन का कोई महत्व ही नही है; क्योकि गुणी के पास तो सभी दौड-दौडकर जाते हैं। दोष की अवस्था मे ही उसका उपयोग व महत्व है। साधु दोषी या त्रुटियुक्त का तिरस्कार नही करता, वल्कि यह समझता है कि मेरी जरूरत यदि कही व किसीको है तो सबसे पहले इन्ही पीडित, पतित, शोषित, अत्याचारित के यहा व इन्हीको।

उसकी बुद्धि कामनाओ-वासनाओ से भ्रष्ट नही है अर्थात् कामनाए उठी भी तो उनका वेग इतना प्रवल नही होता कि वह उसकी बुद्धि—विचार-शक्ति को कुण्ठित कर दे। हलकी हवा का झोका जैसे शरीर को छूकर निकल जाता है वैसे ही वह कमना इधर उठी व उधर विलीन हो जाती है। उनसे वह किंकर्त्तव्य-विमूढ नही होता। कामना के उडते ही विचार-बल से भगवत्स्मरण से उसे वही दवा देता है व अपने अगीकृत कार्य मे लीन हो जाता है। उसका झोका उसकी आत्मा तक नही पहुचता।

वह सयमी होता है। अपने मन व इन्द्रियो को उतनी ही वही खुराक—विषय—देता है जितना उनकी सुस्थिति व उन्नति के लिए आवश्यक है, इससे अधिक नही। जीवन की आवश्यकताओ तक सीमित रहना सयम व भोग की, और मौज-मजा की तरफ बढना असयम की प्रवृत्ति है। शक्तियो को सब ओर से हटाकर एक ओर लगाना भी सयम कहलाता है।

उसका स्वभाव मृदुल होता है। कठोरता, परुषता उसे छू नही जाती। कठोर वह सिर्फ अपने प्रति होता है, दूसरो के प्रति फूल की तरह कोमल, रेशम के लच्छे की तरह मुलायम। "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।" दूसरो के थोडे भी दु ख से द्रवित हो जाता है, किन्तु अपने पर विपत्तियो के पहाड भी टूट पडें तो उफ नही करता। साधारण मनुष्यो की रीति इससे उल्टी होती है। श्री ज्ञानेश्वर के शब्दो मे "जैसे कोई चमेली, खिली कली, अथवा चन्द्रमा का शीतल तेज, दिखाने के साथ ही जो रोग का निवारण करती है और जीभ को भी जो कडवी नही लगती। जैसे पानी जो इतना मृदु रहता है कि कमल-दल उसमे

हिलोरते हैं तो भी वह नही चुभता और वैसे तो पहाड को भी फोड डालता है। वैसे ही जो सन्देह का नाश करने मे लोहे के समान तीक्ष्ण होता है परन्तु श्रव्य-गुण मे जो मधुरता को भी लजाता है, जिसे कुतूहल से सुनते ही कानो को वाणी-सी फूटती है और यथार्थता के बल से जो ब्रह्म का भी भेद करता है, प्रिय होने के कारण जो किसीकी प्रतारणा नही कर सकता और यथार्थ होता है तथापि जो किसीका मर्म-भेद नही करता।"

वह सदाचारी होता है। सदाचार का अर्थ है नीति व धर्म के अनुकूल आचार। जो आचार इस बात को ध्यान मे रखकर किया जाता है कि उसमे दूसरे को कष्ट, हानि तो न हो, व हमारी भी उन्नति, श्रेय, हितसाधन हो, उसे सदाचार कहना चाहिए। 'विष्णु पुराण' मे कहा है—

"साधवः क्षीण दोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचक।
तेषापाचरण यत्त सदाचार तदुच्यते॥"

व्यक्ति व समाज के सबधो को मधुर व उन्नतिशील बनानेवाले आचार को सदाचार समझना चाहिए। आचरण मनुष्य या तो स्वत अपने विवेक से करता है, या सस्कारवश। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्पुरुष के सस्कार भी ऐसे होते हैं और वह इतना विवेकशील भी होता है कि जिससे सर्वदा सदाचार की ओर ही उसकी प्रवृत्ति रहती है। साधारणत पाप व बुराइयो से बचने को सदाचार कह सकते हैं। चोरी, हिंसा, व्यभिचार, झूठ व बलात्कार—इन्हे पाप, बुराई या अनीति कहना चाहिए। इनको बचाकर जो आचार हो, वही सदाचार है। सूक्ष्म विचार करे तो पाचो बुराइया असत्य व हिंसा मे समा जाती हैं। चोरी, व्यभिचार बिना झूठ के आश्रय के हो ही नही सकते। बलात्कार हिंसा का ही एक रूप है। अत असत्य व हिंसा पापाचार, व इसके विरुद्ध सत्य व अहिंसा का पालन सदाचार है।

सभ्य या शिष्ट आचार को भी सदाचार कह सकते हैं। किन्तु इसका सबध बाह्याचार से विशेष है। सदाचार का सबध भीतरी शुद्धि से भी है। ऊपरी आचार को ठीक-ठाक रख लेना दम्भ और मिथ्याचार भी हो सकता है' असल चीज भीतरी प्रवृत्ति है। बाहरी आचार तो उसका दिग्दर्शक मात्र है। दोनो मे सर्वथा मेल रहे—ऐसा ही आचार होना चाहिए।

वह अकिंचन हो रहता है। अपने पास किसी प्रकार का परिग्रह नही

रखता। अत्यन्त आवश्यक वस्तुओ के सिवा किसी चीज का सग्रह या स्वामित्व नही रखता। 'मेरा या मेरे पास कुछ भी नही है', ऐसा जो कह सके वह अकिंचन है। मन की ऐसी वृत्ति होते हुए भी यदि लोकोपकार या सेवा के लिए वह कुछ सग्रह कर लेता है तो इससे उसकी अकिंचनता मे वाधा नही पडती। जो-कुछ मेरे पास है वह सव समाज का या ईश्वर का है, ऐसी भावना अकिंचनता मे रहती है, व जव-जव समाज को या ईश्वरी कार्यों को उसकी जरूरत हो तव वह उत्साह व प्रसन्नतापूर्वक उन कार्यों मे लगा दी जाय तभी अकिंचनता सार्थक कही जा सकती है। दूसरे शब्दो मे सत्पुरुष अपने कब्जे की वस्तुओ का ट्रस्टी—रखवाला—अपनेको समझता है, मालिक नही, व माता-पिता जिस प्रकार चिन्ता से वालको की रक्षा व पोषण करते हैं, उसी प्रकार वह अभिभावक वनकर उन वस्तुओ की रक्षा करता है। साधारण लोग अपनी मालिकी की चीजो की हिफाजत चिन्ता से करते हैं, व पचायती वा दूसरे की चीजो के प्रति लापरवाह होते हैं, सत्पुरुष इससे उलटी प्रवृत्ति रखता है। यो तो चीज चाहे अपनी हो, घरू हो, या पचायती, सवकी रक्षा अच्छी तरह करनी चाहिए, परन्तु पचायती वस्तुओ की देख-भाल तो खासतौर पर सावधानी से करनी चाहिए। तभी अकिंचनता सच्ची कही जा सकती है।

वह नि स्पृह होता है। किसी-से-किसी प्रकार की चाह नही रखता। निर्भयता व अदम्यता की यह सबसे अच्छी कुजी है। "चाह गई, चिन्ता गई, मनुआ वेपरवाह, जाको कछू न चाहिए, सो जग शाहशाह।" 'नि स्पृहस्य तृण जगत्'। इसका यह अर्थ नही कि दूसरो की चाह के प्रति वह उदासीन रहता है, भरसक दूसरो की इच्छाओ का ध्यान रखता है, उनमे जो अच्छी होती हैं उनको पूरा करने का उद्योग करता है, जो वुरी होती हैं उनको हटाने का उपाय करता है। किन्तु फिर भी उसके वदले मे खुद कुछ नही चाहता है, यह सच्ची निस्पृहता है।

वह मिताहार करता है। शरीर के रक्षण व पोषण के लिए जितना आवश्यक है उतना ही आहार करता है, आधा पेट भोजन करना व १।४ पानी, १।४ हवा के लिए खाली छोड देना मिताहार समझना चाहिए। मिताहार मे वस्तुओ की भी मर्यादा होती है। वही वस्तुए खाई जाय, जो हमारे आरोग्य को कायम रख सके व हमे काम के लायक रख सके। यदि स्वादिष्ट हैं तो उसको चाहकर अधिक नहीं खा जायगा, व यदि सयोग से वेस्वाद है तो उसे छोड या फेक नही देगा। उसका

ध्यान उपयोगिता की ओर रहेगा, स्वाद की ओर नही। सादा व अजीर्ण न हो इतना खाना मिताहार समझना चाहिए। भूख लग जाय, दस्त साफ हो जाय, पेट मे दर्द या गुडगुड न हो, दिमाग मे भारीपन या सिर-दर्द न हो, शरीर मे आलस्य न भरा रहे तो समझो कि हम मिताहारी हैं। इनमे से कोई भी कष्ट होने लगे तो फौरन अपने आहार की छान-बीन करनी चाहिए।

उसका चित्त सदैव शान्त रहता है। अपने या पराये कारणो से वह क्षुब्ध नही होता—अपने मन की समतोलता नही खो बैठता। चाहे हर्ष का समाचार हो, चाहे खेद का, चाहे भय का हो या चिन्ता का, हानि का हो या लाभ का, मृत्यु का हो या जन्म का, वह सब अवस्थाओ मे अपने मन की स्थिति एक-सी रखता है। क्योकि एक तो उसकी दृष्टि प्रधानत. बाहरी उथल-पुथल की ओर नही रहती—आन्तरिक जगत् की एकता, स्थिरता, शान्ति का उसे मर्म मालूम रहता है, व दूसरे व्यवहार-बुद्धि से भी वह ऐसे अवसरो पर शान्ति खो देना हानिकर समझता है। शान्ति खो देने से उस दु ख या हानि आदि का अच्छी तरह विचार नही हो पाता और इसलिए उसका ठीक-ठीक उपाय भी नही हो पाता। शान्त रहने का अर्थ सुप्त या निष्क्रिय रहना नही है, बल्कि धाघली, घबराहट मे आकर किसी बात का विचार या उपाय करने के विपरीत भावना का नाम शान्ति है।

वह स्थिर-बुद्धि होता है। उसके विचार बार-बार व जल्दी-जल्दी नही बदलते। जो बहुत सोच-विचारकर निर्णय करता है, उसके विचार जल्दी नही बदला करते। जबतक अपनी गलती मालूम न हो तबतक पूर्व-निर्णय को वह नही बदलता। उसके पालन मे जो कुछ भी कष्ट या आपत्ति आवे उसे वह हर्षपूर्वक स्वीकार करता है। वह यह विचारता है कि यह कष्ट या आपत्ति क्यो आई ? यह मेरे किसी सात्विक आचरण का परिणाम है या राजस, तामस का। यदि राजस-तामस-भाव कारणीभूत हो तो वह उन भावो को त्यागने का प्रयत्न करता है, व आये कष्टो को 'योग्य फल' मानकर धीरज से सहता है। यदि सात्विक भाव का परिणाम है, जैसे समाज-सेवा, देश-सेवा या ईश्वर-सेवा करते हुए राज या समाज का कोप हो जाता है तो उसे तप का आवश्यक अग मानकर प्रसन्नता से सहता है। इसी तरह यदि सुख सात्विकता के फलस्वरूप आता है तो उसको अपना लेता है, अहो-भाग्य नही समझता। प्रकृति का आवश्यक नियम मानकर सरलता से ग्रहण कर लेता है, परन्तु यदि राजस या तामस भाव से मिला हो तो उसे छोडने

का यत्न करता है, क्योकि उसका रूप आरम्भ मे भले ही सुख का हो, वह वास्तव मे—अन्त मे दु ख-रूप ही होता है जैसे किसीको धोखा देकर, सताकर या लूट-कर लाया या आया धन। पहला सात्विक का उदाहरण है व दूसरे राजस-तामस के हैं।

वह मेरा शरणागत होता है। मेरे सिवा किसी दूसरे का अवलम्बन नही रखता। फिर चाहे वह कोई धनी-मानी, राजा-रईस हो, या देवी-देवता हो। मुझसे बडा शक्तिशाली किसीको नही मानता। 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई', 'दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ', 'नहि साधन बल वचन चातुरी, एक भरोसो चरणे गिरिधारी।' 'त्वमेव शरण मम'। इसकी पहचान यह है कि वह मेरे सिवा न किसीसे दबता है, न डरता है। जबतक उसे किसीसे दबना या डरना पडता है तबतक समझो कि मेरी शरणागतता मे कचाई है। मेरा अभय-दान पाकर भी जो दूसरो से डरता है, उसे मन्दभागी ही कहना होगा।

वह सर्वदा आत्म-तत्व का मनन करता है। वह ससार की सारी विविधता व विचित्रता मे से एकता की खोज करता रहता है। उसकी बुद्धि सामजस्य, मेल की तलाश मे रहती है, भेद या नानात्व की नही। भेद व नानात्व का वह विचार अवश्य करता है, परन्तु उन्हे स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे नही, वल्कि उनमे से एक-सत्ता—सामान्य-सत्ता खोजने की बुद्धि से। जिसने अनेकता को स्वतन्त्र सत्ता मान लिया, उसके लिए ससार से अपना मेल मिलाना बडा मुश्किल हो जाता है। ससार से बे-मेल रहकर, मनुष्य कैसे तो सुखी हो सकता है व कैसे उन्नति साध सकता है? जब वह देख लेता है कि इस सारी विविधता के भीतर, तिलो मे तेल की तरह, एक ही आत्मरस या तत्व समाया हुआ है, तो फिर वह दिन-रात उसीका चिन्तन-मनन करता रहता है। इस चिन्तामणि को वह स्वप्न मे भी नही भूलता।

वह प्रमाद-रहित होता है। हर काम सावधानी से जाग्रत रहकर करता है। अपने कर्त्तव्य-कर्म मे कभी गाफिल नही होता। 'आज नही कल कर लेंगे' ऐसी वृत्ति नही रखता। न दूसरो के भरोसे काम छोडकर सो ही रहता है। जैसे सूर्य, चन्द्र प्रमाद-रहित होकर अपने भ्रमण-मार्ग मे नियत परिक्रमा करते हैं, वैसे ही सतत जागरूक रहकर वह अपना जीवन बिताता है। आलस्य, नीद, गफलत उसके पास उसी तरह फटकने नही पाते जैसे दीपक के पास अधेरा।

उसका स्वभाव गभीर होता है। मन स्वभावत चचल है। उसपर विवेक

का अकुश रखकर वह उसे गंभीर बना लेता है। किसी बात मे वह जल्दबाजी नही करता, अपने आचार-विचार जल्दी-जल्दी नही बदलता, जो बात सामने आती है उसकी तह तक पहुचकर चारो ओर का विचार करके निर्णय करता है। झट से न अपनी राय देता है, न उबल ही पडता है। सब बातो को तौलकर जब राय परिपक्व हो जाती है, तभी देता है। छिछले बरतन की तरह उसके पेट का पानी उछलता नही, बल्कि गम्भीर समुद्र की तरह गहरा गोता लगाने पर ही उसमे के रत्न हाथ आते हैं। उसके पास जाते ही ऐसा मालूम पडता है मानो किसी नाले के नही बल्कि समुद्र-तट पर बैठे हैं।

फिर वह धैर्यवान् होता है। दु ख, विपत्ति, भय मे उसके छक्के छूट नही जाते। कैसी ही भयकर आकस्मिक घटना क्यो न हो वह हताश नही होता, न धीरज ही खो बैठता है, बल्कि उसके कारणो पर गभीरता से विचार करके उन्हे दूर करने का यत्न करता है। 'धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी, आपति काल परखिए चारी।' अपना कर्त्तव्य-कर्म करते हुए न तो थकता है, न ऊबता है, न घबडाता है, न परेशान होता है। जैसे हाथी गभीर गति से चलता है, या पर्वत आधी, तूफान, ओलो को धैर्य से सह लेता है वैसे ही वह बाधाओ से विचलित नही होता।

**'तू तो राम सुमरि जग लडवा दे।**

**हाथी चलत है अपनी गति को कुनर भुंकत वाको भुकवा दे।'**

इसका नमूना होता है। कठिनाइयो से न अपने उच्च विचारो को छोडता है, न उदार आशय को। जहा पाव रोप दिया वहा रोप दिया—बिना विचारे, बिना विशेष कारण के अब वह नही उठ सकता। जैसे रावण की सभा मे अगद का पाव।

देह के छ धर्म या उर्मिया मानी गई हैं—क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जन्म और मरण प्रत्येक देहधारी के साथ लगे ही हुए हैं। लेकिन इनको भी वह जीत लेता है। समय पर भोजन न मिला तो भूख के मारे चिढता नही, पानी नही मिला तो विलाप नही करता। किसीकी मृत्यु से या किसी हानि या अप्राप्ति से वह शोक के समुद्र मे डूब नही जाता। न किसी लाभ या सुप्राप्ति के मोह मे ही फसता है। इसी प्रकार न जिसे जन्म की चाह है, या गर्भवास के दु खो का भय है, न मृत्यु का भय, या ससार के दु खो से ऊबकर मृत्यु की चाह ही रखता है। वह उनके प्रभाव मे नही रहता, बल्कि इनपर अपना प्रभाव व अकुश रखता है। इनके बदौलत अपने निश्चित कर्त्तव्य से विरत नही होता, न मन की शान्ति या समता को ही

खाता है। जल मे कमल की तरह इनके स्पर्श से अलिप्त रहता है।

खुद मान की इच्छा नही रखता। लेकिन दूसरो का मान अवश्य करता है। उसे यह विश्वास रहता है कि जो मान-योग्य है, ससार उसका मान अवश्य करता है। यदि कोई उसका मान नही करता तो वह उनपर नाराज़ होने के बदले यही समझता है कि मैं इस योग्य ही नही हू, व सतुष्ट रहता है। किसीसे इसकी शिकायत नही करता, बल्कि मन मे भी ऐसे विकार को आने नही देता। यहातक कि यदि मान मिलता हो तो उसमे घबराने लगता है। जिसमे वह अपनेको अधिकारी नही समझता है वहा यदि उच्च पद या मान मिलता है तो उसमे उलटी अपनी हानि समझता है, क्योकि किसी दिन जाकर उसमे से हानि व अनर्थ ही प्रकट होगा। मान देनेवाले हमारी परीक्षा कर लेते हैं और मन मे हमारी कीमत कम आकने लगते हैं। दूसरो को, न चाहते हुए भी, मान देता है। अनधिकारी को मान मिलना उतना बुरा नही है, जितना अधिकारी को मान से वचित रखना बुरा है। अनधिकारी को मान या तो खुशामद से या उदारता से दिया जाता है। उसे अपना कोई स्वार्थ तो रहता नही, फिर ईश्वर से बढकर वह किसीको अपना आश्रयदाता या सहायक मानता नही। अत खुशामद का कोई प्रयोजन ही नही रहता। गुण की कद्र करने की भावना से मान देने की प्रवृत्ति होती है। मनुष्य मे जहा अवगुण होते है वहा कोई गुण भी अवश्य होता है। यदि हम गुणो पर ही ध्यान रखें तो हरएक मे हमे कोई गुण अवश्य मिल जाता है और इसके लिए उसका मान करने की इच्छा हो आती है। अपमान की भावना तभी पैदा हो सकती है जब अवगुणो पर दृष्टि रखी जाय व उन्हें ही महत्व दिया जाय। सच तो यह है कि अवगुणो के प्रति भले आदमी की भावना तो सदयता की या सुधार की ही होनी चाहिए। अपमान की भावना तो दुष्टता-मूलक ही हो सकती है, हीन सस्कृति की सूचक होती है। यदि भूल से अपमान हो गया तो फौरन् उसका परिमार्जन कर लेता है। किसीको दिखाने के लिए नही, अपने हृदय को स्वच्छ, शान्त व सन्तुष्ट रखने के लिए। क्योकि सज्जन का हृदय ही खुद किसी प्रमाद या भूल की अवस्था मे टोक देता है और उसे तबतक शान्ति नही मिलती जबतक वह उसे पोंछ न डाले।

अपने गुणो की कद्र दूसरो से कराने की इच्छा ही मान है। इसकी जरूरत तब पेश आती है जब दूसरे से हमे कुछ चाह हो, अपने बडप्पन के बल पर कुछ करवा लेना हो। परन्तु सत्पुरुष अपने गुणो व सेवा-बल पर ही दूसरो से कुछ कराना चाहता

है—अपना स्वार्थ नहीं,परोपकार। अतः वह इस बात की ओर से उदासीन रहता है कि लोग उसका मान-सम्मान करते हैं या नहीं। बल्कि यह जरूर देखता है कि लोगो पर उसके आचार-विचार का क्या असर होता है, कहातक वे उन्हे माननीय, गृहणीय समझते है। उनपर क्या आलोचना, टीका-टिप्पणी होती है। क्योंकि इनके प्रकाश मे उसे आत्म-निरीक्षण व सुधार का अवसर मिलता है। मान-अपमान के झंझट मे पड जाने से तो उलटा मन मे राग-द्वेष पैदा हो जाता है, जिससे मनुष्य कर्त्तव्य-विमुखता की खाई मे गिर जाता है। मान करनेवालो के प्रति राग, न करने या अपमान करनेवालो के प्रति द्वेष की भावना पैदा होने या बढने लगती है। इसके विपरीत खुद मान न चाहने से, यदि कहीं मिल गया तो उलटे कृतज्ञता का भाव पैदा होता है; और न मिला तो अपने मन मे असन्तोष नहीं पैदा होता, न दूसरो के प्रति द्वेष ही। दूसरो का मान करते रहने से उनके मन मे अपने प्रति द्वेष पैदा होने की आशका नही रहती, जिससे सदैव उनके सहयोग का ही विश्वास रहता है। अतः यह वृत्ति उभय-रूप से कल्याणकारिणी है।

वह समर्थ भी होता है। शरीर, मन, बुद्धि को सर्वदा योग्य स्थिति मे बनाये रखता है, जिससे उसे सर्वदा सब काम करने मे समर्थता का ही अनुभव होता है,किसी शुभ काम मे वह अपनी असमर्थता न तो अनुभव करता है, न जाहिर ही करता है। स्वामी रामतीर्थ, अभ्यास न होते हुए भी, पहले ही दर्शन मे मीलो बरफ के पहाड पर दौडते चले गये थे, व अमरीका मे चालीस मील तक समुद्र मे तैरते हुए चले गये थे। मन जिधर ले जाओ, चला जाता है, बुद्धि जिस विषय मे भी डालो चलने लगती है। शरीर, मन, बुद्धि का परस्पर सहयोग रहता है। जिसके भी सम्पर्क मे वे आते है, ऐसा मालूम पडता है, मानो पूर्व-परिचित हैं व उनके हृदय मे प्रवेश कर रहे हैं। तीनो अपनी शक्ति को कही भी अकुण्ठित नही पाते, जैसे सूर्य की किरणे सभी जगह प्रवेश पाने मे अपनेको समर्थ मानती है। उसके मन में हिचकिचाहट नहीं होती, कही पासा उलटा न पड जाय—ऐसा भय नही होता। कही बात दूसरो मे न फैल जाय, दूसरे इससे बेजा फायदा न उठावे—ऐसी चिन्ताओ मे परेशान नही होता। आवश्यकतानुसार इनका विचार कर लेने पर फिर निःशक रहता है। बेखटके, बेधडक रहना समर्थता का पहला लक्षण है। जो सत्य-नारायण की उपासना करता है वही ऐसी समर्थता का अनुभव अपने अन्दर कर सकता है।

समर्थ होने से वह अभिमानी, अहम्मन्य नही हो जाता, बल्कि मिलनसार होता

है। जो दूसरो को अपने बराबर समझता है, उनके सुख-दु खो के प्रति समभाव रखता है उसीमे मिलनसारी देखी जाती है। मिलनसारी का मतलब खुशामद नही, बल्कि समभाव है। खुशामद के मूल मे स्वार्थ-सिद्धि का भाव रहता है, मिलनसारी मे दूसरो के गुणो के प्रति आदर,अवगुणो के प्रति दया, या क्षमा या उपेक्षा, व सामान्यत प्रेम का भाव रहता है। उसके उद्देश या कार्य के प्रति सहानुभूति भी रहती है। जिसका हृदय मृदुल, मधुर,स्निग्ध होगा, वही मिलनसार हो सकता है। समर्थता जहा सत्य की साधना से आती है तहा मिलनसारी अहिंसा की साधना से। दूसरो मे घुल-मिल जाना, उन्हे पराया न मालूम होने देना, मिलनसारी की कसौटी है। जबतक उसकी आत्मा मे अपनी आत्मा को मिलाने का उद्योग नही किया जाता तबतक मिलनसारी नही आती। ऊपरी मिठास, या भलमनसी का बर्ताव ढोग होता है व दूना नुकसान पहुचता है। न अपनी आत्मा पर ही उसका शुभ परिणाम होता है, न दूसरो के हृदयो को ही आकर्षित कर पाते हैं। इससे अपने मन मे निराशा व दूसरो के मन मे हमारे लिए उपेक्षा व घृणा का भाव पैदा होने लगता है।

वह कोरा मिलनसार ही नही, करुणामय होता है। दूसरो के दु खो, कष्टो, अवगुणो के प्रति उसका हृदय करुणा से सराबोर रहता है। जगत् मे दु खो का अन्त नही है। अत उसकी करुणा का भी ओर-छोर नही होता। दु ख मे सहायता पहुचाने, व दुखियो को उबारने का भाव करुणा-भाव है। 'जैसे के साथ तैसा' न्याय-भाव है। 'बुरे के साथ भला' दया या करुणा-भाव है। अनुभव बताता है कि जो न्याय-भाव को लेकर चलता है वह परिणाम मे स्वार्थी ही रहता है, जो स्वार्थ को लेकर चलता है वह अत्याचारी हो रहता है और जो दया या करुणा-भाव को लेकर चलता है वह न्यायी हो रहता है। ऊचा आदर्श रखेंगे तो नीची मजिल तक पहुच जायगे। शेर के शिकार का सामान ले चलेंगे तो भालू के शिकार के लिए काफी हो रहेगा, क्योकि मनुष्य का मन विषयो मे इतना फसा हुआ रहता है, स्वार्थ मे, स्व-सुख मे इतना रगा हुआ रहता है कि प्राय हर मौके पर वह अपने अनुकूल ही अर्थ लगाने व कार्य करने की प्रवृत्ति रखता है। इसमे हम सतर्क रहें—इसीलिए यह पद्धति बताई गई है। यह करुणा-भाव मनुष्य मे तभी जाग्रत हो सकता है जब वह यह मान ले या समझ ले कि अब ससार मे दु खियो के दु ख दूर करने या करते रहने के अलावा मेरा कोई कर्त्तव्य शेष नही रहा है। इसके लिए उसे अपना सर्वस्व—शरीर तक होम देना पडे तो उसे इसमे आनन्द ही हो सकता है।

(दधीचि, शिवि, हरिश्चन्द्र, ईसा मसीह, बुद्ध,गांधी इसके उदाहरण हो सकते है।)

अन्त मे वह सम्यक् ज्ञानयुक्त होता है—'कवि', शब्द प्राचीन समय मे इसी अर्थ मे प्रयुक्त होता था। कोरी कविता करनेवाला कवि नही समझा जाता था, बल्कि 'मनीषि', 'परिभू', 'स्वयभू' समझा जाता था। स्वय ईश्वर को कवि[1] कहा गया है, जिसने यह सृष्टि जैसी अद्भुत रसमयी कविता की है।

---

[1]कवि—"कविता मानव-सृष्टि मे उतनी ही प्राचीन वस्तु है जितना कि मानव-हृदय और उसमे उमडनेवाले विविध भाव। छन्दो की बेडियो मे कसी हुई कविता स्वतन्त्र आदिम मनुष्य की कविता न थी। मानव-हृदय आन्दोलित होकर जिस धुन मे, जिस लय मे जो गाता था उसीको पीछे के लोगो ने छन्द बना दिया। छन्द कविता का कलेवर मात्र है। उसकी आत्मा—प्राण नही। प्रकृति अपने सहज सुन्दर रूप मे अपना वैभव छिटकाती है और मनुष्य उसे काट-छाटकर अपने मतलब का बनाने की चेष्टा करता है। जो सारी प्रकृति पर ही अपनी प्रभुता स्थापित करते है—उसीपर अपनी अन्तरात्मा का रग चढाते हैं, जो छन्दो, रागो और रेखाओ के जीवन से टक्कर नहीं लेते, बल्कि काव्य, सगीत, कला के मूल और आत्मा पर ही सस्कार करते है और उसे नया जीवन, नया वेग, नया दर्शन देते हैं वे कवि हैं। कवि एक विधाता ही है। उसे प्रति ईश्वर ही समझिये। वह नई सृष्टि की रचना करता है। नवीन जीवन व नवीन आकाक्षाओ को जन्म देता है। वह त्रिकाल-दर्शी है, वह द्रष्टा है। वह भूतकाल की अस्थियो पर पाव रोप-कर वर्तमान की जटिल समस्याओ को भविष्य का सन्देश देता और पथ-दर्शन कराता है। उसका सिर आकाश मे, पैर जनता मे और बाहु चारो दिशाओ मे फैले रहते हैं। आकाश मे उठकर वह सृष्टि के गूढो को, मानव-समाज की पहेलियो को अपने अन्तश्चक्षुओ से देखता है, समाज मे मिलकर उसे उठाता और जगाता है तथा दिन-रात कोने-कोने मे अपना गाना गाता है, अपना रोना रोता है। न वह गाने से थकता है, न रोने से। रोकर वह मानव-हृदय को जगाता है, गाकर उसे जुझाता है। उसका गाना व रोना परस्पर पूरक है। वह रोते हुए हंसता है और गाते हुए रोता है। वह पागल है, विश्व की वेदना उसके हृदय को हिलाती है। वह 'उफ्' कहकर चीख पडता है। यही काव्य है। उसकी चीख से ब्रह्माण्ड हिलने लगता है। यह कवि व काव्य की महिमा है। कवि की करुणा कविता है।"

जो इन अट्ठाईस लक्षणो से युक्त है, उसे श्रेष्ठ साधु पुरुष समझो।

**"(वेदरूप) मेरे द्वारा किये गए अपने वर्णाश्रमादि धर्मों के (पालन में) गुण और (त्याग में) दोष जानकर भी जो मेरे लिए उनकी उपेक्षा करके मुझे भजता है, वह साधुओ में श्रेष्ठ है।" ॥३२॥**

मैंने सबके लिए अपने-अपने धर्मों का उपदेश दे दिया है। वैसे तो उनके गुण-दोषो का विचार करके ही—गुणो को ग्रहण करने व दोषो को छोडने की वृत्ति से ही—उनका पालन करना उचित व श्रेयस्कर है, परन्तु वह भक्त और भी श्रेष्ठ है, जो उनकी अपेक्षा भी मेरी तरफ ही अपना ध्यान रखता है। एक बार उनकी उपेक्षा भले ही हो जाय, पर मेरी भक्ति मे, मेरे भजन मे कसर न होने दे, क्योकि उन धर्मो के पालन के मूल मे भी असल बात तो मुझे ही याद रखने की है। मुझे भूलकर उन धर्मों का कोई पालन करे भी तो वह यन्त्रवत् होगा, उससे विशेष लाभ नही हो सकता। किन्तु यदि मुझे याद रखेगा व उन्हे भूल जायगा तो कोई हानि नही हो सकती।

**"मै जो हू, जितना हू और जैसा हू, इस बात को जानते हुए भी जो अनन्य-भाव से मेरा भजन करते है, मेरी सम्मति में वे ही मेरे परम भक्त है।" ॥३३॥**

फिर मेरी भक्ति के लिए मेरे स्वरूप का ज्ञान भी, मैं क्या हू, कैसा हू, कितना हू, आदि को जानने की खास जरूरत नही है। यदि किसीको इन विषयो का ज्ञान हो जाय तो अच्छा, न हो तो भी काम चल सकता है। इस झझट मे न पडते हुए भी जो केवल अनन्य भाव से मेरा भजन करते हैं—अपने इष्ट मे ही अपना तन-मन लगाये रखते हैं—उन्हे मेरा परम भक्त जानो। ऊधो, मेरा स्वरूप जानना पेड गिनने जैसा, व मुझे एकनिष्ठा से, अनन्य भाव से भजना आम खाने जैसा है। फिर मैंने यह भक्ति-योग या शरणागति-योग तो खासकर उन्ही लोगो के लिए चलाया है जो न इतनी बुद्धि रखते है, न जिन्हे ऐसा साधन या सुविधा है कि वेद-शास्त्रादि का अध्ययन करके बहुत-सी बातो का ज्ञान प्राप्त करे व फिर श्रेय को प्राप्त हो। यदि वेद-शास्त्रो का ज्ञानी होकर भी मुझे भूल जाय, मेरी भक्ति मेरे जगत् की सेवा छोड दे तो वह भारवाही गधे के जैसा ही कोरा रह जायगा। अत वेद-शास्त्रादि पढकर भी जो मूल तत्व प्राप्त करना है वह यही कि मुझमे मन लगाकर, मेरे प्रीत्यर्थ ही सारा जीवन लगावे—जीवन के सब कामो को करे।

**"मेरी प्रतिमा तथा मेरे भक्तजनो के दर्शन, स्पर्श और पूजन, सेवा-शुश्रूषा,**

स्तुति तथा विनीत-भाव से गुण और कीर्तन करना, मेरी कथा सुनने में श्रद्धा रखना, मेरा ध्यान करना, जो कुछ प्राप्त हो मुझे निवेदन कर देना, दास्य-भाव से आत्म-समर्पण करना, मेरे दिव्य जन्म और कर्मों की चर्चा करना, मेरे पर्वदिनो को मनाना, गान, नृत्य, वाद्य और भक्त समाज के साथ मेरे मन्दिरो में उत्सव करना, समस्त वार्षिक पर्वतिथियो पर मेरे स्थानो की यात्रा और पूजनादि करना, वैदिकी अथवा तान्त्रिकी दीक्षा लेना, मेरे व्रत रखना, मेरी प्रतिमादि की प्रतिष्ठा में श्रद्धा रखना, उद्यान (पुष्पवाटिका), उपवन (बगीचा), क्रीडागृह और मन्दिर आदि के निर्माण में स्वत अथवा औरों के साथ मिलकर प्रयत्न करना, निष्कपट-भाव से दास के समान मार्जन-लेपन, जल-सेचन और मण्डलावर्तन (सर्वतोभद्ररचना) आदि के द्वारा मेरे मन्दिर की सेवा करना, निर्मान तथा निष्कपट रहना और अपने किये हुए सेवादि कार्यो को किसीसे न कहना (हे उद्धव ! ये ही सब मेरी उत्तम भक्ति के लक्षण हैं)। इसके सिवा मेरे भक्त को चाहिए कि वह मुझे निवेदन किये हुए दीपक अथवा किसी अन्य पदार्थ को अपने काम में न लावे।" ॥३४-४०॥

अब मैं इससे भी सुलभ अर्चा व क्रिया-योग[1] तुझे बताता हू। जो भक्त इनमे

---

[1] पहले (अ० ४ श्लो० ४७ मे) बता चुके है कि वैष्णवागम मे पाञ्चरात्र व भागवत का समावेश होता है। 'पाञ्चरात्र' नाम पडने के कई कारण बताये जाते है। महाभारत के अनुसार चारो वेद तथा साख्य योग के समाविष्ट होने के कारण इस मत की सज्ञा 'पाञ्चरात्र' थी। ईश्वर-सहिता (अ० २१) के कथनानुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भरद्वाज ऋषि को मिलाकर पाच रातो मे उपदेश दिया गया था, तथा पद्म सहिता, (ज्ञान पद अ० १) का कथन है कि इसके सामने अन्य पाच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड गये थे, अत पाञ्च-रात्र नामकरण हुआ। नारद पाञ्चरात्र के अनुसार इसका कारण विवेच्य विषयो की सख्या है। रात्र का अर्थ होता है ज्ञान। परम तत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (ससार) इन पच विषयो के निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पाञ्चरात्र' पडा है।

पाञ्चरात्र सहिताओ के विषय चार है (१) ज्ञान, ब्रह्म, जीव तथा जगत् के आध्यात्मिक रहस्यो का उद्घाटन एव सृष्टि-तत्व का विशेष निरूपण (२) 'योग' —मुक्ति के साधनभूत योग तथा योग-सम्बन्धी क्रियाओ का वर्णन (३) 'क्रिया'

निपुण व तल्लीन हो वह भी इसके द्वारा धीरे-धीरे मेरे स्वरूप के ज्ञान को पा जाता है। मेरी प्रतिमा तथा मेरे भक्तजनों के दर्शन, स्पर्श, और पूजन, सेवा-शुश्रूषा, स्तुति तथा विनीतभाव से गुण व कर्मों का कीर्तन करना, मेरी कथा सुनने मे श्रद्धा रखना, मेरा ध्यान करना, जो कुछ प्राप्त हो मुझे निवेदन करना, दास्य-भाव से आत्म-समर्पण करना, मेरे दिव्य जन्म-कर्मोकी चर्चा करना, मेरे पर्वदिनो को मनाना, गान, नृत्य, वाद्य, और भक्त-समाज के साथ मेरे मन्दिर मे उत्सव करना, समस्त वार्षिक पर्वतिथियो पर मेरे स्थानो की यात्रा और पूजनादि करना, वैदिकी तथा तान्त्रिकी दीक्षा[1] लेना। मेरे व्रत रखना, मेरी प्रतिमादि की प्रतिष्ठा मे श्रद्धा रखना, उद्यान (पुष्प-वाटिका), उपवन (बगीचा), क्रीडागृह और मन्दिर आदि के निर्माण में स्वत अथवा औरो के साथ मिलकर यत्न करना, निष्कपट भाव से दास के समान मार्जन-लेपन, जल-सेचन और मण्डलावर्तन (सर्वतोभद्र रचना) आदि के द्वारा मेरे मन्दिर की सेवा करना, निर्मान तथा निष्कपट रहना और अपने किये हुए सेवादि कार्यों को किसी से न कहना। ये सब मेरी उत्तम भक्ति के साधन व लक्षण हैं। इनके सिवा मेरे भक्त को चाहिए कि वह मुझे निवेदन किये हुए दीपक अथवा किसी अन्य पदार्थ को अपने काम मे न लावे।

मतलब यह कि भगवान् के या उनके कार्य के निमित्त ही सारा दिन व जीवन लगाना। इसमे तीन बातो की ओर खासकर पाठको का ध्यान जाना चाहिए।

---

—देवालय का निर्माण, मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का सागोपाग वर्णन (४) 'चर्या'—आह्निक क्रिया, मूर्तियो तथा यन्त्र के पूजन का विस्तृत वर्णन। वर्णाश्रम-धर्म का परिपालन, पर्व तथा उत्सव के अवसर पर विशिष्ट पूजा का विधान। इनमे चर्या का वर्णन आधे से अधिक है। आधे मे सबमे अधिक क्रिया, क्रिया मे कम ज्ञान और सबसे कम योग का विवेचन है। अत चर्या और क्रिया की व्यावहारिक विवेचना ही पाचरात्र सहिताओ का मुख्य प्रयोजन है। वेद की 'एकायन' शाखा मे इसका सम्बन्ध है। भगवान् ही उपेय (प्राप्य) हैं तथा वह ही उपाय (प्राप्ति-साधन) हैं। विना भगवान का अनुग्रह हुए जीव भगवान को नही पा सकता। भगवान् की शरणागति ही केवल-मात्र उपाय है। इसीका दूसरा नाम भागवत-धर्म है।

[1] देखिये परिशिष्ट १९

१. मेरे भक्त-जनो का दर्शन, स्पर्श और पूजन। २ अपने किये सेवा-कार्यों का विज्ञापन न करना तथा ३ मुझे निवेदित दीपकादि को अपने काम मे न लेना। पहली मे भगवान् ने अपने भक्तो, अपने या जगत् के निमित्त किसी भी शुभ काम में लगे हुए लोगो की कद्र करने, उन्हे सहायता पहुचाने, उनका आदर करने की ओर सकेत किया है, दूसरी मे मौन या मूक सेवा का और तीसरी मे भगवान् या समाज को अर्पित वस्तुओ पर अपना अधिकार न मानने का उपदेश दिया है।

पहले बता चुके है कि भक्त दो प्रकार के होते हैं—एक वे जिन्हे खुद भगवान् की व्यक्तिगत सेवा-पूजा मे रस आता है, दूसरे वे जिनकी रुचि भगवान् के कामो को पूरा करने मे होती है। प्रस्तुत प्रसग मे जो दूसरे प्रकार के भक्त हैं, वे किसी भी सेवा-कार्य—वर्तमान मे सर्वजातीय एकता, हरिजन व विधवा-उद्धार, खादी तथा गृह-उद्योगो का प्रचार, राष्ट्र-भापा का प्रचार, गो-सेवा, स्वास्थ्य-ओषध-प्रचार, किसान, मजदूर, गरीब अनाथो की सेवा-सहायता आदि, आदि को चुनकर उसमे उसी तल्लीनता से लग सकते है।

**"ससार में जो-जो वस्तु अपनेको सबसे अधिक प्रिय और अच्छी लगती हो उस-उसीको मेरे अर्पण कर दे, ऐसा करने से वह अत्यन्त फल देनेवाली हो जाती है।" ॥४१॥**

जो फल की अभिलाषा नही छोड सकते, फल की इच्छा से ही जिन्हे कर्म मे रुचि है, उनको भी मैं ऐसी तरकीव बताता हू, जिससे अनन्त गुना फल मिले। जो-जो वस्तु ससार मे उन्हे सबसे अधिक प्रिय व अच्छी लगती हो वह सव मेरे अर्पण कर दिया करे। अर्थात् वह उन वस्तुओ को लावे व सग्रह भले ही करे, परन्तु शर्त यह है कि वे सव मुझे दे दे। फिर मेरा प्रसाद समझकर आवश्यक वस्तुए उनमे से ग्रहण करे व शेष को अच्छे लोक-सेवा के कामो मे लगा दे। इससे उसे एक तो अनन्त गुना फल मिलेगा, दूसरे उसकी आत्मा को यह सन्तोष मिलेगा कि मैं पुरु-षार्थी हू, बहुत कमाता हू, वहुत खर्च करता हू, किन्तु इसकी वुराई से, इनके दुरुप-योग से, बच जायगा, क्योकि यह कर्म मेरे लिए होगा, उसकी किसी स्वार्थी या दुष्ट भावना से न होगा।

**"हे भद्र! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सव मेरी पूजा के आश्रय हैं।" ॥४२॥**

फिर भले ही वह मेरे भिन्न-भिन्न रूपो की, विभूतियो की पूजा करे। साधा-

रण लोग प्रत्यक्ष-पूजक होते है। मेरा मूल-रूप तो निर्विशेप, निर्गुण, अव्यक्त, अचिन्तनीय है। वह केवल सूक्ष्म वुद्धि या प्रज्ञा से ही पहचाना जाता है। मेरा दर्शन तो मन-वुद्धि के भी परे की समाधि अवस्था मे ही शक्य है। अत सर्व-साधारण को इसका न तो ज्ञान ही हो सकता है, न सहसा विश्वास ही। उनके लिए विभूति-पूजा ही उचित है। हा, एक बात की वे सावधानी रक्खे। इन विभूतियो या भिन्न-भिन्न देवो, शक्तियो, आदि को स्वतन्त्र शक्तिया न मानें। सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र तो एक मैं ही हू। मेरे ही ये भिन्न-भिन्न अग या रूप है। ऐसी भावना व श्रद्धा रखकर चाहे वह सूर्य[1] को पूजे, चाहे गाय या ब्राह्मण या पीपल या वड—वह मेरी ही पूजा के बरावर है।

**"वेदत्रयी द्वारा सूर्य में, घृताहुतियों द्वारा अग्नि में, आतिथ्य द्वारा ब्राह्मण में, चारे आदि के द्वारा गौ मे, बन्धुवत् सत्कार के द्वारा वैष्णव मे, ध्यान-निष्ठा द्वारा हृदयाकाश मे, मुख्य प्राण द्वारा वायु में, जल-पुष्पादि सामग्री द्वारा जल में, गुप्त मन्त्रो द्वारा मिट्टी की वेदी में, अनेक भोगो द्वारा आत्मा में और समदृष्टि द्वारा सम्पूण प्राणियों में मुझ क्षेत्रज्ञ आत्मा की पूजा करे।" ॥४३-४५॥**

अब मैं तुम्हे यह भी बता देता हू कि पूर्वोक्त रूपो मे किस वस्तु या कार्य से मेरी पूजा अथवा भजन किया जाय। सूर्य के माध्यम से मुझे पूजना हो तो वेद-त्रयी अर्थात् ऋक्, साम, यजुर्वेद के द्वारा करे। अर्थात् इन वेदो का अध्ययन करके, इनका रहस्य समझके, तदनुकूल अपना जीवन बनाते व जीवन-कार्यों को करते हुए। यदि अग्नि के द्वारा पूजन करना हो तो घृत के द्वारा करे अर्थात् गायो को पालकर, उनका स्वच्छ घृत घर मे वनाकर उसे समाज के अर्पित करे—उचित दाम मे शुद्ध गाय का घी जरूरतमन्दो को दे—वेचें। ब्राह्मण[2] के द्वारा करना हो तो अतिथि-सत्कार करके। अर्थात् खुद ब्राह्मण का या आगत अतिथियो का अपने

---

[1] देखिये परिशिष्ट २०

[2] यजुर्वेद मे प्रार्थना की गई है—'आब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्—अर्थात् हे ब्रह्मन्, ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी उत्पन्न हो।' ज्ञान के अधिष्ठाता वर्ग को 'ब्राह्मण' कहते है। जन्मना ब्राह्मण 'विप्र' कहलाते हैं, शास्त्रज्ञ ब्राह्मण 'ब्राह्मण'। शास्त्र-ज्ञानपूर्वक कार्य मे प्रवृत्त ब्राह्मण 'देवता', 'भूदेव', प्रकृतिक तत्वो का परीक्षक ब्राह्मण 'ऋषि', सर्वरहस्यवेत्ता सर्वज्ञ ब्राह्मण 'ब्रह्मा' कहलाता है।

सामर्थ्य व श्रद्धा के अनुसार भले प्रकार स्वागत-सत्कार करके गो-सेवा के द्वारा करना चाहे तो उसके लिए अच्छे चारे, कुट्टी, खल, विनौले आदि खिलाकर, व उनकी प्राप्ति की समुचित व्यवस्था करके अर्थात् उसे चरागाह, तिलहन, विनौले व दूसरे अनाज की पैदावार मे सहायता करनी चाहिए। गो-माता को स्वच्छ स्थान मे रखना, उसकी भली-भाति रक्षा करनी चाहिए। वध के लिए उसे न तो वेचना न वेचने मे किसी तरह की सहायता देनी चाहिए। घर के वडे-बूढे जब वेकार हो जाते है तो जिस तरह अपना कर्त्तव्य व धर्म समझकर उनका पालन-पोपण करते है उसी तरह आदर व कृतज्ञता से वेकार गाय-वैलो का पोषण करना चाहिए। बीमारी मे भी घर के आदमी की तरह उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। उनके मल-मूत्र का उपयोग कण्डे बनाने की जगह खाद वनाने मे करना चाहिए तथा मरने के वाद उसके किसी भी उपयोगी अश या अग को व्यर्थ न जाने देना चाहिए। प्रकृति मे मैंने जितनी चीजे उपजाई हैं, वे सव प्राणि-मात्र के उपयोग के लिए है। इन विचित्रताओ से मेरा मनोविनोद तो होता ही है, परन्तु इनके उपजाने मे केवल मैंने विनोद-बुद्धि से काम नही लिया है। प्राणियो के हित व उपयोग का भी वखूवी ध्यान रक्खा है। मैंने खासकर मनुष्य को इतनी बुद्धि भी दे दी है कि वह उसका उपयोग करे, इनके लाभ-हानि का अनुभव करके इनसे लाभ उठाता रहे व हानि से वचता रहे। एक वस्तु मे यदि एक हानि की वात है तो चार लाभ की वातें है और जो हानि की वात दीखती है उसे भी वुद्धिमान मनुष्य लाभ मे परिणत कर सकता है—जैसे वडे-वडे भयकर विपो का उपयोग भी दवाओ के लिए किया गया है। बुद्धि के ऐसे उपयोग से मैं खुश हूं। मेरी सृष्टि की रक्षा व उन्नति के लिए मनुष्य इस तरह हानिकर व घातक दीखनेवाली वस्तुओ का भी जितना सदुपयोग करेगे उतनी ही उनकी बुद्धि-शक्ति मेरी निगाह मे सार्थक होगी। अतः किसी भी जीवित या मृत प्राणी का उपयोग इस वुद्धि या विधि से किया जाय कि मेरी सृष्टि का पालन व उन्नति हो तो इसे मैं धर्म ही समझता हू।

जो वैष्णव हो अर्थात् मेरा भक्त हो उसके प्रति बन्धु-भाव रखकर, भाई की तरह उसका आदर-मान करके मेरी पूजा करे। आकाश के द्वारा पूजना हो तो ध्यान लगाकर अर्थात् आकाश के गुणो का ध्यान करके, तदनुरूप अपनी वृत्ति वनाकर। दत्तात्रेय ने आकाश को गुरु वनाया था। उन्होने उसके गुणो का वर्णन पहले कर दिया है। वायु के द्वारा करना चाहे तो मुख्य प्राण को नियम करके

अर्थात् आन्तरिक प्राण को वाह्य वायुगत प्राण मे मिलाकर, दोनो प्राणो मे, जीव व जगत् की चेतना-शक्ति मे एकता स्थापित करके। दूसरे शब्दो मे प्राणायाम आदि के द्वारा पहले श्वासोच्छ्वास को नियन्त्रित करके फिर जगत् के साथ अपना तादात्म्य करने का प्रयत्न करना चाहिए। जल के द्वारा मुझे पूजना हो तो फल व जल से ही अर्थात् तरह-तरह फूलो के पौधे, पुष्प-वाटिका लगाकर, कुए, जलाशय आदि खुदवाकर, उनका उपयोग मेरे या जगत् की सेवा के लिए करके, सर्व-साधारण के लिए ऐसे पुष्पोद्यान या जलाशय मुक्त करके। वेदो के द्वारा करना हो तो अच्छे-अच्छे मन्त्र बनाने की या गुह्य मन्त्रो का अर्थ स्पष्ट करने की योग्यता प्राप्त करके, वेदो की समृद्धि या महत्व बढा के करना चाहिए। आत्मा के द्वारा करना हो तो जितने भोग भोगने हो वे शारीरिक नही, आत्मिक होने चाहिए, जिनसे आत्मा को सन्तोष हो, आत्मा की शुद्धि हो, आत्मा प्रगतिशील, उन्नत बने, ऐसे ही भोग-साधन स्वीकार करके। शरीर-सुख की दृष्टि को छोडकर केवल आत्महित का ही विचार भोग व सुख के सबध मे करना चाहिए। मैं अच्छा खाने-पीने, आमोद-प्रमोद करने, वा सुख-भोग करने का कतई निषेध नही करता। जिनका मन न माने वे इनका सीमित उपयोग भले ही करे। परन्तु वे ऐसा देहदृष्टि से नही, आत्मदृष्टि से करें। तो ऐसा भोग भी मेरी पूजा के ही बराबर होगा।

यदि भूतो के द्वारा मुझे भजना है तो सबमे साम्यभाव रख के। क्योकि मैं तो सब भूतो मे समा रहा हू। अगूर का रस जैसे उसके कण-कण मे व्याप्त है, कपूर की गध जैसे उसके एक-एक कण मे बसी है, वैसे ही मैं भूत-मात्र मे जीव—प्रकट या अप्रकट चेतन-रूप से बसा हुआ हू। क्योकि मेरी दृष्टि मे सब सम है। हाथी हो तो क्या, व चीटी हो तो क्या, राव क्या, रक क्या, मनुष्य क्या व पशु क्या, पत्थर क्या व प्राणी क्या, सबके देह-आकार भले ही पृथक् हो, छोटे-बडे हो, उनकी आवश्यकताओ को मैं सामानरूप से पूर्ण करता हू। चीटी को कण व हाथी को मण देता हू। यदि मैं चीटी को मण व हाथी को कण देने लगू तो मेरे साम्यभाव मे फर्क आ जाय। शक्ति व आकार सबका भिन्न-भिन्न है, परन्तु प्राकृतिक आवश्यकताए समान हैं। पत्थर हो, प्राणी हो, पशु हो, मनुष्य हो, जिसकी जो प्राकृतिक आवश्यकताए हैं, उन्हे समभाव से पूर्ण करने का यत्न करना चाहिए। इसमे सबका समान अधिकार है। इसका अर्थ यह नही कि कोई पत्थर को

हलुआ, गाय को पत्थर व मनुष्य को चारा खिलाने लगे। बल्कि वह पत्थर के विकास के लिए आवश्यक खुराक पत्थर को, गाय की उन्नति के लिए आवश्यक गाय को व मनुष्य की उन्नति के लिए आवश्यक खुराक आदि मनुष्य को दे। गाय को पशु व पत्थर को जड समझकर उनकी उपेक्षा व मनुष्य को मनुष्य समझकर उसकी अधिक चिन्ता या पक्षपात उसे नही करना चाहिए। जिस प्रेम से मनुष्य की उन्नति का ध्यान रखते है, उसी प्रेम से पशु, पौधे, व पत्थर के विकास का ध्यान रखना चाहिए। इनके कष्ट के समय हमारा हृदय वैसे ही व्यथित होना चाहिए जैसे अपने या अपनो के कष्ट के समय। यही साम्य का सच्चा अर्थ है। साम्यभाव यान्त्रिक क्रिया नही, उन्नत सुसस्कृत,सहानुभूति-शील, प्रेममय हृदय का सुन्दर गुण है। यही नियम मनुष्यो के भिन्न-भिन्न ऊचे-नीचे समझे जानेवाले वर्गो—धनी, अमीर, किसान, मजदूर, मालिक, जगली, अस्पृश्य, अशिक्षित व पिछडी हुई तथा सभ्य, नागरिक, उन्नत जातियो या श्रेणियो के सबध मे भी समझना चाहिए। मानवता के नाते सब समान हैं—समाज में सबको एक मनुष्य की हैसियत से रहने व उन्नति या सुख प्राप्त करने का समान अधिकार है, अपनी प्राकृतिक या मानवी आवश्यकताओ को पूर्ण करने का, समाज या सृष्टि की वस्तुओ पर अधिकार भोगने का सबको समान अधिकार है। इसमे ऊच-नीच या घृणा के भावो की न जगह है, न गुजायश। इसमे समानता रखते हुए फिर कोई अच्छा या बुरा कर्म करता है या जीवन व्यतीत करता है तो उसके अनुसार उसे अच्छा या बुरा समझने, कहने या तदनुसार वर्त्ताव करने का प्रत्येक को अधिकार है। इस क्षेत्र-रूपी शरीर मे जो क्षेत्रज्ञ इसको जानने या नियन्त्रित रखनेवाले के रूप मे मैं स्थित हू, उसकी पूजा करनी हो तो सब भूतो मे इस प्रकार साम्यभाव रखकर ही करनी चाहिए।

उद्धव, ये तो मैंने कुछ रूपो के द्वारा मेरी पूजा करने के उपाय बताये है। मेरे अनेक नाम-रूप हैं। बुद्धिमान् मनुष्य स्वय सोचकर अन्य रूपो के लिए ऐसे ही पूजा-उपायो की योजना कर सकते हैं। सबके मूल मे मुझ एक परमेश्वर की पूजा की ही भावना होनी चाहिए। जैसे सब नदियो का पानी एक समुद्र मे जाता है वैसे ही प्रत्येक रूप मे की गई मेरी पूजा अन्त मे मुझीको पहुचती है, जिस तरह मैं इस सत्य को जानता हू, उसी तरह पूजक, साधक, जिज्ञासु या भक्त को भी यह सत्य समझ रखना चाहिए।

**"इस प्रकार भिन्न-भिन्न बुद्धि से उक्त स्थानो में शख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त मेरे चतुर्भुज शान्त स्वरूप का ध्यान करते हुए समाहित चित्त से मेरी पूजा करे।" ॥४६॥**

इन भिन्न-भिन्न विभूतियो या रूपो मे पूजा करते हुए एक काम करना चाहिए, जिससे भेद-भाव का असर मन पर न रहने पावे। किसी भी रूप को लो, उसमे मुझ शख-चक्र-गदा-पद्म युक्त चतुर्भुज शान्त रूप का ध्यान करलो[1]। फिर समाहित चित्त से पूजा करोगे तो यह न होगा कि मेरे सिवा किसी दूसरे की पूजा की है।

**"इस प्रकार जो पुरुष (यज्ञादि) इष्ट और (कूप, बावडी आदि) पूर्त कर्मों द्वारा समाहित चित्त से मेरा पूजन करता है यह मेरी उत्तम भक्ति प्राप्त करता है और निरन्तर साधु-सेवा से उसे मेरे स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है।" ॥४७॥**

इस प्रकार जो इष्ट और पूर्त[2] कर्मों के द्वारा समाहित चित्त से मेरा भजन करता है, उसे मेरी उत्तम भक्ति प्राप्त होती है। किन्तु साथ ही उसे निरन्तर सत्सग व साधु-सेवा करते रहना चाहिए। सत्सग से उसकी वृत्तिया सदैव ताजा बनी रहेंगी, नित्य नई स्फूर्ति व प्रेरणा व उत्साह मिलता रहेगा व साधु-सेवा से नम्रता कायम रहेगी व प्रत्यक्ष मेरी पूजा किये के समान होगा। मेरी जड विभूति या रूप की अपेक्षा तो चेतन विभूति या रूप कही श्रेष्ठ है। उनकी पूजा से मेरे स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है, क्योकि सत्सग मे ज्ञान-चर्चा तो सदैव होती ही रहती है।

---

[1] भगवान् की भिन्न-भिन्न विभूतियो या रूपो के जो चित्र चित्रित किये गए हैं, या उनके रूपो की कल्पना की गई है, वह ऊटपटाग नही है। प्रत्येक अग, अवयव, आयुध, भूषण, वर्ण, सब सार्थक हैं। विष्णु-रूप का ही उदाहरण लीजिये—'विष्णु पुराण' के अनुसार कौस्तुभमणि आत्मा या क्षेत्रज्ञ का प्रतीक है, श्रीवत्स प्रधान का, गदा बुद्धि का, शख तामस अहकार का, शार्ङ्ग धनुष राजस अहकार का, सुदर्शनचक्र मन का, वैजयन्ती माला तन्मात्रा भूतो का, बाण ज्ञानाकर्मेन्द्रियो का, खड्ग ज्ञान (अविद्यामय कोश से आच्छादित विद्यामय) का प्रतीक है। इसा तरह श्याम रग आकाश का, पीताम्बर बिजली का, आदि-आदि।

[2] इष्ट फल-प्राप्ति के लिए किये जानेवाले अर्थात् सकाम कर्म जैसे यज्ञादि को 'इष्ट' कर्म व दूसरो की आवश्यकता-पूर्ति के लिए किये जानेवाले जैसे कूप, बावडी, तालाब, आदि परोपकार के कामो को 'पूर्त' कर्म कहते हैं।

**"हे उद्धव ! सत्संग-सहित भक्तियोग के अतिरिक्त (इस ससार सागर से पार होने का) और कोई उपाय है ही नही, क्योंकि मैं साधुजनो का नित्य सहगामी और एकमात्र अवलम्बन हू ।" ॥४८॥**

प्यारे ऊधो, देखो, सत्सग-सहित भक्ति-याग के विना ससार-दुखो-रूपी इस विषम महासागर पार करने का और कोई सरल उपाय नही है। विना सत्सग के कोरी भक्ति उसी प्रकार नही टिक सकती जैसे कि नित्य जल-सिंचन के विना कोई नया पौधा। मुझे तुम साधुजनो का नित्य सहगामी ही समझो। 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।' मुझे उनकी छाया ही मान लो। वे एक-मात्र मेरा ही अवलम्बन रखते हैं, जैसे परीक्षित का महल एक खम्भे पर खडा था या जैसे पतिव्रता का आवार उसका एक पति ही होता है, वैसे उनका महल एकमात्र मेरे ही अवलम्बन पर खडा रहता है। अत मुझे सर्वदा उनके ही समीप समझो। उनके सत्सग का अर्थ मेरा ही दर्शन, उनकी सेवा का फल मेरी ही सेवा के वरावर जानना चाहिए।

**"हे यदुनन्दन ! इसके वाद सुनने के इच्छुक तुमसे इस विषय में भी अत्यन्त गूढ और गोपनीय रहस्य वताऊंगा, क्योंकि तुम मेरे अनन्य सेवक, सुहृद् और सखा हो।" ॥४९॥**

तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मैंने यहा दिया ता, परन्तु अभी और भी गूढ वाते वताना रह गई हैं। तुम सच्चे जिज्ञासु हो, अत- तुम्हारे प्रश्न मुझे अच्छे लगते हैं। फिर तुम मेरे प्यारे सखा, सुहृद् भी तो हो। सखा होते हुए भी तुमने अपनेको मेरे नजदीक भृत्य-सा मान रक्खा है। तुम्हारी इस नम्रता की मुझपर वड़ी छाप है। वड़ो का साथीरहकर भी जो अपनी नम्रता नही छोड़ता वास्तव, मे वही उनका साथी रहने के योग्य है। यद्यपि तुम अपनेको मेरा सेवक मानते हो, परन्तु सच पूछो तो मैं तुम्हे अपना सखा व सुहृद ही समझता हूं। यदि मैं भी तुम्हे अपना सेवक समझने लगू तो मुझमे वडप्पन का अभिमान आ जायगा व तुम्हारे मन मे भी वह आदर-भाव न रहेगा। तुम्हारा मेरा सवध तो शरीर व आत्मा जैसा, या दूध-मिसरी जैसा, समझो। अपने ज्ञान, जीवनादर्श व अनुभव की कोई वात तुमसे छिपा रखना नही चाहता।

: १२ :

# भक्ति का हार्द

[इस अध्याय मे भगवान् कृष्ण ने सत्सग की महिमा बताते हुए भक्ति का हार्द समझाया है। गोपियो की भक्ति को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए भक्ति-मार्ग की यह बडाई बताई है कि उसमे दोषी, विकारवान्, पतित, पीडित, पगु सबके लिए उद्धार की आशा है। वास्तव मे यह प्राणिमात्र को मागल्य व उद्धार का सदेश है। भक्ति का अर्थ ही है अनुराग, अहैतुकता—प्रेम के सिवा किसी वस्तु की चाह न रखना—समर्पण व एकनिष्ठा। अनुराग या प्रेम भक्ति की बुनियाद है। अहैतुकता उसका प्राण—आत्मा है। समर्पण उसका स्वरूप है। एकनिष्ठता उसकी पुष्टि या पूर्णता है। यह भी बताया है कि परमात्मा ससार मे किस तरह लबालब भरा हुआ है, उससे ससार की कैसे उत्पत्ति हुई है। परमात्मा ताने-बाने की तरह ससार मे व्याप्त है। माया परमात्मा की ही एक शक्ति है। उसको पार करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है।]

**"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव, सर्वसगनिवारक सत्सग के द्वारा मै जैसा वशीभूत होता हू, वैसा योग, साख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्ट, पूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम, नियम—किसीसे नहीं होता।" ॥१-२॥**

ऊधो, सत्सग की महिमा अपार है। मनुष्य यदि आसक्ति से बचना चाहता है तो उसे सत्सग का आश्रय लेना चाहिए। यदि आसक्ति मे फस गया है तो भी उसके लिए सत्सग से बढकर रामबाण उपाय नही है। मैं भी जैसा सत्सग से वशीभूत होता हू, वैसा और किसी साधन से नही। जैसे चीटी बडी दूर से शकर को सूघ लेती है और दौडकर वहा पहुच जाती है वैसे ही मुझे सत्सग की गध स्वभावत ही आ जाती है और मैं चाहे कही भी, कितनी ही दूर पर होऊ, जहा सत्सग होता हो वहा दौडकर आ जाता हू और धक्का देने पर भी वहा से नही हटता। वहा मुझसे

तुम पालतू पशु की तरह काम करा सकते हो। उसमे मुझे लज्जा या ग्लानि का अनुभव नही होता। जिन साधु-सन्तो ने मेरे लिए सर्वस्व छोड दिया है, उनका वफादार मै न रहू तो मेरी साख कैसे कायम रहे ? हम 'भक्तन के भक्त हमारे, सुन अर्जुन परतिज्ञा मोरी'। जिन्होने मुझपर विश्वास किया, मेरे नाम पर या मेरी खातिर तरह-तरह के कष्ट उठाये, मैंने अपने को उन कष्टो मे डालकर उनको फूल की तरह बचा लिया है। यह मेरा उनपर उपकार नही है। उनके विश्वास का बदला मात्र है। फिर भी भक्तो व सन्तो की महिमा देखो। जब उन्हे पता लगता है कि मैने खुद कष्ट उठाकर उनके कष्ट को दूर किया है, तो उनका हृदय टूक-टूक होने लगता है। 'अरे हम बडे पापी है, हमारे लिए भगवान् को कष्ट उठाना पडा,' ऐसा कहकर उलटा वे पश्चात्ताप करते है। उनके मन मे क्षणभर के लिए भी यह खयाल नही आता कि हमारी सेवा-पूजा, त्याग व कष्ट-सहन का ही तो थोडा-सा बदला भगवान् ने चुका दिया—इसमे कौन बडी बात की ? हा, भक्तो ने प्रेम के तीखे उलहने तो इस तरह दिये है, पर वह उनकी शिकायत नही है, उच्चतम व अन्त-स्तल की गहराई मे बसे उत्कट प्रेम के वचन है और वे मुझे बडे प्यारे लगते है। भक्तो की ऐसी प्रेमभरी मीठी झिडकने सुनकर मैं अहोभाग्य मानने लगता हू। मेरी भक्ति ने उन्हे यह अधिकार दे रखा है। यदि इसके प्रयोग मे वे झिझके—कजूसी करे तो मुझे दु ख हो। जब मुझसे उनका दुराव ही नही रहा, तो झिझक किस बात की ? जब ससार से, समाज से उन्होने शिकायत, झिडकन, ताने उलहने का रिश्ता तोड दिया तो फिर वे ये अरमान मुझपर नही तो किसपर निकालेंगे ? साधु समझते है, हमने सबकुछ परमात्मा को दे दिया। पर दरअसल उन्होने सब-कुछ मुझसे ले लिया और फिर दान देकर मानो मुझे लौटा दिया हो।

इस सत्सग का जादू जितना मुझपर चलता है, उतना न तो अष्टागयोग[1] का,

[1] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि—ये पतजलि के बताये हठयोग के आठ अग है। व्यापक अर्थ मे ज्ञानयोग, भक्तियोग, लययोग, राजयोग आदि भी योग के ही प्रकार है। इस अर्थ मे योग 'भगवत्प्राप्ति की युक्ति' कहलाता है।

न सांख्यो की ज्ञाननिष्ठा[1] का, न स्मृतिकारो की धर्म-व्यवस्था[2] या उसके पालन का, न विद्वानो के स्वाध्याय[3] का, न तपस्वियो के कठोर तपो[4] का, न महान् त्यागो का, न इष्टापूर्त कर्मों का, न दान-दक्षिणा का, न कष्ट-साध्य व्रतो का, न मीमासको के यज्ञ-याग-हवनादि का, न ब्राह्मणो के वेदपाठ का, न तीर्थ-यात्रादि का और न यम-नियमादि के पालन का ही चलता है।

**"सत्संग के द्वारा ही भिन्न-भिन्न युगों में दैत्य, राक्षस, मृग, पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्यो मे वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि राजस-तामस प्रकृति के जीव, एवं वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मय दानव, विभीषण, सुग्रीव, हनूमान, जाम्बवान्, गज, गृध्र, तुलाधार वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रज की गोपिया, यज्ञ-पत्निया और ऐसे ही अन्यान्य अनेक जन मेरे परम पद को प्राप्त हुए हैं।" ॥३-४-५-६॥**

देखो, सत्संगति की ही बदौलत, क्या देवयोनि के, या मनुष्य-योनि के और क्या राजस-तामस प्रकृति के जीव, सब मेरे परमपद को प्राप्त हो जाते हैं। देव-योनि मे गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्यो मे वैश्य, शूद्र व अन्त्यज आदि भी, राजस-तामस प्रकृति के दैत्य-राक्षस तक एव वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनूमान्, जाम्ब-

---

[1] सांख्य—पुरुष-प्रकृति दो तत्त्वो का, मुक्ति या कैवल्य के लिए पूर्ण चित्त-शुद्धि का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र है। आगे अ० २४ मे इसका सविस्तर विवेचन मिलेगा।

[2] धर्म—इसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याए की गई है—'प्रकृति-सिद्ध नियमो' को धर्म कहते हैं। 'जिससे संसार का धारण-पोषण हो, वह धर्म है।' 'जिससे ऐहिक उन्नति व पारमार्थिक श्रेय की प्राप्ति हो, वह धर्म है।' जो व्यवस्था इस उद्देश मे सहायक हो उसे धर्म-व्यवस्था कह सकते हैं। प्राचीन समय मे 'वर्णाश्रम-व्यवस्था' धर्म-व्यवस्था मानी जाती थी।

[3] धर्म व ज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थो का मनन या तत्त्वो का चिन्तन स्वाध्याय कह-लाता है।

[4] निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकाग्रता से जो कष्ट सहा जाता है, उसे तप कहते है। सर्वांगीण संयम भी तप है।

वान्, गज, गृध्र, तुलाधार वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रज की गोपिया, यज्ञ पत्निया और ऐसे ही अन्य अनेक लोगो के उदाहरण दे सकता हू ।

**"देखो गोपिकाएं, गौएं, यमलार्जुन एवं व्रज के अन्यान्य मृग आदि तथा और भी मन्दबुद्धि नाग एवं सिद्धगण, जिन्होने न तो वेदो को पढा था, न महत्पुरुषो की उपासना की थी और न कोई व्रत या तप ही किया था, केवल सत्संगजनित मेरे भक्तिभाव से ही सुगमतापूर्वक मुझको प्राप्त हो गये, जिसको कि बड़े-बड़े साधन-सम्पन्न प्रयत्नशील भी योग, साख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, श्रुति के कथन और मनन तथा संन्यास आदि किसी उपाय से भी नहीं पा सकते ।" ॥७-८-९॥**

योगी व ज्ञानी मुझे योग व ज्ञान के द्वारा पाने का प्रयत्न करते है । दान, व्रत, तप, यज्ञ, वेद-पाठ, स्वाध्याय, तथा सन्यास आदि नाना उपाय से बहुत कष्ट उठाकर ये तथा दूसरे लोग भी मेरी आराधना करते हैं । परन्तु ऊधो, जितनी सरलता से केवल सत्सग-जनित मेरे भक्ति-भाव से व्रज की गोपियो, गायो, यमलार्जुन एव व्रज के अन्यान्य मृग आदि ने तथा नागो व सिद्धो ने मुझे पा लिया, उतनी उनके हजार कष्ट उठाने से भी नही पा सके । फिर गोपियो आदि ने न तो वेदादि को पढा था, न किसी महत्पुरुषो की उपासना की थी ।

**"(हे उद्धव ! उन गोपियो के प्रेम के विषय में क्या कहा जाय ?) जिस समय श्वफल्क-पुत्र अक्रूरजी श्रीबलरामजी के साथ मुझे मथुरा ले आये उस समय परम प्रेम के कारण मुझमें अनुरक्त हुई उन गोपियो को मेरे वियोग की विषम व्यथा के कारण ससार में अन्य कोई भी वस्तु सुखदायक न दीख पड़ी ।" ॥१०॥**

**"वृन्दावन में स्थित मुझ प्रियतम के साथ जिन रात्रियो को उन्होंने आधे क्षण के समान बिताया था, हे प्रिय ! वे ही रात्रियां मेरे विना उन्हें एक-एक कल्प के समान हो गई ।" ॥११॥**

**"समाधि में स्थित होकर मुनिजन तथा समुद्र में मिल जाने पर नदियां जैसे अपने नाम और रूप को गंवा देती हैं, उसी प्रकार अतिशय आसक्तिवश निरन्तर मुझमें ही मन लगे रहने के कारण उन्हे अपने शरीरादि की कोई भी सुधि नही रही थी ।" ॥१२॥**

**"मेरे (वास्तविक) स्वरूप को न जाननेवाली तथा रमण और जार-बुद्धि से ही मेरी कामना करनेवाली उन सैकडो-हजारो अबलाओ ने निरन्तर मेरा संग रहने के कारण मुझे परब्रह्मरूप से ही पा लिया ।" ॥१३॥**

अपनी भक्ति की महिमा बताते हुए श्रीकृष्ण ने कई भक्तो के उदाहरण दिये। कई दूसरे साधनो मे इसे सहज, सरल व शीघ्र फल-दायी बताया। किन्तु, इस समय उनके मन मे सबसे अधिक भक्ति गोपियो की बसी हुई थी। उनके प्रेम व आत्म-समर्पण की स्तुति होते ही गद्गद् हो उठे। उन्होने कहा—उद्धव, गोपियो के अद्भुत व अवर्णनीय प्रेम व उसके बदौलत उन्होने जो कुछ पाया उसका तो हद-हिसाव ही नही। देखो, जब अक्रूर मुझे व बलदादा को मथुरा ले गये तब गोपिया अपने सारे सुखो को भूल गई। मुझमे उनका चित्त इतना लगा हुआ था, ऐसे प्रगाढ भाव से उन्होने अपना सर्वस्व मुझीको सौप दिया था कि व्रज की कोई वस्तु उन्हे सुख-दायिनी नही मालूम होती थी। मेरे साथ वृन्दावन मे रहते हुए सारी राते जिन्होने-आधे क्षण की तरह बिता दी थी, उन्हे मेरा वह वियोग एक असीम भीषण अन्धकार सा मालूम हुआ और एक-एक रात उन्हे कल्प-सी मालूम होने लगी। ऊधो, उनके इस भाव को बडे सिद्ध, योगी व मुनि भी सहसा नही समझ सकेगे। फिर साधारण ससारी लोगो की तो बात ही क्या है? वे तो उसे शका व दोष की दृष्टि से ही देखे तो ताज्जुब नही। उन्होने ससार की सारी आसक्ति छोडकर एक मुझमे ही उसे केन्द्रित कर दिया था। जैसे बत्ती मे तेल बत्ती के अग्रभाग—सिरे मे अपने-को बटोर रखता है। उन्हे अपने शरीर तक की सुधि न रही। समाधि मे जैसे साधु या योगी का सब बाह्यज्ञान नष्ट हो जाता है उसी प्रकार बिना समाधि की प्रक्रिया जाने ही उनकी दशा हो गई थी। या जैसे नदी समुद्र मे मिल जाने पर अपने नाम व रूप को छोड देती है, सब तरह समुद्र मे ही लीन हो रहती है, इसी तरह वे शरीर व नाम-रूपधारिणी गोपिया नही रह गई थी, मुझमे मिलकर मै-मय हो गई थी।

यह स्पष्ट है कि शुरू मे वे मेरा असली—ब्रह्मरूप—नही जानती थी। कृष्ण-रूपी शरीरधारी से ही उनका प्रेम था। यह भी मान लो कि उनका प्रेम मुझमे रमण करने के लिए अथवा जार-बुद्धि से युक्त था, तो भी अनन्य भाव व अटूट प्रेम की महिमा देखो, वे मेरे—परब्रह्म रूप—को पा गई। इसीलिए मैं कहता हू कि यह भक्ति-मार्ग सबसे सुलभ है। यदि सकाम ही नही, दूषित भाव से भी कोई मेरा ध्यान करेंगे, मुझे ही चाहेंगे, मुझे ही याद करेंगे तो वे मेरे असली ब्रह्म-भाव को पा जावेंगे। तुमने तो देखा है कि शत्रु-भाव मे भी जिन-जिन लोगो ने मुझे याद किया है उनतक को मैंने सद्गति दी है। जो जिस भाव से मुझे पूजता है, उसी रूप

मे मै उसे प्राप्त हू। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की यही विशेषता है।

ऊधो, भक्ति मे मूल भावना प्रेम की है। आम तौर पर मनुष्य भगवान् को अपने से बडा मानता व अनुभव भी करता है। अत उसके प्रति मन मे कुछ भय, आदर, पूज्यता का भाव रहता है। भक्ति मे ऐसा ही भाव समाया हुआ है। बूद छोटी है व सिन्धु वडा है। फिर भी सिन्धु मे समा जाने पर बूद सिन्धु की महिमा को पा जाती है। इसी तरह भक्त अपनेको लघु मानते हुए भी परमात्मा मे मिल जाने पर वडा ही हो जाता है। किन्तु भक्ति की अपेक्षा प्रेम के भाव मे उस रूप को ग्रहण करने से और भी आसानी हो जाती है। प्रेम समान वय व स्थितिवाले के साथ होता है। अत मनुष्य इसमे अधिक खुलकर एक दूसरे के साथ रहता व वर्तता है। वडो के प्रति अपने हृदय के सारे भावो को खोलकर रख देने मे सकोच से लडना पडता है व उसको पछाड देने पर ही आगे वढा जा सकता है। फिर भी कुछ-न-कुछ हिचक रह ही जाती है। हृदय खोलकर प्रेम की रसभरी बाते जैसे वराबरी-वाले के साथ की जा सकती है व सहज स्वभाव उनके सामने हृदय का एक-एक परदा खुलता जाता है वैसे वडो के सामने जिनके प्रति हृदय मे भक्ति या आदर का भाव है, नही हो सकता। इससे मनुष्य कई बार पूर्ण असतोष, पूर्ण आत्म-अभिव्यक्ति, पूर्ण समर्पण या शरण को अनुभव नही करता। भक्त को यह तो भरोसा रहता है कि भगवान् मुझे उबार लेगे, पर यह आनन्द नही मिलता है कि वह उनसे जी खोलकर बाते कर रहा है और वह उसके सामने अपना हृदय उडेल रहे है। अत जिनके मन मे प्रेम का यह मधुर भाव अधिक प्रवल रहता है, वे इसी प्रेम के उपासक हो जाते है।

फिर जब मै भक्तो से पूछता हू कि आखिर तुम चाहते क्या हो ? लो मैं आ गया। तो वे मेरी तरफ देखकर हँस देते है। चाहिए क्या ? चाहिए कुछ नही। मैं कहता हू, वाह, यह भी कोई वात हुई ? इतने रोये-चिल्लाये, घरबार, मौज-मजा छोडा, मुझे तरह-तरह से कोसा, गालिया दी, ताने-तिश्ने सुनाये, अव जब मैं आया तो कहते हो—'चाहिए कुछ नही' तो फिर इतनी झझट की किसलिए। मेरा सवकुछ ले लो, खुद मुझे ले लो। तब कहते है—हम तुम्हारे ऐश्वर्य के भूखे नही। ऐश्वर्य तो और जगह और तरीके से भी मिल सकता था। और तुमको लेकर हम क्या करेंगे ? देना ही चाहते हो तो अपना प्रेम दे दो। वस, हमे और कुछ नही चाहिए। मैं पूछता हू कि खूब रही। अरे प्रेम लेना तो तुम्हारे ही हाथ मे था, सो

तुमने ले लिया। उसीका बधा व मारा तो तुम्हारे पास आया हू। अब तो कुछ और मागो। "और तुम्हारे पास कोई चीज हमारे काम की नही है। हम तो प्रेम के पुजारी है। न तुम्हारी जरूरत है, न तुम्हारे ऐश्वर्य या सर्वस्व की। इसे और कही देकर ललचाते व फसाते रहो। हमारे लिए तो सिर्फ इतना ही कर जाओ--'जन्म-जन्म रति राम-पद यह वरदान न आन।' तुम्हारा यह प्रेम ही हमेशा हमे मिलता रहे, ऐसी व्यवस्था कर दो। बस और कुछ नही। तुमको ले तो इस महा-सागर मे हमारा पता ही न चले। तुम तो होशियार हो। हमे डकार जाना चाहते हो। मगर हम भी ऐसे बुद्धू नही हैं, जो तुम्हारे ललचावे मे आकर अपने-आपको ही मिटा दे। तुम्हारे से इतना प्रेम लगाकर उसका फल मिले तुम्हारी पराधीनता, तुम्हारा बन्दा, गुलाम बनकर रहना! तुम्हारी हा-मे-हा मिलाना! तो उसमे फायदा ही क्या हुआ? हम तो तुम्हारे प्रेम का अमृत अपने पास रखना चाहते है कि जब तबीयत हुई एक बूद मुह मे डाल ली या जी भरकर नहा लिये। और हम तुमसे तुम्हारे प्रेम की भी भिक्षा मागना नही चाहते। कौन तुम्हारी बार-बार खुशामद करता फिरे, तुम्हारे आगे-पीछे फिरता फिरे? जब तुम आ ही गये हो और कुछ देना ही चाहते हो तो सिर्फ इतना ही दो कि हमारे हृदय से तुम्हारे प्रेम की अखण्ड धारा बहती रहे। हम तो अपने ही हृदय को सभालकर रखना चाहते है। तुम अपनेको, अपने हृदय को, अपने प्रेम को, अपने ही पास बनाये रखो। केवल इतना करो कि हमारे हृदय का प्रेम का सोता न सूखे। सदा-सर्वदा झरता व बहता रहे।'

उन्हे नरक व स्वर्ग समान है। नरक का उन्हे डर नही, स्वर्ग की उन्हे चाह नही। क्योकि वे कहते हैं कि हमने तो सब कर्म तुम्हे सौंप रखे है, उनका फलाफल तुम भोगो। हम उनसे बरी हैं। और यो भी तुम सब जगह हो। न स्वर्ग तुमसे खाली है, न नरक। नरक से हमे भय तब हो जब वहा तुम्हारा अभाव हो।

ऊधो, देखा इन सन्तो, भक्तो व प्रेम के पागलो का ठाठ। है न इनकी निराली शान। इस मस्ती की कोई मिसाल तुम दे सकते हो? गोपियो का प्रेम भी इसी नमूने का समझो।[1] उन्हे मेरे प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नही चाहिए था। मेरा

[1] जो पुरुष सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पण करते है तथा जिनका समय मेरी ही कथा-वार्ताओ मे बीतता है, वे यदि गृहस्थाश्रम मे भी रहें तो भी घर उनके बन्धन का कारण नही होता। मैं ज्ञान-स्वरूप परमात्मा उनके हृदय मे नित्य नया-नया-सा

अग-सग तो उस प्रेम का प्रारभिक उभार मात्र था। प्रथमावस्था मे वह निर्विकार नही था—ऐसा भी समझ लो। परन्तु मेरे सम्पर्क मे आते ही उनका उतना दोष भी जाता रहा। उनके काम-विकार का मुझपर असर होने के बदले मेरे सम्पर्क से उनका काम-मोह नष्ट हो गया। मेरे प्रेम की खूबी ही यह है कि उसका चस्का लगने पर मनुष्य के मन के विकार भी धुल व गल जाते है। सच्चे प्रेमी को न शरीर चाहिए न शरीरवान, न रूप या रूपवान। उसे केवल प्रेम, शुद्ध हृदय से उमडता हुआ प्रेम चाहिए। बालक को जैसे माता के दूध से पोषण मिलता है वैसे ही सच्चे प्रेमियो को केवल एक दूसरे के प्रेम की धारा से—इस एहसास मे कि हमारा एक दूसरे से शुद्ध प्रेम है, हमारे दिल मे कोई कपट, मलिनता, स्वार्थ, चाह नही है, हमारे दिल दो दीखते है पर वास्तव मे एक ही है—इस भावना व अनुभव से जो पोषण मिलता है, उसकी उपमा व मिसाल नही दी जा सकती। मै सदा ऐसे प्रेमी भक्तो की तलाश मे रहता हू और जहा वे होते है वही, अपने वैकुण्ठ को ले जाकर रहता हू एव उसके विशुद्ध व अखण्ड प्रेमरस से खुद पोषण पाता हू।

ऊधो, गोपियो को लोगो ने कम समझा है। उनके आरम्भिक विकार का मै भी समर्थन नही करता, परन्तु उनके उदाहरण से मै यह समझाना चाहता हू कि यदि उनमे कुछ दोष या दुर्भावना भी हो तो भी मुझमे निष्कपट व अहैतुक प्रेम करने का फल हमेशा अच्छा ही होगा। दोष व विकार तो कही भी हो, वह समर्थ-नीय नही हो सकता। पर मेरे इस प्रेम-पन्थ या भक्ति-मार्ग की बड़ाई यही है कि इसमे दोषी, विकारवान, पतित, पीडित, पगु सबके लिए उद्धार की आशा है। वास्तव मे यह प्राणि-मात्र को मागल्य व उद्धार का सदेश है।

**"अतः, हे उद्धव, अब तुम श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य और श्रुत—सबका परित्याग करके अनन्यभाव से समस्त देहधारियों के आत्मस्वरूप एक मेरी ही शरण में आ जाओ और मेरे आश्रित होकर सर्वथा निर्भय हो जाओ।" ॥१४-१५॥**

अत प्यारे ऊधो, तुमको भी मेरी यही सलाह है, यही उपदेश है कि तुम और

---

भासता हू। मुझे ही ब्रह्मवादी लोग ब्रह्म कहते है, जिसे प्राप्त होकर लोग न मोह को प्राप्त होते है, न शोक को ही, न हर्ष को।

—भाग० स्क० ४।३०।१९-२०

सव वातो को छोड दो। श्रुतियो ने, वेदो ने, क्या विधान किया है, स्मृतियो ने क्या उपाय वताया है, इस झझट मे न पडो। तुम तो सरल उपाय चाहते हो। अत प्रवृत्ति क्या व निवृत्ति क्या, प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् कर्ममार्ग कैसा व निवृत्ति अर्थात् ज्ञानमार्ग क्या है—इसे जानने या याद रखने की भी उलझन मे मत पडो। अव-तक तुमने इस विषय मे जो कुछ भी पढा या सुना या जाना है, उसे भी भूल जाओ। इससे कोई हानि नही होगी। तुम इस बात का भय मत रखो कि तुम्हारी मेहनत वेकार गई। तुम तो अनन्य भाव से मेरी शरण आ जाओ। एकमात्र मुझमे पति-व्रता की तरह मन को लगा दो। नट जैसे दुनियाभर के खेल-कसरत दिखाता है पर अपना सारा ध्यान तौल सभालनेवाले उस वास पर रखता है (या सरकस-वाले छाते पर रखते हैं) उसी तरह तुम भले ही चाहो तो दुनिया के दूसरे काम करते रहो पर मेरा ध्यान न छूटने पावे। इस तरह सर्वथा मेरे आश्रित होकर रहो। अपना भला-बुरा, हानि-लाभ, दु ख-सुख, यश-अपयश, जीवन-मरण, चिन्ता-भय, सव मुझपर छोड दो। क्योकि इसे मत भूलो कि आखिर इन तमाम देह-धारियो मे आत्मरूप मे मेरा ही निवास है। वे जानते हो या न जानते हो, वे मेरा ही आश्रय लेकर रह रहे हैं। लेकिन उन्हे इसका पता नही होता है। अत इसके फल व आनन्द या निश्चिन्तता से भी वे वचित रहते हैं। लेकिन तुम तो अव इसको जान रहे हो। अत मेरा ही पल्ला पकडकर निर्भय होकर ससार मे रहो। इस एकनिष्ठना मे वडा वल है। भक्ति का अर्थ ही है अनुराग व अहैतुकता—प्रेम के सिवा किसी वस्तु की चाह न रखना—समर्पण व एकनिष्ठता। अनुराग या प्रेम भक्ति की वुनियाद है। अहैतुकता उसका प्राण—आत्मा है। समर्पण उसका स्वरूप है। एकनिष्ठता उसकी पुष्टि या पूर्णता है।

जिस प्रेम या भक्ति मे शरीर, शारीरिक अथवा भौतिक सुखो या फलो की चाह हो वह एक या कुछ व्यक्ति या वस्तु तक सीमित रह जाती है, फैलती नही है, व अनेक प्रकार के रागद्वेषमय कर्मों की जनक होकर सुख-दुखों का कारण वनती है। अगर अन्त मे ऐसा ही फल प्राप्त करना है तो फिर उसके लिए प्रेम या भक्ति का आश्रय लेने की जरूरत ही क्या है? दुनिया के अन्य कवाडो से भी यह नतीजा निकलता है। अत प्रेम या भक्ति की कसौटी ही यह है कि अपने प्रेमी से उसकी कोई माग न हो। अर्थात् किसी मूर्त वस्तु पर उसका लक्ष्य न हो। अमूर्त

प्रेम पर ही उसका आधार हो, वही उसकी माग हो। यह बाहर से अमूर्त किन्तु भीतर से सजीव अमृत—प्रेमधारा सूर्य-किरणो की तरह ससार मे चारो ओर फैलती है, प्रेम-सूर्य का सन्देश प्रभाव, प्रेरणा, जीवन-ससार का रस सूर्य को लाकर देती है। इसमे न प्रेमी को कुछ खोने का भय रहता है, न प्रेमिका को। दोनो को पाने-ही-पाने का लाभ मिलता है। जो दिया वह पाया ही है—प्रेम दिया व तृप्ति पाई। दोनो तरफ बहीखाते मे यही हिसाब दर्ज मिलेगा। दिया अकेला प्रेम मिली व्याजसहित तृप्ति। ऊधो, ऐसा प्रेम ही मेरा जीवन है। यह प्रेम ही ससार मे सबसे बडा धर्म है। यही ससार मे अमृत है। मेरा रूप अगर मुझसे पूछो तो वह यह प्रेम—इसका रस ही है। कवियो, ज्ञानियो, पण्डितो ने इसे 'आनद' नाम दिया है, पन्तु यह तो फल-वाचक हुआ। मूल-दर्शक नाम तो यह 'ढाई अक्षर प्रेम है' (पढै सो पण्डित होय)।

समर्पण या एकनिष्ठता से अभिप्राय किसी एक व्यक्ति के प्रति एकनिष्ठता से नही है—जो प्रेम या भक्ति मे सीमित हो गई वह या तो कुछ दोषयुक्त, स्वार्थ-मूलक, भोग-मूलक होगी, या भक्त की आरम्भिक साधना के रूप मे होगी। मै तो भक्ति की अन्तिम सीढी, असली रूप, मर्म या हार्द तुम्हे बता रहा हू। उस अवस्था मे प्रेम या भक्ति केवल अपने प्रति एकनिष्ठ रहेगी अर्थात् उसकी एकता अखण्डता, स्थिरता मे च्युति न आने पावे। जीवन प्रेम या भक्ति-भाव से सराबोर रहे—अब 'बस' या 'दूसरा कुछ'—ऐसा भाव मन मे न पैदा होने पावे। योग मे इसी स्थिति को 'समाधि' कहा है। भक्ति की भाषा मे हम इसे भाव-समाधि कहेगे। सतत् एक, अनन्य, अखण्ड भाव—शान्त नदी की धारा, निर्वात स्थान के दीपक की अकम्पित ज्योति की तरह।

"उद्धवजी बोले—हे योगेश्वरो के अधीश्वर, आपका इतना उपदेश सुनकर भी अभी मेरे मन का सन्देह पूर्णतया निवृत्त नहीं होता है, जिससे मेरा चित्त भ्रमित हो रहा है (आप भलीभाति समझाकर उसे दूर कीजिये)।" ॥१६॥

"श्रीभगवान् बोले—आधार आदि चक्रो में जिनकी अभिव्यक्ति होती है, वे ही ये जीवनदाता परमेश्वर पहले परावाणीयुक्त प्राण के सहित गुहा (आधार-चक्र) मे प्रविष्ट हो (मणिपूर चक्र मे आकर पश्यन्ती नामक) मनोमय सूक्ष्म रूप धारण करते हैं। तदनन्तर (विशुद्धि-चक्र मे मध्यमा रूप से परिणत होते हुए अन्त मे मुख के द्वारा) मात्रा, स्वर और वर्णरूप स्थूल (वैखरी) वाणी होकर

प्रकट होते है।" ॥१७॥

इतने विवेचन से भी उद्धव का सशय दूर न हुआ। और भी विस्तार से जानने की इच्छा बनी रही। तब भगवान् ने कहा—'मैं ही सबकी आत्मा हू। सब जड-चेतन मे आत्मरूप से व्याप्त हू'—मेरा यह कथन तुमको चक्कर मे डाल रहा होगा। अत पहले इसीको अच्छी तरह समझ लो। तुम परमात्मा या परमेश्वर के तत्त्व और रूप को तो समझ ही गये हो। सारे ब्रह्माण्ड मे जो चेतन-शक्ति बिखरी या फैली हुई दीखती या अनुभव मे आती है, वह परमात्मा, परमेश्वर या ब्रह्म आदि नाम से कही जाती है और उस चेतना का जो अश व्यक्ति या वस्तु-विशेष मे आकर उसके नाम रूप मे बध जाता है, उसे जीवात्मा कहते है—इसको फिर अच्छी तरह याद रख लो। अब अपने इस शरीर को एक छोटा ब्रह्माण्ड ही समझो। यह शरीर मेरुदण्ड—रीढ की हड्डिया जिस डाडे मे जुडी हुई है—उसके ऊपर बहुत-कुछ आधार रखता है। यह डाण्डा गुदा-स्थान के ऊपर से ठेठ गर्दन तक गया है। इसमे नीचे से लेकर ऊपर छ ऐसे मर्मस्थान है जहा प्राण का विशेष-रूप से स्थान या पडाव होता है। इन्हे षट् चक्र अथवा पद्म-कमल कहते है। उनके नाम नीचे से ऊपर तक क्रम से इस प्रकार है—

१ गुदा मे मूलाधार स्थान या चक्र है, यह चतुर्दल कमल है।

२ लिग मूल मे स्वाधिष्ठान चक्र है, यह षड्दल कमल है।

३ नाभि मे मणिपूरक चक्र है, यह अष्टदल कमल है।

४ हृदय मे अनाहत चक्र है, यह द्वादशदल कमल है।

५ तालुमूल मे विशुद्धि चक्र है, यह षोडशदल कमल है।

६ भौंहो के मध्य मे आज्ञा चक्र है, यह द्विदल कमल है।

ये सूक्ष्म शक्ति के केन्द्र है। योगी लोग साधना-विशेष मे इनका अनुभव कर सकते है, और उन-उन स्थानो के प्राण या शक्ति को जगा सकते है। यह प्राण या शक्तिविद्युत् रूप है, यह पहले बता चुके हैं। योगी लोग सबसे पहले इस प्राण या आत्म-रूपी चेतन शक्ति को मूलाधार चक्र मे अनुभव करते है, जिसे 'विवर' 'गुहा' आदि कहते हैं। परमेश्वर परावाणी के साथ प्राण-रूप मे पहले इसी गुहा मे प्रविष्ट होते हैं। फिर मणिपूरक चक्र मे चढते है। वहा वे मनोमय रूप धारण करते हैं और पश्यन्ती नामक वाणी के रूप को लिये रहते हैं। वहा से विशुद्धि चक्र मे मध्यमा वाणी के रूप मे परिणत होते हुए अन्त मे मुख के द्वारा मात्रा,

-स्वर और वर्णरूप स्थूल (वैखरी) वाणी होकर प्रकट होते है। यह शब्द-ब्रह्म की उत्पत्ति व विकास का क्रम मैंने बताया। मानव-शरीर की तरह अब परमात्मा के विराट शरीर की कल्पना करो। परमात्मा प्राण या चेतनमय महासमुद्र है। चेतन शक्ति के रूप मे वह निराकार है, जैसे कि बिजली या हमारे शरीर मे प्राण। जिस आकार या शरीर मे ये पहुचते हैं उसीके अनुकूल इनका आकार हो जाता है, जैसे पानी जिस आकार के बरतन मे डालोगे वैसा ही आकार धारण कर लेता है। यह चेतन तत्त्व या शक्ति पानी से भी बहुत सूक्ष्म है। पानी आख से दिखाई देता है, बिजली कभी-कभी चमक जाती है, जिससे उसके अज्ञात या अप्रकट रूप की कल्पना मन को हो जाता है। यह परमात्म-चेतन-तत्त्व बिजली व आकाश (ईथर) से भी अधिक सूक्ष्म है, अत जब किसी रूप या आकार मे चेतना दिखाई देती है तभी व उसीसे हम उसकी सत्ता का अनुमान करते है। योगी लोग समाधि के द्वारा व ज्ञानी प्रज्ञा के द्वारा उसकी झलक देख भी लेते हैं। इसी चेतन तत्त्व के शरीर की मानव-शरीर की तरह कल्पना करके इन चक्रो आदि की वैसी ही स्थिति का चित्र अपनी आंखो मे खीचो। इस चेतन तत्व मे जब प्रारम्भिक प्रकट क्रिया शुरू हुई तो पहले कुछ आवाज़ निकली——इसीको वेदज्ञ व वेदान्ती शब्द-ब्रह्म कहते हैं। यही तन्त्र-शास्त्र मे 'नाद' कहलाता है। शब्द के निकलने के पहले कई भीतरी क्रियाए हुईं। उन्हीका वर्णन मैंने ऊपर किया है। इस शब्द, नाद या वाणी का जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप है वह पहले मूलाधार मे प्रतीत या प्रविष्ट हुआ। यह परमात्म-चेतन-तत्त्व से सूक्ष्मता मे बहुत ही निकट का रूप है, अत इसे परा अर्थात् हमारी बुद्धि या अनुमान के उस पार की वस्तु-वाणी कहा गया। इसके बाद मणिपूरक मे पहुचकर उस प्राण ने विकसित होकर अधिक स्थूल रूप ग्रहण किया, जिसे मन कहते है। यहा इस शब्द या वाणी का नाम पश्यन्ती हुआ, क्योकि मन-रूप होने के कारण अब इसका ग्रहण मन या बुद्धि के द्वारा कुछ-कुछ किया जा सकता है। फिर विशुद्धि चक्र मे जाकर उसकी ध्वनि गूज-जैसी सुनाई पडती है। अत. मध्यमा कहलाती है, और विकास होने पर वह ध्वनि मात्रा, स्वर, वर्ण, अर्थात् ऊची-नीची ध्वनि, अ, आ, इ, ई, क, ख, च, आदि रूप मे व्यक्त हुई। यह क्रिया मुख के द्वारा हुई, जिसमे जीभ का सहयोग मिला। अत इसे वैखरी कहा गया। वैखरी अर्थात् मुह से निकलनेवाली। वाणी की ओर से चलो तो 'परा' तक उसके एक-से-एक सूक्ष्म-रूप मिलेंगे। वाणी के रूप मे मेरे आत्म-रूप या चेतन का जो विकास हुआ, वह मैंने तुम्हे समझाया।

**"जिस प्रकार आकाश में ऊष्मा रूप से स्थित अव्यक्त अग्नि काष्ठ के बल-पूर्वक मथे जाने पर वायु की सहायता पाकर पहले अणु (सूक्ष्म) रूप से प्रकट होता है और फिर आहुतियो द्वारा प्रचण्ड (स्थूल) रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) वाणी रूप से यह मेरी (शब्द-ब्रह्म की) ही अभिव्यक्ति होती है।" ।।१८।।**

इसे और अच्छी तरह समझने के लिए अग्नि का उदाहरण लो। यह तो तुमने देखा है कि लकडी से लकडी रगडकर यज्ञ मे आग पैदा की जाती है। जगल मे वास मे परस्पर रगड से आग पैदा हो जाती है और वास ही नही, अक्सर सारा पहाड जल जाता है। सोचो, यह अग्नि कहा से आई ? यही मानना होगा कि लकडी के भीतर छिपी हुई थी। दो लकडियो की रगड से वह प्रकट हो गई व हवा लगकर आसमान मे फैल गई। अब हवा मे व आसमान मे यदि उसी अग्नि के छिपे हुए कण नही तो उसकी लपट कैसे उठी ? लपट का मतलब ही यह है कि आकाश-स्थित अग्नि-कण लकडी की आग से चिनगारी ग्रहण करके प्रज्वलित हो उठते हैं। उन कणो का समूह शृखला जैसा होनी चाहिए, जिससे लपट एक लगातार सिलसिले की तरह दीखती है। फिर वह लपट बुझकर गई कहा ? लकडी तो जलकर खाक हो गई, उसमे तो वापस घुसी नही, राख को सुलगाने से फिर जलती नही। अत यही मानना होगा कि वह आकाश मे फैल गई—अलबत्ते अदृश्य रूप मे अर्थात् आकाश मे रही। आकाश मे अग्नि-कण अप्रकट रूप से सचित रहते हैं। अत जिस तरह आकाशस्थ या काष्ठस्थ सूक्ष्म अदृश्य अग्नि प्रकट होकर पहले एक अणु जैसी छोटी होकर फिर वढकर प्रकट होती है उसी तरह यह वाणी मेरे अव्यक्त चेतन-तत्व से क्रमश स्थूल रूप धारण करती हुई अन्त मे मुख के द्वारा ससार मे प्रकट होती है व फैलती है। वाणी-रूप मे यह मेरी ही अभिव्यक्ति है। जहा-जहा शब्द, ध्वनि, वाणी है, वहा-वहा मेरा ही निवास, मेरी ही अभिव्यक्ति, कृति समझो।

**"इसी प्रकार, वाणी, कर्म, गति, विसर्जन, घ्राण, रस, दर्शन, स्पर्श, श्रवण, सकल्प (मन), विज्ञान (बुद्धि), अभिमान, सूत्र (महत्तत्त्व) और सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के विकार—ये सब मेरे ही कार्य हैं।" ।।१६।।**

इस वाणी के उदाहरण से ही और वातें भी समझ लो। ससार मे जितने प्रकार के कर्म देखते हो, ऊची-नीची, आगे-पीछे, चारो ओर गतिया देखते हो,

जितने कुछ पदार्थ या नाम-रूप दीखते है, विविध प्रकार की जो महक, गन्ध, खुशबू, तैल, इत्र, कपूर आदि नजर आते हैं या खट्टे-मीठे, तरह-तरह के रस, पेय, अनुभव मे आते हैं, जो कुछ ससार मे आखो से दिखाई देता है या हाथ तथा त्वचा से छूने मे आता है, या कानो मे सुनने मे आता है, या हमारे मन-बुद्धि जो कुछ संकल्प-विकल्प या निश्चय-निर्णय करते हैं, तथ्य निकालते है, तत्वो, सिद्धान्तो का आविष्कार करते है, ससार मे जो कुछ अभिमान योग्य, मैं-तू, मेरा-तेरा, अपना पराया, आदि भेद-भाव से युक्त मालूम होता है, वह सब मेरा ही कार्य, मेरा ही रूप, मेरी ही अभिव्यक्ति है, ऐसा समझ लो। इनसे भी सूक्ष्म महत् तत्व तथा प्रकृति के तीनों गुणो का जहा-जहा पसारा देखो वह सब मेरा ही रूप या कार्य है।

**"यह जीव (मायोपाधिक ईश्वर) इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कमल का कारण है। यह आदिपुरुष पहले एक और अव्यक्त था। जिस प्रकार उर्वरा-भूमि मे पड़ा हुआ बीज (शाखा-पत्र-पुष्प आदि) अनेक रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार काल-गति से (माया का आश्रय करने पर) शक्तियो का विभाग होने से यह परमात्मा भी नाना रूप से प्रतीत होने लगता है।" ॥२०॥**

यह परमात्मा एक से अनेक कैसे हुआ, भिन्न-भिन्न नाम-रूपी कैसे बन गया, सो सुनो। परमात्मा जब माया की उपाधि से युक्त हो जाता है, माया का प्रभाव उसपर पड जाता है, माया से घिर जाता है, जैसे सूर्य बादलो से कभी-कभी ढक जाता है, तब वह और उसीसे यह ब्रह्माण्ड बनता है। यह मायोपाधिक ईश्वर कहलाता है। यहा जीव से अभिप्राय उसी ईश्वर से है। मायोपाधिक ईश्वर इस ब्रह्माण्ड-कमल का कारण अर्थात् जन्मदाता है, जो कि प्रकृति या माया के सत्व, रज, तम, इन तीन गुणो से युक्त है। यह परमेश्वर आदिपुरुष कहलाता है, क्योकि इनके पहले कुछ नही था, न कोई व्यक्ति, न कोई वस्तु। शुरू मे यह आदिपुरुष या परमात्मा भी अव्यक्त, अदृश्य रूप मे था। जिसका हम इन्द्रियो से अनुभव कर सके, देख सके, सुन सके, सूघ सके, छू सकें, वह व्यक्त कहलाता है और जिसका पता हमे अपनी इन्द्रियो से न लगे, केवल तर्क, अनुमान या यौगिक अनुभवो से ही जो जाना जाय, उसे अव्यक्त कहते हैं। एक बीज मे वृक्ष अव्यक्त छिपा हुआ रहता है, उसे हम इन्द्रियो के द्वारा नही देख सकते। पर जब काल-गति से अर्थात् समय पाकर, वह अकुरित होता है व उसमे पत्ते-टहनिया, फूल-फल लगते हैं तब उसे प्रत्यक्ष पेड के रूप मे देखते हैं और यही नतीजा निकालते हैं कि यह वृक्ष अदृश्य

रूप से इस वीज मे समाया हुआ था। उसी तरह परमात्मा काल पाकर, माया के आश्रय से, अलग-अलग शक्तियो के विभाग के अनुसार, नाना रूपो से प्रतीत होने लगता है। माया या प्रकृति के तीनो गुण परस्पर मे घुलते-मिलते हैं, जिससे तरह-तरह के मिश्रण वन जाते है। उन्हीसे नाना रूप की सृष्टि दिखाई देती है। पहले वे मिश्रण भिन्न-भिन्न बीज रूप मे आते है, फिर उनसे यह व्यक्त सृष्टि विकास पाती है। सृष्टि का भौतिक रूप या ढाचा तो माया के गुणों से वना है और उनमे चेतना परमात्मा की चेतन शक्ति से प्राप्त हुई है। यह माया भी परमात्मा से कोई अलग वस्तु नहीं है। उसीकी एक विलक्षण शक्ति है। इसको कार्य-कारिणी शक्ति भी कहते है। इस भ्रम को मिटाने के लिए कार्य-कारिणी शक्ति को महामाया व भुलावे मे डालनेवाली शक्ति को माया व अविद्या भी कहा जाता है। समुद्र को परमात्मा समझो। उसमे लहर का उठना माया का प्रभाव समझो। तीनो गुण क्षुब्ध हो रहे हैं और उनका परस्पर मिश्रण हो रहा है, एक की दूसरे मे व दूसरे की पहले मे, इस तरह सवकी सवमे आहुति हो रही है—सृष्टि का प्रारम्भिक यज्ञ हो रहा है, जिसमे लहरें उठकर बूद, फेन, बुद्-बुद्, वन व विखर रहे हैं। वह अखण्ड समुद्र खण्ड-खण्ड होकर नाना-रूपो मे विभक्त दीखने लगा। ऐसा ही हाल उस एक परमात्मा का हो जाता है। यही उसके एक से अनेक होने का रहस्य है।

**"जिस प्रकार तागो के ताने-वाने में वस्त्र ओत-प्रोत रहता है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा मे ही ओत-प्रोत है। यह जो सनातन संसार-वृक्ष है, कर्ममय है तथा (भोग और मोक्ष ही) इसके फूल और फल हैं।"** ॥२१॥

एक और दृष्टान्त देकर इसे समझाता हू कि किस तरह परमात्मा ससार मे लवालव भरा हुआ है। कपडे को देखो तो उसमे सिवा धागे के ताने-वाने के और क्या मिलेगा ? कपडे को परमेश्वर समझो। ताना-वाना प्रकृति के तीन गुणो की मिलावट समझो। कपडा चेतन पदार्थ नही है, अत केवल तीन गुणो का खेल हो रहा है। इसमे परमात्मा की चेतन-सत्ता प्रत्यक्ष नही है जैसी कि मनुष्य, पशु या पौधे मे है। फिर भी ये तीनो गुण जिस प्रकृति या माया के हैं, वह भी तो पर-मात्मा से पृथक् नही है, उसीकी एक शक्ति है। अत इन तीन गुणो के इस ताने-वाने मे—इस अखिल ससार मे—वह परमात्मा ही भरा हुआ है, या यो भी कह सकते हैं कि यह ससार, कपडे के ताने-वाने की तरह, परमात्मा मे ओत-प्रोत है। यह ससार एक सनातन वृक्ष है। सनातन उसे कहते है, जिसका न ओर हो न छोर,

न आदि हो न अंत। यह कर्ममय है। इसमे जितने जड-चेतन पदार्थ हैं, वे सब कर्ममय है, क्रियाशील है। जिन्हे आमतौर पर जड वस्तु समझा जाता है, उनमे सूक्ष्म शक्ति अणु, विद्युत्-कण, सर्वदा शक्तिशील रहते हैं। यह गति व क्रिया ही कर्म है। प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ व जीव कोई-न-कोई क्रिया करता ही रहता है। जो क्रिया हेतु-पूर्वक, जान-बूझकर की जाती है उसे कर्म कहते हैं। कर्म करने के अधिकारी वे ही है, जिनमे उनके परिणामो के या कर्म की योग्यता-अयोग्यता का विचार करने की शक्ति है। मनुष्य मे यह शक्ति सबमे अधिक है,अत· मनुष्य केवल प्राकृतिक प्रेरणा से कर्म नही करता, जैसा कि पशु-पक्षी करते हैं, बल्कि अपनी शक्ति भर सोच-समझकर करता है। इसीलिए वह कर्म करने का जैसे अधिकारी है, या उसकी क्रियाए जैमे कर्म की कक्षा मे आ जाती हैं, वैसे ही उसे उनके फल को भोगने का भी अधिकार है।

इस कर्ममय वृक्ष के फूल तो 'भोग' को व फल 'मोक्ष' को समझ लो। सासारिक आनन्द, विषय-भोग से मिलनेवाला, स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति, ऐश्वर्य, सत्ता से मिलनेवाला सुख, 'भोग' कहलाता है। यह क्षणिक है, और भोग के उपरान्त, खिन्नता, क्लेश, दु ख, आपत्तियो का कारण बनता है। प्रत्येक ससारी को इसका नित्य अनुभव है। परन्तु इस आनन्द या सुख मे कुछ ऐसा नशा, मोहिनी या जादू है कि मनुष्य फिर-फिर इसमे डूबता-उतराता रहता है। अत इसे ससार-वृक्ष का 'फूल' कहा है। फूल मे रूप व गध के सिवा कुछ नही। अपने इन ऊपरी गुणों से थोडा-सा आनन्द देकर फूल मुरझा जाता है। और हमारा सब मज़ा किरकिरा हो जाता है।

इसका फल है 'मोक्ष'। मोक्ष कहते हैं सब दु खो से छुटकारे को—जन्म-मरण रूपी दु ख व झझट तक से छूट जाने को। अत. जो ससार मे पैदा होकर उसका सच्चा फल पाना चाहता है, उसे उसके भोग-रूपी फूल को छोड़कर मोक्ष-रूपी फल को ही ग्रहण करना चाहिए।

"इस संसार-वृक्ष के (पाप और पुण्य) दो बीज है, अनन्त (वासनाएं) जड़ें है, तीन (गुण) तने है, पांच (भूत) स्कन्ध है, पांच (शब्दादि विषय) रस है, ग्यारह (इन्द्रिया) शाखाएं है, (जीव और ईश्वर) दो पक्षी इसमें घोसला बनाकर रहते है, इसके (वात, पित्त और कफ) तीन वल्कल है, और (सुख तथा दुःख) दो फल है। यह अति विशाल वृक्ष सूर्य-मण्डल तक फैला हुआ है। इसके आगे।

लोकातीत स्थान है। इसीसे मुक्त पुरुष सूर्य-मण्डल भेदकर जाते है।" ॥२२॥

अब इसी पेड के उदाहरण से मैं तुम्हे इस सिलसिले की और भी तफसील वता या समझा देना चाहता हू। इस ससार-वृक्ष का वीज क्या है ? पाप-पुण्यात्मक जो कर्म ससार मे किये जाते है, वही इसका वीज है। प्राणियो के कर्म या तो अच्छे होते है या वुरे। समाज को हानि पहुचानेवाले होते हैं या लाभ पहुचानेवाले। हानि पहुचानेवाले पाप व लाभ पहुचानेवाले पुण्य कहे जाते है। इसीको धार्मिक भाषा मे कहे तो परमात्मा की तरफ ले जानेवाले कर्म शुभ, या पुण्य कहे जाते है। और परमात्मा से विमुख अर्थात् विषय-भोग मे लिप्त करनेवाले या हिंसा, असत्य, दम्भपूर्वक किये जाने वाले कर्म पाप कहलाते है। वे कर्म होकर ही नही रह जाते, अपना असर डालते हैं, फल देते है। अच्छे कर्म अनुकूल प्रतिक्रिया व वुरे कर्म प्रतिकूल प्रतिक्रिया पैदा करते हैं, जो अच्छे व वुरे फल के रूप मे कर्ता के पास आ पहुचती है। ये सव अच्छे-वुरे फल कर्ता को भुगतने पडते हैं। पूरा फल भुगते विना ही वह मर गया तो शेप फलो को भोगने के लिए उसे फिर जन्म लेना पडता है। ये अभुक्त फल उसके जन्म के लिए वीज का काम देते हैं।

फिर ऊधो, मनुष्य जो कर्म करता है, उनके मूल मे उसकी कामना व वासना मुख्य रहती है। किसी-न-किसी उद्देश्य या हेतु से ही वह कर्म मे प्रवृत्त होता है। प्राणी के मरते समय ये हेतु, कामना या वासनाए भी अपूर्ण, अतृप्त, अवशिष्ट रह जाती हैं। ये भी उसके अगले जन्म के लिए वीज रूप वन जाती है। प्राणी के मरने के साथ ही उसकी वासना के सस्कार भी मर या मिट नही जाते। कायम रहते हैं तवतक जवतक कि उनको भून नही दिया जाता। वीज को भून देने पर फिर उससे किसी भी दशा मे वृक्ष नही पैदा हो सकता, क्योकि भूनने से उस वीज के चेतन अणु नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार वासना-रूपी वीज को जवतक अनासक्ति या नैष्कर्म्य-रूपी आग मे भून नही दिया जाता तवतक उससे फिर जन्म अर्थात् ससार की उत्पत्ति होती ही रहेगी।

मनुष्य और जीवो के ही कर्म नही, पदार्थ मात्र जो कुछ क्रिया इस ससार मे करते हैं उनके भी सूक्ष्म प्रभाव अणु या तरग-रूप मे, या और किसी अदृश्य-रूप मे, वातावरण मे या आकाश मे सोये रहते हैं। उन्हे जड पदार्थों की वासना कहना हो तो विषय को समझने के लिए कह दो। इस ससार के लोप हो जाने पर अर्थात् प्रलय के वाद दूसरी सृष्टि के जन्म के लिए ये सव प्रभाव, सस्कार, वासना वीज

का काम देते हैं ।

अच्छा, अब यह पेड खडा किन जडो पर है ? किसके द्वारा यह अपने जीवन के लिए पोपण रस प्राप्त करता है ? तो इसका उत्तर है वासनाए इसकी जडे हैं। जबतक जड़े रहती हैं तबतक वृक्ष डिग नही सकता—जबतक वासनाएं रहेगी तबतक उनके द्वारा ससार को पोषण मिलता ही रहेगा । इन वासनाओ की न कोई गिनती लगा सकता है, न कोई हिसाब ही लगाया जा सकता है । जैसे ससार मे अनन्त व्यक्ति व वस्तुए है, वैसे ही वासनाए भी अनन्त है ।

इस ससार-वृक्ष के तीन तने है, जिन्हे प्रकृति के तीन गुण समझ लो । इन तीन तनो पर इसका सारा ढाचा खडा है । और पाच महाभूत इसके स्कन्ध या कन्धे हैं, जहा से दूसरी शाखाए फूटती हैं । महाभूत पदार्थ की अवस्था बतलाते है, यह पहले समझा चुके हैं । तमोगुण से पदार्थो की आकृति, रजोगुण से क्रिया व सत्व-गुण से उनकी गतियो व आकृतियो मे पाई जानेवाली व्यवस्थितता का बोध होता है । या यो समझो कि तमोगुण से वस्तु-सत्ता या पदार्थ, रजोगुण से क्रिया या गति और सत्वगुण से मन-बुद्धि की उत्पत्ति हुई है । पाच भूतो—पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश—का सम्बन्ध मुख्यत. तमोगुण से है, क्योकि पदार्थ के रूप, आकृति या अवस्था पर से यह वर्गीकरण किया गया है । जिसमे ठोसपन है वह पृथ्वी, जो तरल है वह जल, जो विरल या भाप-रूप है वह वायु व उससे भी सूक्ष्म अवस्था मे रहने वाले पदार्थ आकाश कहे जाते हैं । तेज इन सबके रूपान्तरो की एक अवस्था मे प्राप्त होता है । प्रत्यक्ष अग्नि-प्रयोग से एक भूत दूसरे भूत से बदला जाता है, अतः इसे भी पाच भूतो मे ही गिन लिया । ये भून ही पदार्थों की विभिन्नता—विभिन्न रूप के सूचक हैं । अत. ससार-वृक्ष की विभिन्न डालियो के फूटने के स्थान—स्कन्ध—के रूप मे उन्हे ग्रहण किया गया है ।

पाच भूतो की तरह पाच वर्ग रजोगुण अर्थात् सूक्ष्म क्रियाओ के भी हैं, जिन्हे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध कहते है । इन्हीको तन्मात्रा[1] भी कहते है । जैसे प्रत्येक पदार्थ या भूत की सत्ता है और कोई आकृति या परिमिति है वैसे ही उसमे सूक्ष्म क्रियाए भी होती रहती है । ये यो तो असख्य है, परन्तु विद्वानो व विचारको ने उनके पाच वर्ग कर दिये हैं, क्योकि हमारी पाच इन्द्रियो से उतने ही वर्गों का

---

[1] देखिये परिशिष्ट २१

ज्ञान हो सकता है। कान से शब्द का, त्वचा या चमडी से स्पर्श का, आखो से रूप का, जवान से रस का और नाक से गन्ध का। प्रत्येक तन्मात्रा को उस-उस इन्द्रिय का विषय कहा जाता है। कान वाहरी जगत् का रस या आनन्द शब्दो के—मधुर वचन, सुस्वर, सुरीला सगीत, आदि द्वारा लेते हैं, नाक विभिन्न प्रकार की गन्ध द्वारा, आख सुन्दर रूपो द्वारा, जबान मीठी वाणी, या मीठे, नमकीन स्वाद द्वारा त्वचा कोमल स्पर्श द्वारा। यही पाच इस ससार-वृक्ष के रस रूप हैं।

जैसे पहले शब्द उठा तो उसके फैलने के लिए या फैलने से या गूज से आकाश बन गया। शब्द के गूजने की शक्ति ने आकाश बना लिया। शब्द या ध्वनिया यदि आकाश, अवकाश या पोल न हो तो नही रह सकती, न सुनाई दे सकती है, न एक जगह से दूसरी जगह जा-आ ही सकती है। यह शब्द व आकाश का सम्बध हुआ।

अव वायु को लो। यह स्पर्श का स्थूल रूप है। स्पर्श के लिए पदार्थ या वस्तु का एक स्थान से दूसरी जगह जाना जरूरी है। उनके जाने से जो गति होती है उसीसे हवा की उत्पत्ति हो जाती है, अर्थात् पदार्थों की परस्पर स्पर्शेच्छा ने वायु को उत्पन्न किया। हवा ऑक्सिजन, नाइट्रोजन आदि गैसो के मेल का नाम है, अत वायु को गैस भी कह सकते हैं।

जव प्रकाश होता है तभी उसके सहारे हमे कोई वस्तु दीखती है। प्रकाश जव उस वस्तु पर टकरा कर लौटता है तो उसकी चमक मे हमे पदार्थ दिख जाता है। पदार्थों की या जीव की देखने की इच्छा प्रकाश का कारण वनी। प्रकाश से तो हम पदार्थ के रूप को देख पाते है और प्रकाश स्वय भी रूपवान है। अत रूप तेज का गुण कहलाया। गर्मी भी तेज से हमे मिलती है, जो पदार्थों के रूपान्तर मे काम आती है। इस दशा मे वह पदार्थों का आगन्तुक धर्म है।

रस के दो गुण हैं वहाव व स्निग्धता—आर्द्रता या गीलापन। भगवान् प्राण-रस से परिपूर्ण हैं। चैतन्य जव पहले-पहल स्थूल रूप धारण करता है तो वह प्राण रूप मे हमे उपलब्ध होता है। यह प्राण रस-मय है। अधिक सूक्ष्म अर्थ या रूप मे उसे विद्युत्मय व और आगे चलें तो मनोमय, कह सकते हैं। परन्तु यहा उसके स्थूल-रूप का विचार करना है। परमात्म-प्राण जव विश्व-रूप मे आने लगा तो उसमे तरलता व गीलापन आया, जिसके समुच्चय का नाम या सकेत 'जल' रख दिया गया।

अव रही पृथ्वी। गन्ध किसी-न-किसी पदार्थ का आश्रय लेकर रहता है। यह

पृथ्वी न हो तो गन्धोत्पादक पदार्थ भी न हो।

ये पाच सूक्ष्म गुण ही इस विश्व-वृक्ष के जीवन-रस है। इसी सूक्ष्म रस की वदौलत यह स्थूल ढाचा खडा व जीवित है। अब ग्यारह इन्द्रिया—पाच कर्मेन्द्रिया, पाच ज्ञानेन्द्रिया व मन मिलाकर—इसकी शाखाए हैं, अवयव है, जिनसे यह शरीर अपना सारा व्यापार करता है।

इस पेड पर दो पक्षी अपना घोसला वनाये वैठे हैं, एक तो है जीव, दूसरा है शिव या ईश्वर। वात, पित्त व कफ रूप तीन इसके वल्कल या छाल की परते है। शरीर की रचना तीन सस्थाओ मे बटी हुई है। हृदय व फेफडे वात-सस्थान, जिनके द्वारा वायु का जाना-आना शरीर मे होता है, जठर, जिगर, तिल्ली आदि पित्त-सस्थान जिनके द्वारा अन्न का रस वनता है और अन्न-नाली, आते—छोटी-वडी दोनो—कफ-सस्थान है, जिनके द्वारा रस के रक्त रूप मे परिणत होने या मल के रूप मे अवशिष्ट रह जाने की क्रिया होती है। वैद्य लोग नाडी-परीक्षा से अर्थात् रक्त की गति के सचालन से यह देख लेते है कि विकार या रोग किस सस्थान मे उत्पन्न हुआ है, या प्रधानत सम्बन्ध रखता है। इन्ही तीन सस्थानो को इस ससार-वृक्ष के तीन छाल-रूपी आवरण समझो। सुख-दु.ख रूपी इसमे दो फल लगे हुए है और यह विशाल वृक्ष ठेठ सूर्य-मण्डल तक फैला हुआ है।

**"जो ग्राम-निवासी गृहस्थ रूप गृध्र है, वे (नाना प्रकार के यज्ञादि कर्मो के बन्धन मे फसे रहने के कारण) इसके (दुःखरूप) एक फल को भोगते हे और जो वनवासी परमहसरूप राजहंस हे वे इसके (सुखरूप) दूसरे फल के भागी होते हैं। जो पुरुष गुरुओ के द्वारा इनमें नाना रूप से भासनेवाले एक मायामय प्रभु को जानता है, वही इसको वास्तव में जानता है।" ॥२३॥**

ऊधो, इस वृक्ष मे जो दो फल लगे है, उन्हे वे दोनो पक्षी खाते है, एक तो उनमे गीध है, दूसरा हस है। गीध तो गाव मे रहता है और हस जगल मे। गीध दुःख-रूपी फल को व हस सुख-रूपी फल को खाता है। गीध से मतलब गृहस्थो से है, जो ससार के विषय-भोग व आमोद-प्रमोद मे ही मस्त रहते हैं। इससे बडा या ऊचा जीवन का आदर्श जिनके सामने नही है, समाज-सेवा, देश-सेवा, धर्म-सेवा, ईश्वर-भक्ति, परोपकार, दीन-दया, जैसी कोई उच्च व पवित्र भावना जिन्हे छू नही गई है, वे इस दु ख-रूपी फल के भागी होते हैं। ये विषय-भोग अफीम के फूल की तरह ऊपर से सुन्दर व भीतर अर्थात् फल-रूप मे मादक व मारक है। जो

वाहरी सुन्दरता, ग्रानन्द मे फस जाता है, उसीपर लट्टू हो रहता है, वह इस भीतरी विनाश या दु खरूपी परिणाम को नही देख पाता। प्रेय के चक्कर मे पडकर पहले श्रेय व फिर प्रेय दोनो को खो देता है। जैसे शरावी पहले धन व पीछे होश-हवास भी खो देता है—जाता है शराब का ग्रानन्द लेने, व गिरता है सडक की गदी नालियो मे। लेकिन जो दूमरा हस वताया है वह श्रेय को चाहनेवाला है। विषय-भोगो के मर्म व परिणाम को जानता है, ग्रत इनके पजे मे नही फसता। इनसे वह 'काम-से-काम रखता है, ग्रधिक मुह नही लगाता। उमे ग्ररण्य-वासी तो इसलिए कहा है कि वह ग्रपने निवास स्थान को ग्ररण्य की तरह ही समझता है। ग्ररण्य मे रहा क्या, व घर रहा क्या—दोनो उसके लिए समान है। जिसके मनोविकार वहुत पबल हैं, घर-गृहस्थी की हर छोटी-वडी वात, सुख या ग्रानन्द जिसे सहज ही प्रभावित व प्रलोभित कर लेती हो व जो उनकी तरफ की ग्रपनी मन की दौड को सहज ही प्रभावित व प्रलोभित कर लेती हो व जो उनकी तरफ ग्रपनी मन की दौड को कावू मे नही रख पाता हो, जैसे वदमाश घोडा, तो उसे कुछ समय के लिए ग्ररण्यवास ग्रर्थात् एकान्त ग्रावश्यक है।

इम मसार-वृक्ष का भेद वही जान सकता है, जिसने मायामय प्रभु को वास्त-विक रूप मे जान लिया है। गुरु, ज्ञानी या ग्रनुभवी जनो से जिसने ईश्वर के स्वरूप व उसका जगत् से सम्वन्ध ग्रच्छी तरह समझ लिया है वह मेरे इस रूप का मर्म तुरन्त समझ जायगा।

प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं, एक वह जो स्थूल है, ग्राखो से दिखाई देता है, दूसरा वह जो उसके भीतर छिपा रहता है, इसलिए जिसे सूक्ष्म कहते हैं। कोरा वाहरी या स्थूल रूप देख लेने से, या उसका परीक्षण कर लेने से मनुष्य ग्रसली जड तक, ग्रसलियत तक नही पहुच सकता। सूक्ष्म रूप की छान-वीन करने के लिए वुद्धि को सूक्ष्म वनाना होगा व वाहरी इन्द्रियो ने जो ज्ञान हमारे सामने लाकर रखा है उसके ग्राधार पर ग्रनुमान, तर्क व प्रयोग या ग्रनुभव की रोशनी मे उसका स्वरूप निश्चित करना पडेगा। जैसे पानी के ऊपरी रूप-रग, वहना-धर्म, पात्रानुसार ग्राकार धारण कर लेना ग्रादि वाहरी जानकारी हमारी ग्राख, नाक ग्रादि इन्द्रियो ने हमे दी। लेकिन यह जल का ऊपरी ज्ञान हुग्रा। इसे ग्राशिक ज्ञान कहेगे। पूरा ज्ञान हमे तभी हो सकता है जव हम इस वात की भी छानवीन कर ले कि जल किन तत्त्वो या पदार्थों के मेल से वना है ग्रौर उन तत्त्वो का स्वरूप क्या है ? यह जल

के सूक्ष्म रूप मे प्रवेश करने व उसके आन्तरिक तत्त्व को जानने की क्रिया हुई। पहली—बाहरी—परीक्षा को पदार्थ-विज्ञान व आन्तरिक परीक्षण को अध्यात्म-विज्ञान कहा जाता है। अत जबतक मनुष्य अधिकारी जानकारो द्वारा इस ससार का असली मर्म—इसके बाहरी व भीतरी दोनो रूपो का धर्म या ज्ञान नही प्राप्त कर लेता तबतक वह उसके ऊपरी रूप के भुलावे मे पडकर दु खरूपी फल ही पाता व भोगता रहेगा।

**"हे उद्धव, इस प्रकार गुरु की उपासनारूप अनन्य भक्ति के द्वारा तीक्ष्ण किये गए विद्यारूप कुठार से धैर्य और सावधानतापूर्वक जीव-भाव का उच्छेद करके परमात्मा स्वरूप हो जाओ और फिर उस विद्यारूप शस्त्र को भी त्याग दो (क्योकि वृत्तिज्ञान भी अज्ञान ही है)।" ॥२४॥**

यह निश्चत है कि ससार व परमात्मा का पूरा ज्ञान बिना गुरु या जानकार, तत्त्वज्ञ के नही हो सकता। फिर जबतक भक्ति-भाव से चेष्टा न की जाय, ऐसा ज्ञान सहज रास्ते चलते नही मिल सकता। गुरु के प्रति नम्रता, कृतज्ञता, आदर का भाव, उनकी आवश्यकताओ व अभावो की पूर्ति पर ध्यान, विषय की तह तक पहुचने मे रुचि, जो परिप्रश्नो के रूप मे प्रकट होती है, ये गुरु की उपासना या भक्ति के कुछ चिह्न है। कोई बात समझ मे न आवे तो बार-बार प्रश्न करके उसे अच्छी तरह समझने का यत्न करना चाहिए। जबतक वह समझ मे न आ जाय तबतक प्रयत्न छोड न देना चाहिए। एक विषय समझ लेने के बाद उसके आगे का विषय समझने मे रुचि प्रदर्शित करनी चाहिए और आगे बताने के लिए आग्रह करना चाहिए। इन सब लक्षणो से गुरु प्रसन्न होते हैं और वे ऐसी-ऐसी कुजिया साधक को बता देते है, जिनसे उनकी जिज्ञासा की गुत्थिया आसानी से खुलने लगती हैं। देखो, तुम जिस तरह से प्श्न करते हो व और जानने की अभिलाषा प्रकट करते हो उससे मै भी तुम्हे तरह-तरह से, बार-बार दुहराकर भी, सभी आवश्यक जानकारी देता जा रहा हू। इससे मुझे थकान नही मालूम होती न मन ही ऊबता है। बल्कि और अधिक सुनाने को उमग उठती रहती है।

इस प्रकार गुरु के प्रसाद से जो नई-नई जानकारी प्राप्त होती है, उससे हमारा ज्ञान-रूपी शस्त्र पैना होता चला जाता है, जिससे हमे जीव-भाव को काटने मे सहायता मिलती है। यह शरीर ही जीव है। इस ज्ञान या भावना मे स्थित होना 'जीव भाव' को काटना है। यह काम तभी हो सकता है जब सावधानी के साथ,

गाफिल न रहकर, व कठिनताओ तथा असफलताओ से धीरज न खोकर सतत प्रयत्नशील रहेगे। एक दिन किसी किताव मे पढ लिया, या व्याख्यान मे अथवा गुरु-मुख से सुन या समझ लिया कि शरीर—आत्मा नही—परमात्मा है और थोडी देर बाद भूल गया या याद तो रक्खा परन्तु अपने जीवन-व्यवहारो मे उस वृत्ति को लाने का प्रयत्न न किया, इसी भावना से प्रेरित होकर जीवन-कार्य न करने लगे, या घरवालो की तरफ से या समाज-राज की तरफ से कोई भय या प्रलोभन पाकर उस भावना को छोड दिया व ज्ञान को भुला दिया तो इससे काम नही चलने का। एक चौकीदार की तरह विना गाफिल हुए, एक शिकारी या वीर योद्धा की तरह विना घवराये या धीरज छोडे जव इस भाव की अपने जीवन मे सतत साधना की जायगी तभी परमात्मा रूप मे मिलना हो सकेगा। और जव यह सिद्धि हो गई तो फिर यह ज्ञान यह साधना अपने-आप तुम्हारे लिए निरर्थक हो रहेगी। विद्या-अविद्या, ज्ञान-अज्ञान का भेद या स्फुरण तभी तक होता है जवतक जीव या शिव के भेद मे विश्वास रहता है।

: १३ :

# परमात्मा, जीव, जगत्

[इस अध्याय मे वैदिक धर्म या वेदान्त के परम सिद्धान्त—विश्व, जीव व जगत् की एकता—का प्रतिपादन किया गया है व परमात्मा अव्यक्त से व्यक्त कैसे होता है तथा जीव किस प्रकार परमात्मा-पद को पहुचता है, इसका स्पष्टीकरण किया गया है।]

**"श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव, सत्त्व, रज और तम—ये बुद्धि के गुण हैं, आत्मा के नहीं। सत्त्व के द्वारा रज और तम दोनो को जीते और फिर सत्त्व (मिश्र-सत्त्व) की प्रवृत्ति को भी सत्त्व (शुद्ध सत्त्व) के द्वारा शान्त कर दे।" ।।१।।**

इसके लिए पहले सात्त्विक गुणो का विकास अपने अन्दर करना चाहिए। यह याद रक्खो कि सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण बुद्धि अर्थात्—प्रकृति के है—मन या बुद्धि प्रकृति से ही बने हैं—जीव या आत्मा के नही। लेकिन यह मन, चित्त या बुद्धि किसी भी नाम से पुकारो, जीवात्मा व परमात्मा के बीच का माध्यम है। चित्त इन तीन गुणो के सस्कारो व प्रभावो से भिन्न-भिन्न अवस्थाओ को प्राप्त होता रहता है और जिस गुण से वह व्याप्त होता है उसीके अनुसार एक तरफ से परमात्मा व दूसरी तरफ से जीवात्मा के प्रतिबिम्बो को रगीन बना देता है। इसके लिए शीशे की मिसाल अच्छी रहेगी। शीशे पर जो रग चढा होगा, या शीशा जैसा मैला या स्वच्छ होगा, उसीके अनुसार वह चीजो को रगीन, मैला या स्वच्छ दिखा-वेगा। ये त्रिगुण इस चित्त पर भिन्न-भिन्न रगो का काम देते हैं। अतएव पहला प्रयत्न हमारा यह होना चाहिए कि चित्त अपनी स्वाभाविक शुद्ध, स्वच्छ अवस्था मे रहे। तमोगुण व रजोगुण को दबाकर जब सत्त्वगुण को प्रबल बनाने व रखने का प्रयत्न करते रहेगे तो मन एक दिन स्वाभाविक अवस्था मे आ जायगा, व रहने लगेगा। क्योकि सत्त्वगुण की प्रधानता से ही मन की उत्पत्ति है। यह सत्त्व गुण परमात्मा की तरफ जाने के लिए प्रकृति की अतिम सीढी, आखिरी छोर है और

परमात्मा की तरफ से प्रकृति मे ग्राने की पहली सीढी है। सत्त्वगुण का चरम उत्कर्ष ही गुणहीन ग्रवस्था को ग्रर्थात् परमात्म-रूप को पाना है। जैसे समुद्र मे मिलनेवाली नदी का ग्रन्तिम छोर समुद्र ही है।

ऊधो, प्रत्येक गुण शुद्ध गुण नही है। एक मे दूसरा मिला ही रहता है। जब या जिसमे जिसकी प्रधानता होती है तब व उसे उसी नाम से पुकारते हैं। ग्रत सत्त्वगुण का सामान्य ग्रर्थ हुग्रा सत्व-प्रधान। पहले मनुष्य तमोगुण को दबावे, जिससे सत्व व रज मिश्रित सत्त्वगुण रह जाय। फिर रजोगुण को दबावे जिससे शुद्ध सत्वगुण रह जाय। इस सत्त्वगुण मे ग्रधिक समय तक स्थिर रहने से ग्रपने ग्राप निर्गुण, गुणहीन, या त्रिगुणातीत ग्रवस्था ग्रा जाती है। सात्त्विक गुण के उत्कर्ष का ग्रर्थ है दैवी सपत्तियो को या सद्गुणो को, सद्भावो को बढाना। सदा ग्रच्छा सोचने, ग्रच्छी भावना रखने, ग्रच्छी बात बोलने व ग्रच्छा ही काम करने का दृढ सकल्प करने से सत्त्वगुण की वृद्धि होने लगेगी।

**"बढे हुए सत्त्वगुण के द्वारा ही पुरुष को मेरे भक्तिरूप धर्म की प्राप्ति होती है। सत्त्वगुण की वृद्धि सात्त्विक वस्तुग्रो के सेवन से होती है ग्रौर उनसे मेरे भक्ति-रूप धर्म में प्रवृत्ति होती हैं।" ॥२॥**

जैसे-जैसे सत्त्व गुण की बढती होगी वैसे-वैसे मेरी ग्रोर मनुष्य का झुकाव होता जायगा। विषय-भोगो से, ससार की बुरी बातो से उसका मन हटता जायगा व मेरी ग्रोर ग्रग्रसर होता जायगा, जिससे मेरी भक्ति-रूपी धर्म की बाते सूझने लगेगी। नाना प्रकार के पुण्य, भक्तिमय सेवा-कार्यों मे रुचि बढेगी, जिससे नये ग्रशुद्ध कर्मों पर रोक लगेगी। सात्त्विक ग्राचार से वह सत् ग्रर्थात् सत्य रूपी पर-मात्मा की ग्रोर ही बढता चला जायगा। ज्यो-ज्यो जीवन मे सत्य को ग्रपनायेगा, त्यो-त्यो उसकी प्रवृत्ति धर्म की ग्रोर ग्रग्रसर होगी।

**"सत्त्व की वृद्धि से युक्त सर्वोत्तम धर्म रजोगुण ग्रौर तमोगुण को नष्ट करता है ग्रौर उन दोनो का नाश होने पर उनके द्वारा होनेवाला ग्रधर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।" ॥३॥**

जैसे-जैसे सात्त्विक गुणो की वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे शुद्ध धर्म मे प्रगति होती जाती है, क्योकि सात्त्विक गुणो के प्रभाव से मन, बुद्धि निर्मल होते जाते है, व मन के सकल्प शुद्ध व बुद्धि के निर्णय शुभ, उचित न्याय व सत्ययुक्त होते जाते है। इसका उल्टा दबाव फिर रज व तम गुणो पर पडता है, जिससे वे ग्रौर

निर्बल हो जाते हैं। ज्यो-ज्यो रजोगुण व तमोगुण का पराभव होता जाता है, त्यो-त्यो उससे उत्पन्न होनेवाले, प्रोत्साहन, व पोषण पानेवाले अधर्म भाव भी नष्ट होते जाते है। वह कोरे व्यक्तिगत हानि-लाभ या सुख-दु ख के विचार करने के बजाय सारे कुटुम्बियो, जाति या देश-बन्धुओ के लाभ-हानि व सुख-दु ख का अधिक विचार करने लगता है। दूसरो को कष्ट, हानि, असुविधा पहुचाकर भी अपना काम बनाने की जो आदत पडी हुई थी वह बदलने लगी, अब वह उसी मर्यादा मे अपने काम को सफल बनाना चाहता है, जिसमे दूसरो को हानि व कष्ट न हो। पहले वह उद्दड, उच्छृ खल रहता था, हर किसीका अपमान कर देता था, हर किसीका उपहास करने मे उसे मजा आता था,दूसरो की फजीहत होती हो तो उसमे आनन्द मिलता था, निन्दा, चुगली, एक-दूसरे को भिडा देने मे रस आता था, अब इनकी तरफ से उदासीनता आने लगी। इनमे तुच्छता, छोटापन अनुभव होने लगा। इस तरह धीरे-धीरे उसकी चित्त-वृत्तिया अशुभ से शुभ की ओर, झूठ से सत्य की ओर, असयम से सयम की ओर, दुष्टता से सौम्यता व सौजन्य की ओर झुकने लगती हैं।

**"शास्त्र, जल, कुटुम्ब, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और सस्कार—ये दस गुणो के आविर्भाव के कारण हैं।" ।।४।।**

अब तुम पूछोगे कि आखिर इन गुणो का आविर्भाव कैसे होता है? कौन इन्हे प्रेरित करता है? तो सुनो—उसके दस निमित्त या प्रेरक कारण होते हैं। पहला शास्त्र है। शास्त्रो मे विविध प्रकार के क्रिया-कर्म व विधि-विधान लिखे होते है। अनेक प्रकार के देवी-देवताओ के पूजा-विधान किये गए है। इनसे कर्त्ता के विविध गुणो को उत्तेजना मिलती है। जल से अभिप्राय यहा भिन्न-भिन्न प्रकार के जलीय पदार्थो, पेयो से है। दूध, विविध रस, छाछ, शराब कई प्रकार के शर्बत आदि पीने से, या विविध प्रकार के जलवायु मे रहने से भी गुणो की प्रेरणा मिलती है। प्रजा से मतलब भिन्न-भिन्न जाति के लोगो के सम्पर्क से है। इन सम्बन्धो, व सम्पर्कों के कारण भी गुणो का उभार होता है। देश से मतलब भिन्न-भिन्न प्रदेशों व भूखण्डो से है। वहा की जलवायु, प्रभाव, पद्धतियो के अनुसार भी गुण प्रोत्साहित होते है। काल का मतलब है सुवह, शाम, रात, जवानी, बुढापा, बचपन आदि। इनके प्रभावो से भी गुण घटते बढते या रूप बदलते है। मनुष्य के विविध कर्म-कलाप भी गुणोत्तेजक होते हैं। जिस वश, कुल, योनि मे जन्म हुआ हो उसके मुताबिक भी गुण अपना-अपना जोर जताते हैं। मनुष्य जैसा ध्यान, चिन्तन करता

है वैसे ही गुण उसमे उत्पन्न होते हैं। जैसा मन्त्र या उपदेश उसको मिलता हो, जिस प्रकार के मन्त्रो की साधना वह करता हो वैसे ही गुणो से अभिभूत मनुष्य होता है। जैसे सस्कार उसपर पडते हैं वैसे ही गुणो का पात्र वह होता है।

**"इनमें से जिन-जिनकी वृद्धजन प्रशसा करते है वे-वे ही सात्त्विक है, जिनकी निन्दा करते है वे तामस है और जिनकी उपेक्षा करते है, वे राजस है।"** ॥५॥

अब इन तीन गुणो की पहचान क्या है ? सो गीता मे मैं इसका विवेचन कर चुका हू। किन्तु यहा एक सरल युक्ति उसको जानने की बताता हू। बडे-बूढे व अनुभवी लोग जिन गुणो की प्रशसा करे उन्हे सात्विक, जिनकी वे निन्दा करें, जिनके लिए मना करें, वे तामस, व जिनके बारे मे चुप रह जाते हो, न अच्छा कहे न बुरा, तटस्थता धारण कर लेते हो या जिनकी उपेक्षा करते हो उन्हें राजस गुण समझो। यह शास्त्रीय व्याख्यान नही है। यह व्यावहारिक काम-चलाऊ तरकीब तुम्हे बताई है। क्योकि इस समय मेरी निगाह के सामने तुम ही नही, बल्कि आज के व आनेवाले जमानो के वे तमाम अपढ-कुपढ, गवार, स्त्री-जन, अबोध, किसान-मजदूर अछूत, कोल-भील, नागा आदि जगली लोग भी हैं, जिन्हे मुझे उद्धार का सरल रास्ता बताना है। ऊधो, सच पूछो तो जो पढे-लिखे, साधन-सम्पन्न, विद्वान्, धार्मिक, ज्ञानी, साधक, श्रेयार्थी हैं, उन्हे मेरी या मेरी सहायता की जरूरत ही क्या है ? जो धन[1] ऐश्वर्य, सत्ता आदि के नशे मे चूर हैं वे तो मेरी परवाह ही नही करते, अत उन्हे मेरी जरूरत नही है—हालाकि एक तरह से वे ही मेरी सहायता व आश्रय के सबसे अधिक पात्र हैं, परन्तु ये गहरे डूबे हैं, अत इनके लिए प्रयास व समय चाहिए। वे मेरी परवाह नही करते हैं, और जो खुद समझदार, विवेकी, विद्वान्, धार्मिक, सत्पुरुष है उन्हें मेरी खास जरूरत नही है हालाकि वे

---

[1]जिनका धन आत्मा ही है, वे निर्धन पुरुष जिन्हे परम प्रिय हैं और जो भक्ति-रस को जानते हैं, वह श्री हरि उन कुबुद्धियो की पूजा को स्वीकार नही करते जो अपनी बहुज्ञता, धन, कुल और कर्मों के मद से अधे होकर अकिंचन सत्पुरुषो का अपराध करते हैं। जो स्वरूपानन्द से ही परिपूर्ण होने के कारण अपनी सेवा करने-वाली लक्ष्मी, उनकी इच्छा करनेवाले राजाओ और देवताओ को भी कुछ नहीं गिनते, किन्तु अपने भक्तो के सदा अधीन रहते हैं, उन श्री भगवान् को कोई कृतज्ञ पुरुष कैसे त्याग सकता है ? (भाग० स्क० ४।३१+२१-२२)

मेरा पल्ला पकडे ही रहते है। मेरी सच्ची ज़रूरत तो उन सरल, निर्दोष, भोले-भाले, आश्रयहीन, लोगों को है, जिनका जिक्र मैंने अभी किया है और जिनकी मुझे हद से ज्यादा चिन्ता है। शबरी के जूठे फल, सुदामा का चिवडा, विदुर का साग, केवट के जंगली फल-मूल, वन-फूलो की व तुलसी की माला, गरीबो व साधन-हीनो की इन भेंटो व वस्तुओ की मेरी निगाह मे जो कीमत है, वह मेरे त्रैलोक्य के ऐश्वर्य की भी नही है। ऊधो, सच पूछो तो मैं उन्हीका हू, जिनका कोई नहीं है। जिसका पिता नही है उसका मै पिता, जिसकी मा-वहन नही है उसकी मा-बहन और शायद तुम शायद हँसोगे—जिसकी स्त्री नही है उसकी स्त्री भी मैं ही हू। उसके सच्चे हृदय की पुकार पर उसकी स्त्री बनकर भी उसकी सेवा करने मे मुझे लज्जा या सकोच न होगा। इसी तरह जिसके धन नही उमका धन, ऐश्वर्य नही उसका ऐश्वर्य, राज-पाट नही उसका राजपाट मैं ही हू। जिसका जो अभाव है वह मैं ही हू। उसी अभाव के रूप मे वह मुझे पा सकता है। उसके सच्चे हृदय से पुकारने की देर है कि मेरी तरफ से देर न होगी। इसके कितने उदाहरण तुम्हें दू? मेरा तो यह स्वभाव ही है और नित्य ऐसे ही कामो मे लगा रहता हू।

तुम पूछोगे कि तो फिर सवको इसका अनुभव क्यो नही होता? इसका कारण है। मनुष्य दो घोडो पर सवारी करते हैं। इधर मुझे पुकारते है, उधर पुरुषार्थ पर, अपनी अहन्ता पर भी भरोसा रखते है। मै पुरुषार्थ का विरोधी नही हू। मुझपर भरोसा रखकर पुरुषार्थ या उद्योग करना एक वात है, व पुरुषार्थ पर भरोसा रखकर मुझे पुकारना दूसरी बात है। जिनका अन्तिम विश्वास, आधार, मुझपर है वे जो कुछ पुरुषार्थ, परिश्रम, उद्योग, प्रयत्न करते है वह केवल मेरे साधन, एजेण्ट, या गुमाश्ते के तौर पर। उसके कर्तापन का व फलाफल का जिम्मेदार—वे जानते हो या न जानते हो—वास्तव मे मैं रहता हू, वे नही। लेकिन जिनका अन्तिम विश्वास पुरुषार्थ पर है, अर्थात् खुद अपने पर है, अपनी योग्यता, परिश्रम, जोड-तोड भिडाने के सामर्थ्य या कूट-कपट युक्तियो, मारकाट आदि पर है, वे मुझे दर-असल ऊपर-ही-ऊपर से पुकारते हैं, वदर्जे मजबूरी पुकारते हैं, इसीसे मेरे हृदय पर उसका असर नही होता। अस्तु।

**"जबतक आत्मतत्व का अपरोक्ष ज्ञान और देहद्वय तथा उनके कारणभूत गुणों की निवृत्ति न हो तबतक सत्त्वगुण की वृद्धि के लिए मनुष्य को सात्त्विक शास्त्रादि का ही सेवन करना चाहिए, उससे धर्म की वृद्धि होती है और फिर उससे**

ज्ञान उत्पन्न होता है।" ॥६॥

इसका साराश यह हुआ कि मुझे पाने के लिए सात्त्विक वृत्ति वढाना चाहिए। इसके लिए चारो ओर से सात्त्विक वातो को ही ग्रहण करने का उद्योग करना चाहिए। यहातक कि शास्त्रादि भी वही सेवन करें जो सात्विक धर्म या उपदेश-प्रधान हो। जैसे जिन शास्त्रो मे मासाहार, पशु-वलि, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि सिद्धियो या शक्तियो का विधान हो, तथा जिनमे कूट-कपट, हत्या-हिंसा का समर्थन हो, या दुर्व्यसन को वढानेवाली वस्तुओ या विषयो के वनाने व सेवन करने की विधिया हो, ऐसे शास्त्रो से वचना चाहिए। किसी भी विषय की विधिवत चर्चा करनेवाले ग्रन्थ को शास्त्र कहते है। वैसे शास्त्र से प्राय धर्म-शास्त्र ही समझा जाता है। परन्तु शास्त्र का व्यापक अर्थ भी है। और धर्म के नाम पर व नाम से भी तो कई तामस विधियो का प्रचार है व हो जाता है तथा धर्म-शास्त्रो मे भी उनका विधान मिल जाता है। क्योकि ये शास्त्र समय-समय पर वनते, सशोधित व सम्पादित होते है और जिस समय जैसी आवश्यकता समझी जाती है वैसे धार्मिक आचारो का रूप समाज के धुरीण वदल दिया करते है तथा शास्त्रो मे भी तदनुसार परिवर्तन कर दिया जाता है। प्रिय ऊधो, भले ही प्रसगानुसार कभी कोई समाज-नेता या व्यवस्थापक किसी तामसिक विधि-विधान को थोडे समय के लिए आवश्यक या अपरिहार्य समझ ले, परन्तु उसका सदैव प्रयास तो समाज मे सात्त्विकता वढाने का ही रहता है व रहना चाहिए, क्योकि इसीसे धर्म की वृद्धि व पुष्टि होती है व समाज आगे वढता है। इस तरह राग-द्वेष-मूलक रजोगुणी शास्त्रो से भी वचना चाहिए।

सत्त्वगुण को वढाने का प्रयत्न तवतक करते रहने की जरूरत है जवतक आत्म-तत्त्व का अपरोक्ष यानी प्रत्यक्ष ज्ञान न हो तथा स्थूल शरीर व सूक्ष्म अथवा लिंग-शरीर की और उनके कारण वननेवाले गुणो की निवृत्ति न हो। इसे अच्छी तरह समझ लो।

आत्म-तत्त्व तो तुमने अवतक के विवेचन से समझ ही लिया है। वुद्धि से जो ज्ञान आत्म-तत्त्व का होता है उसे आत्मा का वास्तविक ज्ञान नही कहते। जैसे मेरे समझाने से आत्मा के सम्वन्ध मे तुम्हारी वुद्धि को कुछ परिचय हो गया है, आत्मा की एक कल्पना या चित्र उसमे अकित हो गया है। कहना ही हो तो परोक्ष अर्थात् प्रकारान्तर मे, अप्रत्यक्ष, ज्ञान कह सकते हैं। अपरोक्ष अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान को

साक्षात्कार भी कह सकते हैं। सरल भाषा मे उसे प्रत्यक्ष दर्शन ही कहो ना। अब वह आत्मा या ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन क्या वस्तु है, इसके बारे मे दो मुख्य मत है। एक तो यह कि जैसा मैं तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष बैठा हू, तुमसे बातें कर रहा हू इस तरह प्रत्यक्ष दर्शन होना, दूसरा यह कि आत्मा या ईश्वर के जो गुण हमने मान लिये हैं उनका अपने मे व जगत् मे विकास देखना। अवतार-कल्पना को मानने-वाले व कुछ योग-साधक इस बात पर विश्वास रखते है कि भगवान् मनुष्य की तरह प्रत्यक्ष दर्शन देता है व जगत् मे आता रहता व अपना काम पूरा करके चला जाता है। योग-साधको या भक्तो को ध्यान की, स्वप्न की या अन्य चिन्तन अथवा भावलीनता की अवस्था मे जो मूर्तिया, आकृतिया, तेजोगोल, दीप्तिया दिखाई देती है उन्हे वे ईश्वर-दर्शन मानते है। उनके ये अनुभव गलत नही हैं। परन्तु इस प्रकार का भगवद्दर्शन न तो कठिन ही है और न साधक को बहुत आगे ही ले जा सकता है। इससे दर्शक को भगवान् के दर्शन का एक अद्भुत आनन्द अवश्य होता है, परन्तु साथ ही कृतार्थता भी मालूम होने लगती है, जिससे भक्त या साधक आगे साधना मे शिथिल होकर उसी तृप्ति को अन्तिम अवस्था मान लेता है। वास्तव मे इन अनुभवो का इतना ही अर्थ है कि उसकी सात्त्विकता बढ रही है, चित्तवृत्ति एकाग्र हो रही है, परमात्मा की कृपा उसपर बरसने लगी है। इससे उसका उत्साह आगे की साधना मे बढना चाहिए। किन्तु जब वह यह समझकर कृतकृत्य होने लगता है कि मुझे तो ईश्वर-दर्शन हो गये, आत्म-साक्षात्कार हो गया तो फिर उसकी प्रगति रुक जाती है। अत. मैं इसका दूसरा व अधिक स्थायी या सार्थक पहलू तुम्हे समझना चाहता हू।

परमात्मा को या तो हम 'सच्चिदानन्द' या षड्गुणो के लक्षण से जानते हैं। एक-एक लक्षण एक-एक विशेष गुण के सूचक हैं। 'सत्' 'होने के' भाव का, 'स्थिति' का, अथवा 'सत्य' का सूचक है। इसमे ससार के सभी स्थिर भावो का समावेश हो जाता है जैसे प्रेम, न्याय, दया, उदारता, क्षमा, आदि। 'चित्' क्रिया-शीलता व ज्ञान का सूचक है। इसमे सभी प्रकार के कर्म व ज्ञान का समावेश हो जाता है। 'आनन्द' सुख, तृप्ति, अशोक, आदि भावो का सूचक है। इसी तरह षड्-गुणो को समझ लो।

परमात्मा तो अनंत गुणो व भावो का सागर है। हमने उसकी पहचान के लिए कुछ विशेष गुण, सकेत के तौर पर, चुन लिये है। इनमे मे जो गुण या भाव साधक या

भक्त को अपने हृदय के नजदीक लगता हो, प्रिय लगता हो, उपास्य लगता हो, उसका विकास वह अपने मे करे। अपने शरीर व मन के प्रत्येक अश, प्रत्येक परमाणु मे वह उसी गुण को देखे व अनुभव करे। जब वह अपने-आपको उसी गुण की प्रत्यक्ष मूर्ति अनुभव करने लगे तब समझे कि उसने अपने लिए परमात्मा या ईश्वर के दर्शन कर लिये। अपने अन्दर उसने ईश्वर को पा लिया। लेकिन जगत् मे अभी ईश्वर-दर्शन करना बाकी रहा है। उसकी यही भावना जब ससार के प्रत्येक परमाणु मे व्याप्त हो जायगी, जगत् की प्रत्येक वस्तु जब उसे उस रूप मे दीखने लगेगी, अनुभव होने लगेगी, तब समझना चाहिए कि उसने ससार मे ईश्वर-दर्शन कर लिये। इस तरह पिण्ड व ब्रह्माण्ड, व्यष्टि व समष्टि, दोनो मे जबतक उसकी ऐसी भावना, वृत्ति या अनुभव नही हो जाता तबतक उसका ईश्वर-दर्शन अधूरा, झलक मात्र, अस्थायी, क्षणिक, तात्कालिक ही समझना चाहिए। केवल मानसिक चिन्तन या अभ्यास से यह स्थिति नही प्राप्त होती। हमारे जीवन-व्यापारो मे उसके दर्शन या परिणत होने पर ही इस स्थिति को पहुचा कहा जा सकता है। इस तरह सत्य को, प्रेम को, ऐश्वर्य को, यश को—किसीको भी लेकर साधना करनेवाला अपने अन्दर व बाहर सब सत्यमय, प्रेममय, ऐश्वर्यमय, यशमय, देखने लगेगा।[1]

प्रत्येक वस्तु की तरह हमारे शरीर के भी दो रूप है—स्थूल व सूक्ष्म। ऊपर का ढाचा स्थूल व भीतरी रूप सूक्ष्म है, जिसे लिंग-शरीर कहते हैं। लिंग का अर्थ है अवयवहीन। उसमे बाहरी शरीर की तरह प्रत्यक्ष इन्द्रिया तो नही होती परन्तु इनके सूक्ष्म तत्त्व होते है, जो अठारह हैं। मनुष्य की वासना, कर्म व कर्म-फलो के सस्कार इस लिंग-शरीर मे चिपके या जुडे रहते हैं। मृत्यु के समय यह स्थूल शरीर तो निर्जीव हो जाता है, परन्तु प्राण के साथ लिंग-शरीर, इसे वासनात्मक शरीर भी कहते हैं, बाहर निकलकर वातावरण मे चला जाता है। (सूक्ष्म होने के कारण हमे आखो से या दूरबीन से नही दिखाई देता। कुछ प्रयोगो से वैज्ञानिको या शोधको ने इसका पता लगाया है।) यह लिंग-शरीर मनुष्य के नवीन जन्म का

---

[1] जैसे दुर्योधन को अपनी सभा मे, या श्रीअरविन्द को अदालत मे, या गोपियो को रास-मण्डल मे, कृष्ण-ही-कृष्ण दिखाई देते थे। दुर्योधन को भगवान् की योगमाया से व श्रीअरविन्द तथा गोपियो को अपनी तन्मयता से।

बीज है, व कारण बनता है। इसका मूल वासना है। अतः जबतक मनुष्य वासना को निर्मूल नही कर लेता तबतक वह ससार-बन्धन या आवागमन के चक्र[1] के दु खो से नही छूट सकता। सात्त्विकता की साधना से वासना क्रमश शुद्ध होती जाती है। शुद्ध भाव, शुद्ध, निष्काम, परमात्म-प्रीत्यर्थ कर्म, अनासक्ति यह सात्त्विकता का दूसरा नाम है। इनसे वासना शुद्ध होते-होते उसका जोर इतना धीमा पड जाता है कि वह मनुष्य को कर्म मे प्रेरित नही कर सकती, जैसे शान्त महासमुद्र मे ऊपर-ऊपर चलनेवाली बहुत हल्की लहरे, या मनुष्य-शरीर को लगनेवाले मन्द हवा के हलके झोके, या मन मे उठनेवाली ऐसी तरगे जो उसके ऊपर

---

[1] "जिस प्रकार भूख से व्याकुल व दीन कुत्ता घर-घर फिरता हुआ अपने प्रारब्धानुसार कही लाठी व कही भात खाता है, उसी प्रकार विविध प्रकार की वासनाओ से बधा हुआ जीव ऊचे-नीचे मार्ग से उत्तम, अधम अथवा मध्य योनियो मे भ्रमता हुआ इष्ट-अनिष्ट प्रारब्ध भोगता है।

"यदि कहो कि उन दु खो को दूर करने का उपाय करने से उनका छुटकारा भी तो मिल सकता है, तो यह बात नही। क्योकि आधिदैविक, आधिभौतिक, और आध्यात्मिक—तीन प्रकार के दु खो मे से किसी एक से भी जीव का सर्वथा छुटकारा हो ही नही सकता। जिस प्रकार बोझे को सिर पर रखकर ले जानेवाला पुरुष सिर की पीडा से छूटने के लिए उसे कन्धे पर रख लेता है, उसी प्रकार दु ख से छूटने के सारे उपाय है। जिस प्रकार स्वप्न मे होनेवाला स्वप्नान्तर उस स्वप्न से छूटने का उपाय नही है, उसी प्रकार कर्म-फल के योग से सर्वथा छूटने का साधन केवल कर्म—कर्म-काण्ड—नही है। क्योकि दोनो ही (कर्म) अविद्या-जन्य है। जिस प्रकार मनोमय लिंग-शरीर से स्वप्न मे विचारनेवाले प्राणी को स्वप्न के पदार्थ वास्तव मे न होने पर भी भासते रहते है, उसी प्रकार देह, अन्त.करण आदि अनात्म पदार्थ वास्तव मे न होने पर भी उनमे अभिमान करनेवाले जीव का जन्म-मरण-रूप ससार निवृत्त नही होता। (भाग, स्क०, ४ अ० २९।३० से ३५)

कहते हैं जीव ८४ लाख योनियो मे भटकता है। वे इस प्रकार हैं—२० लाख बार धातु-योनि मे, ९ लाख वनस्पति-योनि मे, ९ लाख सरीसृप-योनि मे, १० लाख पक्षि-योनि मे, ३० लाख पशु-योनि मे, ४ लाख वानर-योनि मे व शेष मानव-योनि मे।

की सतह को छूकर ही चली जाती है, कोई विकार, प्रेरणा क्रिया नही उत्पन्न करती। यह वासना भुने बीज की तरह नवीन जन्म देने मे समर्थ नही रहती। इसीको वासना-क्षय कहते है। जबतक वासना की निवृत्ति होकर लिंग-शरीर का नाश नही होता, तबतक यह सात्विकता की उपासना जारी रहनी चाहिए।

**"बासो के सघर्ष से उत्पन्न हुआ अग्नि जैसे उनके वन को भस्म करके ही शान्त होता है वैसे ही गुण-वैषम्य से उत्पन्न हुआ देह भी वैसी ही क्रियावाला होकर (अर्थात् अपने से उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा गुणो के सम्पूर्ण कार्य का लय करके) ही शान्त होता है।" ॥७॥**

इस तरह सात्त्विकता की उपासना से धर्म की वृद्धि व ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह ज्ञान मनुष्य के अन्दर होनेवाले गुणो के सब कार्यों को अर्थात् तीन गुणो के उतार-चढाव से होनेवाले सब परिणामो को लय कर देता है। उनके फलो को नष्ट कर देता है। तब यह देह भी जो गुण-वैषम्य से ही उत्पन्न हुआ है, खुद अपने ही ज्ञानरूपी कर्मों द्वारा शान्ति को प्राप्त होता है जैसे कि बासो की परस्पर रगड से ही बासो मे आग जलने लगती है और फिर वह सारे वन को जलाकर ही शान्त होती है। अर्थात् मनुष्य के ज्ञानात्मक कर्मों से या ज्ञानाश्रित जीवन से, दूसरे शब्दो मे निष्काम कर्मों से, ही वह अपने कर्म-फलो को काटकर शान्ति प्राप्त करता है।

**"श्री उद्धवजी बोले—हे कृष्णचन्द्र, प्राय सभी लोग सासारिक विषयों को दु खमय बतलाते हैं, फिर भी वे कुत्ते, गधे और बकरे के समान उनको क्यो भोगते रहते हैं ?" ॥८॥**

**"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव, अविचारी पुरुष के चित्त में जो 'मै हू,' ऐसी अन्यथा-बुद्धि उत्पन्न होती है, उससे उसका वैकारिक (सत्त्व-प्रधान) मन घोर रजोगुण की ओर प्रवृत्त हो जाता है।" ॥९॥**

इसपर ऊधो ने पूछा कि भगवन्! मैं देखता हू कि ससार मे सभी लोग विषयो को बुरा बताते है, उन्हे दु खदायी कहते व मानते हैं। फिर मुझे बडा आश्चर्य होता है कि क्यो ये बकरो, गधो व कुत्तो की तरह उन्ही विषयो का सेवन करते हैं? इसके जवाब मे श्रीकृष्ण कहते हैं—सत्त्वगुणी होने पर भी मनुष्य का मन जब गाफिल हो जाता है, या अविचारवश उसमे 'अहभाव' उत्पन्न हो जाता है अर्थात् वह यह मानने लगता है कि 'मैं भी कुछ हू,' ईश्वर के अस्तित्व से अपने अस्तित्व को अलग मानने व समझने लगता है, तब वह रजोगुण की ओर प्रवृत्त

होता है, जिसमे अनेक सकल्प-विकल्प उठते है, इनकी उत्पत्ति सत्त्वगुण से है, अत उसमे अभेद-भाव, 'यह जीव व परमात्मा एक है,' तथा जगत् व परमात्मा भी एक ही है,' यह भाव स्वाभाविक है, किन्तु किसी भी निमित्त या कारण से जब उसमे भेद-भाव अर्थात् अपने अलग अस्तित्व का भान पैदा हो जाता है, जिससे वह जीव व जगत् का भी ईश्वर से भिन्न देखने लगता है, जैसे ऐचाताने को सभी वस्तुए दो दीखती हैं, तो उसका पतन रजोगुण मे हो जाता है, जिससे वह अभेद की जगह भेदो मे ही डूबने लगता है।

**"चित्त के रजोयुक्त होने पर अनेक विकल्पो-सहित सकल्प उठते हैं और फिर गुणो के चिन्तन से उस मन्दमति को नाना प्रकार की दु सह कामनाएं आ घेरती हैं।" ॥१०॥**

**"इस प्रकार रजोगुण के प्रबल प्रवाह में पड़कर विमूढ हुआ वह अजितेन्द्रिय पुरुष कामनाओं के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कर्मों को, जो परिणाम में दुःखमय होते हैं, करता है।" ॥११॥**

जब रजोगुण का जोर बढता है तब मनुष्य बन्दर की तरह चचल हो जाता है। बन्दर जैसे इस डाली से उस डाली पर ऊपर-नीचे चारो तरफ उछलता-कूदता रहता है, उसी तरह उसका मन अस्थिर हो जाता है। कभी एक मनोरथ उठता है, कभी दूसरा। क्षुब्ध तालाब की तरह उसके मन मे लहरे उठा ही करती है। कभी प्रेम से तो कभी द्वेष से, कभी हर्ष से तो कभी शोक से, कभी लोभ से तो कभी भय से। अनेक विचार उसके मन मे उठते है, जिनसे उसकी बुद्धि झकझोर हो जाती है और वह किसी बात मे सही राय नही बना पाती, न सही निर्णय ही कर पाती है। सही निर्णय तबतक नही होता जबतक सब बातो को अच्छी तरह तौल नही लिया जाता, लेकिन यहा तो उस तराजू की डण्डी पल-पल पर हिलती-डुलती रहती है। इससे उसके कर्म भी बिना विचारे या आधे विचारे होते हैं। उनका नतीजा दुःख के सिवा और क्या हो सकता है?

ऊधो, मन ही तो सब इन्द्रियो का राजा है, जब वही होश मे नही है तो फिर इन्द्रियरूपी प्रजा को वह कैसे शान्त व व्यवस्थित रख सकता है? मन को बहकता देख इन्द्रिया भी अपनी मनमानी चलाती हैं और पहले जहा मन इन्द्रियो को हाकता था, अब इन्द्रिया उसे हाकती हैं और यदि वह चेता नही तो न जाने किस गर्त मे गिराकर दम लेती हैं।

**"यद्यपि विवेकी पुरुष कभी-कभी रज-तम से विक्षिप्तचित्त भी होता है तथापि दोषदृष्टि के द्वारा अपने विक्षिप्त चित्त को सावधानतापूर्वक समाहित कर देने से वह उनमें आसक्त नहीं होता।" ॥१२॥**

यह तो अविचारी, अविवेकी लोगो की बात हुई, जिन्होने मन को सयम मे रखना सीखा ही नही है। किन्तु, ऊधो, कभी-कभी विवेकी पुरुष भी रज व तम के प्रभाव मे आ जाता है। गुण तो हर अवस्था मे तीनो मौजूद रहते हैं, कभी-कभी ऐसे अकल्पित कारण उपस्थित हो जाते हैं, जिनसे विवेकी व समझदार आदमी भी मन का तौल खो बैठता है, परन्तु वह तुरन्त ही सभल भी जाता है। मन मे चचलता व बुद्धि मे अव्यवस्थितता आते ही, दूसरे शब्दो मे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इनमे से किसी भी विकार का उदय होते ही वह फौरन समझ लेता है कि गलत बात हो रही है और सावधान होकर अपने मन को उधर से हटाने का यत्न करता है। किसी स्त्री का रूप-सौन्दर्य देखकर उसके मन मे उसके नजदीक जाने की, उससे बात-चीत करने की इच्छा पैदा हुई और नजदीक जाने पर भी उसका साथ न छोडने की प्रवृत्ति हुई तो फौरन वह समझ लेता है कि गलत रास्ते पर पाव पड रहा है और दृढता के साथ वहा से उलटे पाव भागने लगता है। इसी तरह किसीने आलोचना या निन्दा की या कडी, कडवी अनुचित बात कह दी और वह भी उत्तेजित होकर उसका वैसा ही जवाब देने मे प्रवृत्त हुआ तो तुरन्त समझ लेता है कि मैं रज व तम के चक्कर मे आ रहा हू और मुह बन्द कर लेता है। किसीने अवज्ञा की, अपमान कर दिया तो बदन मे यहा से वहातक आग लग गई, शरीर थरथराने लगा, आखो से चिनगारिया निकलने लगी तो उसी समय वह सावधान होने लगता है कि अरे, क्रोध ने हमला कर दिया है। और वह सामनेवाले के गुणो का स्मरण करके मन को शान्त कर लेता है। ऐसे ही और विकारो के सम्बन्ध मे भी समझो। अविवेकी व विवेकी मे यही फर्क है कि विवेकी गुणो के चक्कर मे आ जाने पर भी तुरन्त सावधान होकर अपने चित्त को समाहित करने का प्रयत्न करके उन विकारो मे लिप्त नही हो जाता। जैसे सारथि मचले हुए घोडो की रास खीचकर उसे काबू मे ले आता है।

**"(चित्त समाहित करने के लिए साधक को चाहिए कि वह) सावधान और चिन्तारहित होकर नियत समय पर क्रमशः श्वास और आसन को जीतकर धीरे-धीरे मुझमे चित्त लगाकर योग का अभ्यास करे।" ॥१३॥**

"मेरे शिष्य सनकादि ने इसीको मुख्य योग कहा है कि जिससे चित्त को सब ओर से खींचकर सर्वथा मुझमें ही लगा दिया जाय।" ॥१४॥

यह तो मैंने मनुष्यों के विषयों में खिंचने का कारण बताया। अब संक्षेप में यह भी सुन लो कि ऐसे अवसरों पर मन को काबू कैसे किया जाता है? विकार का प्रभाव मालूम होते ही लम्बी सांस खींचो और मुंह को बन्द कर लो। विकारों को उभाड़नेवाले व्यक्ति या वस्तु की ओर से मुंह हटा लो। फिर आंखें मूंदकर एक स्थान पर दृढ़ आसन लगाकर बैठ जाओ। यदि हो सके तो ठण्डे पानी से नहा डालो, कम-से-कम हाथ-पैर मुंह जरूर धो लो। फिर धीरे-धीरे अपना चित्त मुझमें लगाओ। यह अभ्यास नित्य करने से ऐसे विकारों के उन्माद के अवसर पर मन को वश में करना बहुत आसान हो जायगा। यह एक प्रकार का योगाभ्यास ही है, जिसे मेरे शिष्य सनकादि ऋषियों ने मुख्य योग कहा है।

"श्री उद्धवजी बोले—हे केशव, आपने जिस समय और जिस रूप से सनकादि को योग का उपदेश किया था, उस रूप के विषय में मैं जानना चाहता हूं। (कृपया बतलाइये)।" ॥१५॥

"श्री भगवान् बोले—एक बार ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनकादि ने अपने पिता से योग की सूक्ष्म पराकाष्ठा के विषय में प्रश्न किया।" ॥१६॥

'सनकादि ने कहा—प्रभो, चित्त स्वभाव से ही गुणों (विषयों) में जाता है और गुण (वासना रूप से) चित्त में प्रवेश करते हैं, फिर इस संसार-सागर से पार होकर मुक्ति-पद चाहनेवाला व्यक्ति इनको परस्पर कैसे पृथक् कर सकता है।" ॥१७॥

"श्री भगवान् बोले—देवशिरोमणि भूतभावन श्री ब्रह्माजी, इस प्रकार पूछे जाने पर, कर्ममयी बुद्धि होने के कारण बहुत कुछ विचार करने पर भी प्रश्न का यथार्थ कारण न समझ सके।" ॥१८॥

"तब इस प्रश्न का पार पाने की इच्छा से उन्होंने मेरा ध्यान किया। उस समय मैं हंस रूप से उनके पास प्रकट हुआ।" ॥१९॥

"मुझे देखकर उन्होंने ब्रह्माजी को आगे कर मेरे समीप आ, मेरा चरण-वन्दन करने के अनन्तर पूछा कि आप कौन हैं।" ॥२०॥

"हे उद्धव, उस समय उन तत्त्व-जिज्ञासु मुनियों के इस प्रकार पूछने पर मैंने उनसे जो कुछ कहा सो सुनो।" ॥२१॥

उद्धव ने पूछा—आपने कब व किस तरह सनकादि को उपदेश दिया था सो कहिये। तब श्रीकृष्ण ने कहा—एक बार ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनकादि ने उनसे योग की अन्तिम स्थिति के बारे मे पूछा था और यह जानना चाहा था कि यह चित्त स्वभावत ही गुणो अर्थात् विषयो की ओर जाता है व जाया करता है। और ये गुण फिर वासना रूप मे चित्त मे प्रवेश करते हैं। ऐसी घट-माल लगी रहती है, तब जिज्ञासु या मोक्षार्थी कैसे तो इस ससार-सागर से पार हो, और कैसे इनके प्रभावो से बचे—इनका एक दूसरे से सम्बन्ध न होने दे ?

पर ब्रह्मा तो ठहरे कर्म-बुद्धि—उनका काम है कर्म-ही-कर्म करना, सृष्टि की उत्पत्ति-ही-उत्पत्ति करते जाना। बस, उन्हे सदैव इसी बात की धुन लगी रहती है, अत सोचने की फुरसत ही कहा। उन्होंने बहुत अपना दिमाग छीला, लेकिन इस प्रश्न के मर्म तक ही न पहुच पाये। तब इस समस्या को हल करने के लिए उन्होंने मेरा ध्यान किया तो मैं हस-रूप से उनके सामने प्रकट हुआ। तब उन लोगो ने पूछा—आप कौन हैं, उसके उत्तर मे मैंने जो कुछ कहा—उससे तुम्हारी जिज्ञासा पूरी हो जायगी। वह सुनो—

**"(मैंने कहा—) हे विप्रगण ! यदि तुम्हारा यह प्रश्न आत्मा के विषय मे हैं तो आत्मवस्तु तो एक ही है, (उसमें किसी प्रकार का भी सजातीय-विजातीय अथवा स्वगत भेद नहीं है,) अत तुम लोगो का यह प्रश्न हो ही कैसे सकता है, अर्थात् मैं भी निर्विशेषरूप होने से किस जाति, गुण अथवा व्यक्तिरूप विशेष का आश्रय लेकर इसका उत्तर दू।" ॥२२॥**

मैंने कहा—विप्रो ! तुम्हारा प्रश्न यदि आत्मा के विषय मे है, अर्थात् मैं कौन हू, इस प्रश्न से यदि तुम मेरे आत्म-रूप के बारे मे पूछते हो तो आत्म-वस्तु सब जगह व सबमे एक ही है। उसमे सजातीय, विजातीय या स्वगत ऐसा कोई भेद नही है। अर्थात् उसके लिए यह नही कहा जा सकता कि वह अमुक जाति का है, या अमुक जाति का नही है, एक या दूसरी जाति का है, न स्वत आत्मा मे ही स्वगत या परगत अपने-आपमे रहनेवाला या दूसरो मे जाने वा रहनेवाला, ऐसा कोई भेद है। सो तुम्हारा यह प्रश्न निरर्थक है। क्योकि जो आत्मा तुममे है वही मुझमे है—जो तुम हो वही मैं हू। और मैं जो इसका उत्तर देनेवाला हू उसका भी क्या आश्रय हो सकता है ? मेरा रूप तो निर्विशेष है। किसी भी विशेषण द्वारा उसका परिचय नही दिया जा सकता। क्योकि मैं सब विशेषताओ से रहित हू, अखड

एकरस हू, छोटा-बडा, अच्छा-बुरा, लम्बा-चौडा, काला-पीला, ऐसी किसी विशेषता का आरोपण मुझपर नही किया जा सकता। अत न कोई जाति, न गुण, न किसी व्यक्ति का आश्रय लेकर मैं रहता हू, तो इसका उत्तर कैसे दू ? यह जो बोल रहा है सो तो इस हस-नामक शरीर का आश्रय लेकर। किन्तु शुद्ध आत्मा तो शरीर की उपाधि से मुक्त है, अतः मेरे लिए शुद्ध आत्म-रूप से कुछ कहना भी कठिन है। कोरी बिजली की शक्ति जब आसमान मे रहती है तब वह न किसी गुण से सम्बन्ध रखती है, न व्यक्ति से और न किसी जाति से। इनमे से किसीका आश्रय उसे नही होता। जब बादल का आश्रय उसे होता है तो चमकती है। जब विज्ञानी तारो का आश्रय उसे देते हैं तो उससे नाना प्रकार के काम लिये जा सकते है, किसी आश्रय के निमित्त से ही वह प्रकट होती है व कुछ काम करती है। यही हाल आत्मा का है। जबतक उसे शरीर-रूपी आश्रय न हो तबतक वह प्रकट या व्यक्त होकर काम नही कर सकता। अत. आत्म-रूप से तो मैं किसीका आश्रय लिये नही हू, अत कैसे तुमसे बोल या बतला सकता हू।

**"और यदि तुम पंचभूतात्मक शरीर से ऐसा पूछते हो तो समस्त शरीर भी पंचभूतरूप होने से वास्तव में अभिन्न ही हैं, अतः तुम्हारा यह प्रश्न कि आप कौन हैं, वाणी का आरम्भ-मात्र (व्यर्थ आडम्बर) ही है।" ॥२३॥**

यदि इस पच भूतो के बने शरीर से तुमने यह पूछा है तो भी तुम्हारा प्रश्न फिजूल है। ससार के सभी शरीर, सभी आकार, सभी नाम-रूपधारी पाच भूतो से बने हैं, अत भूत रूप मे सब अभिन्न है। हड्डी, चमड़ी, मास आदि जो स्थूल पदार्थ इसमे दीखते हैं वे सब पृथ्वी अर्थात् घन पदार्थ हैं। रस, रक्त, मूत्र, पसीना आदि जो गीला, चिकना या प्रवाही अश इसमे है वह जल है। शरीर मे जो गर्मी मालूम होती है, अन्न की जो पाचन-क्रिया होती है, उसे अग्नि समझो। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान आदि जो वायु शरीर मे है वही वायु और जिस पोल मे हड्डियो, स्नायुओ व नाड़ियो का जाल गुथा हुआ है व जिसमे अन्न, रस, रक्त, वायु आदि रहते व अपना काम करते है, वह आकाश है। तुम देखोगे कि ये पाचो तत्त्व सभी शरीरो मे विद्यमान है, चाहे वह शरीर मनुष्य का हो, पशु-पक्षी का हो, पेड-पौधे का हो, या जड-अचेतन दीखनेवाले मिट्टी, पत्थर आदि धातु-द्रव्य का हो। किसी-न-किसी रूप मे पाचो भूत उसमे दिखाई देते हैं। चेतन पदार्थों का उदाहरण तो झट समझ मे आ सकता है, परन्तु जड, जैसे मिट्टी-पत्थर सोना आदि, का

नही। अत देखो सोने मे जो घनता है सो पृथ्वी, गरम करने से जो रस बन जाता है, सो जल, गरम करने से या धूप खाने से जो गरम हो जाता है वह उसमे छिपे अग्नि-कणो का ही सबूत है। भीतरी गुप्त अग्नि-कण बाहरी अग्नि को ग्रहण कर लेते है, जिससे पदार्थ गरम हो जाता या मालूम होता है। विशिष्ट प्रयोगो से, रासायनिक प्रक्रियाओ से कोई भी पदार्थ वायु-रूप मे लाया जा सकता है। अत यह उसमे वायु-तत्त्व का सूचक है। सोने के परमाणुओ के बीच मे जो उसमें स्थान या पोल रहती है वह आकाश का प्रमाण है। इस पोल के कारण ही सोना चपटा, लम्बा, तार रूप मे हो जाता है।

इस प्रकार जब तुम लोगो मे व मुझमे कोई भिन्नता नही है तो फिर यह प्रश्न कि "आप कौन हैं ?" केवल वाणी का विलास या आडम्बर ही हुआ न ?

**"मन से, वाणी से, दृष्टि से अथवा अन्य इन्द्रियो से भी जो कुछ प्रतीत होता है, निश्चय जानो वह सब मैं ही हू, मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं है।" ॥२४॥**

अत विप्रो, इस कथन का सार यह निकला कि हमे अपने मन से जो कुछ कल्पित प्रतीत होता है, आखो से जो कुछ देखा जाता है, या अन्य इन्द्रियो से जो कुछ भासता या अनुभव मे आता है वह सब मैं ही हू। मुझसे भिन्न या पृथक् किसी भी वस्तु की सत्ता नही है। यह जो नाना नाम-रूपमय जगत् दिखाई देता है यह मेरा ही रूप या विस्तार है। शक्कर की तरह तरह की मिठाइया या मिट्टी के नये-नये तर्ज के खिलौने सब शक्कर या मिट्टी ही तो है—उसी तरह यह जगत् मेरे सिवा कुछ नही है।

**"हे पुत्रगण! यह ठीक है कि चित्त विषयो का अनुसरण करता है और विषय चित्त में प्रवेश करते हैं, किन्तु वे दोनों विषय और चित्त (परस्पर सश्लिष्ट होते हुए भी) मेरे ही स्वरूपभूत जीव की उपाधि ही है, उसके स्वरूप या स्वभाव नहीं।" ॥२५॥**

तो भी, पुत्रो, तुम्हारा यह कहना सच है कि चित्त विषयो की ओर दौडता है, और विषय भी चित्त मे प्रवेश करते हैं। मन खाने को ललचाता है, अच्छे नाटक खेल (सिनेमा) देखने को चलता है और ये भी चीजें मन को अनुरजित करके उसमे अपने लिए प्रीति का स्थान पैदा कर लेती हैं। इस तरह ये विषय और चित्त दोनो एक-दूसरे से मिले रहते हैं, एक-दूसरे मे उलझे रहते हैं। परन्तु यह मेरा अर्थात् आत्मा का स्वरूप नही है, उपाधि मात्र हैं। अन्तरग नही, ऊपरी आगन्तुक

धर्म-मात्र है। जो वस्तु तीनो काल मे टिक रहती है व एक-रूप रहती है वही आत्मा का स्वरूप या स्वभाव कहा जा सकता है। और वह सत्-चित्-आनन्द के सिवा दूसरा नही है। मन और विषय अर्थात् ससारी पदार्थ सब मेरे शुद्ध रूप मे उसके उपाधि होने से, मिश्रण होने से देश-काल आदि की सीमा मे सीमित होने से बन गये है। आत्मा जब देश की सीमा से घिरा तो ब्रह्माण्ड, ओंकार या इस विश्व के रूप मे दिखाई दिया। जब काल से सीमित हुआ तो आज है, कल नही है, ये अवस्थाए भूत, भविष्य, वर्तमान, बचपन, जवानी, बुढापा, सुबह, शाम, रात आदि दीखने लगे। इसीसे ससार मे विविध आकृतिया—नाम—रूप—शरीर, तुम—मै, पेड—पौधे—लता, पशु, मिट्टी—सोना, बादल, तारे, चाद—सूरज दिखाई देते है।

**"विषयों का पुनः-पुनः सेवन करने से चित्त उनसे आविष्ट हो जाता है और फिर वासनारूप से चित्त ही से उनकी अभिव्यक्ति होती रहती है, इसलिए अपने शुद्धस्वरूप को मेरा ही रूप जानकर चित्त और विषयरूप दोनो उपाधियो को त्याग देना चाहिए।" ॥२६॥**

फिर जब चित्त बार-बार विषय-सेवन करने लगता है, मन से विषयो का ध्यान व शरीर से उनका भोग करता रहता है, तो फिर चित्त विषयमय बन जाता है। इसीको वासना कहते हैं। अब वे कोरे विषय नही रह गये। वासना बन गये। उनकी जड गहरी बैठ गई। चित्त मे उनके लिए अब आसक्ति हो गई। वे न मिले तो चित्त छटपटाता है, तरह-तरह की उधेड़बुन व कवाडे मे लग जाता है। उसकी प्राप्ति के लिए न जाने क्या-क्या और पाप करता है। शराबियो, जुआरियो व कामी पुरुषो की चेष्टाओ व करतूतो से इसका अनुमान लगा सकते हो। अत मनुष्य को चाहिए कि वह मेरे शुद्ध स्वरूप को पहचानने, मन विषयो की असलियत व परस्पर आकर्षण को भी समझ ले व उससे सावधान रहे। विषयो से दूर रहे, मन को काबू मे रखे व मेरे आत्म-स्वरूप मे उसे सदा लगाये रहे।

**"जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये गुणवैषम्य के कारण हुई बुद्धि की वृत्तिया हैं, इनके साक्षी रूप से निश्चय किया हुआ जीव तो इनसे भिन्न ही है।" ॥२७॥**

जैसे चित्त और विषय जीव की उपाधिया हैं वैसे ही जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति ये बुद्धि की वृत्तिया हैं, जो तीन गुणो की घटाबढी से बनती-बिगडती रहती हैं। भिन्न-भिन्न गुण जब बुद्धि पर प्रभाव डालते है तब भिन्न-भिन्न वृत्तियां बुद्धि

मे उदय होती है। जिस अवस्था मे मन, शरीर व उसकी सब इन्द्रिया काम करती रहती हैं उसे जाग्रत् अवस्था या जागृति कहते हैं। जिसमे शरीर व इन्द्रिया शान्त रहती हैं, केवल मन काम करता रहता है उसे स्वप्न व जब मन भी शान्त हो जाता है, उसे सुषुप्ति कहते है। गहरी नीद की अवस्था ही सुषुप्ति है। ये तीनो अवस्थाए बुद्धि को प्राप्त होती हैं, जीव को नही। सुषुप्ति मे जब मन-बुद्धि सो जाती हैं तब भी जीव अर्थात् आत्मा, जीवात्मा या प्रत्यगात्मा तो जागता ही रहता है। उसका अनुभव हमे तब होता है जब हम गहरी नीद से जग जाते हैं और यह याद आता है कि आज तो खूब सोये। यह जीव ही है जो उस समय भी जगकर हमारी सुषुप्ति अवस्था को देखता रहता है और जगने पर हमे उस अवस्था की याद दिलाता है। इसीलिए इसे साक्षी कहते हैं। जागृति व स्वप्न मे वह सबकुछ जानता रहता है, बुद्धि के द्वारा वही इन अवस्थाओ का भोग करता है, इसका हमे नित्य प्रत्यक्ष अनुभव होता है। परन्तु सुपुप्ति के सम्बन्ध मे अक्सर शका उठती है, अत उसका समाधान करना जरूरी था। इसका अर्थ यह हुआ कि यह जो हमे अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का भान होता है यह है तो हमारे मन या बुद्धि की उपज, जो कि प्रकृति के कार्य या परिणाम है, परन्तु इनका जो भोग करता है, इनका जो आनन्द लूटता है, वह वास्तव मे जीव है। जीव इनका साक्षी या द्रष्टा या केवल देखनेवाला बनकर इनका भोग करता है। अत तुम यह अच्छी तरह समझ रखो कि ये तीनो अवस्थाए बुद्धि से सम्बन्ध रखती है, जीव से नही, जीव इन अवस्थाओ से पृथक् स्वतन्त्र, भिन्न है और इनमे लिप्त नही, बल्कि इनका साक्षी है। जीव का यही शुद्धस्वरूप व वास्तविक स्थिति है। लेकिन जब जीव भुलावे मे पडकर मन-बुद्धि की जगह ले लेता है, इन अवस्थाओ मे मन-बुद्धि की तरह लिप्त हो जाता है, तो इनके सुख-दु ख का भागी बनकर पामर हो जाता है। राजा जब सब काम अपने मन्त्री, सेनापति, भण्डारी, खजाची आदि को बाटकर स्वय केवल निरीक्षक की हैसियत रख लेता है तो वह जीव की तरह केवल साक्षी या द्रष्टा समझा जा सकता है। पर वह जब इनके कामो मे खुद लिप्त हो जाता है, मन्त्री, सेनापति आदि के कामो मे सीधा दखल देने लगता है तो वह उनकी जिम्मेदारियो, त्रुटियो, भलाई-बुराइयो व इसलिए उनके सुख-दु खो से भी बरी नहीं रह सकता। अत जीव की इस स्वतन्त्र, अलिप्त, सत्ता को हमे सर्वदा याद रखना चाहिए।

"जीव को गुणवृत्ति प्रदान करनेवाला जो यह संसारबन्धन है, उसे साक्षीरूप मुझ तुरीय में स्थित होकर त्याग दे। इससे चित्त और गुणों के परस्पर सम्बन्ध का त्याग हो जायगा।" ॥२८॥

अब तुम यह समझ गये होगे कि गुण और उनकी वृत्तिया अर्थात् विविध अवस्थाए, ये मन-बुद्धि के या यो कहे कि प्रकृति के धर्म है, जीवात्मा अर्थात् पुरुष के नही। इस ससार-बन्धन मे पडने से अर्थात् विषय-भोग मे लिप्त होने से, देह का व कर्त्तापन का अभिमान रखने से, मन-बुद्धि मैं हू, ऐसी भावना कर लेने से, जीव स्वत इन गुणो व वृत्तियो मे आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। इस स्थिति से निवृत्त होना चाहिए। जीव की जो सर्वदा साक्षी-रूप स्थिति है उसीको तुरीय अवस्था कहते है। अर्थात् ऐसी अवस्था तो तब आती है जब मन-बुद्धि भी सो जाते है; परन्तु जीवात्मा नही सोता, जागता ही रहता है। ससार की स्थिति मे ऐसी किसी अवस्था की कल्पना नही की जा सकती जब यह जीव सचमुच सोता हो। बिजली को, सूर्य को कभी कोई सोता हुआ कह सकता है ? वह सिर्फ गुप्त या प्रकट, दृश्य या अदृश्य, होते है। वे सर्वदा जाग्रत रहते हैं। यही दशा तुरीय कहलाती है। जीवात्मा की या मेरी यही सहज स्वाभाविक स्थिति है। मनुष्य को चाहिए कि वह मेरी इस स्थिति मे अपनेको स्थित कर दे तो फिर यह संसार-बन्धन उसके लिए कुछ न रह जायगा। वह केवल साक्षी या द्रष्टा रहकर ससार के सब उतार-चढावो को देखता रहे। जैसे नाटक मे नट की दो स्थितिया होती है। एक तो नट की, जब कि वह भिन्न-भिन्न भूमिकाओ को लेकर तदनुकूल अभिनय करता है, कभी राजा बना, तो कभी सेवक, कभी राक्षस बना तो कभी साधु, कभी स्त्री बना तो कभी पुरुष—इन सब भूमिकाओ मे वह सच्चे आदमी की तरह अपना करतब दिखाता है, प्रेक्षक भूल जाते है कि यह नट है, एक ही आदमी अनेक रूपो मे अपनी कला दिखा रहा है। परन्तु इन सब भूमिकाओ व अभिनयो के बावजूद नट-नटी अपने दिल मे कभी इस बात को नही भूलते कि असल मे हम कुछ और है। यह विभिन्नता तो केवल हमारी नट-लीला है। इसी तरह जीव इस संसार को एक रगशाला समझकर अपनेको एक नट या खिलाडी की स्थिति मे रखता रहे, और सदा-सर्वदा अपने असली-रूप को याद रखता रहे, तो जैसे नट प्रेक्षक-मण्डली के सुख-दुःखो से या अपनी भिन्न-भिन्न भूमिकाओ, अभिनयो, लीलाओ से प्रभावित नही होता, क्षणभर के लिए हुआ भी तो लिप्त नही होता, वैसे वह भी ससार-बन्धन

से, इसके सुख-दु खो आदि द्वन्द्वो से परे व सुखी रह सकता है। इस तरकीब से, गुणो व चित्त मे जो शृखला दृढ हो गई है, वह टूट जायगी। दोनो को एक-दूसरे का जो चस्का लग गया है वह जाता रहेगा, अब केवल स्वाभाविक सहज सम्बन्ध बना रहेगा। काम-पुरता, न कि भोग या आनन्द या तृप्ति के लिए, चित्त विषयो मे लगेगा। और विषय भी उतने ही पुरते चित्त मे ठहर पावेगे। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए वह आवश्यक व उचित भोजन करेगा, बढिया स्वाद के लिए नही। कुटुम्बियो, इष्ट-मित्रो, समाज व देश के लोगो के सम्पर्क मे वह आवेगा, उनसे काम लेगा व उन्हें काम देगा तो कर्त्तव्य-दृष्टि से, न कि लोभ, मोह, आसक्ति, विषय-भोग, आमोद-प्रमोद के लिए। राग-रग, खेल-तमाशे, विनोद मे सम्मिलित होगा तो केवल अपने या दूसरो के सात्विक मनोरजन के लिए, न कि इन्द्रिय-तृप्ति के लिए।

**"इस अहकारजनित बन्धन को आत्मा के लिए अनर्थ का हेतु जाननेवाले विज्ञपुरुष को चाहिए कि उसकी ओर से उपरत होकर मुझ तुरीयरूप आत्मा में स्थित हो सासारिक चिन्ता को छोड दे"** ॥२९॥

जब जीव इस देह, इन्द्रियो या या मन-बुद्धि को अपना मानने लगता है, व इनके कार्यों मे कर्त्तापन की जिम्मेदारी अपनी मानने लगता है तो इसीको अहकार या देहाभिमान कहते हैं। जबतक जीवात्मा अपनी दृष्टि परमात्मा की ओर लगाये रहता है, तबतक यह अहकार नाम-मात्र का रहता है, जीवात्मा व परमात्मा के दो अस्तित्व-जैसे हो जाने पर भी उनके अन्तरग मे फर्क नही होता, जीव ससार मे बद्ध व आसक्त नही होता, क्योकि सदा-सर्वदा उसे यह जागृति रहती है कि मैं आत्मा ब्रह्म हू, परन्तु ज्योही किसी कारण से उसकी दृष्टि परमात्मा या पर-ब्रह्म से हटकर ससार, देह की ओर लगी अर्थात् वह ससार व देह-गेह मे आसक्त होने लगा, परमात्मा को भूलने लगा, तो यह अहकार अपना जोर जमाने लगा, अब वह परमात्मा से रही-सही एकता का भाव भी तोड देता है। जब परमात्मा से एकता टूटती है, जगत् मे भेद-दृष्टि बढ जाती है, जगत् की विविधता सच्ची मालूम होने लगती है और जीव की बुद्धि, विचार, आचार सबमे भेद-बुद्धि की प्रधानता हो जाती है। जबतक परमात्मा से एकता रहती है तबतक ससार की अनेकता, अनेकरूपता, मे भीतरी एकता दीखती रहती है, जिससे बुद्धि, विचार व आचार उसी ऐक्यभावना से प्रभावित रहते हैं। जब भेद-बुद्धि आ गई व बढ गई

तो रागद्वेष आदि विकार अपना प्रभाव जमाने लगे, और मनुष्य न जाने कबतक के लिए इस ससार-भवर मे पड गया। अत विप्रो, तुम अहकार को ही सब बन्धनो का मूल और आत्मा के लिए अनर्थ का हेतु समझो। जबतक शरीर है, चाहे स्थूल, चाहे सूक्ष्म तबतक यह अहकार-रूपी सर्प मर तो नही सकता, परन्तु बुद्धिमान् व सुख-स्वतन्त्रता के उत्सुक व्यक्ति को चाहिए कि इसके विषदन्त जरूर तोड डाले। इसका सरल उपाय यही है कि मनुष्य मुझ तुरीय-रूपी परमात्मा मे अपने को स्थित कर दे अर्थात् आत्मा-परमात्मा का ऐक्य फिर से साध ले व जगत् के प्रति मोह, सुख, आनन्द-भोग की दृष्टि न रखते हुए केवल कर्त्तव्य-दृष्टि रखे, इससे वह निरर्थक चिन्ताओ व झझटो से छूट जायगा और ससार की आवश्यक सेवा भी उसके हाथ से होता रहेगी तथा ससार से उचित व स्वाभाविक सुख-शान्ति भी उसे मिलती रहेगी। विषय-भोग या ससार की आसक्ति से मन हटा लेने से यह डरने की जरूरत नही है कि मनुष्य का सुख, आनन्द, तृप्ति, छिन जायगी व अभाव, दु.ख, अकेलापन, उसके पल्ले पड जायगा, बल्कि अब उसे शराब की जगह दूध, वेश्या या कुलटा या विलासिनी की जगह धर्म-पत्नी, स्वार्थी इष्ट-मित्रो व कुटुम्बियो की जगह सच्चे हितैषी व मित्र, विरोध या बनावटी आदर की जगह सच्चा स्वाभाविक स्वागत, मिलेगा। अबतक उसके सुख, आनन्द, तृप्ति मे जो मलिनता थी वह निकल गई। बरसात का गदला पानी शुद्ध होकर अब पवित्र गगा की धारा की तरह निर्मल होकर उसके शरीर व मन को स्वस्थ व प्रफुल्लित करता रहेगा। इस सुख, आनन्द, तृप्ति, निश्चिन्तता, निर्भयता, नि शकता, सन्तोष, शान्ति का सम्बन्ध उसके शरीर व इन्द्रियो से न रहेगा, केवल बुद्धि ही उसे सीधा ग्रहण करके जीव को पहुचा दिया करेगी। मन-बुद्धि भी उस समय जीवात्मा के कोरे माध्यम का काम करेगे, अपना रग उसपर न जमा सकेंगे।

**"जबतक युक्तियो के द्वारा पुरुष की भेद-बुद्धि निवृत्त नहीं होती तबतक वह मूर्ख जागता हुआ भी सोते के ही समान है, जिस प्रकार कि स्वप्नावस्था मे भी (विषयो का अनुभव होने के कारण) जागरण का भ्रम होता है।" ॥३०॥**

विप्रो, जबतक मनुष्य युक्तियो से, जैसी कि मैंने ऊपर बताई है, यह भेद-बुद्धि जिसका मूल अहकार है, मिटा नही देता, तबतक उसे मूर्ख ही समझो। जागता हुआ भी वह सोते के ही समान है। विद्वान्, शास्त्रज्ञ, योग-साधक, जिज्ञासु, श्रेयार्थी, भक्त, समाज-सेवक, देश-प्रेमी, विश्वहितैषी, होते हुए भी उसे मूर्ख, गुम-

राह, समझो, क्योकि इससे वह नित्य नये अनर्थो का ही कारण होता है। सपने मे जैसे मनुष्य वास्तव मे सोया होता है, पर वह समझता है कि मैं तो जाग रहा हू, वैसी ही दशा इन लोगो की समझो। विद्वत्ता आदि जो ऊपर गिनाये हैं, इनकी परीक्षा या कसौटी ही यह है कि भेद-बुद्धि मिटी या नही। ससार के प्रति एकात्म-भावना से वे प्रेरित हो रहे हैं, या 'मेरा-तेरा', 'मैं-तू', 'अपना-पराया', 'यह-वह' इसी भाषा मे सदा सोचते रहते हैं। भेद तो ससार मे अनन्त हैं। व्यक्ति, कुटुम्ब, जाति, समाज, देश, अवस्था, स्थिति, रूप, रग, आकार, प्रकार के अनन्त भेदो के इस समूह का नाम ही जगत् है। फिर ये भेद नित्य नये बनते-बिगडते भी रहते हैं। मनुष्य कहा-कहातक इनका हिसाब अपने कार्य-क्रमो व योजनाओ मे लगावेगा। इनको प्रधानता देने से तो वह किसी भी एक केन्द्र मे स्थिर नही हो सकेगा। एक पागल की-सी उसकी दशा समझो। अत इस सारे भेद व विविधता के मूल मे जो एकता-रूपी सत्य या परमेश्वर है, उसीको वह अपना केन्द्र बना ले तो बाहरी अनेकताओ व भेदो का सामजस्य उसके विचारो व कृतियो मे अपने-आप होता चला जायगा। कोई स्त्री सामने आवेगी तो उसके बारे मे वह अपने को 'पुरुष' मानकर विचार नही करेगा—यह तो भेद-दृष्टि हो गई। इससे उसके मन मे विकार पैदा हो सकता है। तो वह अपनेको स्त्री मानकर उसे देखेगा व उसके प्रश्न पर विचार करेगा। यही उसकी आन्तरिक एकता का सबूत होगा। कोई दीन-हीन गरीब किसान-मजदूर आगया, पीडित, दुखी, रोगी, आगया तो वह अपनेको दीन-हीन, रोगी आदि महसूस करने लगेगा और उस भावना से उसकी समस्या को देखेगा व सुलझावेगा। राजा, सेनापति, राष्ट्रपति, सैनिक, जो भी सामने आवेगा, उसीके कार्यक्षेत्र मे आ जायगा, उसके प्रति ऐसा ही समभाव उसमे दिखाई देगा। एक मुसलमान या हब्शी की कठिनाई है तो वह अपनेको मुसलमान व हब्शी मानकर उसपर ध्यान देगा।

इस पद्धति से सामनेवाले की समस्या या कष्ट या अभाव को मनुष्य जल्दी ग्रहण भी कर लेता है और उसके सही हल तक शीघ्र पहुच भी जाता है। व्यक्ति भी तुरन्त राहत अनुभव करता है। अपने मन मे वह भी इस एकता की भावना से प्रभावित होने लगता है और उसके हृदय के ऐक्य तन्तु झनझना उठते हैं। 'प्रथम दृष्टि मे ही प्रेम' वाली कहावत ऐसी ही जगह चरितार्थ होती है।

यह एकता की बुद्धि, भावना, या वृत्ति हुई। इसमे सिर्फ अपने-आपको ही

साधना पड़ता है, व दुनिया अपने-आप सध जाती है। लेकिन ऊधो, भेद-दृष्टि, बहिर्मुखी, या ससाराभिमानी मनुष्यो की पद्धति इससे उलटी होती है। वे बाहरी भेदो को पकडकर उनके सहारे प्रत्येक समस्या को हल करना चाहते है। इससे उनका हल करना तो दूर, उनकी गिनती करना भी उनके सामर्थ्य के बाहर हो जाता है। परन्तु सूर्य-प्रकाश की तरह उज्ज्वल यह सत्य उन्हे दिखाई नही देता। इसीलिए मैंने उन्हे जगते हुए भी सोता रहनेवाला मूर्ख कहा है।

**"क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों का अत्यन्त अभाव है, इसलिए आत्ममाया से प्रतीत होनेवाले भेद (देहादि), उनकी गतियां (स्वर्गादि) और हेतु (कर्म) स्वप्नद्रष्टा के स्वप्न-प्रपच के समान मिथ्या है।" ॥३१॥**

सच तो यह है कि यह सारा विश्व (दृश्य) प्रपच ही स्वप्न की तरह मिथ्या है। इस ससार मे सत्य पदार्थ जो कुछ है सो आत्मा ही है। व्यक्ति मे स्पष्ट और वस्तु मे अदृश्य चेतना-रूप से वही निवास करता है और विश्व मे भी चैतन्य-रूप से वही व्याप्त है। एक ही परमात्म-तत्त्व का दृश्य या प्रकट रूप यह सारा विश्व है। अत आत्मा के सिवा और सब वस्तुए नही ही समझनी चाहिए। इस जगत् को परमात्मा का एक स्वप्न ही समझो या मन के मनोरथ ही मान लो न। देह आदि या उनकी गतिया जैसे स्वर्ग, नरक, आदि और उनके हेतु या कारण अर्थात् कर्म ये सब आत्मा की दृष्टि से मिथ्या ही हैं। वस्तु-तत्त्व एक है, ये भेद परमात्मा की माया से दिखाई देते हैं। जैसे जल मे प्रतिबिम्ब, समुद्र मे लहरे, मनुष्य आदि की छाया। अथवा माला या रस्सी मे सांप का या सीप मे चादी का आभास। देखो, पेड़ से उसकी डालिया, फूल-फल, अलहदा नही गिने जा सकते। उसी तरह शरीर से उसकी इन्द्रिया भिन्न नही हैं। दोनो वास्तव मे एक ही है। इसी तरह यह जगत् प्रपच परमात्मा के अवयव-रूप समझो। उससे भिन्न या पृथक् इनकी सत्ता नही है। यह देह खुद भी शरीर-रूप मे प्रकृति का, व जीव-रूप मे परमात्मा का अश लेकर बना है व प्रकृति खुद परमात्मा का अक्षर-रूप है, कार्यकारिणी शक्ति है, ऐसी दशा मे सारा देह परमात्मा से अलग नही हो सकता। जब देह उससे भिन्न नही तो उनकी गतिया और कर्म उनसे जुदा कैसे हो सकते है? ये जो जुदा दीखते हैं, यही हमारी दृष्टि या मन का भ्रम है, बाहरी दृष्टि से यह सब अलग-अलग दिखाई देते हैं। भीतरी दृष्टि से सब एक अभिन्न हैं। उनकी भिन्नता स्वप्न की विविधता की तरह है।

**"जो जागरण-काल में अपनी समस्त इन्द्रियो से बाह्य क्षणिक पदार्थों को भोगता है, स्वप्न में वैसे ही वासनामय विषयो का हृदय मे अनुभव करता है तथा सुषुप्ति में उनका लय कर देता है, वह आत्मा एक है तथा तीनो अवस्थाओ की स्मृति से यक्त होने के कारण उनका साक्षी और इन्द्रियो का नियामक है।" ॥३२॥**

जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाए शरीर की ऊपर वताई जा चुकी हैं। इनके ऊपर भी चौथी अवस्था (तुरीय) आत्मा की है। जाग्रत् अवस्था मे जो मनुष्य खाता-पीता, चलता-बोलता, देखता-सुनता, आनन्द-विनोद करता है, अर्थात् इन्द्रियो से बाह्य पदार्थों या विषयो को भोगता है, वास्तव मे शरीर नही आत्मा ये सब क्रियाए करता है। आत्मा या जीव मन को प्रेरणा करता है, मन इन्द्रियो को सचालित करके यह काम पूरा करता है। इसी तरह स्वप्न मे भी वह नाना प्रकार के विषयो का आनन्द लेता है, नाना दृश्य देखता है, व उनका रस लेता है। स्वप्न मे जो विषय उपस्थित होते हैं वे प्रत्यक्ष नही होते, वासनामय होते है।

जाग्रत काल मे मनुष्य जो-जो वासनाए करता है वे ही प्रत्यक्ष शरीर-रूप मे स्वप्न मे हाजिर होती रहती है। भले ही जाग्रत् समय की वस्तुए प्रत्यक्ष हो व स्वप्न की अप्रत्यक्ष, कल्पना या वासनामय, परन्तु रस दोनो मे एक-सा होता है, फर्क इतना ही कि प्रत्यक्ष का रस अधिक स्थायी व स्वप्न का स्वप्न रहने तक होता है। किन्तु दोनो अवस्थाओ मे उनका भोक्ता जीव या आत्मा ही रहता है। इसी तरह जब गाढ नीद आ जाती है, सुषुप्ति अवस्था छा जाती है, तब वही आत्मा इन सब विपयो को उसमे लय कर देता है। यह अवस्था भले ही तीन हो, परन्तु इनका भोग करनेवाला आत्मा एक ही है। और इसलिए इन तीनो अवस्थाओ की उसे स्मृति रहती है। यह स्मृति ही इस वात को साबित करती है कि तीनो अवस्थाओ मे जाग्रत् रहनेवाला, उनका साक्षी कोई एक है और वह आत्मा ही है। वही मन के द्वारा सव इन्द्रियो का नियामक, नियम व अनुशासन मे रखनेवाला है।

**"अत विचार के द्वारा ऐसा निश्चय करके मन की ये तीनो अवस्थाए मेरी माया के गुणो द्वारा मुझमे ही कल्पित हैं, अनुमान और आप्तोक्तियो द्वारा तीक्ष्ण किये ज्ञान-रूपी खड्ग से सर्वसशयो के आश्रयरूप अहकार को काटकर अपने हृदय में विराजमान मेरा भजन करो।" ॥३३॥**

अव तुम यह अच्छी तरह समझ गये होगे कि मन की ये तीनो अवस्थाए तीन गुणो के प्रभाव से, जो कि मेरी ही माया से निर्मित हैं, मुझीमे कल्पित की गई हैं।

मुझसे भिन्न या पृथक् तो ससार मे कुछ है ही नही। जो मनुष्य इन अवस्थाओ को अनुभव करता है, वह भी मैं हू, जो जीव-रूप से इन सबको देखता है, इनका साक्षी रहता है, वह भी मैं हू, जिस काल-रूपी पर्दे पर ये अवस्थाए रहती व आती-जाती दीखती हैं वह भी मैं ही हू, इन अवस्थाओ मे जो क्रियाए होती हैं वे भी मेरी ही चेतना-शक्ति के प्रताप मे है। जागृति मे जिन पदार्थों का उपभोग किया जाता है वे भी मै हू। स्वप्न मे जिन वासनाओ का प्रतिबिम्ब देखा जाता है वह भी मैं ही हू, क्योकि वासनाए पिछले कर्म के ही सस्कार-रूप हैं। अत तुम इस प्रकार तर्क व अनुमान से तथा वेद, उपनिषद्, शास्त्रकारो तथा मुझ जैसे आप्तवचनो पर विश्वास रखकर—दोनो तरह से इस निश्चय पर दृढ हो जाओ। तर्क, अनुमान व आप्तवचन से पैनी करके ज्ञान-रूपी तलवार से इस अहकार को—भेद-बुद्धि को—काट डालो, क्योकि यही सब सशयो की जड है। जब इसको मिटा दोगे तो देखोगे कि मैं तुम्हारे हृदय मे सर्वदा विराजमान हू। फिर बस मेरा ही भजन करते रहो। मेरे ही निमित्त जीवन के सब कार्य करते रहो।

**"इस भ्रान्तिरूप जगत् को मन का विलासमात्र, दृश्य, नश्वर और अलात-चक्र के समान अति चचल जानना चाहिए। यह एक ही विज्ञान नाना रूप से भास रहा है, अत गुणो के परिणाम से हुआ यह (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप) तीन प्रकार का विकल्प मायामय स्वप्नरूप ही है।" ॥३४॥**

विप्रो, यह बात फिर याद कर लो कि यह जगत् भ्रान्ति-रूप है। मन का विलास-मात्र है। परमात्मा के सकल्प से इसकी उत्पत्ति हुई है, इसलिए उसके मन का ही यह एक खेल है। जो कुछ यह दिखाई देता है, इसका ऊपरी रूप है, दृश्य रूप है, और इसलिए यह नश्वर है। जैसे आज तुम इस सृष्टि को देखते हो, वैसे ही एक दिन यह प्रलय के गर्भ मे डूब जानेवाली है। ये बाहरी दृश्य—ससार के भिन्न-भिन्न पदार्थ तो तुम नित्य ही बनते-बिगडते देखते हो। यह नित्य का सृष्टि-प्रलय तो तुम्हारे सामने ही होता है। इसे तुम अलात-चक्र की तरह दृष्टि का भ्रम या दोष समझो। एक लकडी के दो सिरो पर कपडे बाधकर जलाओ और उसे जोर से घुमाओ तो एक आग का चक्र बन जाता है। यही अलात-चक्र कहलाता है। यह जितना चचल होता हे उससे भी अधिक चचल, अस्थिर या गति-परिवर्तनशील समझो। वास्तव मे तो यह एक ही विज्ञान है, परन्तु नाना रूप से भास रहा है। इसमे जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-रूपी विकल्प दीख रहा है यह प्रकृति या माया के

तीन गुणो का परिणाम है, सो पहले कहा जा चुका है। अत मायामय होने के कारण इसे स्वप्नरूप ही समझो।

**"इस प्रकार मायिक प्रपच से दृष्टि हटाकर तृष्णारहित, मौन, निजानन्दपूर्ण और निश्चेष्ट हो जाय। फिर यद्यपि (आहारादि के समय) इसकी प्रतीति भी होगी, तथापि अवस्तु समझकर छोडा हुआ होने के कारण यह भ्रम उत्पन्न न कर सकेगा। हा, देहपात-पर्यन्त इसकी प्रतीति तो होती ही रहेगी।" ॥३५॥**

अत तुम इस सामयिक प्रपच से दृष्टि हटा लो, और सब तृष्णाओ को छोड दो। तृष्णा को ज्यो-ज्यो तृप्त करने जाते है त्यो-त्यो वह बढती है, जैसे आग मे घी डालने से आग उल्टा भडकती है। सब तरह से सयम को साधो-बोलो भी काम पुरता ही—बल्कि निश्चित समय तो मौन ही साधे रहो। जब नि स्पृह और ससार के भोगो के विषय मे निश्चेष्ट हो जाओगे तो तुम निजानन्द का अनुभव करने लगोगे। उस समय तुमको अपने-आप प्रतीति होगी कि उस आनन्द के सामने यह विषयानन्द तुच्छ है। एक असली सोना है, व दूसरा नकली, महज मुलम्मा। कई बार मुलम्मे मे चमक ज्यादा होती है, अत सीधे-भोले लोग चक्कर मे आ जाते हैं। इसी तरह जो विषयानन्द मे लीन हो जाते हैं, उन्हे भी एक तरह का गवार ही समझो।

निजानन्द मे, अपने स्वरूप मे, आत्मा मे स्थित होने के बाद, वृत्ति के ब्रह्म-मयी हो जाने के बाद भी, शरीर के रहने तक ससार की व विषयो की प्रतीति होती रहेगी। उनका सम्पर्क तो बना रहेगा, परन्तु अब उससे मन को भ्रान्ति नही होगी, क्योकि सदा यह जागृति रहेगी कि मै ससार, देह, पदार्थ नही, आत्मा हू। देह या जगत् मेरा वास्तविक रूप नही है। मैं तो सच्चिदानन्द-रूप परमात्मा हू।

**"मदिरा से उन्मत्त पुरुष जैसे अपने शरीर पर ओढे वस्त्र के दैववश रहने या गिरने के विषय मे कुछ भी नहीं जानता वैसे ही सिद्ध पुरुष का यह नाशवान् शरीर बैठा हो या खडा हो उसे कुछ पता नहीं होता, क्योकि वह अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर चुका है।" ॥३६॥**

जब मनुष्य इस अवस्था को पहुच जाता है तब वह सिद्ध कहलाता है। जब-तक तीनो गुणो पर उसका प्रभाव नही हुआ है, तबतक साधक व जब इनका स्वामी, नियन्ता हो गया तो सिद्ध कहलाता है। जिसे केवल आत्मा का बौद्धिक ज्ञान है, उसे उसकी प्रतीतिमात्र होती है। जो आत्मा का दर्शन करना चाहता है

व उसके लिए साधना करता है—सात्विक गुणो, दैवी-सम्पत्तियो को प्राप्त करने का उद्योग करता है वह साधक कहलाता है और जब सब इन्द्रियो पर व मन पर भी काबू पा लिया तो वही सिद्ध हो जाता है। एक ही यात्रा के ये तीन पडाव हैं। बहुत-से लोग पुस्तके पढकर, शास्त्रो को रटकर, या समभकर मान लेते हैं कि हम ब्रह्मज्ञानी हो गये। यह उनका भ्रम है। इसी तरह थोडी साधना से जो शक्ति या सिद्धि मिलती है, उसीको पाकर चमत्कार बताते फिरना भी ब्रह्मज्ञान का लक्षण नही है। जो वस्तु तुममे होगी, वह प्रसगानुसार अपने-आप दीखेगी। उसके प्रदर्शन की क्या जरूरत है ? सूर्य के साथ उसका प्रकाश व ताप लगा ही हुआ है, फूल के साथ खुशबू सदैव रहती ही है। ब्रह्मज्ञानी स्वभावानुसार सहज रूप से रहता व व्यवहार करता है। यही सहज-समाधि है। छोटे या बडे काम पर, छोटे या बडे आदमी पर, अच्छी या बुरी अवस्था पर, सुख या दु ख पर, लाभ या हानि पर, भय या शोक पर, निन्दा या स्मृति पर, मान या अपमान पर, यश या अपयश पर, जीवन या मृत्यु पर, स्त्री या पुरुष पर, मनुष्य या पशु पर, कानून व नियम पर, विधान या शास्त्र पर उसकी दृष्टि नही रहती। तुम्हारे अभाव व आवश्यकता पर, दु ख या कठिनाई पर, और उसके अपने कर्त्तव्य पर उसकी दृष्टि रहती है। दूसरी बाते उसके नजदीक गौण हैं। दूसरो का भला करते हुए अपने कर्त्तव्य का सहज-रूप से पालन करते हुए, यदि इनकी अवहेलना भी हो जाय तो इसकी वह परवाह नहीं करता। जान-बूभकर वह इनकी अवगणना नही करता, परन्तु ये भेद उसके जीवन या कार्यों को एक हद से आगे प्रभावित नही करते। यही सिद्ध की सच्ची पहचान है। उसकी परीक्षा किसीके सुख के समय उतनी नही होती, जितनी दुख के समय होती है। सुख मे तो साथी व साभी मिल ही जाते है, इसलिए वह दूसरो के सुख की अवस्था मे अपने-आप उससे सुखी होकर बैठा रहता है। वह यह नही चाहता कि सुख मे कोई उसे याद करे। हा, किसीके दु ख या कष्ट की बात सुनने पर वह अपनी जगह स्थिर नही रह सकता।

अत विप्रो, ऐसा सिद्ध पुरुष इस बात का खास तौर पर ध्यान नही रखता कि मेरे देह-गेह की क्या अवस्था है, आत्म-स्वरूप का ही विशेष व सर्वदा ध्यान रखता है और उसी वृत्ति से ससार मे रहता है। उसकी उपमा एक शराबी से दी जा सकती है। शराब से छका होने पर जैसे उसे बाहरी जगत् का भान नही रहता, अपनी देह, कपडे की भी सुध नही रहती—प्राय ऐसा ही हाल सिद्ध पुरुष का

समझो। इसने ब्रह्मानन्द का प्याला चढाया होता है, अत सर्वदा उसीके नशे मे चूर रहता है। अलबत्ते शराबी की तरह वह पागल होकर प्रलाप नही करता। यदि कभी-कभी ऐसी अवस्था हो भी जाय तो वह स्थायी नही होती। भावातिरेक से ही ऐसा हो सकता है। भाव जब साम्यावस्था मे आ जाता है तब फिर साधारण ससारी आदमी की तरह उसका व्यवहार हो जाता है।

**"जबतक देहारम्भक प्रारब्ध कर्म शेष रहता है तबतक यह देवाधीन शरीर प्राणादिक सहित जीता रहता है। किन्तु समाधि-योग में आरूढ होकर तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर विज्ञ पुरुष फिर प्रपचसहित इस स्वप्नवत् शरीर में आसक्त नहीं होता।" ॥३७॥**

ऐसे सिद्ध पुरुष को ही जीवन-मुक्त कहते हैं। जबतक उसका प्रारब्ध कर्म शेष है तबतक उनको भोगता हुआ वह शरीर मे रहता है, क्योकि ये कर्म ही तो जन्म या देह-धारण के निमित होते हैं, अत देहारम्भक कहलाते है। परन्तु चूकि वह तत्त्वदर्शी है, समाधि के द्वारा उसने आत्मा या तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, वह उसके शरीर के रग-रग मे, मन के एक-एक अणु मे व्याप्त हो गया है, अत भले ही शरीर व प्राण रहे, व वह जगत् के विभिन्न व्यापार भी करे, इस प्रपच या शरीर मे आसक्त नही हो सकता। इसे स्वप्न समझकर इसकी लीला का साक्षी-मात्र बना रहता है।

विप्रो, समाधि मन की एकाग्रता की उस अवस्था का नाम है जहा बाहरी जगत् का उसे अनुभव या ज्ञान नही रहता। जिस बात पर मन लगाया है वह, खुद मन, व मन को लगानेवाला सब एक-दूसरे मे ऐसे तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हे अपनी पृथकता का बोध नही होता। गहरी नींद से इसकी तुलना हो सकती है, परन्तु नीद एक प्रकार की मूर्च्छा है, उसमे मन सो जाता है, समाधि मे आनन्द मीठी नीद जैसा ही आता है, परन्तु मन सो नही जाता, प्रयत्नपूर्वक एकाग्र अवस्था मे रहता है जिससे वह निष्क्रिय, शान्त हो जाता है, या मालूम पडता है। यह आवश्यक नही कि समाधि के लिए किसी विशेष साधन का ही सहारा लिया जाय। किसी भी काम मे जब मन इतना तल्लीन हो जाता है कि पास-पडौस की बातो का खयाल नही रहता तो यह समाधि का ही रूप है।

**"हे ब्राह्मणो, मैंने तुमसे यह जो साख्य और योग का परम गुह्य रहस्य है, कहा। तुम मुझे अपनेको धर्मोपदेश देने के लिए आया साक्षात् यज्ञपुरुष नारायण**

जानो।" ॥३८॥

"हे द्विजश्रेष्ठ, मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत, तेज, श्री, कीर्ति और दम—इन सबकी परम गति (अर्थात् अधिष्ठान) हूं।" ॥३९॥

ब्राह्मणो, तुम्हारे प्रश्न के उत्तर मे मैंने तुम्हे साख्य व योग का सारा रहस्य वता दिया है। अब तुम ऐसा ही समझो कि मैं साक्षात् यज्ञ-पुरुष नारायण ही हू, जो तुम्हे धर्म का उपदेश देने के निमित्त आया हू। साख्य, योग ही नही, वल्कि सत्य, ऋत, तेज, श्री, कीर्ति, और दम आदि सवकी परम गति, अधिष्ठान, मै ही हू। मेरे लिए ही मनुष्य इन सव साधनो का अवलम्वन करते है।

साख्य व योग का मर्म तो मैंने तुम्हे ऊपर वता ही दिया। सत्य आदि का भी संक्षेप मे समझ लो। जो सर्वदा एक-स्थिति मे पाया जाय या रहे वह सत्य है। एक परमात्मा ही ऐसा है। अत उसे 'सत्य' कहते हैं। साधक यदि 'सत्य' को ही परमात्मा मानकर चले तो हर्ज नही है। 'ऋत' सत्य का व्यापक रूप है। 'ऋत' जब किसी केन्द्र मे सिमटने लगता है तो 'सत्य' हो जाता है। जैसे आकाश मे फैली हुई विजली ऋत है, जव वह वादलो मे चमकती है तो 'सत्य' है। मनुष्य उसी अवस्था मे उसे देख सकता है। 'ऋत' भी जब 'सत्य' होता है, प्रकाशित होता है, तभी जाना जाता है। अत. प्रत्यक्ष या प्रकाशित 'ऋत' सत्य है। मनुष्य का काम इसीसे पडता है। जिसके प्रभाव से अन्धकार मिट जाता है, वह 'तेज' है। मनुष्यो मे जो अन्याय, वुराई, या पाप के प्रति अरुचि का, विरोध का, तिरस्कार का भाव पैदा होता है उसे 'तेज' कहते हैं। 'श्री' कहते हैं शोभा, सौन्दर्य, सम्पद्, चमक को। लक्ष्मीजी मे ये सव गुण हैं। अत. उन्हे 'श्री' कहा जाता है। शुभ गुणो व कार्यो के यश-विस्तार को 'कीर्ति' कहते हैं। ससार मे यश व सफलता का फैलना 'कीर्ति' है। इन्द्रियो पर शासन करके या ताडन करके उनपर हावी होना 'दम' कहलाता है।

"समता और असगता आदि सम्पूर्ण गुण अपने परम प्रिय सुहृद् और आत्मा मुझ निर्गुण और निरपेक्ष को ही भजते है। (अर्थात् इन सबका आश्रय भी मैं ही हूं।" ॥४०॥

और देखो, ये जो समता, असगता, आदि दैवीगुण है वे भी मुझीको भजते हैं, मेरे ही आश्रय होकर रहते हैं, मेरे ही लिए भक्त व साधक इनकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। हालाकि मैं खुद निर्गुण हू, निरपेक्ष हू, अर्थात् न तो किसी गुण से वधा हुआ हू, न किसीके आश्रय या अवलम्वन की मुझे जरूरत है, तो भी मैं इन

सब गुणो और उपाधियो को अपने उदर मे लिये रहता हू । मैं इनको अवश्य अपने में रखता हू, इन्हे सचालित भी करता हू, परन्तु ये मुझपर अपनी सत्ता नही चला सकते । जैसे घोडा मालिक के आश्रय मे रहता है, मालिक उसपर सवारी करता है, वह मालिक पर सवारी नही कर सकता । या जैसे प्रकाश सूर्य मे रहता है, परन्तु प्रकाश मे सूर्य नही रहता, सूर्य प्रकाश पर अपनी सत्ता चलाता है, प्रकाश सूर्य पर नही चला सकता ।

**"इस प्रकार मेरे वचन से सन्देह दूर हो जाने पर सनकादि मुनियो ने अति-भक्तिपूर्वक मेरी पूजा कर स्तोत्रो द्वारा मेरी स्तुति की ।" ॥४१॥**

**"इसके उपरान्त मै उन श्रेष्ठ ऋषियो द्वारा भली प्रकार पूजित और स्तुत होकर ब्रह्मादि के देखते देखते (अदृश्य होकर) अपने परम धाम को चला आया।" ॥४२॥**

इस प्रकार जब उनकी शका का समाधान हो गया तो उनसे सत्कृत होकर मैं स्वधाम को चला आया । ऊधो, तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मैंने दे दिया । अब आगे क्या पूछना चाहते हो ?

: १४ :

# भक्ति व ध्यान-योग

[इसमे अनेक मत-मतान्तर क्यो हुए, यह समझाया गया है। इसका कारण स्वभाव, रुचि, सस्कार आदि का वैचित्र्य बताया गया है। फिर कहा है कि भक्ति के द्वारा चित्त-शुद्धि या कामना-नाश होने से भगवान् सरलता से मिल जाते है। इसी तरह भक्ति व कर्म का मेल भी बिठाया गया है। भक्ति का ही दूसरा नाम निष्काम कर्म है। निष्कामकर्मी कामनाओ को छोडकर भगवान् की तरफ जायगा—यही भक्ति है। पाप-पुण्य की व्याख्या की गई है। असत्य व हिंसा पाप है, सत्य व अहिंसात्मक कार्य पुण्य है—यह बताया गया है। पाप का मूल मन मे है, कर्म मे तो वह सिर्फ प्रकट होता है। साम्यभाव व श्रद्धा का भी विवेचन किया गया है। अन्त मे ध्यान-योग की सरल विधि बताई गई है।]

**"उद्धवजी बोले—हे श्रीकृष्णचन्द्र, ब्रह्मवादी महात्मागण श्रेयःसिद्धि के अनेक मार्ग बतलाते है, वे विकल्प से (अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार) सभी श्रेष्ठ है या उन सबमें कोई एक ही प्रधान है?"** ॥१॥

**"भगवन्, आपने तो निरपेक्ष (अहैतुक) भक्तियोग को ही प्रधान बतलाया है, जिसके अनुसार सब ओर से आसक्ति छोड़कर आप ही में मन लगाना चाहिए।"** ॥२॥

यह रहस्य तो मेरी समझ मे आ गया, लेकिन अब श्रेय.सिद्धि के मार्ग के बारे मे पूछना चाहता हू। ब्रह्मवादी महात्मा इसके लिए विविध मार्ग बताते हैं। अब यह समझ मे नही आता कि उनमे सभी श्रेष्ठ है या कोई एक मुख्य है? इधर आपने तो बार-बार भक्ति-योग पर ही जोर दिया है। निरिच्छ व हेतु-रहित होकर, विषय-भोगो से सब आसक्ति हटाकर एक मात्र भगवान् मे ही मन लगाना चाहिए—ऐसा आपका उपदेश है। तो अब इनमे किसे अगीकार करना चाहिए?

**"श्रीभगवान् बोले—काल-क्रम से मेरी यह वेद नामक वाणी प्रलयकाल में**

नष्ट हो गई थी, जिसे इस सर्ग के आरम्भ में मैंने ब्रह्मा को सुनाया था तथा जिसमें मेरे भागवत-धर्म का ही निरूपण है।" ॥३॥

"उस (ब्रह्मा) ने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनु को उसका उपदेश दिया और मनु से भृगु आदि सात ब्रह्मर्षियों ने उसे ग्रहण किया।" ॥४॥

"तदनन्तर अपने पितृगण उन महर्षियो से उनकी सन्तान देव, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किंदेव, किन्नर, नाग, राक्षस और किंपुरुष आदि ने उस वेदविद्या को प्राप्त किया। उनके सत्त्व, रज और तमोगुणजनित स्वभाव अनेक प्रकार के है, जिनके कारण उन प्राणियो मे तथा उनकी बुद्धियो मे भी बहुत भेद हैं। अत अपने-अपने स्वभाव के अनुसार उन सबके भिन्न-भिन्न प्रकार के वचन निकलते है।" ॥५-६-७॥

श्री भगवान् ने कहा, इस मत-विभिन्नता का कारण है। मेरी जो वेदवाणी है, वह तो एक ही है। सर्ग के आरम्भ मे मैंने उसे ब्रह्माजी को सुनाया था। उसमे मैंने भागवत-धर्म का निरूपण किया था। उसे ब्रह्मा ने अपने बडे बेटे स्वायभुव मनु को सुनाया, और मनु से भृगु आदि सात महर्षियो (ब्रह्मा के मानसपुत्र कहे जानेवालो) ने ग्रहण किया, व उनसे उनकी सन्तान देव, दानव आदि ने उस वेद-विद्या को प्राप्त किया। उसके ग्रहण करनेवाले भिन्न-भिन्न स्वभाव के लोग थे। कोई सतोगुणी थे, तो कोई रजोगुणी, व कोई तमोगुणी। इन गुणो के प्रभाव से मनुष्यो के स्वभाव व बुद्धि के अनुसार उन लोगो ने उसी एक विद्या को तरह-तरह से बताया व फैलाया। अनेक मतान्तरो का यही कारण है।

"इस प्रकृति-भेद के कारण ही परम्परा से किन्हीं-किन्हीं मनुष्यो के विचारो में भेद पड जाता है और कोई-कोई तो उनमे वेद-विरुद्ध पाखण्ड-मतावलम्बी भी हो जाते हैं।" ॥८॥

"हे पुरुषश्रेष्ठ, मेरी माया से मोहित बुद्धिवाले लोग अपने-अपने कर्म और रुचि के अनुसार कल्याण-मार्ग का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करते हैं॥" ॥९॥

इनमे कोई तो परम्परा से विभिन्न मतो का पोषण करते है और कोई पाखडी होते है जो नाना कारणो से मतभेद पैदा कर देते हैं और बढा देते हैं। कही मान-सम्मान नही हुआ, बात नही मानी गई, स्वार्थ-सिद्धि नही हुई, तो झट मे अलग होकर एक नया दल, नया मत, नया सम्प्रदाय, नई संस्था, खडी कर दी। और

पुराने का व उनके माननेवालो का खडन ही नही, बुराई भी करने लग गये। सच्चा मत-भेद भी हो सकता है। जैसे ईश्वर, परमात्मा या ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध मे, उसका जगत के साथ व जीव के साथ कैसा सम्बन्ध है, इसके विषय मे, या पुनर्जन्म अथवा मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध मे, अथवा वर्ण-धर्म, समाज-व्यवस्था देश-धर्म आदि के विषय मे। परन्तु सच्चा मत-भेद रखनेवालो व पाखण्डियो मे यह फर्क होता है कि पहली श्रेणी के लोग अपने मत का समर्थन युक्तियो व अनुभव के बल पर करते हैं व दूसरे मतो का खण्डन भी इसी आधार पर करते हैं। विरोधी मत, मत-प्रवतक या मतानुयायियो के प्रति किसी प्रकार का अनादर नही प्रदर्शित करते। उन्हे तुच्छ समझकर व्यवहार नही करते, उनकी निन्दा जगह-जगह नही करते फिरते। खडन एक बात है, निन्दा दूसरी। खण्डन का आधार सत्य (अर्थात् माने हुए ही) पर होता है। निन्दा की उत्पत्ति द्वेष से होती है। एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न लोगो की दृष्टि व अनुभव मे भिन्न-भिन्न प्रकार से आती है। एक इमारत के कई जगह मे कई चित्र (फोटो) लिये जा सकते है। एक ही दृश्य का वर्णन भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न तरह से करते हैं। इसका कारण उनकी दृष्टि, स्वभाव या बुद्धि का भेद ही है। यह स्वाभाविक है और एक हद तक अनिवार्य भी है। परन्तु सच्चे मत-भेद मे परस्पर सहिष्णुता और पाखण्ड मे परस्पर निन्दा की प्रवृत्ति देख पडेगी।

ऊधो, सच पूछो तो ये सब लोग मेरी माया से विमोहित हो गये हैं। तभी तो उनकी बुद्धि एक वस्तु को अनेक रूप मे देखती है। जिनकी जैसी रुचि व कर्म होते हैं, उसी तरह से वे कल्याण-मार्ग का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न तरह से करते हैं।

"कोई धर्म को, कोई यश को, कोई काम को, कोई सत्य और शम-दमादि को, कोई ऐश्वर्य को तथा कोई दान और भोग को ही स्वार्थ (परमार्थ) बतलाते है।" ॥१०॥

"कोई यज्ञ, तप दान, व्रत तथा यम-नियमादि को ही पुरषार्थ बतलाते है। किन्तु इन कर्मो मे जो लोक मिलते है, वे आदि-अन्तवाले, परिणाम में दुःख देनेवाले, अन्ततोगत्वा मोहजनक, तुच्छ आनन्दवाले तथा शोक से व्याप्त है।" ॥११॥

परमस्वार्थ अर्थात् परमार्थ बतलाते हैं। कोई यज्ञ, दान, तप, व्रत तथा यम-नियमादि को ही पुरुषार्थ बतलाते हैं। 'पिण्डे-पिण्डे मतिर्भिन्ना' वाला हाल हो गया है। परन्तु ऊधो, मेरी राय यह है कि इन कर्मों से जो लोक मिलते हैं, जो उच्च स्थिति प्राप्त होती है, वह थोडे ही दिन के लिए होती है। एक समय से शुरू होकर दूसरे समय में खतम हो जाती है। इसीलिए उन्हें 'आदि-अन्तवाला' कहा जाता है। फिर इतना ही नही, परिणाम मे वे दु खद भी होती हैं, क्योंकि वे सब भोग-प्रधान हैं। वासना के अधीन होकर या कामना से जो भी शुभ कर्म करोगे, उसका वही फल पाओगे, जिसकी कामना या वासना मन मे रही है। काशी के लिए यहा से चलोगे तो अन्त-पन्त काशी ही पहुचोगे। स्वर्लोक, महर्लोक आदि जो ऊपर के लोक हैं, वे एक से एक उच्च स्थितियो या पडाओ के नाम हैं। इसी तरह अतल, वितल, सुतल आदि नीचे की स्थितियो के। शुभ कर्म से उच्च व अशुभ से नीच स्थिति प्राप्त होती है। इसीको स्वर्ग व नरक की भाषा मे याज्ञिक और पौराणिक लोग बताते हैं। पुण्य का फल स्वर्ग व पाप का नरक कहा जाता है, उसका मर्म यही है। पुण्य से ऊची स्थितिया मिलती हैं। इन स्थितियो या लोको मे प्राणी तभी तक रह पाता है जबतक कि उनके पुण्य या पाप का फल वे भोग नही लेते। पीछे इन स्थितियो या लोको मे उन्होने जैसा आचरण रखा है, जैसे कर्मादि जिस भावना से किये हैं, उनके अनुसार उन्हें अगली स्थिति मिलती है। इन लोको मे आने के पहले के जो कर्म फल बाकी हैं, वे तो हैं ही, उनमे इन लोको के कर्म-फल और जुडते हैं। इस तरह कामना-वासना-युक्त कर्मों का यह ताता खतम ही नही होता।

इसीलिए निष्काम कर्म का मार्ग बताया गया है। जो कर्म बिना किसी उद्देश के केवल परमात्मा के लिए किये जाते हैं, उनसे भोग या ऐश्वर्यवाली ये गतिया नही प्राप्त होती। बल्कि मनुष्य के चित्त पर उनका प्रभाव पडता है। वे चित्त के मलो को, कामना-वासना, राग-द्वेष, अभिमान-क्रोध, लोभ-मत्सर आदि विकारो को धोने का काम करते है। कोई भी कर्म करो, उससे एक शक्ति अवश्य उत्पन्न होती है। भले ही वह कर्म शारीरिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो। उसका जो असर खुद पर, दूसरो पर या वातावरण मे होता है, वह उसकी शक्ति ही है। तुमने किसीको गाली दी या किसीकी स्तुति की, इसके भिन्न-भिन्न असर तुमपर, जिसको तुमने गाली दी या जिसकी तारीफ की उसपर तथा आस-पास से लोगो या वायुमण्डल पर भिन्न-भिन्न तरह से हुआ। गाली देने से तुम्हारे मन को तत्काल

एक प्रकार का सतोष हुआ। सामनेवाले को लज्जित करने, दूसरो की दृष्टि मे गिराने या उसके किसी कार्य का वदला निकालने की तुम्हारी इच्छा परिपूर्ण हुई। उससे तुम्हे थोडी देर के लिए कुछ सुख मिला। यदि जान-बूझकर तुमने गाली दी है तब तो शुरू मे कुछ सुख मिलेगा, परन्तु यदि गुस्से मे हठात् मुह से निकल गई है तो उसी समय दु ख या अनुताप होने लगेगा। जान-बूझकर देने की अवस्था मे भी कुछ समय के वाद मन पर उसकी दूसरी प्रतिक्रिया होगी। जब दूसरे लोग आकर उलहना देगे या खुद वही और जोर का विरोध या प्रतिकार करेगा तब पश्चात्ताप की क्रिया मन मे उत्पन्न होगी या और भी विरोध की भावना प्रबल हो सकती है। जैसे तुम्हारे मन की बनावट होगी, उसके अनुसार असर तुम्हारे मन पर होगा। सामनेवाले व आस-पासवालो पर भी उनकी मनोरचना के अनुसार असर पडेगा। यही हाल 'स्तुति' की हालत मे भी होगा। यदि इस कर्म मे तुम्हारी फलासक्ति है, अर्थात् कामना या वासना है तब तो तुम उस फल या अपने हेतु की पूर्ति के लिए, उसी दृष्टि से बराबर प्रयत्न या कर्म करते रहोगे। तुम्हारे कर्म या प्रतिकर्म सब उसी दिशा मे एक-दूसरे पर अपनी प्रतिक्रिया करते चले जायगे व अन्त मे तुम या तो उसमे सफल होगे या विफल। यदि सफलता के लिए आवश्यक, गुण, शक्ति, साधन, परिस्थिति तुम्हारे अनुकूल होगी तो सफलता, नही तो विफलता मिलेगी। सफलता से तुम्हारा मद, अभिमानलोलुपता बढेगी। विफलता से ईर्ष्या, प्रतिहिसा, या निराशा, उत्साह-हीनता, अकर्मण्यता आवेगी, व इनके प्रभावो से युक्त होकर तुम फिर किसी कुकर्म या सुकर्म में प्रवृत्त होगे। इसके विपरीत यदि कर्म केवल ईश्वर-प्रीत्यर्थ किये जाय, निष्काम भाव से, स्वार्थ-रहित होकर किये जाय तो उनका प्रभाव ले-देकर हमारे मन पर ही पडता रहेगा। वाहरी जगत् से तो उसका ताल्लुक रहा ही नही अर्थात् तुम इस बात से उदासीन हो कि दूसरो पर उसका भला-बुरा असर होता है, तुम्हारी दृष्टि केवल अपने कर्तव्य-पालन पर है, अपने रास्ते चलते रहने से है। इसका फल यह होगा कि मन सर्वार्थी होने के बजाय एकाग्र, बहुमुखी होने के बजाय एकमुखी, उखाड-पछाड, उतार-चढाव की बजाय शान्ति व समता में प्रवृत्त होगा। इसी क्रिया या परिणाम का नाम चित्त-शुद्धि है। इससे सन्तोष, समाधान, स्थायी आनन्द प्राप्त होता है, जो मुक्ति की मजिल ही है।

इसके विपरीत, जैसा कि ऊपर कह चुका हू, पूर्वोक्त कर्म दु खप्रद है, उल्टा

मोह मे गिराते हैं, यदि आनन्द या सुख मिला भी तो वह हल्के दरजे का होगा, बल्कि शोक ही, कुल मिलाकर, अधिक रहेगा। और एक जजाल से दूसरे जजाल मे गिरता जायगा।

**"हे सभ्य ! सब ओर से निरपेक्ष होकर मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझ ही में लीन रहनेवाले पुरुष को जो सुख प्राप्त होता है, वह विषयलोलुप व्यक्तियो को कैसे मिल सकता है ?" ॥१२॥**

इसका सार यह निकला कि जो सुख उस पुरुष को प्राप्त होता है, जो सब बातो से मन को हटाकर, किसीसे किसी प्रकार की आशा, अपेक्षा, इच्छा न रखते हुए, मुझमे भी अपना मन लगाता है—अपने निश्चित सात्त्विक ध्येय मे तन्मय हो जाता है—व उसीमे लीन रहता है, उसी निमित्त जीवन के अन्य व्यापार करता है, वह उन व्यक्तियो को कदापि नही मिल सकता, जो भोग-विलास व विषय-भोग के इच्छुक होते है, या उनमे डूबे रहते है। विष खाकर कोई अमृत होना चाहे तो कैसे हो सकता है ? 'बोये बीज बबूर के आम कहा ते होय ?'

**"जो अकिंचन, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि और मेरी प्राप्ति से ही सन्तुष्ट है उसके लिए सब दिशाए सुखमयी ही हैं।" ॥१३॥**

जो अकिंचन है, मेरे सिवा अपने उच्च लक्ष्य या इष्ट के सिवा अपने पास कुछ नही रक्खा है, जो जितेन्द्रिय है, अपनी सब इन्द्रिया जिसके वश मे रहती हैं, जैसे घोडा घुडसवार के वश मे, जिसका मन शात हो गया है, कोई उथल-पुथल, उतार-चढाव, क्षोभ मन मे नही आता—उठता, जो समबुद्धि है, सबमे एक ही जीव या आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करता है, और जिसे मेरे सिवा, अपने निर्दोष इष्ट के सिवा कुछ नही चाहिए, उसके लिए समस्त दिशाए सुखमयी हैं। उसके चारो ओर मगल-ही-मगल है। अमगल भी उसके चरणो मे आकर मगल हो जाता है। असफलता खुद जाकर सफलता को बुला लाती है। शत्रुदल ढीले पडकर पछताने लगते हैं, व उसकी त्रुटियो मे वे गुण व खूबी देखने लग जाते हैं।

**"जिसने अपने चित्त को मुझमें ही लगा दिया है, वह मुझको छोडकर न ब्रह्मपद, न इन्द्रपद, न सार्वभौम राज्य, न समस्त भूमण्डल का आधिपत्य, न योग की सिद्धिया और न मोक्ष की ही कामना करता है।" ॥१४॥**

ऊधो ! तुमको शायद ताज्जुब हो, पर इसमे कोई शक नही कि जिसने अपना चित्त मुझमे लगा रक्खा है, मेरा भक्त जिस भावना से मुझे भजता है, उसी भावना

से यदि कोई अपनेको किसी ऊचे ध्येय मे लगा देता है तो उसे फिर अपने इष्ट के सिवा किसी वस्तु की चाह नही होती। यही उसकी सचाई की परीक्षा है। मै ऐसी परीक्षा सबकी लेता हू, चाहे वे मुझे ईश्वर-रूप मे मानते हो, या शक्ति-रूप मे, या न मानते हो, परन्तु सच्चे त्यागी, लगनवाले सदाचारी हो, उन्हे ब्रह्मपद, इन्द्र-पद, सार्वभौम राज्य, सारे भूमण्डल का आधिपत्य, योग की सब प्रकार की सिद्धिया, देने का लालच देता हू, पर वे उसकी तरफ फूटी आख से भी नही देखते। ध्रुव को मैंने कम नही ललचाया। प्रह्लाद की मैंने कम परीक्षा नही की, किन्तु उन्होने सदा मेरे सिवा किसी वस्तु की चाह नही की। वरदान भी मागा तो दूसरो के लिए, अपने लिए, अहैतुकी भक्ति की विरासत मागी। यहातक कि वह मोक्ष को भी ठुकरा देते है, जिसकी साधना के लिए योगीजन अनेक कठोर साधन करते है, व ज्ञानीजन महा-महा त्याग करते है।

**"( इसलिए ) हे उद्धव! आप ( भक्तलोग ) मुझे जैसे प्रिय है वैसे तो न ब्रह्मा है, न शंकर है, न बलभद्र है, न लक्ष्मी है और न अपना आत्मा ही है।" ॥१५॥**

यही कारण है कि ऊधो, तुम अर्थात् भक्त लोग मुझे जितने प्रिय हो, उतने न ब्रह्मदेव हैं, न शकर है, न बलदाऊ हैं, न लक्ष्मी। शायद तुम्हे भरोसा न हो, पर मैं खुद भी अपनेको उतना प्रिय नही हू, जितने भक्त। एकनिष्ठ व सर्वस्वत्यागी, मुझे प्यारे होते हैं। ससार मे मेरे प्यार की एकमात्र वे ही वस्तु हैं।

**"जो निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर, और समदर्शी मुनि है, उसके पीछे-पीछे तो मैं, इस दृष्टि से कि इसकी चरण-रजसे पवित्र हो जाऊंगा, सदा फिरा करता हूं।" ॥१६॥**

जिसने सब अपेक्षाए छोड दी है, जिसका मन शान्त रहता है, जो किसीसे वैरभाव नही रखता, जो सबको समदृष्टि से देखता है, मैं सर्वदा उसके पीछे-पीछे चलता हू, इसलिए कि उसकी चरण-रज को माथे पर लगाकर खुद पवित्र हो जाऊ। ऐसा बडा दर्जा मेरे भक्तो का है। उसकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक चाह मुझे हो जाना पडता है। वह चलता है तो उसके पाव के नीचे ही मृदुल रेती मैं बन जाता हू, कि कही मेरे भक्त को ककर या काटा न चुभ जाय। उसके मुह से कोई बात निकल जाती है तो मैं खुद उसकी पूर्ति या सिद्धि-रूप बन जाता हू। किसी विधवा को भी वे आशीष दे देते है कि 'पुत्रवती हो' तो उसका पुत्र मुझे होना पड़ता

है। वैसे लक्ष्मी खुद मेरी सेवा करती है, व भक्तो की सेवा के लिए बहुत लालायित रहती है, लेकिन भक्तो की रुचि को देखकर मैं उन्हे रोक देता हू व खुद उनकी सेवा के लिए सर्वदा उनके आस-पास रहता हू। मैं यदि कही कृतार्थ होता हू तो ऐसे साधको-भक्तो की सेवा करके ही।

**"मुझमें अनुरक्त, अकिंचन, शान्त, सर्वभूत-हितकारी और कामनाओ से रहित चित्त महात्मागण जिस आनन्द का अनुभव करते है, केवल निरपेक्षता से ही प्राप्त होनेवाले मेरे उस परमानन्द को और लोग नहीं जानते।" ॥१७॥**

जो मुझमे अनुरक्त हैं, अकिंचन हैं, शान्त और प्राणिमात्र के हित मे सदा लगे रहते हैं, अपने स्वार्थ, सुख, भोग की कोई कामना जिन्होने नही रखी है, वे महात्मा लोग अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करते हैं। वे स्वय ही अपने इस आनन्द व सन्तोष या तृप्ति का वर्णन करते नही अघाते। दूसरे लोग चकित होते हैं व मन मे पूछते होगे कि आखिर ऐसा परमानन्द उन्हे क्यो कर मिलता है ? तो मेरा एक ही उत्तर है—केवल उनकी निरपेक्षता से। "निस्पृहस्य तृण जगत्।"

"भवसागर सब सूख गया है फिकर नही मुझे तरनन की।"

इस भावना या कल्पना मे जो आनन्द या मस्ती है, वह इस भवसागर पर बडे-बडे जहाज बनाकर तैरने या उसे पार करनेवाले मनुष्यो को नही नसीब होती। तुम कहोगे—यह तो अकर्मण्यता हुई। जहाज़ बनाने व खेनेवाले पुरुषार्थी हैं। तो ऊधो, यह ऊपरी दृष्टि से ही सही है। कामनाओ की पूर्ति के लिए जितना पुरुषार्थ करना पडता है, उससे अधिक पुरुषार्थ उनको निर्मूल करने मे लगाना पडता है। ज़रा इसका प्रयत्न कर देखो तो फौरन इसकी सचाई तुम्हे जच जायगी। दूसरो के साथ लडना आसान है, अपने साथ लडना महा कठिन है। समुद्र पर एक जहाज़ तैरा देना आसान है, पर सारे समुद्र को सुखा देने की कल्पना तो ज़रा मन मे कर देखो। कितना धैर्य, कितनी एकाग्रता, कितना परिश्रम, कितना समय, कितना उद्योग लगेगा ?

**"(यह तो मेरे उत्तम भक्तो की बात हुई) मेरा अजितेन्द्रिय भक्त भी विषयो से बाधित होने पर प्राय अपनी प्रौढ़ा भक्ति के प्रभाव से उन विषयो के वशीभूत नहीं होता।" ॥१८॥**

यह तो मैंने अपने उत्तम भक्तो का हाल तुम्हे सुनाया। लेकिन ऐसे भक्त भी होते हैं जो विषय-वासना से छूट नही पाये हैं। उनमे फसे रहने पर भी यदि वे मेरी

भक्ति दृढता के साथ करते रहते हैं, अपने अगीकृत सेवा-कार्य मे लगन से जुटे ही रहते है, तो धीरे-धीरे वे उनसे छुटकारा पा जाते है। क्योकि मन का यह धर्म ही है कि वह जब सचाई के साथ किसी एक बात मे लग जाता है तो और बातो की तरफ से ध्यान अपने-आप हट जाता है। जैसे जब बच्चा बीमार हो तो मा दुनिया भर के काम करेगी, पर मन बच्चे के पास ही सदैव रहता है, रात मे सोते हुए भी बच्चे का ख्याल नही भूलती।

ऊधो, यह भक्ति-मार्ग सब लोगो के लिए है, इसका मूल तत्त्व है सचाई के साथ किसी भी एक अच्छे काम मे लग जाना, व लगे ही रहना। यहातक कि उसी के पीछे दीवाने हो जाना, सर्वस्व छोड देना। मैं सब अच्छे कामो का प्रतिनिधि हूं, या यो कहो कि सब शुभ कर्मों का उदय मुझसे ही होता है, अत मैं यह कहा करता हू कि सबकुछ मुझे ही अर्पण कर दो, मुझमे मन लगा दो, मेरी शरण आकर निर्भय हो जाओ, मैं तुम्हारा बेडा पार कर दूगा, आदि। परन्तु जिनकी बुद्धि मेरे इस स्वरूप या व्यक्तित्व को ग्रहण नही करती या नही कर सकती, उन्हे मेरी यह भाषा चक्कर मे डाल देती है। भाषा तो मुझे सामनेवाले के अधिकार को देखकर अलग-अलग ही बोलनी पडेगी, पर बुद्धिमान् मनुष्य को उसमे से मेरा आशय ग्रहण कर लेना चाहिए। भक्ति-मार्ग ससार के दु खो से छूटने का सरल उपाय है। जो दुःख का अनुभव नही करता उसके लिए यह बेकार है। जो दु खी है, उससे मैं कहना चाहता हू कि दु ख का मूल आसक्ति है, मोह है। मनुष्य जब ससार मे पैदा हुआ है, व रहने ही वाला है तब वह उससे बाहर तो कही नही जा सकता, उसके सब कामों मे थोडा-बहुत उसे पडना ही पडेगा, उसकी सब इन्द्रिया व मन अपना काम करेंगे ही। इस आवश्यकता को स्वीकार करके ही मैंने उन्हे उसके दु खो से छूटने का उपाय बताया है। कर्म छोड देने का उपदेश बहुत थोडे लोगो को ही हज़म हो सकता है। पहले ऐसा ही समझा जाता था कि कर्मो से सुख-दु ख पैदा होते हैं। अत. कर्मों को ही छोड देना चाहिए। किन्तु सूक्ष्म अवलोकन व विचार करके तथा अनुभव करके देख लिया है कि सभी कर्म दु.ख नही उपजाते। जो कर्म वासना-मूलक होते हैं या जिनके फलो मे हम आसक्ति रखते हैं, वही, उन्हीका फल मुख्यत दु खदायी हो जाता है। वासना व आसक्ति से किस प्रकार राग-द्वेष बढते है व मनुष्य उत्तरोत्तर विकार-ग्रस्त होता हुआ कैसे महान् दु.ख, परिताप, अशान्ति के व अन्त को नाश के गर्त्त मे गिर पड़ता है यह मैं पहले बता चुका हू। गीता मे भी

मैंने वताया है कि कैसे एक काम ही मनुष्य के विनाश का कारण वन जाता है। अत मैं तो कामना, वासना, आसक्ति के त्याग पर ही जोर देता हू। कर्म तुम वेखटके करो, परन्तु केवल कर्तव्य समझकर करो, धर्म समझकर करो, निष्काम भाव से करो, या इन्द्रिय-सुख व तृप्ति के उद्देश्य से कुछ मत करो। यही ससार के दु खो से छूटने का रामवाण उपाय है। इसीको सक्षेप मे मैंने भक्ति कहा है। निष्काम कर्म व भक्ति एक ही वात है। जो एक ईश्वर के व्यक्तित्व या अस्तित्व मे विश्वास नही करते उन्हे निष्काम कर्म शब्द अच्छा लगता है। जो भावुक हैं, आस्तिक हैं, उन्हें भक्ति की भावना प्यारी लगती है। 'निष्काम कर्म' मे रूखापन है, भक्ति मे भक्ति की भावना की आर्द्रता, गीलापन, तरी है। उसमे दृष्टि कर्म पर अधिक रह सकती है, इसमे भावना के पोषण पर। चाहे ज्ञान-मार्ग को लो, चाहे कर्म या भक्ति-मार्ग को लो—ये एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् किसी हालत मे नही किये जा सकते। केवल दृष्टि की प्रधानता से अलग-अलग नाम हो गये हैं। न ज्ञानी कर्म से छूट सकता है, न कर्मी ज्ञान से हीन हो सकता है, न भक्ति ज्ञान या कर्म से अलग रहती है। प्रकृति के तीनो गुणो की तरह ये परस्पर सलग्न या सम्मिश्र रहते है। इन तीनो के समुच्चय को ही 'जीवन' कहना चाहिए। जैसा कि सत्त्व, रज, तम के समुच्चय को प्रकृति या सत्, चित्, आनन्द के समुच्चय को परमात्मा। अत यह मार्ग आस्तिक, नास्तिक, वैदिक-अवैदिक, भारतीय-अभारतीय, आर्य-अनार्य, म्लेच्छ सबके लिए खुला है। ये भेद भिन्न-भिन्न कारणो से लोगो ने वना लिये हैं। मेरे सामने तो मानव-मात्र के दु:खो का प्रश्न था और मैंने उसे इस सरल तरीके से हल कर दिया है। मुझमे विश्वास करके ससार मे रहना सव तरह से कल्याणकारी व मगलदायी है। परन्तु जिनका विश्वास मुझमे न हो, उन्हे भी मै दु ख मे डूवते कैसे छोड सकता हू? वेटा भले ही वाप को न माने, पर वाप उसे कैसे भुला सकता है? उसे दु खी देखकर कैसे चुप वैठ सकता है? और माता भी तो मैं ही हू। पूत कपूत हो सकता है, वाप भी एक वार मुह फेर सकता है, पर माता कु-माता नही हो सकती। अत मैंने अपने उन वच्चो के लिए भी दु ख मे तरने का रास्ता खोल रखा है, उन्हें समाज की व्यवस्था, शान्ति व उन्नति तो चाहिए ही। सवके समान अधिकार की नीव पर ही वे इस उद्देश्य को साध सकते हैं, सामर्थ्य व योग्यता का प्रश्न जुदा है। परन्तु मानवीय आवश्यकताए तो सवकी समान ही माननी पडेगी। और इसीलिए उनकी पूर्ति मे सवको समान अधि-

कार भी देना पडेगा, यह समता का सिद्धान्त मुझे भी मजूर है,बल्कि प्रियतम है और मैंने ही इसे ससार मे चलाया है। यह समता की भावना तभी टिक सकती है, जब एक-दूसरे के सुख-दु ख का या अधिकारो का ख्याल रखेंगे। यह एहसास उनके आचार-विचार अर्थात् कर्म पर पहली बन्दिश लगाता है, या उनकी एक सीमा निर्धारित करता है। ऐसा न करे तो उनमे कलह बढ जाय, जिससे सभी दु खी होगे। इसी तरह यदि उन्हे स्वस्थ, पुष्ट, बलिष्ठ, प्रसन्न, कार्यक्षम, सतेज, उत्साही, अदम्य, साहसी, निश्चयी, निर्भय, पुरुषार्थी रहना है तो वे थोडे ही अनुभव से देख लेंगे कि विपय-भोग या इन्द्रिय-सुख की भी एक सीमा बाधनी पडेगी, केवल व्यक्तिगत दृष्टि से ही नही, सामाजिक दृष्टि से भी। इन दो सीमाओ के बाद, अब और आगे चलो। जिस सुख या भोग मे व्यक्ति की अधिक लालसा रहती है, उसकी सीमा से बाहर वह चला जाता है। परिणाम मे दु ख, ग्लानि, अनुताप-भागी होता है। यह भी थोडे अनुभव से आजमाया जा सकता है। इस अधिक लालसा की प्रवृत्ति का मूल यह कल्पना है कि अधिक भोग से हानि नही है। यह गलत है। किसी चीज को सीमा से बाहर जाने देना ही मनुष्य की भूल है। खाना जहा अधिक खाया कि बदहज़मी हुई। परिश्रम अधिक किया कि थकान आई, आमदनी से अधिक खर्च किया कि कर्ज की नौबत आई, अधिक स्त्री-सग किया कि निर्बलता, सुस्ती, निरुत्साह, निराशा आई। इस अधिकता का मूल आसक्ति है। इससे बचने के लिए मन को अनासक्त रखने का अभ्यास करना चाहिए, अर्थात् वस्तुओ का उपभोग, रस, आनन्द, मजा के लिए नही, बल्कि उपयोगिता या आवश्यकता के लिए करो। थोड़े मे, इस आनन्द-भावना की जगह, रस-लोलुपता की जगह, कर्तव्य-भावना या आवश्यकता की कसौटी से काम लेना चाहिए। जो कुछ कर्म करो वह आवश्यक, उपयोगी, हितकर, कर्तव्य-रूप होने से करो, न कि इसलिए कि उसके करने से मजा आवेगा, ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति, राज-पाट, पद-प्रतिष्ठा आदि मिलेगी। कर्तव्य समझकर करोगे तो भी ये मिलने ही वाले हैं, परन्तु तुम्हारी आसक्ति, निगाह, उनपर न रहनी चाहिए। यही निष्काम कर्म या अनासक्ति का मूल मन्त्र, परम रहस्य है। जो इसे बुद्धि से समझना नही चाहते या जिनकी बुद्धि इतनी परिपक्व नही हुई है, या जो अधिक भावना-प्रधान है, या भावना की पुष्टि से जल्दी अनासक्ति की तरफ बढ सकते हैं उनके लिए इसीका नाम भक्ति है।

**"जिस प्रकार बढ़ा हुआ अग्नि ईंधन को जलाकर भस्म कर डालता है, हे**

**उद्धव, उसी प्रकार मेरी भक्ति भी सम्पूर्ण पापराशि को पूर्णतया ध्वस्त कर देती है।" ॥१९॥**

इस भक्ति का प्रभाव कम मत समझो। इससे भक्त के सम्पूर्ण पाप भस्म हो जाते है। जैसे तेज़ आग ईधन को जलाकर भस्म कर देती है वैसे ही।

ऊधो, पाप का स्वरूप भी अच्छी तरह समझ लो। साधारणत बुरे कर्म पाप कहलाते है। विशेषत अनैतिक कर्मो को पाप कहते हैं। जो कर्म अनजान मे या पाप की भावना मन मे न रहते हुए भूल, भ्रम या सहज-प्रेरणा से हो जाते हैं व जिनका असर सामनेवाले या समाज पर ऊपर-ही-ऊपर होकर रह जाता है उसे एकाएक पाप नही कह सकते। वह कौटुम्बिक, सामाजिक या राजनैतिक अपराध हो सकता है, जैसे चार बजे कार्यालय मे पहुचने का नियम है, और पहुचे पाच बजे तो महज़ इसीलिए यह भग 'पाप' नही माना जा सकता। पाप के लिए दो शर्तें ज़रूरी हैं। (१) नीति-सदाचार का उल्लघन होता हो, (२) इस भावना से ही किया गया हो। नीति-नियम व्यक्ति की उन्नति तथा श्रेय व समाज की व्यवस्था तथा प्रगति की दृष्टि से बनाये गए है। वे इतने आम हो गये हैं कि ईश्वरी नियम के तौर पर सब जगह माने जाते हैं। अनीश्वरवादी या अनात्मवादी या नास्तिक समझे जानेवाले लोग भी वैयक्तिक या सामाजिक दृष्टि से उन्हे अनिवार्य मानते हैं। वे मुख्यत ये हैं—(१) सत्य व्यवहार करना, (२) बिना कारण किसीको पीडा न पहुचाना, (३) चोरी व बलात्कार न करना, (४) किसीकी बहू-बेटी को बुरी निगाह से न देखना। इन चारो मे सब प्रकार के पापो का समावेश हो जाता है। बल्कि इन्हे और भी सक्षेप मे कहना चाहे तो असत्य व हिंसा ये दो पाप सचमुच पाप हैं। क्योकि इनका आश्रय लिये बिना कोई पाप नही किया जा सकता। चोरी, बलात्कार, व्यभिचार सबमे झूठ व हिंसा की सहायता लेनी पडती है। व्यभिचार चोरी है, बलात्कार डाका है। पाप से बचने के लिए मनुष्य दो ही व्रत ले-ले—झूठ का सहारा नही लूगा और दूसरो पर ज्यादती नही करूगा। झूठ का सहारा लेना दूसरो को धोखा देना है, ज्यादती व बलात्कार करना उनकी स्वतन्त्रता मे बाधा पहुचाना या दखल देना है। इस धोखे या ज्यादती की प्रवृत्ति का खुद हमारे मन पर भी बुरा परिणाम होता है। हमारा भी शाति-सुख मिट जाता है।

इस पाप को धोने का गुण मेरी भक्ति मे है। जब तुम सबकुछ मेरे ही लिए

करोगे, सबकुछ मुझीको अर्पण करोगे, मेरे सिवा तुम्हारे लिए ससार मे कोई व कुछ है ही नही, तब तुम्हे झूठ, छल, ज्यादती, बलात्कार की ज़रूरत ही क्या रह जायगी ? इस तरह वर्तमान वा अगले पापो से बचाव हो गया। वर्तमान वृत्ति का असर पिछले पापो पर भी पडता है। उनका तीखापन निकल जाता है। वे आग निकली हुई राख की तरह हो जाते है। उनका ऊपरी रूप तो बना रहता है पर भीतरी प्राण या बल नष्ट हो जाता है। उनका फल तुम तक आवेगा; परन्तु पहले तुम उसके खयाल मात्र से काप उठते थे अब तुम खुशी से उनका स्वागत करने के लिए तैयार हो जाओगे। पहले तुम निराधार असहाय थे, अब तुम्हे ईश्वररूपी डाड पकडने को मिल गया है। इसने अगले पापों का भय मिटाकर तुम्हे अधिक निर्भय कर दिया है। इससे पहले जो तीर की तरह आकर लगता अब फूल की तरह लग-कर गिर जायगा। जिन भक्तो ने जहर का प्याला खुशी-खुशी पी लिया, सूली-फासी पर चढ गये, गरम तेल की कडाह मे कूद पडे, आग मे डाल दिये गए उन्हे जो इन सब यातनाओ को सहने का बल मिला वैसे ही इन सब पापो के फल को सहने का बल मिल जाता है। इसीको कहते है पापो का भस्म हो जाना। जो साप था वह फूल की माला बन गया।

ऊधो, पाप के भी दो स्वरूप होते है। एक कर्ता, करनेवाले का भावना, व दूसरा उसपर और समाज पर होनेवाला परिणाम। मनुष्य के मन मे जब कुछ करने की भावना होती है तभी वह करता है। यह सच है कि सृष्टि के पदार्थ को देखकर ही उसे उनको पाने मे या भोगने की अभिलाषा होती है, और इसीसे वह उनको पाने या भोगने के कर्म मे प्रवृत्त होता है। इन पदार्थों का होना या रहना तभी असम्भव हो सकता है जब सृष्टि न रहे, न फिर वह पैदा ही होने पावे। ऐसा एक तो हो नही सकता, क्योकि परमात्मा का स्वभाव ही सृष्टि को बनाना व अपने मे लय कर लेना है। दूसरे सृष्टि ही न रही तो फिर जीव, मनुष्य व उसकी समस्या ही कहा रहेगी ? अत हमे सृष्टि के पदार्थो के अस्तित्व को अनिवार्य या अमिट मानकर ही चलना होगा और उनके उपस्थित रहते हुए भी उनके कारण जो पाप-प्रवृत्ति होती है, उसका इलाज ढूढना होगा, अत' सृष्टि व उसके पदार्थों को छोड़कर हमे खुद मनुष्य मे ही उसका इलाज ढूढना है। मनुष्य जव उनसे प्रेरित होता है, उनके पाने की इच्छा व भोगने की भावना करता है तभी न किसी कर्म या पाप की प्रवृत्ति होगी ? सृष्टि व उसके पदार्थ भले ही बने रहे, यदि उनको

तरफ से हम उदासीन हैं तो फिर पाप-प्रवृत्ति कैसे होगी ? यदि हमने मव स्त्रियो को मा-वहन-वेटी मान रक्खा है तो उनके मौजूद रहते हुए भी कैसे कुभावना मन मे आवेगी ? यदि हमने यह समझ लिया है कि दूसरे के वन को हाथ लगाना वुरा है तो फिर क्यो चोरी को प्रेरणा मन मे जगेगी ? अत व्यभिचार, चोरी, धोखा-धडी, वलात्कार, मार-काट, झूठ आदि की प्रेरणा पहले मन मे उठती है फिर वैसी क्रिया होती है।

इस छानवीन से हम इस नतीजे पर पहुचते हैं कि पाप का मूल मन मे है। कर्म मे तो वह सिर्फ प्रकट होता है। समाज कर्म का ही हिसाव अधिक लगाता है, क्योकि भावना को तो वह जान नही पाता है। कर्म के द्वारा ही वह उसतक पहुच सकता है। कर्म या आचरण के सम्वन्ध मे तो समाज व राज्य आदि ने वहुतेरे विधि-निषेध वना रखे हैं, अत उसके व्योरे मे तुम्हे डालना अप्रासगिक है। परन्तु भावना या मानसिक विकार के सम्वन्ध मे मैं तुम्हे अवश्य कुछ अधिक कहना चाहता हू, क्योकि जड को ही सभालना अच्छा है, जिसमे पेड ही न वनने पावे। फिर भावना का साक्षी कर्त्ता स्वय ही ज्यादा हो सकता है। समाज तो अनेक कर्मों के ताते को देखकर भावना या नियत के वारे मे सही या गलत अनुमान लगा सकता है, अत व्यक्ति का खुद अपनी नियत इरादे के वारे मे सतर्क सावधान या जाग्रत रहना वहुत जरूरी है। क्योकि घर मे छिपे चोर या आस्तीन के साप की तरह यह पहले खुद अपनेको, पीछे समाज को भी, परेशान व त्रस्त करके छोडता है।

पाप की कल्पना मनुष्य को उसकी सस्कृति के अनुसार होती है। सभ्यता या सस्कृति की जिस तह के ऊपर वह होगा वैसा ही उसके पाप का चित्र होगा। कई जगली जातिया ऐसी हैं, जो प्रत्यक्ष मैथुन को ही व्यभिचार मानती हैं। और कई तो ऐसे हैं कि मर्यादित व्यभिचार को भी दोप नही मानते। ये सस्कृति की नीची सतह के लोग हुए। इनसे ऊपर की सतह के वे लोग हैं जो मैथुन से पहले की शरीर-स्पर्श आदि क्रियाओ को व्यभिचार मानते हैं। उनसे भी ऊची सतह पर वे हुए जो दोषी दृष्टि को भी अच्छा नही समझते। उनसे भी ऊचे दर्जे के लोग वे हैं, जो मन मे व्यभिचार की कल्पना आना भी पतन समझते हैं। सही दर्जा व स्थिति इन पिछले लोगो की ही है। यही आगे की स्पष्ट व्यभिचार-क्रियाओ से वच सकते हैं। वैसी ही वात दूसरे पापो के सम्वन्ध मे भी समझनी चाहिए। नीचे की तहवालों को चाहिए कि वे क्रमश ऊपर की तहवालो मे आने का प्रयत्न करें। ज्यो-ज्यो

ऐसा होगा त्यो-त्यो समाज मे अधिक शान्ति, व्यवस्था व उन्नति दीख पडेगी। मनुष्य व समाज के सारे प्रयत्न इसी दिशा मे, इसी उद्देश की पूर्ति मे होने चाहिए।

कर्म का नियन्त्रण जो समाज व राज्य ने किया है, वह इसलिए आवश्यक है कि भावना के दूषित होते हुए भी यदि लोक-लाज या दण्ड-भय से मनुष्य कर्म से बच गया तो कम-से-कम समाज की हानि तो न होने पावेगी। मन से विकार-वश हो जाने से व्यक्ति की हानि होकर रह गई। पर उस अशुभ कर्म के लिए विचार करने मे जोड-तोड भिडाने मे व फिर कर्म न हो सकने की हालत मे निराशा पल्ले पडने के रूप मे उसकी काफी मानसिक व साम्पत्तिक हानि होती है, जिसका हिसाब मनुष्य सहसा नही लगा पाता।

कोरे कर्म या कर्म के स्वरूप पर ही दृष्टि रखनी व उसीपर सदैव भावना का हिसाब लगाने से अन्याय भी हो जाता है। अन्याय भी एक पाप ही है व पीडा पहुचाने की अर्थात् हिंसा की कोटि मे आता है। किसीने किसीसे दूषित भाव से बात की, देखा या स्पर्श किया अथवा सद्भाव या सहज-भाव से, इसका सहसा अन्दाज लगाना कठिन होता है। अत इसमे दोनो प्रकार की भूले हो सकती है। कभी वास्तव मे दूषित भाव हो तो उदारतावश सद्भाव मान लिया जाता है, कभी सद्भाव होने पर भी अनुदारतावश दूषित भाव ग्रहण कर लिया जा सकता है। ऐसे अवसरो पर मनुष्य का पूर्व-चरित्र, स्वभाव, वृत्ति आदि को देखकर नतीजा निकालना चाहिए। इसकी कोई अचूक कसौटी या निशानी नही बताई या बनाई जा सकती, क्योकि मनुष्य का मन व मस्तिष्क एक ऐसी अद्भुत रचना है कि परमात्मा के सिवाय बहुत बार खुद कर्त्ता भी उसकी प्रवृत्तियो का सहसा अन्दाज नही कर सकता।

**"हे उद्धव, मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त कर सकती है उस प्रकार तो न योग, न साख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और दान ही करा सकता है।" ॥२०॥**

पहले सत्सगति के विषय मे जो कह चुका हू वही भक्ति की महिमा पर भी लागू होता है। वास्तव मे सत्सगति व भक्ति दो चीज नही हैं। सत्सगति भक्ति का एक अग है।

**"साधुजनों का प्रिय आत्मरूप मैं एकमात्र श्रीसम्पन्न भक्ति से ही सुलभ हूं। मेरी भक्ति चाण्डालादि को भी उनके जातीय दोष से छुडाकर पवित्र कर देती**

है।" ॥२१॥

उधो, जैसे सत्सग के विना भक्ति कठिन है वैसे ही श्रद्धा के विना भक्ति सुलभ नहीं है। श्रद्धा दो तरह की होती है—एक सिद्धान्त व आदर्श पर, दूसरी व्यक्ति पर। इसी तरह विकास की दृष्टि से भी वह दो तरह की होती है, एक वयस्क होने के, ज्ञान-प्राप्ति के पहले की, दूसरी ज्ञान के वाद की। सिद्धान्त या आदर्श तो अमूर्त होते है, उनका कोई शरीर या आकार-प्रकार तो है नही कि हमसे उनकी कोई वात-चीत हो, सलाह-मशवरा हो सके। वुद्धि ने किसी सिद्धान्त को मान भी लिया तो भी जवतक उसका कोई उदाहरण सामने न हो तवतक यह सहसा नही जचता कि वह व्यवहार मे लाया जा सकता है। समझो, हमारी वुद्धि ने मान लिया कि सत्यनिष्ठा या अनासक्ति या साम्यभाव जीवन का श्रेष्ठ आदर्श है, परन्तु कोई ऐसा व्यक्ति सामने आ जाय, जिसने इन आदर्शो को अपने जीवन मे उतारा हो तो फौरन हमे उनकी उपयोगिता व व्यावहारिकता जच जाती है। यदि विदेह राजा, वशिष्ठ, नारद, प्रह्लाद, ध्रुव (और आधुनिक काल मे वुद्ध, महावीर, ईसा मसीह, मोहम्मद पैगम्वर, परमहमदेव, अरविन्द, गाधीजी आदि) के उदाहरण न हो तो ये कोरे आदर्श या सिद्धान्त वहुत हद तक हमारा साथ नही दे सकते। वल्कि ऐसे महान् साधको, योगियो, विभूतियो, महापुरुषो, पुरुषार्थियो, ज्ञानियो व अनुभवियो के प्रयोगो व अनुभवो का ही फल ये सिद्धान्त व आदर्श हैं। परमात्मा इन्हीको निमित्त वनाकर अच्छे आदर्श, सिद्धान्त, व्यवस्था, नियम, पद्धति, प्रक्रिया, ससार मे फैलाता है। अत आदर्श व साधन एक-दूसरे पर इतने अवलम्बित हैं कि न तो अलग ही किये जा सकते हैं, न एक-दूसरे के विना रह सकते हैं। जैसे वीज के विना फल नही, व फल के विना वीज नही, ऐसा सम्वन्ध दोनो मे हो गया है। फिर भी अव आदर्श या सिद्धान्त पर श्रद्धा अर्थात् विश्वास रखना सुगम व निरापद हो गया है, व्यक्ति पर श्रद्धा रखना उतना नही। व्यक्ति सजीव होने के कारण परिवर्तनशील, व अच्छाई-वुराई का मिश्रण है। अच्छे-वुरे प्रभाव उसपर पडते रहते हैं व उनके अनुसार वह अधिक अच्छा या वुरा वन सकता है। अत उसपर श्रद्धा रखने मे वहुत चौकन्ना रहने की जरूरत है। सिद्धान्त के सम्वन्ध मे कठिनाई उसके मानने से पहले तक जरूर है। कौन-सा सिद्धान्त या आदर्श मानू यह प्रश्न जरूर व्यक्ति के सामने आता है। कभी परम्परागत सस्कारो व रूढियो के वल पर, कभी स्ववुद्धि से, व कभी गुरुजनो, आप्त लोगो पर विश्वास रखकर सिद्धान्त

या आदर्श मान लिया जाता। वालिग होने से पहले तक, अर्थात् बुद्धि मे स्वतन्त्र-रूप से विचार करने की शक्ति का विकास होने तक प्रायः परम्परा से ही मनुष्य किसी मत, सिद्धान्त, या पन्थ को ग्रहण करता है। यह स्वाभाविक भी है, और इसमे एक हद तक उसका हित भी है। यदि इस वय मे मनुष्य अपने कुटुम्बियो व आप्त-इष्टो के प्रभाव मे न रहे तो उसके गुमराह हो जाने का बहुत अन्देशा रहता है। दूसरे स्वार्थ-साधु, दुष्ट-बुद्धि, गुण्डे उसे बहकाकर उसका जीवन-नाश कर सकते है। लेकिन जब बुद्धि का विकास होने लगे तब उसे चाहिए कि वह स्वतन्त्र-रूप से भी उन मतो, व आदर्शो पर विचार करने लगे—लेकिन उन्हे छोडे तबतक नही जबतक खूब अच्छी तरह विचार कर लेने के बाद उसे यह न पट जाय कि फूल के भरोसे काटा पकड बैठे, माला के भरोमे साप पकड लिया, कम्बल के भरोसे रीछ से उलझ गये, भगवान् के भरोसे माया से फस गये, देव के भय से दानव से पाला पड गया। जिनकी बुद्धि मन्द है, उन्हे व्यक्ति पर श्रद्धा रक्खे विना चारा नही है। उस व्यक्ति, या गुरु, या शिक्षक का चुनाव करने मे कैसे सावधानी रखनी चाहिए, इसका जिक्र पहले आ चुका है।

स्वतन्त्र बुद्धि से ज्ञान प्राप्त करने के पहले जो कुटुम्बियो या आप्त-इष्टो की मान्यताओ को मानकर चला जाता है, वह भी श्रद्धा ही है। फिर ज्ञान-प्राप्ति के बाद प्राप्त अनुभवो पर व ऐसे दूसरे बडे उच्च अनुभवियो पर जो श्रद्धा रक्खी जाती है वह भी श्रद्धा ही है। इन श्रद्धाओ के विना मनुष्य की कही गुजर नही है। इसीलिए "श्रद्धामयोऽय पुरुष यो यच्छ्रद्ध स एव स" कहा है। श्रद्धा मानव-जीवन मे केवल अनिवार्य ही नही है, वल्कि उसमे यह भी जवरदस्त गुण है कि मनुष्य को अपने जैसा बना लेती है। आप जैसे सिद्धान्त, आदर्श, व्यक्ति पर श्रद्धा रक्खेगे वैसे ही बनते चले जायगे। इसलिए श्रद्धा रखने या करने से पहले यह भी जान लेना जरूरी है कि हम बनना क्या चाहते है। नही तो गणपति बनाने गये व बन्दर बना बैठे—"विनायकन्तु कुर्वाण रचयामास वानरम्," वाला हाल हो जायगा। जो इतने सब विचारो की झझट पर से बचना चाहते है या जिनमे ऐसी शक्ति ही नही है, उनके लिए सीधा मार्ग है—भरोसा रखके सब काम मेरे लिए करता रहे। जो कुछ करे, धरे, लिखे, सब मुझे अर्पण कर दिया करे। व मेरा प्रसाद समझकर जितना बहुत आवश्यक हो, अपने लिए ले लिया करे व शेष को अच्छे कामो मे लगा दिया करे। यही भक्ति है। लेकिन यह भक्ति भी तबतक प्राप्त नही

हो सकती जबतक वह मेरे इन वचनो या उपदेशो पर श्रद्धा न करेगा।

फिर जो मनुष्य यह समझते हैं कि मेरा पाना बहुत कठिन है, सो भी भूल है। मैं तो भक्तो व साधु-सन्तो का आत्मा ही हू। कोई कह सकता है कि बिना प्राणो के शरीर जीवित रह सकता है, या बिना सूर्य के ससार मे प्रकाश हो सकता है, बिना पानी नदी मे बाढ आ सकती है? इसी तरह जहा भक्त व साधु-सन्त हैं वहा उनके हृदय मे ही, उनके एक-एक अणु मे मैं घुसा बैठा रहता हू। जब उनकी साधना पूर्ण हो जाती है, तब उनके ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं व उन्हे मेरे कथन की सचाई दीखने लगती है। प्रत्येक भक्त व सन्त ने इसकी गवाही दी है। उनपर अविश्वास करने का कोई कारण नही है। ससार मे सबसे अधिक विश्वास के योग्य अगर कोई हो सकते हैं तो यही सन्त-भक्त लोग, जिन्होने किसी सासारिक वस्तु का लोभ-मोह नही रक्खा है, सारे ऐश्वर्य को ठुकरा दिया है, एक-मात्र सत्य का ही आश्रय लेकर जिन्होने मुझे पा लेने तक का घोर तप या साधना की है। मेरे ज्ञान या सत्य का प्रकाश भी तो इन्हींके द्वारा ससार मे फैलता है।

मैं तुमको कई बार कह चुका हू कि भक्ति-मार्ग उन लोगो के लिए विशेष-रूप से मैंने चलाया है, जो पिछडे हुए हैं। चाण्डाल इन सबमे पतित गिने जाते हैं। समाज मे विचार व धारणा के अनुसार मैं उन्हे 'चाण्डाल' कह रहा हू। आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि चाण्डाल महापतित है और उसका उद्धार कठिन है। परन्तु मैं तुमसे कहता हू कि चाण्डाल भी यदि मेरा पल्ला पकड ले, सब तरह से अपनेको मेरे अधीन करके, मुझे सौंप दे तो उसके भी दोष छूटकर वह पवित्र वृत्ति का बन जाता है। मैं पाप-पुण्य, या पापी-पुण्यात्मा का हिसाब या लेखा तभीतक रखता हू, जबतक वह अपने कर्मों का जिम्मेदार खुद अपनेको मानता हो। जिस दिन उसने यह अहकार या अज्ञान छोड दिया और अपनेको भुलाकर मुझे ही सब कुछ मान लिया उसी दिन मेरे यहा का उसका पाप-पुण्य का खाता बेबाक समझो। फिर उसके मेरे एक हो जाने मे ज्यादा देर नही लगती।

**"मेरी भक्ति से हीन पुरुषों को सत्य और दया से युक्त धर्म अथवा तप से युक्त विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती।" ॥२२॥**

मेरी भक्ति का जो यह गुण है वह किसी और साधन मे नहीं है। भले ही कोई सत्य का, दया का या दोनो से युक्त धर्म का आश्रय ले। अपने-अपने ढग से ये सब मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। सत्य का आश्रय लेकर चलनेवालो को अनेक प्रकार

के समाज व राज-कोप का भाजन होना पडता है। महान् कष्टो से गुजरकर ही वे सिद्धि को पा सकते है। 'दया'-पालन के लिए अनेक प्रकार के जीवो की सेवा का व उनके घातको से मुकाबला करते रहने का महान् पुरुषार्थ करना पडता है। धर्म के विधि-विधान व क्रिया-कलाप भी जटिल, व श्रम-कष्ट-साध्य है और मन को मार-मारकर, मसोस-मसोसकर अनिच्छापूर्वक उन्हे करना पडता है। फिर उसमे समय भी काफी लगता है। पर ये सब मर्यादा-धर्म हैं। सत्य के पास असत्य की गुजायश नही। सत्याचरणी, असत्याचरणी से घृणा करेगा, घृणा नही की तो उससे दूर जरूर रहना चाहेगा। उसको सुधारने के लिए भी वह असहयोग से काम लेगा। दया-धर्मी तो पशुघाती चाण्डालादि की सूरत भी देखना न चाहेगा और धार्मिक परिपाटी-वाला शास्त्रो को प्रमाण मानकर उनसे छूने तक मे परहेज करेगा। स्पर्शा-स्पर्श मे एक हद तक तथ्य होते हुए भी जाति की जातियो को पीढियो तक अछूत बना या मानकर रखना, या पतितो मे ही हमेशा के लिये उनकी गिनती करना घोर अन्याय है। अस्पृश्यता, असहयोग या बहिष्कार का एक रूप है। उसकी उपयोगिता वही तक है जबतक कि सामनेवाला उस दोष से मुक्त न हो गया हो, व समाज उसके बारे मे नि शक व निर्भय न हो गया हो। इस मर्यादा को यदि ध्यान मे न रक्खा जाय तो यही असहयोग महान् अन्याय, अत्याचार व हिंसा का दूसरा रूप ही सम-झना चाहिए। धर्मशास्त्रो की इस त्रुटि को, या धर्म-व्यवस्थापको की इस धाधली को दूर करने के लिए ही मैने भक्ति-मार्ग चलाया है, जिससे इन तमाम कठिनाइयो व मर्यादाओ से बचकर भी मनुष्य उसी पद, वस्तु, या स्थिति को सरलता से पा ले जिसके लिए सत्य-दयायुक्त धर्म का आचरण करनेवाले महान् प्रयास करते हैं।

इसी तरह तुम भी यह सच समझो कि महान् तप, परिश्रम से प्राप्त की गई विद्या भी उतनी सफल नही हो सकती, जितनी मेरी भक्ति। 'सरल साधना' की दृष्टि से ही मेरा यह कथन उपयुक्त समझना चाहिए। विद्या ज्ञान के साधन को, जिससे कोई बात जानी जाती है, या भिन्न-भिन्न हुनर व शक्तियो या सिद्धियो को भी कहते हैं। इन सबका सम्बन्ध बुद्धि या मस्तिष्क से है। उसका काम ही है अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, पाप-पुण्य, ऊचा-नीचा, इनका विचार करते रहना। वह भेद, विवेक, विचार का अधिष्ठान है। भक्ति हृदय की वस्तु है। प्रेम, भावुकता, स्निग्धता उसका हृदय है। ऊचा-नीचा, जात-पात,

अच्छा-बुरा, इन भावो की गुजर वहा नही। शुरू मे हो भी तो अन्त इनके मिटाने मे होता है। विद्याए भेद की भूमि पर खडी रहती हैं, भक्ति प्रेम की वेल है, जो इष्ट या प्रेमी-रूपी वृक्ष पर लिपट जाती है। विद्या के लिए अधिकार, पात्रता, चाहिए। भक्ति के वे सब अधिकारी है जिनके हृदय मे भूख है, प्रेम है, चाह है, जो दुखी हैं, व्याकुल है, दीन हैं, असहाय हैं, पीडित हैं, पतित हैं, तिरस्कृत हैं।

**"बिना रोमाच हुए, बिना चित्त के द्रवीभूत हुए, बिना आनन्दाश्रुओ का उद्रेक हुए तथा बिना भक्ति के अन्त करण कैसे शुद्ध हो सकता है ?"** ॥२३॥

अब ऊधो, भक्त के हृदय की अवस्था सुन लो। प्रारम्भिक अवस्था मे भक्त विधि-विधान-प्रिय होता है। कुटुम्ब व समाज की अवस्था विधि-विधानमयी रहती है, धर्म-व्यवस्था मे भी विधि-विधान रहता है। जहा कही 'व्यवस्था' जैसी कोई चीज होती है वहा विना विधि-निषेध के नियमो के काम नही चल सकता, अत कुछ तो सस्कारवश व कुछ भक्ति के प्रारम्भिक अवस्थावश भक्त वैधी-भक्ति का आश्रय लेता है। मूर्ति, उसका ध्यान, पूजा-उपचार, भजन-सकीर्तन आदि साधनों से वह भगवान् मे लीन होने का, ससार के विषयो को भूलने का, उनसे अलिप्त रहने का प्रयत्न करता है। इससे जब चित्त बाह्य उपचारो को छोडकर, परमात्मा को ही पकडकर उसीके सहारे रहने लगता है, तब वैधी-भक्ति का अन्त व प्रेमा-भक्ति का उदय समझना चाहिए। इस अवस्था मे पहुचने पर बाहरी साधनो की तरफ से अपने-आप उदासीनता आ जाती है, अनावश्यक होकर वे अपने-आप पीछे रह जाते हैं व भक्त आगे बढ जाता है। भक्त प्रयत्नपूर्वक, जान-बूझकर उनको नही छोड सकता। ऐसा प्रयत्न कृत्रिम व हानिकर भी है। जब पेट भर जाता है तब खाना अपने-आप मुह मे नही जाता। प्रयत्न करके छोडना नही पडता। प्रेमा-वस्था मे तल्लीन रहना ही प्रेमा-भक्ति का लक्षण है। जब भक्त प्रेम मे गद्-गद् होने लगता है तो रोमाच हो उठता है। चित्त, द्रवित हो जाता है। आखो मे आनन्द के आसू भर जाते हैं और हृदय का कोना-कोना प्रेम-भक्ति से सराबोर हो जाता है। ऐसी भक्ति से ही, हृदय के इस तरह भावमय हो जाने से ही चित्त का मल कटता है, अन्त करण की शुद्धि होती है। चित्त अपनेको ईश्वर-मय अनु-भव करने लगता है। इससे उसकी लघुता, अणुता, अल्पता का भाव मिटने लगता है। जगत्, उसके विषय, आदि से ध्यान हटता है, जिससे चित्त स्थिर, शान्त होने लगता है। यही उसके मलो के कटने की निशानी है, क्योकि चचल चित्त ही नाना

प्रकार के ऊट-पटांग सकल्प करता है व विविध कर्मों मे प्रवृत्त होता है।

**"जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो कभी बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी नि:सकोच होकर उच्च स्वर से गाने लगता है, और कभी नाच उठता है ऐसा मेरा परम भक्त त्रिलोकी को पवित्र कर देता है।" ॥२४॥**

प्रेमाभक्ति को पा जानेवाले भक्त का चित्त द्रवीभूत हो जाता है व वाणी गद्गद् होने लगती है, तव वह एक तरह से अपने शरीर की सुधि भूल जाता है। परमात्मा के प्रेम मे मस्त होकर कभी अपने पापो, वुराइयो, कमजोरियो, त्रुटियों का स्मरण करके कभी दूसरो पर, दुखियो पर कृपालु व दयावान् होकर, कभी परमात्मा की दिव्यता-भव्यता की कल्पना, स्मरण या झलक देखकर कृतार्थता से रोने लगता है, कभी दूसरो की पामरता व अपने इस सद्भाग्य पर हँसने लगता है, कभी ऊचे स्वर से गाने व नाचने भी लगता है। आनन्दातिरेक के ये सब स्वाभाविक लक्षण हैं। भगवान् मे तन्मय होने से, परमात्मा की झलक दीखने से ही ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द होता है। जो भक्त ऐसी अवस्था मे पहुच जाता है उसमे कुछ ऐसी शक्ति, आकर्षण, विजली पैदा हो जाती है कि उसके ससर्ग, सम्पर्क या स्पर्श से दूसरो के मन मे भी पवित्र भावनाए आने लगती है, बुराइयो से ग्लानि पैदा होने लगती है। तीनो लोक मे ऐसा कोई व्यक्ति नही जो उसके सम्पर्क मे आकर ऐसी पवित्र वृत्ति को अनुभव न कर सके। जिन्हे ऐसी स्थिति का अनुभव नही है, या जो इसे भावावेश की एक विशिष्ट अवस्था समझकर अवाछनीय मानते हैं, वे इसकी आलोचना करते हैं। परन्तु यह तो तन्मयता का विशिष्ट प्रकाशन या अभिव्यक्ति-मात्र है। भक्त के सस्कारो के अनुसार तन्मयता भिन्न-भिन्न रूप मे प्रकट होती है। जिनका अपने मन पर पहले ही से अधिक सयम है वे ऐसी अवस्था मे केवल पुलकित या रोमाचित या स्वेदित होकर—पसीना आकर—रह जाते हैं, जिनके मनोधर्म प्रवल होते हैं, वे पूर्वोक्त प्रकार नाचने-गाने आदि लगते हैं। यह तन्मयता की दशा किसीकी भी इतनी तीव्र अधिक समय तक नही रह सकती। उसका असर मन पर ऐसा अवश्य हो जाता है, जिससे साधारण अवस्था मे भी मनुष्य उससे प्रभावित व सचालित रहता है और धीरे-धीरे यह उसका स्वभाव वन जाता है। जब तमाम वाहरी कामो को यथावत् करते हुए भी मन एक केन्द्र मे लगा रह सके तभी उसे 'पूर्णता', 'सिद्धता', 'जाग्रत समाधि', 'स्थितप्रज्ञता'

आदि कहते है। भक्ति-मार्गी इसीको पराभक्ति या महाभावावस्था कहते हैं। चाहे कर्म के द्वारा हो, चाहे ज्ञान के द्वारा हो, चाहे भक्ति के द्वारा हो, चाहे योग या अन्य साधन के द्वारा हो, सब अपने मन को ही शुद्ध, एकाग्र, तन्मय, करने का उद्देश्य सिद्ध करते हैं।

**"जिस प्रकार अग्नि से तपाये जाने पर सुवर्ण मैल को त्याग देता है और अपने स्वच्छ स्वरूप को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार मेरे भक्तियोग के द्वारा आत्मा भी कर्मवासना से मुक्त होकर अपने स्वरूप मुझको प्राप्त हो जाता है।" ॥२५॥**

देखो, सोना जब खान से निकलता है तो उसमे मैल मिली हुई रहती है। जब वह आग मे तपाया जाता है तब मैल छोडकर वह शुद्ध रूप धारण कर लेता है। ऐसी शुद्धि की प्रक्रिया भक्त मे होती है। साधारण मनुष्य खान से निकले सोने की तरह मल से युक्त होता है। स्वार्थ, लोभ, हिंसा, विषय-वासना से युक्त रहता है। मुझमे मन लगाने की, मन को इष्टवस्तु मे एकाग्र करने की क्रिया से दूसरी बातो की ओर से ध्यान हटाने मे उसे जो अपनी वृत्तियो, सस्कारो, मन की तरगो से सघर्ष करना पडता है। वही वह आग है जिसमे सुवर्ण की तरह वह तपता या गलता है। जब यह प्रक्रिया पूरी हो जाती है, ये विकाररूपी मैल अलग हो जाते हैं, निर्बल होकर दब जाते हैं, व्यक्ति, साधक या भक्त का जीवात्मा कर्म-वासना से मुक्त हो जाता है व अपने स्वच्छ स्वरूप को पा जाता है—उसीमे स्थित हो जाता है। अब उसकी वृत्तिया पहले की तरह उसे विकारो की ओर नही ले जा सकती।

**"जैसे-जैसे मेरी परम पावन कथाओ के श्रवण और कीर्तन से चित्त परिमार्जित होता जाता है वैसे-वैसे ही वह अजनयुक्त नेत्रो के समान सूक्ष्म (वस्तु) तत्त्व का दर्शन करता जाता है।" ॥२६॥**

ज्यो-ज्यो उपासक या भक्त मेरे जीवन-चरित्रो को, उनकी कथाओ को सुनता है, उनपर मनन करता है, उन्हे दूसरो को सुनाता व कीर्तन करता है, त्यो-त्यो उनका मन मुझमे अधिकाधिक तल्लीन होता जाता है। पतिव्रता स्त्री जैसे-जैसे अपने सुपति की एक-एक बात को याद करती है, तैसे-तैसे वह अपने पति मे अधिक तल्लीनता का अनुभव करती है, वैसे ही मेरी पावन कथाओ के श्रवण, स्मरण, कीर्तन का फल होता है। उससे भक्त का चित्त अधिकाधिक परिमार्जित होता जाता है। ज्यो-ज्यो चित्त के मल या आवरण धुलते या हटते हैं त्यो-त्यो उसकी

दृष्टि अधिक स्वच्छ होने लगती है और पहले जिस सूक्ष्म तत्त्व का दर्शन उसे नही होता था, अब होने लगता है। उसे वैसा ही लाभ होता है जैसे कि अजन लगाने से शुद्ध हुई आखो को होता है। वे वस्तु को अधिक शुद्ध व सूक्ष्म रूप मे देखने लगती है। यह उसका ज्ञान मे प्रवेश है। निर्मल व हार्दिक भक्ति से भक्त अपने-आप ज्ञान-प्रदेश मे पाव रखने लगता है।

**"जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयो में फंस जाता है। इस प्रकार जो मेरा स्मरण करता है, वह मुझमें लीन हो जाता है।" ॥२७॥**

ऊधो, मन का धर्म विलक्षण है। यह किसी-न-किसी बात मे सदैव लगा रहता है। यदि अच्छी बात हाथ न लगी तो बुरी मे लिप्त हो जाता है। इसे तो लिप्त होने के लिए कोई वस्तु अवश्य चाहिए। इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष इसे अच्छी बातों मे लगाने का ही सदैव प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति तो मेरी तरफ बढते है, मुझी-मे लीन होने लगते है, क्योकि किसी भी अच्छाई मे मन लगाओगे तो मुझ ही मे मन लगेगा। सब अच्छाइया भिन्न-भिन्न नदी या किरणो के समान हैं, जो एक ही समुद्र या सूर्य तक पहुचती हैं। मुझ चित्-समुद्र मे समस्त अच्छाइया लीन हो जाती है व रहती है तथा जैसे भाप समुद्र से बनकर पानी रूप मे फिर समुद्र मे मिल जाती है, वैसे ही सब अच्छाइया मुझसे सद्गुणो के रूप मे निकलकर सत्कर्म रूप मे फिर मुझीमे मिल जाती हैं। परन्तु जो विषयो का चिन्तन करता है, उसका चित्त विषयो मे लग जाता है। अत. इस मन के बारे मे बहुत सावधान व जाग्रत रहना चाहिए।

**"इसलिए अन्य साधन स्वप्न के मनोरथो के समान असच्चिन्तनमात्र हैं, अतः उन्हें छोडकर मेरे चिन्तन से शुद्ध हुए चित्त को मुझ ही में लगा दो।" ॥२८॥**

देखो, विषय का चिन्तन, स्वप्न के मनोरथों के समान है। स्वप्न मे जैसे विषय-भोग से क्षणिक सुख होता है व जगने पर वह निर्मूल हो जाता है, उल्टा उसकी स्मृति एक विषाद की छाप हृदय पर छोड जाती है, उसी तरह ससार के विषय-भोग भी क्षणिक हैं। खुजली की बीमारी की तरह खुजाते समय मीठे लगते हैं, परतु पीछे बडी जलन पैदा करते है। जब खुजली चलती है, तब कितना ही मन को रोको, समझाओ, वह नही मानता व खुजाने मे प्रवृत्त हो ही जाता है। ऐसा ही विलक्षण आकर्षण इस विषय-भोग मे है। परतु चूकि नि सशय रूप से ये दु खदायी

ही हैं—विषय-भोग से सुखी होने का अनुभव किसी एक भी व्यक्ति का ससार में नही देखा गया, न सुना गया, अत इससे बचने का प्रयत्न भी उतना ही तीव्र करने की जरूरत है। सामनेवाले मे जितना बल है, उससे ज्यादा जबतक नही लगाओगे तबतक उसे नही पछाड सकोगे। अत समझदार मनुष्य को चाहिए कि वह विषय-चिन्तन जैसी असत् वस्तु को छोडकर मेरे चिन्तन में ही डूब जाय। ऐसी निमग्नता से उसका चित्त जैसे-जैसे शुद्ध होने लगे तैसे-तैसे फिर-फिरकर उसे मुझमे ही लीन करता रहे। एक बार मन लग जाने से इस भरोसे न रहे कि अब वह भटक नही जायगा, मुझमे लगा ही रहेगा। जिस मन को विषयो का चस्का लग गया है, वह तो उसकी तलाश मे ही बैठा रहता है। जहा हम गाफिल हुए कि उसे भाग निकलने का मौका मिला। अत एक क्षण की गफलत से महीनो व सालों की मिहनत बरबाद हो सकती है।

**"पुरुष को चाहिए कि वह धीरतापूर्वक स्त्री और स्त्रीसगियों का सग दूर से ही त्यागकर निर्भय और निर्जन एकान्त स्थान में बैठकर आलस्यरहित होकर मेरा चिन्तन करे।" ॥२९॥**

प्रिय उद्धव, इनमे सबसे ज्यादा सावधान मनुष्य को रहना है दो इन्द्रियो से—जिह्वा व जननेन्द्रिय से। जीभ को वश मे रखना आमतौर पर ही मुश्किल है। परन्तु शरीर मे जब काम का सचार होता है तब जननेन्द्रिय पर काबू रखना वैसा ही है जैसे मस्त हाथी का। स्वाद या रस की तृष्णा मे इतना प्रबल वेग नही होता जितना काम-वासना मे होता है। वह तो आधी, तूफान, या प्रचण्ड बाढ की तरह आता है और मनुष्य मानो उस समय एक भूत जैसा हो जाता है। पुरुषो मे यह वेग एकाएक आता है और इतने जोर से आता है कि वह होश-हवाश नही सम्भाल पाता। इसलिए इसमे उसीको सावधान रहने की ज्यादा जरूरत है। स्त्रिया तो यो भी सकोचशील होती हैं, फिर किसी-न-किसी रूप मे पुरुष का प्रभाव उनपर रहता ही है। अत यद्यपि सयम का यह उपदेश मेरा दोनो के लिए है, फिर भी पुरुष पर जिम्मेवारी ज्यादा है। अत वह स्त्री के सम्बन्ध मे अपनेको बहुत सम्भालकर रक्खे, जिससे स्त्रियो को भी एकाएक उन्हे ढीला करने या पिघला लेने का हौसला न हो। इसका सरल उपाय तो यही है कि वह स्त्री व स्त्री-सगियो के सपर्क से बचे। कर्तव्य-वश या कार्यवश ही उनसे मिले-जुले। न तो उनके लिए मन मे घृणा, तुच्छता या निरादर का भाव रक्खे और न ही उनसे दिन-रात का, बेमतलब

का, सम्बन्ध ही रक्खे और सदा-सर्वदा के लिए वह यह नियम या वृत्ति अपनी बना ले और उसे धीरज के साथ पुष्ट करता रहे। इसमे फिसलने के बहुत मौके आ सकते हैं—उसी समय खासतौर पर सावधान रहने की जरूरत है। पहले तो चतुर्मुखी सयम का सिद्धान्त स्वीकार करे, फिर उसके पालन का सचाई के साथ प्रयत्न करे। ऐसा करने मे मन स्वभावत या हर घडी स्त्रियो की तरफ चलायमान न होगा। कभी-कभी प्रसग मे व विवशता से होगा। उस समय के लिए दो नियमों का पालन करे। जहातक बने एकान्त मे स्त्री के साथ को टाले। भरसक किसी तीसरे की उपस्थिति रखी जाय। यदि कर्तव्यवश एकान्त ही अभीष्ट हो तो बीमारी के अलावा दूसरे निमित्तो मे स्त्री-स्पर्श से अपनेको बचावे। बीमारी मे भी कोई दूसरी स्त्री न हो, या जो वैद्यरूप से उसको छू सके—ऐसे उसके माता-पिता, पति, बहन, पुत्र, भाई आदि कुटुम्बी या स्वजन न हो तो ही स्पर्श करके उनकी सेवा-शुश्रूषा करे। उस दशा मे भी उसे स्त्री नही, भगवान् नारायण का या माता लक्ष्मी का रूप माने। सेवा-शुश्रूषा या सहायता के लिए हमने जिसका स्पर्श किया है, उसके मन मे हमारे स्पर्श से विकार न उत्पन्न होना चाहिए। यदि हमारा स्पर्श विकारी होगा तो या तो सामनेवाले के मन मे प्रतिकार, विरोध, तिरस्कार, नापसन्दगी का भाव पैदा होगा, या तदनुकूल विकार पैदा हो जायगा।

यदि वह सती साध्वी है तब तो पहली, गिरी हुई या कमजोर है तो दूसरी स्थिति पैदा होगी। दोनो दशाए दोनो के लिए अवाञ्छनीय है। हमारे स्पर्श का अनुभव उसे ऐसा ही होना चाहिए जैसे पिता, माता, या भाई, का हो। साधकावस्था मे स्वपत्नी मे भी मर्यादित सम्बन्ध ही उचित है, ब्रह्मचर्य तो अनिवार्य ही है। परन्तु यो भी सम्पर्क मे मर्यादा रखनी चाहिए। उस समय उसे भी सीता, लक्ष्मी के रूप मे देखना चाहिए।

ऊधो, मन मे जब विकार उत्पन्न हो जाता है तो वह पहले आखो के द्वारा दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करता है। सन्देश, बातचीत का दूसरा, व स्पर्श का तीसरा नम्बर आता है। अत यो तो मन को ही सबसे पहले काबू करने का यत्न करना चाहिए। परन्तु शुरू मे ही यह तो हवा को बाधने जैसा होगा। शरीर को काबू मे रखने के यत्न से ही मन धीरे-धीरे काबू मे आवेगा। फिर ज्यो-ज्यो मन शान्त, स्थिर, नम्र, निर्विकार होता जायगा त्यो-त्यो शारीरिक साधना अपने-आप निर्बन्ध होती चली जायगी। इसलिए पहले उसी शत्रु पर हमला करना चाहिए

जो मन के वाद सर्वप्रथम स्त्रियो से सम्बन्ध स्थापित करता है। कामदेव का जो प्रथम दूत है, वह ग्राख है। दूसरे को एकाएक पता लगे या न लगे, खुद हम भी चाहे ग्राख को कावू मे न रख सके, पर यह तो मन मे ग्रवश्य ही जान जाते ग्रौर समझ लेते हैं कि हमारी ग्राखो मे नशा छा रहा है। यह सरल स्वाभाविक निर्दोष दृष्टि नही है। इसमे ग्रमृत-सजीवनी नही विपय-मद्य का रग है। उसी समय हमको चौकन्ना होने की जरूरत है। यदि इस समय वच गये तो ग्रागे की वडी घाटियो का मुकावला ही न करना पडेगा, क्योकि एक-एक मोर्चे पर हारते जाग्रोगे तो ग्रगला मोर्चा एक-से-एक मुश्किल ग्रानेवाला है। ग्राखो ने तुम्हे हरा दिया तो सन्देश या वातचीत की जव प्रेरणा होने लगे तो मन को मजवूत करके दूसरे कामो मे लग जाग्रो। या मेरे भजन-पूजन-धुन मे मन को लगा दो। ठढे पानी से स्नान कर डालो। शुद्ध हृदय से, ग्रपनी ग्रसहाय ग्रवस्था का स्मरण करते हुए दीनता-पूर्वक बेतहाशा मुझे पुकारो, तुमको मेरा सहारा उस समय जरूर मिलेगा। ग्रच्छी वातो का विचार करना, ग्रच्छे कामो मे सदैव लगे रहना, सत्पुरुषो की सगति करना, सत्कार्य या हरिचर्चा मे लीन रहना—ये ही मन को, या इन्द्रियो को या पतन की इन घाटियो से ग्रपनेको वचाने का उपाय है।

मनुष्य स्वप्रेरणा से उतना नही विगडता जितना सगति से विगडता है। ग्रत ऐसे लोगो के सहवास, वार्त्तालाप, सहकार्य से भी वचना चाहिए जो खुद कामी हो, स्त्रियो की ही चर्चा दिन-रात करते रहते हो, खुद स्त्रैण स्वभाव के हो, उनके-से हाव-भाव व चेष्टादि करते हो, इन्हे सदा दूर ही से प्रणाम कर लिया करो ग्रौर जवतक इन्द्रियो पर कावू नही पाया हो तवतक किसी निर्भय, निर्जन या एकात स्थान मे बैठकर ग्रालसरहित होकर मेरा चिंतन करते रहो तो इसमे जल्दी सफलता मिल जायगी। स्त्री व स्त्रैण पुरुपो की सगति इतनी लुभावनी होती है कि मनुष्य को कई वार एका-एक पता भी नही चलता कि उसका पाव कीचड मे फस गया है। ग्रारम्भ मे निर्दोप दीखने या रहनेवाले सम्बन्ध व सम्पर्क भी कई वार ग्रागे चलकर ग्रनजान मे ही सदोषरूप धारण कर लेते हैं। इसकी पहचान यह है कि जब स्त्रियो या स्त्रैण पुरुषो से बिना जरूरत, विना काम या जरूरत से ज्यादा वातचीत करने, मिलने-जुलने, पत्र-व्यवहार करने—केवल कौतूहल या निर्दोष ग्रानन्द, रस की भावना से क्यो न हो—की प्रेरणा हो व बार-वार होती रहे तो समझो कि मन मे चोर धीरे-धीरे वे-मालूम घुस रहा है ग्रौर सावधान होकर ग्रपने तीर-तरकस सभाल-

कर खडे हो जाओ।

फिर मनुष्य स्वय अपनी ओर से एक बार कोई प्रेरणा करे, पहल न करे, ऐसी कोई दूषित प्रवृत्ति उसके मन मे न हो, तो भी कई बार स्त्रिया उन्हे कभी अपनी सहज सुकुमारता, सुन्दरता, रूप-लावण्य, वाक्-पटुता, गान-वादन-निपुणता आदि से व कभी अपने दूषित हाव-भाव, कटाक्ष, शृगार व विषयी चेष्टाओ से आकर्षित कर लेती हैं। इसका भी पता पुरुष को एकाएक नही लगता। अत इनसे काम-पुरता सम्बन्ध रखने मे यह भी लाभ है कि इनकी हद्द के बाहर, या अनावश्यक चेष्टाओ की पहचान हमे हो सकती है और हम उसी समय उनको रोक सकते हैं और अपनेको भी बचा सकते हैं। लेकिन ऊधो, तुम इसका यह अर्थ मत समझ लेना कि स्त्री-पुरुष, स्त्री-स्त्री या पुरुष-पुरुष मे प्राणि मात्र मे जो परस्पर प्रेम, सद्भाव, मृदुलता, मधुरता का निर्दोष सम्बन्ध रहना चाहिए, उसका मै विरोध करता हू। देखो न खुद गोपियो से मेरा कैसा निर्दोष प्रेम-भाव रहा। कुब्जा को ही ले लो। इनके मन मे कभी विकार आया भी तो मेरे शुद्ध भाव के आगे वह धुल गया। ऐसे कई साध्वी देवियो के नमूने पेश किये जा सकते है, जिनके तपोबल से या चरित्र-बल से कामुक पुरुषो के मन मे पवित्र भावनाओ का सचार हो गया है। लेकिन जबतक स्त्री या पुरुष किसीमे इतने ऊचे दरजे का आत्मबल, तपोबल या चरित्रबल न हो तबतक ऐसे सरल निर्दोष प्रेम-सम्बन्ध भी एक सीमा मे ही होने व रहने चाहिए।

**"किसी अन्य के संग से इस (मुमुक्षु) पुरुष को ऐसा क्लेश और बन्धन नहीं होता जैसा कि स्त्री अथवा उसके संगियो के संग से होता है।"॥३०॥**

स्त्री-संग व स्त्री-सगियो की सगति न करने पर मैं इसलिए जोर देता हू कि इनके कारण श्रेयार्थी पुरुष जितने बन्धन मे पडता है उतने और किसी बात से नही। यह अनुभव-सिद्ध है। यो तो सभी स्त्री-पुरुषो को, जो अपना हित, उन्नति, व श्रेय चाहते है परस्पर भोग-विलास व उनके साधनो व सहायको से बचना चाहिए; परन्तु इनमे भी जिनकी वृत्ति दूषित हो, जल्दी विकार-ग्रस्त हो जाते हो या पहले से जिनका आचरण बिगडा हुआ हो उनसे तो खास तौर पर बचना व सावधान रहना चाहिए। पुरुष के लिए घर, कुटुम्ब, समाज, जाति—सब स्त्री की बदौलत है। स्त्री उसके जीवन की केन्द्र है। अत उसका धन, ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि सब उसीके आस-पास एकत्र होती है। बाल-बच्चे, इष्ट-मित्र, परिवार के

लोग उसीके पीछे अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। ऐसी दशा मे वह यदि सयमी व सुलक्षणा है तो बेडा पार है नही तो 'ऐसा डूबे थाह न पावे।' स्त्री-पुरुष एक ही शरीर के दो भाग हैं। 'अर्धनारी नटेश्वर' की जो कल्पना की गई है—जिसमे शिवजी का आधा पुरुष-शरीर व आधा स्त्री-शरीर चित्रित किया गया है—बिल्कुल सच है। आत्म-तत्त्व की दृष्टि से दोनो मे कोई अन्तर ही नही। जैसे एक परमात्म तत्त्व के दो पहलू—पुरुष व प्रकृति हैं—वैसे ही पुरुष व स्त्री है। पुरुष व प्रकृति का इन्हे प्रतिनिधि ही समझ लो। परन्तु जैसे दम्पती के सयोग से सन्तति उत्पन्न होती है, उसी तरह पुरुष-प्रकृति का भी सयोग होकर सृष्टि उत्पन्न होती है, ऐसा ख्याल लाग बना लेते हैं। परन्तु यह गलत है। प्रकृति तो पुरुष से प्रेरणा मात्र लेती है और यहा 'सयोग' शब्द सानिध्य या सलग्नता-सूचक है। अब चूकि पुरुष-स्त्री का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए दोनो पर उसे सुन्दर, सुखमय, श्रेयमय बनाने की जिम्मेवारी है। वे यदि इसे न समझे व परस्पर नियमपूर्वक धर्मयुक्त सयममय जीवन न बितावे तो उनके पारस्परिक सग से बढकर क्लेश-बन्धन दूसरा नही हो सकता।

**"उद्धवजी बोले—हे कमलनयन, मुमुक्षु पुरुष को जिस प्रकार, जिस रूप में और जिस भाव से आपका ध्यान करना चाहिए वह ध्यान मुझे बतलाइये।" ॥३१॥**

**"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव, सुखपूर्वक सम आसन से शरीर को सीधा रखकर बैठे, हाथों को गोद में रक्खे और दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करे" ॥३२॥**

भक्तो की रीति-नीति, आचार सुन लेने के बाद उद्धव के मन मे एक और प्रश्न उठा। श्रीकृष्ण बार-बार 'मुझमे मन लगाने', 'मेरा ध्यान करने' आदि पर जोर देते रहे है। अत उद्धव ने सोचा कि इस ध्यान की कोई खास विधि श्रीकृष्ण के पास हो तो वह क्यो न जान ले? इस सम्बन्ध मे प्रश्न करने पर श्रीकृष्ण ने कहा—मुझमे मन लगाने या ध्यान करने के कई तरीके है, जो अनुभवियो से ही जानने योग्य है। फिर भी जो विधि मुझे सबसे अधिक सरल व उपयोगी प्रतीत हुई है वह इस प्रकार है—इसमे सबसे पहले व जरूरी क्रिया है आसन साधने की। आसन एक खास किस्म की बैठक को कहते है। योगियो ने चौरासी प्रकार की बैठकें या आसन निकाले है। लेकिन नौसिखियो के लिए वही आसन ठीक है, जिससे सुखपूर्वक वह ज्यादा समय तक बैठ सके। पलथी मारकर बैठना सबसे सरल आसन

है। शरीर तना हुआ हो—पीछे कूबड़ निकली न हो, गर्दन-पीठ एक रेखा मे हो। हाथो को गोद मे रख लो और निगाह नाक के सिरे पर जमाओ।

**"फिर क्रम से पूरक, कुम्भक और रेचक द्वारा अथवा इससे उलटे क्रम से (रेचक, कुम्भक और पूरक करके) नाड़ी की शुद्धि करे और जितेन्द्रिय होकर शनै-शनैः प्राणायाम का अभ्यास करे।" ॥३३॥**

फिर क्रम से पूरक, कुम्भक, व रेचक को साधे। सांस ऊपर खीचने को पूरक, रोक रखने को कुम्भक, व छोडने को रेचक कहते है। तीनो क्रिया मिलकर प्राणायाम कहलाता है। यह सास साधने की क्रिया है। इससे नाडी शुद्ध होती है। फेफडो मे शुद्ध हवा जाने से व सास नियमित होने से शरीर नीरोग व मन प्रसन्न रहने लगता है। पूरक, कुम्भक, रेचक मे वराबर समय भी लगाया जा सकता है व कम-ज्यादा भी। किसी जानकार से इसकी विधि पूछ लेनी चाहिए। न तो पुस्तक या लेख पढकर यह पूरी तरह समझ मे ही आती है, न कोरे व्याख्यान से ही इसे समझाया जा सकता है। फिर एक के लिए जो विधि अनुकूल पडती है, वही दूसरे के लिए प्रतिकूल भी पड सकती है। अत अनुभवी व्यक्ति की सहायता लेना ही उचित है।

जव पूरक, कुम्भक, रेचक का क्रम सध जाय तव इससे उल्टा अभ्यास करो यानी रेचक कुम्भक, पूरक इस क्रम मे सास को साधो। इससे इन्द्रियो को जीतने मे, इनको सयम मे रखने मे भी सहायता मिलेगी। यह प्राणायाम का अभ्यास कहलाता है।

**"(प्राणायाम दो प्रकार का है—सगर्भ और अगर्भ। उनमें से पहले सगर्भ का वर्णन किया जाता है—) हृदय में निहित कमलनाल-तुल्य ओंकार को प्राण के द्वारा ऊपर की ओर ले जाकर उसमें घण्टानाद सदृश स्वर स्थिर करे।" ॥३४॥**

प्राणायाम भी दो प्रकार का है—सगर्भ और अगर्भ। पहले सगर्भ का विवरण सुनो—नाभि से ऊपर सीधी रेखा मे जहा पसलिया जुडती हैं, उस स्थान को योगी लोग हृदय कहते व मानते हैं। इसमे ओकार का निवास है, ऐसी कल्पना करो। वह कमल-नाल के तन्तुओ जैसा सूक्ष्म है। विजली की लकीर के माफिक उसकी मन मे कल्पना करो। मन मे उसका चित्र देखो। फिर जैसे घटा का निनाद होता है वैसे स्वर को उसमे से निकलता हुआ सुनो। कुछ समय तक हृदय मे ओकार का ध्यान करने से ऐसा स्वर सुनाई देने लगता है। यदि आरम्भ मे ऐसा अनुभव न हो तो ऐसे स्वर की कल्पना करने से भी कुछ समय के वाद वह स्वर प्रत्यक्ष

सुनाई पडता है।

**"इस प्रकार नित्य प्रति तीन समय दश-दश बार ओंकारसहित ही प्राणायाम का अभ्यास करे। ऐसा करने से एक मास से पहले ही साधक प्राण-वायु को जीत लेता है।" ॥३५॥**

यह साधना दिन मे तीन बार—सुबह, दोपहर व शाम को करे। एक समय मे प्रणव-सहित दस-दस प्राणायाम करे। प्रणव ओकार को कहते हैं। विधि या नियमपूर्वक नित्य ऐसा अभ्यास करे तो एक महीने के अन्दर ही प्राण-वायु वश मे हो जाता है।

**"फिर अन्त करण में स्थित ऊपर की ओर नाल और नीचे को मुखवाले हृदय-कमल को ऊपर की ओर मुखवाला, खिला हुआ तथा आठ पखडियो और बीच की कली के सहित चिन्तन कर उसकी कली में क्रमश सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि की भावना करे तथा अग्नि के मध्य में जिसका ध्यान अत्यन्त मगलमय है ऐसे मेरे इस रूप का ध्यान करे।" ॥३६-३७॥**

फिर यह भावना करे कि अन्त करण मे स्थित जो हृदय-कमल है, जिसकी नाल ऊपर की ओर व मुख नीचे की ओर है, उसका मुख तो ऊपर की ओर खिला हुआ है, उसमे आठ पखडिया हैं, जिनके बीच मे एक कली है, उसमे क्रमश सूर्य, चन्द्र और अग्नि की भावना करे। उस अग्नि के बीच मे मेरे इस अत्यन्त मगल-मय रूप का ध्यान करे।

**"जो अनुरूप अगो से सुशोभित अति शान्त, सुन्दर है, अति मनोहर मुसकान है, जिसके समान श्रवण-पुट (कान) में मकराकार कुण्डल चमचमा रहे हैं, जो मेघ के समान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी और श्रीवत्स तथा लक्ष्मीजी का निवास-स्थान है, जो शख, चक्र, गदा, पद्म और वनमाला से विभूषित है, जिसके चरण-कमल नूपुरो से सुशोभित हैं, जो कौस्तुभमणि की आभा से सम्पन्न है, तथा जो सब ओर से कान्तिमय किरीट, कटक, करधनी, और अंगद (भुजबन्द) आदि आभूषणो से युक्त है, सर्वाङ्गसुन्दर और हृदयहारी है एव जिसके मुख और नेत्र प्रसन्नता प्रकट कर रहे है, उस मेरे सुकुमार शरीर का, उसके सब अगो में चित्त लगाते हुए, ध्यान करे।" ॥३८-४१॥**

पूर्वोक्त रूप का ध्यान एकाग्र मन से करे। ऊधो, जो वर्णन मैंने हृदय-कमल का व अपने रूप का किया है, उसका ध्यान पूर्ण एकाग्र हुए विना हो भी नही

सकता। कोई छोटे-से-छोटा अग या आभूषण भी ध्यान से बाहर न रहे। इससे जहा एक ओर मेरी सारी छवि ध्यान मे समा जाती है, साधक या भक्त मुझमे तल्लीन हो जाता है, वहा मानसिक व बौद्धिक लाभ भी बहुत होता है। सब अग-प्रत्यग का ध्यान करने से स्मरण-शक्ति व धारणा-शक्ति बढती है। सबका अलग-अलग व मेरे शरीर मे एक साथ दोनो तरह से चिन्तन करना पडता है, जिससे बुद्धि की विश्लेषण-शक्ति या सूक्ष्मावलोकन-शक्ति बढती है। एक पदार्थ, वस्तु या रूप पर ध्यान केन्द्रित करने से शरीर की सारी नसे, श्वास, प्रश्वास खिचकर एक ही स्थान पर मिलती हैं, जिससे नसो को अच्छा व्यायाम हो जाता है, और आराम से लेटने मे जो सुख मालूम होता है, वही थोडे अभ्यास के उपरान्त मालूम होने लगता है। पहले तो आसन, प्राणायाम व ध्यान के प्रारम्भ मे कुछ कष्ट अवश्य होता है, अटपटा-सा लगता रहता है, परन्तु धीरे-धीरे क्रम-क्रम से, वह श्रम या कष्ट नही मालूम होने पाता। जैसे शुरू दिन कसरत करने से दूसरे दिन बदन अकडा हुआ मालूम होता है, वैसे ही इस मानसिक या भीतरी अवयवो के व्यायाम से थोडे दिन कष्ट मालूम होता है, फिर तो ज्यो-ज्यो ध्यान जमने लगता है नसे अपने-आप झट मे केन्द्रित हो जाती है व ध्यान-मूर्ति स्पष्ट अवलोकन मे आने लगती है। जब मूर्ति पर ध्यान जम जाय तब आगे की प्रक्रियाओ का वर्णन सुनो—

**"बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि मन के द्वारा इन्द्रियो को उनके विषयो से खीचकर, उस मन को बुद्धिरूपी सारथि की सहायता से सर्वाङ्गयुक्त मुझमें ही लगा दे।" ॥४२॥**

मैंने यह सब कह तो बडी आसानी से दिया, लेकिन इसका प्रयोग व अभ्यास इतना आसान नही है। परन्तु यह सबके अनुभव की बात है कि कैसी भी मुश्किल बात क्यो न हो, 'करत करत अभ्यास के जड मति होत सुजान, रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान' के अनुसार करते रहने से यह सहज हो जाती है। जब ध्यान का अभ्यास करने लगते है तो पहले तो मन एक केन्द्र पर आता ही नही। अनेक विषयो मे भटकता रहता है। जो विषय प्रिय है, उनकी ओर बार-बार जाता है। अप्रिय विषय या भोग के सस्कार उमड-उमडकर, झपट-झपटकर, उझक-उझककर उसे कहते है, हमे क्यो छोड़ रहे हो ? व बार-बार अपना प्रभाव न हटने देने का यत्न करते हैं। जब साधक के निश्चय, आग्रह से उनका जोर नहीं जमने

पाता, तब भय, शका व चिन्ता के विचार व चित्र सामने आते हैं। ये पाप या दोष के सस्कार होते हैं, जो अपना पूरा भीषण चित्र हमारे सामने रख देते हैं। कभी साधक इनसे डर जाता है, कभी ग्लानि का अनुभव करता है व कभी इस ख्याल से हलकापन भी अनुभव करता है कि चलो इनका अधिक-से-अधिक भीषण रूप मालूम हो गया। पहले प्रलोभन के और दूसरे भय के चित्र होते है। साधक दृढ रहे तो ये अपने-आप विलीन हो जाते हैं व इष्ट रूप मे ध्यान जम जाता है। जब-जब ऐसे दूसरे विचार मन मे आवें तब-तब साधक मन को समझाकर या आग्रहपूर्वक उनकी ओर से हटाकर मुझीमे लगाने का प्रयत्न करे। इसमे बुद्धि उसकी सहायक होगी। वह सारथि का काम देती है। उचित-अनुचित, ग्राह्य व त्याज्य की जागृति वह कायम रखती है, जिससे मन को भिन्न विचारो के साथ लडने व इष्ट रूप मे ही लगे रहने की प्रेरणा व बल मिलता है। एक उपाय यह भी है कि जो भी भले-बुरे विचार व भाव आते हो वे आने दिये जाय, साधक सिर्फ उन्हे याद रखता चला जाय। उनमे लिप्त होने से अपनेको बचावे। साक्षी रहकर उन्हे देखता या याद रखता चला जाय। या तो अच्छे विचार ज्यादा आवेंगे या बुरे। अगर अच्छे विचार ज्यादा आयें तो वह इस बात से खुश हो कि मेरे सस्कार अच्छे ज्यादा हैं, अत मुझे शीघ्र सिद्धि मिल जायगी। यदि बुरे विचार ज्यादा आते हैं, तो उसे अपने पतन की गहराई मालूम हो जायगी और वह उसमे ऊपर उठने मे अधिक ध्यान लगावेगा। उसे अपने-आप पर ग्लानि होने लगेगी, पश्चात्ताप होने लगेगा, जिसका फल यह होगा कि वे विचार, भाव या चित्र धीरे-धीरे अपने-आप आने बन्द हो जायगे। केवल अच्छे विचार या भाव आते रहेगे। अब उनमे से किसी एक विचार ही का चिन्तन करते रहो।

"सब ओर फैले हुए चित्त को खींचकर एक स्थान में स्थिर करे और फिर अन्य अगो का चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुसकान-युक्त मुख का ही ध्यान करे।" ॥४३॥

जब सर्वांग मे चित्त लगने लगे तब और अगो को छोडकर सिर्फ एक ही अग मे उसे स्थिर करे। सबसे अच्छा अग मेरा मुसकान-युक्त मुख है। दूसरे किसी अग का या भाव का विचार मन मे न आने दे। केवल मुख पर ही एकटक दृष्टि लगी रहे। वैसी ही जैसी कि तेल के कडाव में मछली की आख की केवल पुतली ही अर्जुन को दीखती थी।

**"मुखारविन्द में चित्त को स्थिर करे, तदनन्तर उसको भी त्यागकर मेरे शुद्ध स्वरूप में आरूढ़ हो और कुछ भी चिन्तन न करे।" ॥४४॥**

जब मुख मे ध्यान स्थिर हो जाय तब मुख को हटाकर केवल आकाश मे जमावे। अर्थात् मुख का चित्र सामने से हटाकर अखण्ड व व्यापक नीलिमा की ही कल्पना ध्यान मे लावे। जब आकाश के सिवा कुछ न दीखने लगे, ऐसा प्रतीत होने लगे कि मैं खुद उस अखण्ड विस्तृत नील-सागर मे डूब रहा हू, तन्मय हो रहा हू तब मेरे शुद्ध-स्वरूप मे आरूढ होकर किसी दूसरी बात का विचार या चिन्तन न करे। जब वह नीलिमा भी न दीखने लगे, व ऐसा मालूम हो मानो नीलिमा का दृश्य, तुम्हारी आखे अर्थात् देखने की शक्ति, व तुम अर्थात् देखनेवाले तीनो एक-रूप हो रहे हो तब जो अनुभव होता है वही मेरे शुद्ध रूप का अनुभव समझो। इस स्थिति मे जितनी अधिक देर तक रहोगे उतना ही मेरे दर्शन का लाभ मिलेगा। यही समाधि-दशा है। ध्यानयोग के द्वारा इस विधि से मुझमे पहुचा जा सकता है। बाज-बाज भक्त भजन, धुन, सकीर्त्तन, जप आदि साधनो से भी इसी अवस्था को पहुच जाते है।

**"इस प्रकार चित्त के वशीभूत हो जाने पर, जिस प्रकार एक ज्योति मे दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार अपने में मुझको और मुझ सर्वात्मा में अपने-आपको देखता है।" ॥४५॥**

इस प्रकार जब चित्त एकाग्र हो जाता है तब साधक अपने मे मुझको और मुझ सर्वात्मा को अपने मे देखता है, अर्थात् दोनो मे अभिन्नता, एक-रूपता, तन्मयता का अनुभव करता है। जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योति मे मिलकर एक हो जाती है उसी तरह।

**"इस प्रकार तीव्र ध्यान-योग के द्वारा चित्त का संयम करनेवाले योगी के चित्त का द्रव्य, ज्ञान और कर्मसम्बन्धी भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है।" ॥४६॥**

इस तरह तीव्र ध्यान-योग से जब चित्त का सयम हो जाता है तब द्रव्य अर्थात् पदार्थ-सम्बन्धी, ज्ञान-सम्बन्धी व क्रिया-सम्बन्धी उसका भ्रम निवृत्त हो जाता है। अबतक उसके चित्त को जो यह भ्रम हो रहा था कि ये सृष्टि के पदार्थ या जगत् मुझसे भिन्न है, इनका ज्ञान प्राप्त या ग्रहण करनेवाला 'मैं' हू, समस्त कर्मों या क्रियाओ का भी कर्त्ता मै हू, या ये पदार्थ इनका ज्ञान व इनमे होनेवाली इनकी विविध क्रियाए एक-दूसरे से भिन्न है, यह ख्याल बदलकर सब जगह व सब बात

मे एकता-पूर्ण, अखण्ड एकता का अनुभव होने लगता है। वैसी ही वृत्ति जब जागृति-काल मे, जीवन के प्रत्येक व्यापार मे चौबीसो घटे हो जाय तो वही मनुष्य मुक्त कहलाता है।[1]

---

[1] जीव चार प्रकार के होते हैं—बद्ध, मुमुक्षु, साधक, सिद्ध या मुक्त

बद्ध के लक्षण—अधा होकर अधकार मे चलनेवाले को जैसे दसो दिशाए शून्य मालूम होती हैं वैसा बद्ध होता है। भक्त, ज्ञाता, तापसी, योगी, विरक्त, सन्यासी उसे नही दिखाई देते। कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म नही दीखते। सत् शास्त्र, सत्सग, सत्पात्र, सन्मार्ग नही दीखते। सारासार-विचार नही, स्वधर्माचार नही। दान, पुण्य, परोपकार नही, भूत-दया, शुचिता नही। जनो को सुख देनेवाला मृदुवचन भी नही, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, योग, के साधन नही। निश्चयात्मक देव-सतो का विवेक, परमार्थ का लक्षण मालूम नही। अध्यात्म-निरूपण सुना नही। अपनेको आप जानता नही। जीवो का जन्म-फल जाना नही। बन्ध-मोक्ष का विचार किया नही। आत्मवस्तु का पता नही। अपने सकल्प से बधे हुए, दया, क्षमा, करुणा, मैत्री, नही। दम्भ, दर्प, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, मत्सर, कृतघ्नता, कपट, कुतर्क इत्यादि, भ्रष्ट, अनाचारी, स्वार्थी, कुटिल, विवादी, मूर्ख, वाचाल, पाखण्डी, कठोर, कृपण।

मुमुक्षु—अनुतापी—आगे की चिन्ता करनेवाला।

साधक—ससार-उपाधि से छूटनेवाले का नाम साधक। अविद्या व प्रपच से छूटे वह साधक। यह भेद, अहकार, सकल्प, विकल्प, गर्व, स्वार्थ, अनर्थ, द्वेष, रोष आदि परमार्थ के शत्रुओ को हरा देता है।

सासारिक साधक—निस्पृह मे अतस्त्याग, व बहित्याग दोनो होते हैं। सासारिक मे अतस्त्याग होता है, बहित्याग धीरे-धीरे सधता है। अभाव, सशय, अज्ञान का त्याग मुख्य है। आत्मा भाव-रूप, माया अथवा देहादि सम्बन्ध अभाव-रूप, अत माया का त्याग होता है।

साधक की सदेह-वृत्ति निवृत्त हो जाती है। उसके होते ही वह सिद्ध हो जाता है। सदेह-रहित ज्ञान, निश्चल वस्तु-रूपता, सिद्ध का मुख्य लक्षण है। कर्म-मार्ग सशयपूर्ण है, साधन-मार्ग मे विघ्न है। परन्तु सिद्ध नि सदेह व निश्चयी होता है। नि सदेहता व समाधान सिद्ध का मुख्य लक्षण है।

: १५ :

# सिद्धियां

[ इसमे भिन्न-भिन्न शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक सिद्धियो के नाम व उपाय बताये है। वर्तमान आविष्कार उनमे से कई सिद्धियो को प्रत्यक्ष कर रहे है। किन्तु भगवान् ने साधको को चेतावनी दी है कि वे सिद्धियो के चक्कर मे न पडकर मुझे ही पाने का यत्न करे।]

**"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव ! जितेन्द्रिय, स्थिरचित्त, श्वास को जीतनेवाले और मुझमें ही चित्त स्थिर रखनेवाले योगी को सिद्धियो की प्राप्ति होती है।" ॥१॥**

मैंने जो ध्यान-योग बताया है, उसके सिलसिले मे जब साधक की इन्द्रिया उसके वश मे हो जाती है, चित्त स्थिर हो जाता है, श्वास पर उसका नियंत्रण हो जाता है, और चित्त एकमात्र मुझीमे स्थिर रहने लगता है, तब उसे अनेक प्रकार की सिद्धिया प्राप्त होती है। लेकिन जिसे मेरी चाह है,उसे इन सिद्धियो के फेर मे न पडना चाहिए। इससे साधना घटती है, तप क्षीण होता है। इन्हे एक प्रकार का महाव्यामोह या भवर-जाल ही समझो, कभी प्रसंग से लोकोपकार के लिए इनका उपयोग किया जाय तो भले ही, परन्तु कोरा चमत्कार दिखाने या उसके द्वारा अपनी व योग की महिमा बढाने का उद्योग करना अनुचित है।

**"उद्धवजी बोले—हे अच्युत, योगियो को सिद्धि देनेवाले आप ही हैं, अतः कृपया बतलाइये कि किस धारणा से, किस प्रकार, कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और सम्पूर्ण सिद्धिया कितनी हैं?" ॥२॥**

जब आपने सिद्धियो का जिक्र किया ही है तो मुझे भी यह बता दीजियेगा कि कुल सिद्धिया कितनी हैं और किस धारणा से कौन-सी सिद्धि मिलती है? योगियो के सिद्धिदाता तो आप ही है। अत., आप ही मुझे इनका परिचय देने की कृपा

कीजिये ।

"श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव, धारणायोग के पारदर्शियो ने सब सिद्धियां अठारह बतलाई हैं, उनमें से आठ में मेरी प्रधानता है, और दश गौणी अर्थात् सत्त्वगुण के उत्कर्ष से होनेवाली हैं।" ॥३॥

ऊधो सिद्धियो का सम्बन्ध धारणा-योग से है, उनके पारदर्शियो ने कुल अठारह सिद्धिया वताई हैं, जिनमे से आठ मे मेरी प्रधानता है अर्थात् वे या तो मुझीमे पाई जाती हैं या योगी के मद्रूप हो जाने पर प्राप्त होती हैं। शेष दस गौणी कहलाती हैं, जो सत्त्वगुण के उत्कर्ष से सिद्ध होती हैं।

"अणिमा, महिमा और लघिमा शरीर की सिद्धिया है, प्राप्ति नाम की सिद्धि का सम्बन्ध इन्द्रियो से है, सुने (पारलौकिक) और देखे हुए (लौकिक) पदार्थों का इच्छानुसार अनुभव कर लेना प्राकाश्य नाम की सिद्धि है तथा माया और उसके कार्यों को इच्छानुसार प्रेरित कर सकना ईशता है।" ॥४॥

"विषयो मे (उनके समीपस्थ रहते हुए भी) आसक्त न होना 'वशिता' है तथा इच्छित पदार्थों की जो चरम सीमा को प्राप्त कर लेता है (वह 'प्राकाम्य' नाम की सिद्धि आठवीं है) हे सौम्य, ये आठ सिद्धिया मुझे स्वभाव से ही प्राप्त हैं।" ॥५॥

पहले मेरी आठ सिद्धिया सुन लो। वे हैं—'अणिमा', 'महिमा', 'लघिमा', 'प्राप्ति', 'प्राकाश्य', 'ईशता', 'वशिता', 'प्रकामता'। इनमे प्रथम तीन—अर्थात् 'अणिमा', 'महिमा' व 'लघिमा' शरीर की सिद्धिया हैं। इनका सम्बन्ध शरीर को स्वेच्छानुसार छोटा या वडा कर लेने से है। 'प्राप्ति' का सम्बन्ध—इन्द्रिय-जय से है, सुने (पारलौकिक) और देखे हुए (लौकिक) पदार्थों का इच्छानुसार अनुभव कर लेना 'प्राकाश्य'—सिद्धि कहलाती है। माया तथा उसके कार्यों को इच्छानु-सार प्रेरित कर सकना 'ईशिता' है, विषयो के समीप रहते हुए भी उनमे आसक्त न होना 'वशिता' है, तथा इच्छित पदार्थों की चरमसीमा को प्राप्त कर लेना 'प्राकाम्य' सिद्धि कहलाती है। ये आठ सिद्धिया मुझे स्वभाव से ही प्राप्त हैं।

"इस शरीर में क्षुधा-पिपासा आदि छ ऊर्मियो (शारीरिक वेगो) का न होना दूर-श्रवण तथा दूर-दर्शन, मन के समान शीघ्र-गति हो जाना, इच्छानुकूल रूप धारण कर लेना, अन्य शरीर में प्रवेश कर जाना, स्वेच्छा-मृत्यु, देवागनाओ के साथ होनेवाली देवताओ की क्रीडाओ का दर्शन, जैसे सकल्प हो उसीका सिद्ध

हो जाना, (जिसका कोई उल्लंघन न कर सके, ऐसी) आज्ञा और (लोकान्तरों में) बिना रोक-टोक गति—(ये दश सिद्धियां सत्त्वगुण के उत्कर्ष से होती हैं)।" ॥६-७॥

"(इनके अतिरिक्त) त्रिकालज्ञता, निर्द्वन्द्वता (शीत-उष्ण, सुख-दु.ख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वो से अभिभूत न होना, दूसरे के चित्त आदि की बात जान लेना, अग्नि, सूर्य, जल, विष आदि की शक्ति को वांध देना और किसीसे भी पराजित न होना (ये पाच सिद्धिया और भी है)। ये योग-धारण की सिद्धियां नाम-निर्देशपूर्वक बताई गई। अब इनमें से जो सिद्धि जिस धारणा से और जिस प्रकार से होती है—यह भी मुझसे जान लो।" ॥८-९॥

"जो पुरुष तन्मात्रारूप मन को मुझ भूतसूक्ष्मोपाधिक (तन्मात्रारूप) पर-मात्मा में स्थिर करता है, वह मेरा तन्मात्रोपासक 'अणिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त करता है।" ॥१०॥

अणिमा सिद्धि को पाने के लिए साधक को तन्मात्रा-रूप अपना मन—अर्थात् मन का सूक्ष्म वीज-रूप मेरे तन्मात्रा-रूप मे स्थिर करे। ये जो स्थूल-भूत दिखाई पडते है इनके सूक्ष्म, अदृश्य अश या रूप को तन्मात्रा कहते हैं, यह पहले वता चुका हू। मेरे उस सूक्ष्म रूप का ध्यान अपने मन के सूक्ष्म रूप से करना चाहिए—अर्थात् दोनो के सूक्ष्म जगत् का तादात्म्य होना चाहिए। जव ऐसा होने लगे तो योगी मे अणिमा रूप धारण करने का सामर्थ्य आ जाता है।

"मुझ महत्तत्त्वरूप परमात्मा में मन को महत्तत्त्वरूप से ही धारणा करनेवाला पुरुष 'महिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त करता है, और इसी प्रकार (पचभूतो-पाधिक मुझमें मन को लगाने से) पृथक्-पृथक् भूतो की 'महिमा' प्राप्त कर लेता है।" ॥११॥

'महिमा' को प्राप्त करने के लिए मेरे महत् तत्त्व रूप मे मन की महत् तत्त्व रूप से ही धारणा करनी चाहिए। दोनो की महत्ता या व्यापकता का जव मेल हो जायगा तो शरीर को चाहे जितना वडा वनाने की शक्ति प्राप्त हो जायगी। 'अणिमा' मे जहा सूक्ष्म रूप की सूक्ष्म रूप से धारणा है, तहा 'महिमा' मे महान् रूप की महान् रूप से धारणा है।

इसी प्रकार मेरे पचभूतात्मक रूपो मे—अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी मे मन की धारणा करने से साधक इनकी पृथक्-पृथक् महिमा को प्राप्त कर लेता है। इन भूतो के जैसे गुण व शक्ति प्रदर्शित करने की क्षमता उसमे आ जाती

है।

"(वायु आदि चार भूतों के) परमाणुरूप उपाधिवाले मेरे स्वरूप में चित्त को लगा देने से योगी काल की सूक्ष्मता रूप 'लघिमा' सिद्धि को प्राप्त करता है।" ॥१२॥

अब वायु, तेज, जल व पृथ्वी इन चार भूतो के परमाणु-रूप मेरे स्वरूप मे अपने चित्त को लगाने से योगी काल की सूक्ष्मता-रूप लघिमा-सिद्धि को पा जाता है। इस सिद्धि को प्राप्त योगी आकाश की तरह अन्यत्र सूक्ष्म देश मे रह सकता है।

"सात्त्विक अहकाररूप मुझ परमात्मा में चित्त की धारणा करने से मेरा ध्यान करनेवाला समस्त इन्द्रियो का अधिष्ठातृस्वरूप 'प्राप्ति' नामक सिद्धि पाता है।" ॥१३॥

"जो पुरुष मुझ महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मा में अपने चित्त को स्थिर करता है, वह मुझ अव्यक्तजन्मा की 'प्राकाश्य' नामक सर्वश्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करता है।" ॥१४॥

वैसे मेरा जन्म अव्यक्त है, फिर भी वह मुझे व्यक्त की तरह देख सकता है।

"जो त्रिगुणमयी माया के स्वामी मुझ काल-स्वरूप विष्णु भगवान् में चित्त की धारणा करता है, वह क्षेत्रज्ञ (जीव) को अपनी इच्छानुसार प्रेरित करने की शक्तिवाली 'ईशित्व' सिद्धि पाता है (अर्थात् सृष्टि और सहारादि कर सकता है)।" ॥१५॥

अब 'ईशिता' कैसे मिलती है सो सुनो। त्रिगुणमयी माया का मैं स्वामी हू, यह पहले बता चुका हू। विष्णु भी मेरा ही रूप है, यह भी बता चुका हू। काल भी मेरा ही स्वरूप है। अत· काल-रूप विष्णु भगवान् मे जो चित्त की धारणा करता है, वह 'ईशित्व' को पा जाता है, जिससे क्षेत्र अर्थात् शरीरादि व क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव को अपनी इच्छानुसार प्रेरित कर सकता है। इस सिद्धि के द्वारा वह सृष्टि व सहार आदि कर सकता है।

"जो योगी भगवत्—शब्द से कहे गए मुझ तुरीय संज्ञक नारायण में मन लगा देता है, वह मेरे स्वभाव से युक्त हुआ योगी 'वशिता' नाम की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।" ॥१६॥

"मुझ निर्गुण ब्रह्म में ही अपने निर्मल चित्त को स्थिर करके योगी परमानन्द-स्वरूपिणी 'प्राकाम्य' नाम की सिद्धि प्राप्त करता है, जिसके मिलने पर सम्पूर्ण

कामनाओ का अन्त हो जाता है ।" ॥१७॥

यहातक अष्ट महासिद्धियों के साधन का वर्णन हुआ। अब दस साधारण सिद्धियो के साधन सुनो।

"हे उद्धव, मुझ धर्ममय शुद्ध-स्वरूप श्वेत द्वीपाधिपति में चित्त की धारणा करने से योगी (जन्म, मरण, क्षुधा, तृष्णा, शोक और मोह-रूप) छः ऊर्मियों से मुक्त होकर शुद्ध स्वरूपता को प्राप्त हो जाता है।" ॥१८॥

"समष्टि प्राणरूप मुझ आकाशात्मा-परमात्मा में मन के द्वारा नाद का चिंतन करता हुआ जीव (दूर-श्रवण नामक सिद्धि से) आकाश में उपलब्ध होनेवाली विविध प्राणियों की बोलियो को सुन सकता है।" ॥१९॥

"नेत्रो को सूर्य में और सूर्य को नेत्रों में संयुक्त करके उन दोनो के संयोग में मन-ही-मन मेरा ध्यान करने से सूक्ष्मदर्शी योगी (दूर-दर्शन नामक सिद्धि से) सारे संसार को देख सकता है।" ॥२०॥

"मन और देह को उनके अनुगामी प्राण-वायुसहित मुझमें भली प्रकार जोड़कर मेरी धारणा करने से ('मनो-जव' नामक सिद्धि मिलती है, जिसके प्रभाव से) जहा चित्त जाता है वहीं शरीर भी पहुच जाता है।" ॥२१॥

"मन को उपादान कारण बनाकर योगी जिस समय जैसे रूपवाला होना चाहता है वैसे ही मनोनुकूल रूपवाला हो जाता है। मुझमें की हुई योग-धारणा का बल ही उसके ऐसा होने में कारण है।" ॥२२॥

"जो योगी पर-शरीर में प्रवेश करना चाहे, वह उसमें अपने आत्मा की भावना करे, ऐसा करने से वाह्य वायु रूप हुआ प्राण (प्राण-प्रधान लिंग शरीरोपाधिक आत्मा) एक फूल से दूसरे फूल में जानेवाले भ्रमर की भांति उसके शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जायगा।" ॥२३॥

"(योगी को यदि शरीर छोड़ना हो तो) एड़ी के द्वारा गुदा-द्वार को दबाकर प्राण-वायु को क्रम से हृदय, वक्ष-स्थल, कंठ और मूर्धा में ले जाकर फिर ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा उसे ब्रह्म को प्राप्त कराके शरीर त्याग दे।" ॥२४॥

"देवताओ के विहार स्थलो में क्रीड़ा करने की इच्छा हो तो मुझमें स्थित शुद्ध सत्त्व की भावना करे। इससे सत्त्व-वृत्ति-रूपिणी सुर-सुन्दरियां विमानादि के सहित उपस्थित हो जाती हैं।" ॥२५॥

"मुझ सत्य स्वरूप मे चित्त को स्थिर करके मेरा ध्यान करनेवाला पुरुष बुद्धि

के द्वारा जिस समय जैसा संकल्प करता है उसे तत्काल वही प्राप्त हो जाता है।" ॥२६॥

"जो पुरुष मुझ सर्व-नियता और नित्य स्वाधीन परमात्मा के स्वभाव को प्राप्त हो जाता है, उसकी आज्ञा का भी मेरी आज्ञा के समान कहीं उल्लघन नहीं हो सकता।" ॥२७॥

"(अब लघु सिद्धियों के साधनों को सुनो)। मेरी भक्ति के द्वारा जिस धारणा-परायण योगी का चित्त शुद्ध हो गया है, उसकी बुद्धि जन्म-मृत्यु आदि अदृष्ट विषयो के ज्ञान से मुक्त एव त्रिकालदर्शिनी हो जाती है।" ॥२८॥

"जैसे जल जल-जन्तुओ का नाश नहीं करता उसी प्रकार जिसका चित्त मुझमें लगे रहने से शिथिल हो गया है, उसके योगमय शरीर का अग्नि आदि किसीसे नाश नहीं होता।" ॥२६॥

"जो कोई श्रीवत्स व शख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुधो से विभूषित, तथा ध्वज, छत्र, व्यजन आदि से अलकृत मेरे अवतारो का ध्यान करता है, वह अजेय हो जाता है।" ॥३०॥

"इस प्रकार योग-धारणा के द्वारा मेरी उपासना करनेवाले मुनि को पूर्वोक्त समस्त सिद्धिया पूर्णतया प्राप्त हो जाती हैं।" ॥३१॥

"जो जितेन्द्रिय, सयमी व प्राण को जीतनेवाला है, निरन्तर मेरी ही धारणा करनेवाले उस मुनि को ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो दुर्लभ हो।" ॥३२॥

"(किन्तु) उत्तम योगाभ्यास के करते-करते जिसका चित्त मुझमें लग गया है उस योगी के लिए ये सिद्धिया व्यर्थ कालक्षेप की कारण होने से विघ्नरूप ही कही गई है।" ॥३३॥

किन्तु ऊधो, सच पूछो तो जो उत्तम योगाभ्यासी है और मुझमे ही जिसका मन रम गया है, उसके लिए ये सिद्धिया व्यर्थ हैं। केवल उसका समय ही इनसे बरबाद हो सकता है, क्योकि मेरी प्राप्ति के सामने ये बिल्कुल तुच्छ हैं। समुद्र पार जानेवाले का जैसे पसीने के पीछे पडना, या रत्न को छोडकर जैसे काच के टुकडो मे मोहित होना मूर्खता है वैसे ही मेरी सिद्धि को छोडकर अन्य सिद्धियो के फेर मे पडना है। इनमे उलटा उनकी प्रगति मे बाधा पडती है।

"इस लोक में जन्म, ओषधि, तप और मत्र आदि से प्राप्त होनेवाली जितनी सिद्धिया हैं उन सभीको पुरुष योग द्वारा प्राप्त कर सकता है, किन्तु योगी की गति

**(सालोक्य, सारूप्यादि, मुक्ति) (मुझमें चित्त लगाने के सिवा) किसी अन्य साधना से नहीं मिल सकती।" ॥३४॥**

सिद्धया मनुष्य कई साधनो से प्राप्त कर सकता है। किसीको जन्म से ही कोई सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसी कई जातिया हैं, जिन्हे जन्म से ही साप पकडने आदि जैसी सिद्धि मिली हुई है। वनस्पति के प्रयोग से भी कई सिद्धिया मिलती हैं, जैसे कीमिया, व इन्द्रजाल के खेल। मन्त्र से साप का जहर उतार देना, कई रोगो को अच्छा कर देना, आदि सिद्ध हो जाते है। तप से वाचा-सिद्धि, सकल्प-सिद्धि हो जाती है। ये सब सिद्धिया योग से मिल सकती हैं। परन्तु योग का जो अन्तिम फल या गति है—सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्ति—सो मुझमे चित्त लगाने के सिवा अन्य सावन से नही मिल सकती।

**"समस्त सिद्धियो का तथा ब्रह्म-वेत्ताओ के (बतलाये हुए) योग, सांख्य और धर्म आदि साधनो का एकमात्र मैं ही हेतु, स्वामी और प्रभु हूं।" ॥३५॥**

फिर एक वात तुम अच्छी तरह समझ रक्खो कि समस्त सिद्धियो के जितने साधन हैं, या ब्रह्मवेत्ता लोग योग, साख्य, धर्म आदि जो विविध उपाय वताते हैं उन सवका एकमात्र हेतु, स्वामी व प्रभु मैं ही हू। अत जिसने मुझे पा या साध लिया है उसे इन अलग-अलग साधनो के फेर मे पड़ने की जरूरत नही रहती। शहद का छत्ता पा जाने पर यदि कोई फूलो का रस पाने के लिए अलग-अलग फूलो पर भटके तो उसे जैसे मूर्ख कहेगे वैसे ही वे लोग हैं, जो मेरी प्राप्ति को छोडकर सिद्धियो के पीछे भटकते हैं। ये सव सिद्धिया किसी-न-किसी रूप मे 'सकल्प सिद्धि' मे समा जाती हैं। धारणा से मन एकाग्र हो जाता है। उस अवस्था मे जो भी सकल्प मन मे उठते हैं वे जैसे खुद योगी को प्रत्यक्ष दीखते हैं वैसे ही दूसरो को भी दीख जाते हैं। सामनेवालो के मन पर योगी के उस सकल्प का ऐसा परिणाम हो जाता है कि उसे वही वस्तु प्रत्यक्ष दीखने लगती है जो योगी के मन मे होती है। लेकिन मेरी प्राप्ति के मुकावले मे ये सव थोथी वातें हैं।

**"जिस प्रकार गो-घटादि भूतो में पाचो भूत बाहर-भीतर सब ओर स्वयं अव-स्थित हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण आवरणो से रहित स्वय मैं ही समस्त प्राणियों का बाह्य (व्यापक) और अन्तर (अन्तर्यामी) आत्मा हूं (अर्थात् द्रष्टा, क्षेत्रज्ञ और दृश्य क्षेत्र दोनो मे मेरे ही स्वरूप हैं।" ॥३६॥**

जितने भी पदार्थ या भूत हैं जैसे गाय, घड़ा, पेड़ आदि इनमे पाचो भूत

भीतर-बाहर सब ओर अवस्थित हैं। उसी प्रकार मैं सम्पूर्ण आवरणो से रहित अपनी अवस्था मे, समस्त प्राणियो का बाह्य अर्थात् व्यापक और अतर अर्थात् अन्तर्यामी आत्मा हू।

या यो कहो कि द्रष्टा व क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा रूप से, व दृश्य अथवा क्षेत्र अर्थात् जगत् रूप से मैं ही ससार मे व्याप्त हू, ये दोनो मेरे ही स्वरूप हैं। इसीलिए एक के मन के सकल्प दूसरे के सामने प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

## : १६ :

# विभूतियां

"उद्धवजी बोले—हे प्रभो, आप साक्षात् अनादि, अनन्त और आवरणशून्य परब्रह्म हैं तथा आप ही समस्त पदार्थों की रक्षा, नाश और उत्पत्ति के आदि कारण हैं।" ॥१॥

"आप समस्त ऊंच-नीच प्राणियों में स्थित हैं तथापि अशुद्धबुद्धि पुरुषो के लिए आप सर्वथा दुर्विज्ञेय हैं, आपकी यथोचित उपासना तो ब्राह्मण ही करते हैं।" ॥२॥

जब श्रीकृष्ण ने अपनी उपासना व अपना ध्यान करने, अपने मे ही मन लगाने पर जोर दिया तो उद्धव ने पूछा कि आपकी उपासना करे कैसे ? आपका न तो आदि है, न अत, न कोई आवरण या उपाधि ही है, जिससे किसी लघु या बुद्धि-मनोगम्य रूप मे आपकी उपासना करे। आप शुद्ध परब्रह्म हैं। ससार मे जो कुछ भी बनता, रहता, या बिगडता है उसके आदि कारण रूप मे आप उपलब्ध होते हैं। फिर आपको पावे कहा ? आप कहा नही हैं ? ऊचे-से-ऊंचे व नीचे-से-नीचे प्राणियो मे आप स्थित हैं। ऐसी दशा मे जो लोग अज्ञानी, अपढ या अशुद्ध बुद्धि के हैं, उनकी पहुच आपके इस रूप तक तो हो नही सकती। जो परम विद्वान् या ज्ञानी अर्थात् ब्राह्मण हैं वे ही आपकी ऐसी उपासना कर सकते हैं। मुझे तो आप कोई सरल उपाय व ऐसा रूप बताइये, जिससे सब लोग आप तक पहुच सके, आपकी भली-भाति उपासना कर सके।

"हे नाथ, जिन-जिन भावो द्वारा आपकी भक्तिपूर्वक उपासना करके श्रेष्ठ महर्षिगण सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे सब आप मुझसे कहिये।" ॥४॥

"हे भूतभावन, आप प्राणियो के अन्तरात्मा हैं, समस्त प्राणियो में आप गुप्त-रूप से लीला करते हैं। आप उन सबको देखते हैं, तथापि आपकी माया से मोहित

**हुए वे आपको नहीं देख पाते ।"**

**"हे महाविभूते, पृथिवी, स्वर्ग, पाताल तथा दिशान्तरो में आपके प्रभाव से युक्त आपकी जो-जो विभूतिया हैं, वे सब आप मुझसे कहिये, मैं सम्पूर्ण तीर्थों के आश्रयभूत आपके चरण-कमलो की वन्दना करता हू ।" ॥५॥**

अत आप वे सब रूप या विभूतिया मुझे बताइये जिन-जिनका आश्रय लेकर साधारण भक्त जन आपकी उपासना कर सकें। इसकी जरूरत इसलिए भी है कि साधारण लोग आपके रूप को देख नही पाते, आप तो अन्तर्यामी रूप से घट-घट मे रहते हैं, अत सबको देख लेते है, किन्तु वे आपकी माया से विमोहित होने के कारण अन्तर्दृष्टि न होने से, उस रूप को नही देख पाते। अत आप पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल आदि मे जो-जो अपनी विभूतिया हैं वे सब बता दे तो उन्हे बडी सहूलियत हो जाय, ये उनमे से आपके किसी भी प्रत्यक्ष रूप का आश्रय लेकर उपासना करने लगेंगे।

**"श्री भगवान् बोले—हे प्रश्नकर्त्ताओ में श्रेष्ठ उद्धव, कुरुक्षेत्र में शत्रुओ से युद्ध करने के लिए तत्पर हुए अर्जुन ने भी मुझसे यही प्रश्न किया था ।" ॥६॥**

**"मै मारनेवाला हू, ये मरनेवाले हैं ऐसी प्राकृत बुद्धि से युक्त हो राज्य के लिए जाति-बन्धुओ के वध को निन्दनीय पाप समझकर वह युद्ध से उपरत हो गया था ।" ॥७॥**

**"उस समय जब उस युद्धक्षेत्र में मैंने उस पुरुषसिंह को युक्तिपूर्वक समझाया तो उसने भी तुम्हारे समान ही यह प्रश्न मुझसे किया था ।" ॥८॥**

ऊधो, भारती युद्ध के समय अर्जुन ने भी मोह-ग्रस्त होकर ऐसा ही प्रश्न मुझसे पूछा था। उसके मन मे यह अज्ञान भर गया था कि 'मै मारनेवाला हू' ये सब मरेंगे और मरनेवाले है, तब मैंने उसे बहुतेरी युक्तियो से समझाया था (उन्हे पाठक गीता मे देख लेने की कृपा करें)। मैंने कहा था कि मारनेवाला तो ईश्वर या इनके कर्म है। तू क्यो यह बोझ अपने सिर पर लिये फिरता है ? गाडी के नीचे चलनेवाला कुत्ता जैसे समझता है कि मेरे ही बल गाडी चल रही है। तू तो निमित्त मात्र है। फिर मरता तो केवल देह है, आत्मा नही। और देह तो एक दिन छूटने ही वाला है। ये तो अपने कर्मो से पहले ही मर चुके है, तेरा तो अब नाममात्र का सहारा इनकी मृत्यु मे होनेवाला है। तो उस अवसर पर उसने भी ऐसी ही जिज्ञासा की थी। उस समय तो मैं सक्षेप मे थोडी-सी ही विभूतिया उसे बता पाया था,

तुम्हे जरा विस्तार से सुना देता हू ।

**"हे उद्धव, मै इन प्राणियो का आत्मा, सुहृद् और स्वामी हूं, ये सब भूत भी मै ही हू और इनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण भी मै ही हूं ।" ॥९॥**

वैसे तो ऊधो ! तुम इस एक बात को खूब याद रख लो कि इन समस्त प्राणियो का आत्मा, सुहृद्, स्वामी सबकुछ मैं ही हू । इनकी उत्पत्ति, स्थिति व लय का कारण भी मैं ही हू । अतः सारे ससार मे मैं ही फैला हुआ हू । किसी भी पदार्थ व जीव को तुम लोगे तो वह मेरा ही रूप होगा । फिर भी जिसमे जो विशेषता दीखती है, विशिष्ट गुण, शक्ति, क्रिया, तेज, बल, औदार्य, पुरुषार्थ, दया, क्षमा, तितिक्षा दिखाई दे, वही मेरा तत्त्व उसमे समझो । उसी रूप मे मैं उसमे निवास करता हू । उस विशेपता या चमक को देखकर ही मेरी विभूति की पहिचान कर सकते हो ।

**"गतिशीलों में गति, कलना (अपने अधीन) करनेवालो मे काल, गुणो म समता तथा गुणियो में उनका स्वाभाविक गुण मै हूं ।" ॥१०॥**

**"गुणयुक्त वस्तुओ में मै सूत्रात्मा हू, महानो मे महत्तत्त्व हूं तथा सूक्ष्मों मे जीव और दुर्जयो में मन हूं ।" ॥११॥**

**"मै वेदो का (अध्यापक) हिरण्यगर्भ हूं, मन्त्रो मे त्रिवृत् ओंकार हूं, अक्षरों में अकार हूं तथा छन्दों मे गायत्री हू ।" ॥१२॥**

**"सम्पूण देवताओ मे मै इन्द्र हूं, अष्ट वसुओ मे मै अग्नि हूं, द्वादश आदित्यों मे विष्णु हूं तथा ग्यारह रुद्रो मे नीललोहित नामक रुद्र हू ।" ॥१३॥**

**"मै ब्रह्मऋषियो में भृगु हू, राजऋषियो में मनु हूं, देवऋषियो मे नारद हूं, और धेनुओ (गायो) में कामधेनु हू ।" ॥१४॥**

**"सिद्धेश्वरो मे मै कपिल हूं, पक्षियो में गरुड़ हूं, प्रजापतियो में दक्ष हूं और पितृगण में अर्यमा हूं ।" ॥१५॥**

**"हे उद्धव, मुझे दैत्यो में दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्रो और ओषधियो में सोम (अर्थात् नक्षत्रो में चन्द्रमा और ओषधियो मे सोमरस) तथा यक्ष-राक्षसो में कुबेर जानो ।" ॥१६॥**

**"मुझे गजराजो में ऐरावत, जलनिवासियो में उनका प्रभु वरुण, ताप देनेवाले और दीप्तिशालियो में सूर्य तथा मनुष्यो में राजा जानो ।" ॥१७॥**

**"मै घोड़ो में उच्चैःश्रवा, धातुओ में सुवर्ण, दण्डधारियो में यम और सर्पो में**

वासुकि हू।" ॥१८॥

"हे निष्पाप उद्धव, मै नागराजाओ में शेषनाग, सींग और डाढ़वाले पशुओ में सिंह, आश्रमो में चतुर्थाश्रम (संन्यास) तथा वर्णों में आदिवर्ण (ब्राह्मण) हू।" ॥१९॥

"मै तीर्थ और नदियो में गगा, जलाशयों में समुद्र, शस्त्रास्त्रो में धनुष तथा धनुर्धरो में त्रिपुरनाशक महादेवजी हू।" ॥२०॥

"मै निवास-स्थानों में सुमेरु, दुर्गम स्थानो में हिमालय, वनस्पतियो में अश्वत्थ (पीपल) और ओषधियो में यव हू।" ॥२१॥

"मै पुरोहितो में वसिष्ठ, ब्रह्मिष्ठों (वेदवेत्ताओ) में बृहस्पति, समस्त सेनापतियों में स्वामि कार्तिकेय और अग्रणियो (नेताओ) में भगवान् ब्रह्माजी हूं।" ॥२२॥

"मै यज्ञों में ब्रह्मयज्ञ, व्रतो मे अहिंसा तथा शोधक पदार्थों में नित्य शुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी और आत्मा हू।" ॥२३॥

"मै योगो में मनोनिरोध, विजयसाधनो में मन्त्र, कौशलों में आन्वीक्षिकी (आत्मानात्मविवेक) विद्या और ख्यातिवादियो में विकल्प हू।" ॥२४॥

'मै स्त्रियों में शतरूपा, पुरुषो में स्वायम्भुव मनु, मुनीश्वरो में नारायण और ब्रह्मचारियों में सनत्कुमार हू।" ॥२५॥

"मै धर्मों में सन्यास, अभयसाधनो में अन्तर्निष्ठा, गुह्यो में मधुर वचन एव मौन और मिथुनों में (स्त्री-पुरुष उभयरूप) प्रजापति हू।" ॥२६॥

"मै सावधान रहनेवालो में सवत्सर, ऋतुओ में चैत्र-वैशाख (वसन्त), मासो में मार्गशीर्ष (अगहन) और नक्षत्रो में अभिजित् हू।" ॥२७॥

"मै युगो में सत्ययुग, धीरो (विवेकियो) में देवल और असित मुनि, व्यासों में द्वैपायन तथा कवियो में शुक्राचार्य हू।" ॥२८॥

"मै भगवानो में वासुदेव, भागवतो में तुम (उद्धव), किंपुरुषो में हनुमान् और विद्याधरो में सुदर्शन नामक विद्याधर हू।" ॥२९॥

"मै रत्नो में पद्मराग, सुन्दर वस्तुओ में कमल-कोश, तृणों में कुशा और हवियो में गो-घृत हू।" ॥३०॥

"मै व्यवसायियो में लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति), छलियो में छल, तितिक्षुओ में तितिक्षा और सत्त्वगुणियों में सत्त्वगुण हू।" ॥३१॥

"मै बलवानों का उत्साह और पराक्रम, सात्त्वतों (भगवद्भक्तो) में भक्ति-युक्त निष्काम कर्म तथा वैष्णव भक्तो की पूज्य नवमूर्तियो में पहली वासुदेव नामक उत्तम मूर्ति हूं।" ॥३२॥

"मै गन्धर्वों में विश्वावसु और अप्सराओं में पूर्वचिति हूं तथा पर्वतों में स्थिरता और पृथ्वी मे गन्ध हूं।" ॥३३॥

"मै जल में रस, तेजस्वियो में महातेजस्वी अग्नि और सूर्य, चन्द्र, तारो मे प्रभा तथा आकाश में उसका परम गुण शब्द हू।" ॥३४॥

"मैं ही ब्राह्मणभक्तो में बलि, वीरो में अर्जुन तथा प्राणियो की उत्पत्ति, स्थिति और नाश हूं।" ॥३५॥

"मै ही गति, उक्ति, त्याग, ग्रहण, आनन्द और स्पर्श रूप हू तथा मै ही आस्वाद, श्रवण और घ्राण हूं, अतः मै समस्त इन्द्रियो का इन्द्रिय हू।" ॥३६॥

"पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, अहकार, महत्तत्त्व, पंच महाभूत, जीव, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम और ब्रह्म ये सब भी मै ही हूं।" ॥३७॥

"यह तत्त्वो की गणना, लक्षणो द्वारा उनका ज्ञान तथा उनका निश्चय भी मै ही हूं। ईश्वर-जीव, गुण-गुणी एव सर्वात्मा सर्व-रूप मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ कहीं नहीं है।" ॥३८॥

"कालान्तर में परमाणुओ को तो मै गिन सकता हू, किन्तु करोड़ो ब्रह्माण्डों को रचनेवाला मै अपनी विभूतियो को नहीं गिन सकता।" ॥३९॥

"जिस-जिसमें तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पुरुषार्थ, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हो, वह मेरा ही अंश है।" ॥४०॥

"ये सब विभूतियां मैने तुमसे सक्षेप में कह दी हैं, तथापि ये मनोविकार ही हैं; क्योकि वाणी से कही जाती है (अर्थात् ये परमार्थ वस्तु नहीं है), क्योकि वह तो मन-वाणी का विषय है, इनमें तो उसका केवल आभासमात्र है।" ॥४१॥

इस प्रकार मैंने सक्षेप मे ये विभूतिया बताई है। तथापि इन्हे तुम मेरा असली रूप मत समझना। ये तो मेरे मन के विकार-मात्र हैं, और इसीलिए मुख-वाणी से इनका वर्णन किया जा सकता है। ये परमार्थ-विषय नही है, वह तो मन-वाणी की पहुच के परे है। इसमे तो उसका आभास-मात्र है।

"वाणी, मन, प्राण और इन्द्रियों को जीतो, बुद्धि को अपने आत्मा के द्वारा जीतो, ऐसा करने से फिर इस आवागमन के चक्र में नहीं पडोगे।" ॥४२॥

"जो विचारवान् बुद्धि के द्वारा और मन का पूर्णतया संयम नहीं करता उसका व्रत, तप और ज्ञान कच्चे घडे में भरे हुए जल के समान क्षीण होता जाता है।" ॥४३॥

"अत मेरा भक्त मेरी भक्तियुक्त बुद्धि से वाणी, मन और प्राण का सयम करे। ऐसा कर लेने पर फिर उसे कुछ और करना नहीं रहता, वह कृतकृत्य हो जाता है।" ॥४४॥

## : १७ :

# वर्णाश्रम-धर्म

[इस अध्याय मे वर्ण और आश्रम की उत्पत्ति बतलाई है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम है। यह चारो वर्ण और आश्रम विश्व के एकतारूपी विराट् पुरुष के अलग-अलग अगो से निकले हुए हैं। वर्णाश्रम के बारे मे कहते हुए बताया है कि ब्राह्मण ज्ञान-प्रधान, क्षत्रिय बल-प्रधान, वैश्य धन-प्रधान और शूद्र सेवाकर्म-प्रधान है। यह व्यवस्था मनुष्य-स्वभाव के अनुसार मानव-भेदो का समाहार करने अर्थात आत्मविकास के उद्देश्य से बनाई गई है। ब्रह्मचर्य हृदयस्थानीय है, गृहस्थाश्रम का मुख्य आधार विवाह हैं और विवाह के माने है आजीवन मैत्री। इनके सामान्य धर्मों का भी विवेचन कर दिया है, जिनमे यह बताया गया है कि सर्वात्मभाव मनुष्य का लक्ष्य तथा सर्वभूतहित उनका साधन है। सत्य, अहिंसा आदि का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। व्यक्ति किस प्रकार कुटुम्ब मे अपना विकास साधता है, सामाजिक जीवन की साधना करता है, यह भी समझाया गया है।]

"उद्धवजी बोले—हे कमलनयन, आपकी भक्ति ही जिसका स्वरूप है, ऐसा जो धर्म आपने वर्णाश्रम-धर्म का आचरण करनेवाले तथा और भी (वर्णाश्रमाचार से रहित) सब लोगो के लिए कहा है, उसके जिस प्रकार अनुष्ठान करने से आपमे मनुष्यो की भक्ति हो सकती है, सो आप मुझसे कहिये।" ॥१-२॥

"हे प्रभो, हे माधव, आपने पूर्वकाल मे हंस-रूप से ब्रह्माजी को जिस उत्तम धर्म का उपदेश किया था, हे शत्रुदमन अधिक काल हो जाने के कारण आपका वह अनुशासनरूप धर्म अब मर्त्यलोक में प्रायः प्रचलित नही रहा।" ॥३-४॥

"हे अच्युत, इस पृथिवीतल पर और श्रीब्रह्माजी की सभा में भी, जहां सम्पूर्ण वेद साक्षात् मूर्तिमान् होकर रहते हैं, आपके इस धर्म का वक्ता, निर्माता और

रक्षक दूसरा कोई नहीं है।" ॥५॥

"हे मधुसूदन, इस धर्म के वक्ता, कर्ता और रक्षक आप जब इस पृथिवी तल को छोडकर चले जायगे तब इस नष्टप्राय धर्म का और कौन उपदेश करेगा ?" ॥६॥

"अत, हे सर्वधर्मज्ञ प्रभो, आपके भक्तिरूप उस परम धर्म का जिसके लिए जैसा विधान है, सो आप मेरे प्रति कहिये।" ॥७॥

जब उद्धव ने भिन्न-भिन्न विभूतिया जान ली तो अब यह जिज्ञासा हुई कि इस भक्ति-प्रधान धर्म का पालन कैसे किया जाय ? कौन, किस प्रकार से इसका पालन करे तो वह परमात्मा को पा सकता है ? उन्होने श्रीकृष्ण से कहा कि पहले हस-रूप मे आपने जो धर्मोपदेश दिया था, काल-गति से अब उसका प्रचार नही रहा। सो फिरसे मुझे सुनाइये।

"श्री शुकदेवजी बोले—हे राजन्, अपने मुख्य सेवक उद्धवजी के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर, भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर लोगो के कल्याण के लिए उन सनातन-धर्मों का वर्णन करने लगे।" ॥८॥

"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव, तुम्हारा यह प्रश्न अति धर्ममय है—वर्णाश्रमाचारयुक्त लोगो के लिए आत्यन्तिक श्रेय स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है, अत. तुम मुझसे उसका श्रवण करो।" ॥९॥

"कल्प के आदि में जो प्रथम कृतयुग हुआ, उसमें मनुष्यो का हस नामक केवल एक ही वर्ण था, क्योकि उस समय लोग जन्म से ही कृतकृत्य होते थे, इसीलिए उसे कृतयुग कहते हैं।" ॥१०॥

तब श्रीकृष्ण बोले—तुमने यह बडा अच्छा प्रश्न किया है। यह धर्ममय है और मोक्ष-साधक भी है। देखो, चार युगो की कल्पना तो तुम्हे मालूम ही है। पहले युग को 'कृतयुग' कहते हैं। उसमे मनुष्यो का एक ही वर्ण था और उसे हस कहते थे। न समाज था, न समाज की जटिलताए, न राग-द्वेष या कलह की गुजायश थी, जिनमे पडकर मनुष्य नाना प्रकार के पाप व कुकर्म करता है। इनके अभाव मे मनुष्य जन्मते ही कृतकृत्य हो जाता था। उसे अपनी स्थिति व जीवन से पूर्ण सतोष मालूम होता था। इसीसे उसका नाम कृतयुग हुआ।

"उस समय प्रणव ही वेद था और (तप, शौच, दया एव सत्यरूप चार चरणोवाला) वृषभरूप में ही धर्म था तथा उस समय के निष्पाप और तपोनिष्ठ

**लोग मुझ हस ( शुद्ध ) स्वरूप परमेश्वर की उपासना करते थे।" ॥११॥**

उस समय 'प्रणव'—ॐ ही वेद था। जिस रूप मे आगे जाकर वेदो का विकास या विस्तार हुआ, वह उस समय न होने पाया था। वेदो का सारा ज्ञान उस समय एक 'ॐ' मे ही समाविष्ट था। यह ॐ सारे वेदो का—वैदिक ज्ञान का बीज-रूप है। ब्रह्म या परमात्मा का अक्षर रूप मे सकेत है। इसकी ध्वनि आदि-ध्वनि है। इसका आकार विश्व-रूप व आशय ब्रह्म-रूप है। इसीके द्वारा उस समय लोग मेरे 'हस' अर्थात् शुद्ध-रूप की उपासना करते थे। उस समय मैं वृषभ-रूप से धर्म था। अर्थात् तप, शौच, दया एव सत्य इन चार चरणो से युक्त धर्म का प्रचार था। इन्हीके पालन मे सारी धर्म-व्यवस्था पूर्ण हो जाती थी। प्राकृतिक जीवन मे तप अर्थात् कष्ट-सहन अपने-आप ही हो जाता है। केवल स्वच्छता काफी हो जाती थी। क्योकि कन्द, मूल, फल के साथ पशु-पक्षी प्राकृतिक जीवन में मनुष्य का आहार रहता है। अत दया-धर्म की आवश्यकता अपने-आप उत्पन्न हो जाती है। यह दया-भावना ही उनकी शिकारी मनोवृत्ति पर नियत्रण रखती थी। जीवन स्वभावत ही सरल था। अत. सत्य ही उनका आचार व्यवहार हो रहा था। लोग भोले-भाले, सरल, निष्कपट और निष्पाप थे। अत मेरी उपासना का ढग भी बहुत सरल सीधा-सादा था।

**"फिर हे महाभाग, त्रेतायुग के आगमन पर मेरे ही हृदय से मेरे श्वास-प्रश्वास के द्वारा ( ऋक्, साम और यजुःरूप) वेदत्रयी का आविर्भाव हुआ। उस त्रयीविद्या से (होता, अध्वर्यु और उद्गाता के कर्म) त्रिवृत् यज्ञरूप से मैं प्रकट हुआ।" ॥१२॥**

इसके बहुत अर्से बाद त्रेता युग आया। अब ॐ से विस्तृत होकर ऋक्, साम और यजु इन तीन वेदो का आविर्भाव हो चुका था। जैसे ॐ मेरी ही प्राण-ध्वनि है, वैसे ही ये तीन वेद मेरे श्वास-प्रश्वास समझो। इससे मेरी उपासना यज्ञ-रूप से होने लगी। होता, अध्वर्यु व उद्गाता के कर्म-भेद से तीन प्रकार का यज्ञ होता था। यह यज्ञ-धर्म भी मेरा ही रूप है, सो पहले अच्छी तरह समझाया जा चुका है।

**"तथा विराट् पुरुष के मुख, भुजा, ऊरु और चरणो से क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णो की उत्पत्ति हुई, जिनकी पहचान अपने-अपने आचरण से ही होती है।" ॥१३॥**

फिर वर्ण-व्यवस्था बनी। इस व्यवस्था के मूल मे सारे विश्व की एकता की

कल्पना है। यह विश्व विराट्-पुरुष का शरीर है। चारो वर्ण इसके भिन्न-भिन्न अग कल्पित किये गए है, और सर्वसाधारण को इस तरह समझाया जाता है, मानो विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण की, भुजा से क्षत्रिय की, जघा से वैश्य की व चरणो से शूद्र की उत्पत्ति हुई है। वास्तव मे यह एक रूपक है, जो शरीर के भिन्न अगो के समान उन-उन वर्णों का महत्त्व व साथ ही एकता बतलाता है। इनके आचरणो से इनकी पहचान होती है।

**"इसी प्रकार मुझ विराट् पुरुष की जघा से गृहस्थ, हृदय से ब्रह्मचर्य, वक्ष - स्थल से वानप्रस्थ और मस्तक से सन्यास ये चार आश्रम प्रकट हुए।" ॥१४॥**

इसी प्रकार चार अगो से चार आश्रम के होने की कल्पना समझाई जाती है—विराट् पुरुष की जघा से गृहस्थ, हृदय से ब्रह्मचर्य, वक्ष स्थल से वानप्रस्थ और मस्तक से सन्यास।

उनकी कल्पना भी इनके महत्त्व के अनुसार ही की गई है। जैसे जघा पर शरीर का आधार है वैसे ही गृहस्थाश्रम पर शेष तीनो आश्रम निर्भर करते हैं। यदि गृहस्थ न हो तो न सन्तति हो, न ब्रह्मचर्याश्रम की आवश्यकता ही रहे। वानप्रस्थ तो मुख्यत गृहस्थ ही हो सकता है। तीनो आश्रमो के खर्च आदि का भार गृहस्थो पर ही रहता है। अत गृहस्थाश्रम को यदि विराट् पुरुष का जघा-स्थानीय माना तो यह उचित ही है। जीवन मे ब्रह्मचर्य हृदय-स्थानीय है। हृदय जैसे सब शरीर मे प्राण का सचार करता है वैसे ही अच्छी तरह ब्रह्मचर्य सधने पर ही शेष तीनो आश्रम सफल हो सकते है। स्वास्थ्य, बल, विद्या, ज्ञान, उत्साह, उमग, पुरुषार्थ इनके सम्मेलन का नाम ब्रह्मचर्य है। इनके बिना न गृहस्थाश्रम भली-भाति चल सकता है न वानप्रस्थ और न सन्यास ही। छाती से जैसे स्वच्छ वायु शरीर को मिलती है, कष्ट व कठिनाई सहने का बल मनुष्य को छाती से ही मिलता है, जब मनुष्य कोई दृढ सकल्प करता है, किसी पुरुषार्थ या साहस के काम मे जुटता है तो छाती फूलने लगती है व ऐसा अनुभव होने लगता है मानो छाती मे हजार हाथियो का बल आ गया हो। गृहस्थाश्रम के सुखी जीवन के बाद वानप्रस्थ कष्ट, सयम व एक भिन्न प्रकार के साहस का जीवन है। यह छातीवाले के लिए ही सुगम व सुकर हो सकता है। अत वक्ष स्थल से उसकी उपमा देना योग्य ही है। सन्यास ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, त्याग-प्रधान है, अत मस्तिष्क से उसकी तुलना उचित है।

**"इन वर्ण और आश्रमो के लोगो के स्वभाव भी इनके जन्म-स्थानो के अनु-**

**सार नीचों से नीच और उत्तमो से उत्तम बने हुए है।" ॥१५॥**

ऊधो, मनुष्यो के स्वभावो को देखकर ही यह वर्णाश्रम-व्यवस्था रची गई है। जिसका जैसा स्वभाव है उसको उसी वर्ण मे रखा गया है और उसके अनुसार उनका स्थान विराट् शरीर मे माना गया है। अब विराट् शरीर से चूकि तुलना की गई है व शरीर मे चूकि मुख या सिर ऊचा है, दूसरे अग उससे नीचे हैं, अत. इन वर्णों और आश्रमो को भी ऊचा व नीचा कहने का रिवाज पड गया है। इससे हानि भी हुई है। चारो वर्णों मे जो एक के प्रति उच्चता व दूसरे के प्रति तुच्छता का भाव पाया जाता है, उसका कारण यही तुलना है। इस काव्यात्मक या अलकारात्मक भाषा से लोग गुमराह हो जाते हैं। इसीलिए मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हू कि यह व्यवस्था केवल मनुष्यो के स्वभाव, उनके विकास की स्थिति, उनकी गुण-योग्यता को देखकर समाज की आवश्यकता के अनुसार बनाई गई है। इस भ्रम को टालने के लिए मैंने 'धर्म' शब्द की जगह अब प्रकृति या स्वभाव का प्रयोग किया है।

**"शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य —ये ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव है।" ॥१६॥**

सुनो, शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया व सत्य ये ब्राह्मण वर्ण के स्वभाव हैं, अर्थात् ब्राह्मण के मन मे सदा-सर्वदा शान्ति रहती है। उद्वेग, चिन्ता, भय, शोक, उत्साह, किसी भी अवसर पर वह मन को अशान्त नही होने देता। कोई उत्तेजित करने का प्रयत्न करे तो भी वह भडक नही उठता। जो कुछ करता है, वह शान्त चित्त से, न कि आवेश, आवेग, क्रोध या उत्तेजना से। शान्त चित्त से जो निर्णय या कार्य किया जाता है, उसका फल भी व्यक्ति व समाज को शान्त ही मिलता है, क्योकि हमारी जैसी वृत्ति होती है वैसी ही तरगे वह समाज मे व हमारे अन्दर भी उपजाती हैं।

उसकी इन्द्रिया उसके वश मे होती हैं। वह चाहता कुछ और व इन्द्रिया कर डालती कुछ और, ऐसा नही होता। किसी सुन्दरी स्त्री को देखेगा तो उसकी आंखे उसमे माता, लक्ष्मी, सरस्वती, सीता, जगदम्वा के ही दर्शन करेंगी, या अपनी वहन, पुत्री का रूप ही उसे दिखाई देगा। पैर उसके उठेगे, हाथ चलेगे तो किसीकी भलाई के लिए ही। किसीका वुरा करते समय वे निर्बल, वेकार हो जायगे। वोलेगा तो ज्ञान की, कर्त्तव्य की या हित की ही मीठी वात; कटु, तीखी या अप-वाणी उसके

मुह से नही निकलेगी। ऐसा ही और इन्द्रियो के विषयो मे भी समझो। उसने जो अपना कर्त्तव्य या धर्म मान लिया है, उसीकी सफलता मे, पूर्ति मे उसकी इन्द्रिया लगेंगी। इधर-उधर नही भटकेंगी। अपने धर्मानुरूप जिस काम को वह अगीकार करेगा उसे कष्ट उठाकर भी पूरा करेगा। न धमकियो से, न प्रलोभनो से उसे अध-बीच ही मे छोड देगा। प्रसन्नता मे तमाम कष्टो का स्वागत करेगा। अपनी साधना मे डटा रहेगा, उसके लिए भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, प्रिय-वियोग, अप्रिय-योग, सबको शान्ति के साथ सहेगा।

शरीर व मन को सदा स्वच्छ रखता है। नित्य जहातक हो सके ठण्डे पानी मे नदी, तालाब या कुए पर खुली हवा मे बदन को अच्छी तरह रगडकर नहाता है। साफ धुले कपडे पहनता है। घर, किताबें, लिखने-पढने का समान, बिस्तर, बैठक सब झाड-बुहारकर साफ रखता है। कुविचार व कुवासनाए मन का मैल हैं। दूसरो को कष्ट या धोखा देने, दूसरो की वस्तुओ का अनुचित व अनधिकार उपयोग करने की भावना को कुविचार, और धर्म व नीति का मार्ग छोडकर भी अपनी सुख-सिद्धि या भोग-पूर्ति की प्रवृत्ति का नाम कुवासना है। इनसे वह अपने मन को दूर और सर्वदा शुद्ध रखता है।

अपने निर्वाह के लिए धर्म व नीति-पथ पर चलते हुए जो कुछ मिल जाय, उसी-मे वह सन्तुष्ट रहता है। दूसरे के अधिक धन, ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा, मान-बडाई को देखकर न दुखी होता है, न जलता है।

दूसरे उसे कष्ट पहुचाते हैं, छेडते हैं, तरह-तरह से उसका अपराध करते हैं, तब भी वह सदा उन्हें क्षमा कर देता है। उसका यह विश्वास रहता है कि अपनी करनी का फल यह आप पा जायगा। बल्कि अपने उपदेश से यदि वह उन्हे सुधार नही सकता तो उनके लिए नित्य ईश्वर से प्रार्थना करता है और इसलिए उसे विश्वास होता है कि वे धीरे-धीरे सुधर जायगे। यदि वह उन्हे दण्ड देता है, या दिलाता है तो इससे वे अधिक दुर्वृत्त व दुराग्रही होते देखे जाते हैं। अत क्षमा को ही वह अपनी शान्ति व उसके सुधार का अमोघ उपाय समझता है।

दूसरो के कष्टो, दु खो, अभावो के प्रति उनका हृदय सुकोमल रहता है। अपने स्वार्थ-सम्बन्धी जरूरी काम उसे दूसरो का दु ख दूर करने के प्रयत्न से नही रोक सकते। अपने जीवन-निर्वाह या अगीकृत कार्य को भी वह ऐसी विधि से करता है कि जहातक बने एक चीटी को भी कष्ट न होने पावे।

मेरी भक्ति मे तत्पर रहता है। मेरी व्यक्तिगत पूजा-अर्चा भी करता है, व मेरे जगत् की सेवा मे भी लगा रहता है।

दु खियो पर दया उसमे स्वाभाविक होती है। मन से ही कोरी दया करके वह नही रह जाता। अपनी सहानुभूति को तदनुरूप अपने कार्यो द्वारा भी पुष्ट व सार्थक करता है।

सत्य तो उसका आधार-स्तम्भ ही समझो। सत्य के दो रूप है—केन्द्रीय और व्यापक। केन्द्रीय या एकस्थलीय सत्य पहले पकड मे आता है, फिर उसके सहारे व्यापक सत्य तक पहुचा जाता है। जो विषय समाने आवे उसमे जो सत्य प्रतीत हो वही तात्कालिक केन्द्रीय सत्य है। उसपर अमल करते रहने से और प्रत्येक विषय मे ऐसे सत्य-शोधन व सत्य-ग्रहण की वृत्ति रखने से विश्व-व्यापक सत्य तक हमारी पहुच हो जाती है। जब वृत्ति ही सत्यमयी हो गई तो यही व्यापक सत्य के साक्षात्कार की अन्तिम सीढी है। फिर जो सत्य मालूम हुआ उसीको मन मे रखना, उसीको कहना व उसीको करना, सत्य की साधना कहलाती है। जब मन, वचन व कर्म मे एकता होती है तब वह पूरा व सच्चा आचार या जीवन कहलाता है। कम-से-कम इतने मुख्य लक्षण जिनमे हो, उन्हे तुम ब्राह्मण समझो। ब्राह्मणो के घर मे जन्म लेने से तो वह नाममात्र को ब्राह्मण कहला सकता है, ब्राह्मणो के कुछ सस्कार होने की आशा उसमे रखी जा सकती है। परन्तु सच्चा ब्राह्मण तो उसके लक्षण, स्वभाव या पेशे से ही कहला सकता है।

ऊधो, वर्ण-व्यवस्था मे जो मुख्य तत्त्व है वह यही कि समाज मे जीविका, कर्तव्य व पुरस्कार का ऐसा बटवारा कर दिया जाय कि जिससे परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, अनुचित होड, प्रतिस्पर्धा न बढे व सब लोग परस्पर सहयोग, मेल व सहानुभूति के साथ रहकर समाज की सेवा व उन्नति करे। समाज-व्यवस्थापकों के सामने जो मुख्य प्रश्न रहता है वह परस्पर विरोधी स्वार्थो, प्रवृत्तियो, शक्तियो और स्थितियो का मेल बैठाना, उन्हे एक-दूसरे का विघात न करने देकर अपनी-अपनी रक्षा करते हुए भी सम्मिलित रूप से समाज के उपयोग व क्षेम-श्रेय मे लगाना। यह तभी हो सकता है जब व्यक्तियो की अनुचित इच्छाओ पर रोक लगाई जाय, उन्हे प्रोत्साहन नही दिया जाय व उन्हे परस्पर सहयोग के लिए बढावा दिया जाय। समाज के सभी व्यक्ति एक-सी विकसित दशा मे नही पाये जाते। कुटुम्ब के सभी लोग, एक ही माता-पिता की सभी सन्तान, एक ही जाति, वर्ग,

समाज, देश या धर्म के लोग एक से गुण, वल, स्वभाव नही रखते। कितने ही समान अवस्था मे उन्हे रखा जाय, पैतृक व पूर्वजन्म के सस्कार उनके विकास मे अपना प्रभाव जमाते ही हैं व तरह-तरह की भिन्नताए उत्पन्न कर देते हैं। इनमे सामजस्य करना ही समाज-व्यवस्था है। जव-जव यह सामजस्य विगड जाता है, समाज मे कलह, अशान्ति व अव्यवस्था फैलती है, अनाचार, अत्याचार का जोर जमता है। इसी अवस्था को धार्मिक भाषा मे 'धर्म की ग्लानि', 'धर्म की हानि' आदि कहते हैं। इसी विगडी हुई अवस्था को सुधारने व फिर से सामजस्य स्थापित करनेवाले महापुरुष समय-समय पर सव जगह पैदा होते रहते हैं। इन्हीको मैं अपना अवतार कहता हू। उस समाज की व समय की प्राकृतिक आवश्यकता सुधारको, समाजनेताओ, महापुरुषो या अवतारो को वुलाती है।

समाज-व्यवस्थापको के सामने या तो व्यक्ति होता है या कुटुम्व या वर्ग या समाज या राष्ट्र। उसे अपनी व्यवस्था की प्राकृतिक भित्ति ढूढनी पडती है। जव भेदो का सामजस्य ही समाज-व्यवस्था का मूल या हेतु है तो उसे देखना पडता है कि कौन-से भेद मनुष्यकृत हैं व कौन-से प्राकृतिक। मनुष्यकृत भेदो को तो मिटा देना उसके लिए मामूली वात है, क्योकि उनके लिए स्मृति या विधान, नियमो या प्रणालियो मे परिवर्तन काफी होता है। परन्तु जो भेद प्राकृतिक हैं, उन्हीके सामजस्य का प्रश्न वास्तविक व जटिल होता है। समाज मे ऊच-नीच, अमीर-गरीव, सवल-निर्वल इतने भेद आमतौर पर दीखते हैं। इनमे पहले दो मनुष्यकृत व तीसरा प्राकृतिक है। प्रकृति ने किसीको न ऊचा बनाया न नीचा, न अमीर वनाया न गरीव। ये भेद मनुष्यकृत, मनुष्य-रचित व्यवस्थाओ, रीतियो, विधि-विधानो के परिणाम हैं। यदि मनुष्य-समाज यह फैसला अपने लिए कर ले कि समाज मे कोई ऊच-नीच नही समझा जायगा व ऐसी व्यवस्था वना ले कि जिसमे किसीके पास एक सीमा से अधिक धन-सम्पत्ति न रहने पावे तो यह उसके वस की वात है। इस फैसले मे प्रकृति कोई दखल नही देगी। परन्तु सवल या निर्वल, सक्षम या अक्षम बनाना सर्वथा मनुष्य के वस की वात नही। अत सवल व निवल तत्त्वो की ऐसी व्यवस्था कर देना कि वे एक-दूसरे को दवाने न पावे व दोनो मिलकर सुखी रहे, यह समाज-व्यवस्थापको का काम है। वर्ण-व्यवस्था में सबल व निर्वल, सक्षम व अक्षम के भेद की ही समुचित व्यवस्था की गई है, सवलो के आक्रमण व अत्याचारो से निर्वलो को बचाना क्षत्रियो का धर्म करार दिया

गया। जिनमे शरीरबल या बाहुबल अधिक है उन्हीपर इस बात की जिम्मेदारी डाल दी गई है। सबलो के दो वर्ग होते है—एक रक्षक, दूसरा अत्याचारी। एक मे दूसरो की रक्षा, सहायता करने का भाव प्रबल होता है, तो दूसरो मे औरो को लूटने, मारने, जबरदस्ती करने का। अत पहले वर्ग को क्षत्रिय कहकर दूसरे वर्ग को नियन्त्रण मे रखने का काम उसे सौंप दिया गया। निर्बलो के दो वर्ग हुए—ब्राह्मण व वैश्य। अत. इनकी रक्षा का भार भी क्षत्रियो पर रखा गया। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रो के लक्षण आगे बताऊंगा, जिनसे पता चल जायगा कि बुद्धि, ज्ञान, पठन-पाठनशील लोगो का मैंने एक वर्ग बनाया। शरीरबल व रक्षणशील लोगो का दूसरा। द्रव्येच्छु व उपकारशील लोगो का तीसरा वर्ग बनाया। इनमे से एक भी वृत्ति जिनमे नही पाई जाती, जो विकास की बहुत निचली सतह पर हैं, उन सबका एक शूद्र वर्ग बना दिया। शूद्र वर्ग या जन-साधारण शारीरिक श्रम-प्रधान होने से सबलो की भी श्रेणी मे आ जाता है। साधन तथा ज्ञान-बुद्धिहीन होने से वह निर्बलो की भी श्रेणी मे आ जाता है। जो हो, यह निश्चित है कि इन तीनो वर्गों मे जो भी निर्बल हैं उनकी रक्षा का भार सबलो अर्थात् क्षत्रियो पर रखकर सबको वर्ण-व्यवस्था द्वारा अभय का आश्वासन दे दिया गया है।

सबल या निर्बल का यदि व्यापक अर्थ समर्थ व असमर्थ करे तो ऐसे व्यक्ति इन चार वर्णों मे बिखरे हुए मिल जायगे। समर्थ असमर्थों पर इतने रूप मे अत्याचार, ज्यादती या शोषण करते हैं जिनसे असमर्थों को बचाने की जरूरत है—सत्ता, धन-सम्पत्ति व पद-प्रतिष्ठा, और उनके साधन तथा अपनी स्थितियो व शक्तियो का दुरुपयोग करके समर्थ असमर्थो को इन तीन बातो से वचित रखते या रख सकते हैं। यह निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्ति सत्ता, सम्पत्ति व प्रतिष्ठा चाहता है, परन्तु सभीमे उनके पाने व रखने की योग्यता नही होती। कइयो मे तो प्रयत्न करने व सुविधा देने पर भी यह क्षमता नही आती। और समाज-शास्त्री इस तथ्य की उपेक्षा नही कर सकता। इसीलिए वर्ण-व्यवस्था मे योग्यतानुसार काम बाट दिया गया। इसमे पहले तो सस्कारवान्, विशेष योग्यता, क्षमता या प्रवृत्ति रखनेवाले व सस्कारहीन कोई विशेष प्रतिभा, शक्ति, योग्यता व प्रवृत्ति न रखनेवाले ऐसे दो वर्ग कर लिये जाते हैं। पहले को द्विज, दूसरे को शूद्र नाम दे दिया गया है। इनमे घृणा या तुच्छता का कोई भाव नही है। ये केवल भेद-दर्शक हैं। फिर द्विजो मे विशेष प्रवृत्तियो का, योग्यताओ का सूक्ष्म निरीक्षण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,

योग्यता का प्रादुर्भाव नही हुआ। उनसे कहा कि तुम अपनी रुचि के अनुसार काम-धधा करो, इसकी एवज़ मे समाज मे तुम्हे सब तरह के आनद-प्रमोद, खेल-तमाशे, नाच-रग, गान की छुट्टी रहेगी।

सब वर्गों की विशेष इच्छाओ की पूर्ति कर देने से प्रत्येक की दूसरी सुख-सुविधाए कुछ कम ज़रूर हुई, परन्तु इससे प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या-द्वेष का मार्ग बद हो गया। साथ ही सत्ता, धन, प्रतिष्ठा, आमोद-प्रमोद सबके एक ही जगह इकट्ठा हो रहने से, चारो के सगठन के द्वारा समाज मे जो अन्याय, अत्याचार और अनर्थ हो सकता है, उससे भी समाज को बचा लिया गया। इस तरह इस व्यवस्था मे चित्त-वृत्ति के अनुसार काम, व पुरस्कार पाने के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त, अनुचित होड़ से बचने के आर्थिक सिद्धान्त, कार्य-विभाग के राजनैतिक व्यवस्था-सिद्धान्त, सबका पालन अपने-आप हो जाता है।

एक बार चालू हो जाने के बाद फिर प्रारभ मे जन्मना वर्ण मान लेने से वश-परम्परा के सस्कारो या विरासत के सिद्धान्तो का भी पालन हो जाता है। इससे धधे, जीविका यह व्यवसाय चुनने मे मनुष्य को सहूलियत होती है। परन्तु जो भिन्न कार्य से जीविका प्राप्त करना चाहते हो, वश-परपरागत धधे की योग्यता या रुचि न रखते हो व दूसरे कर्त्तव्य या काम-धधे के अधिक योग्य हो, उन्हे उसकी छूट रखने के लिए आगे चलकर 'कर्मणा' वर्ण मानना उचित होगा। इस तरह जो व्यक्ति अपने बाप-दादो का ही धधा करेगा, उसका शुरु मे अखीर तक एक ही वर्ण रहेगा, जो बदल देगा उसका वर्ण कर्म के अनुसार बदल जायगा। सब वर्ण धर्म के अनुसार चलते, अर्थात् ऐहिक या पारलौकिक सुख या उन्नति के मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति व समाज के सुख-साधन के लिए आवश्यक काम करने को बधे हुए है। अर्थात् सबका उद्देश्य व्यक्तिगत सुख व उन्नति की साधना करते हुए समाज की सेवा, कल्याण करना है, इस शर्त को कोई भी नही तोड सकता, क्योकि सारी व्यवस्था का उद्देश्य ही व्यक्ति व समाज की सुख-शान्ति है। इसमे योग्यता के अनुसार थोडा-बहुत ऊच-नीच का भेद रह सकता है, जो कि मानवस्वभाव के लिए स्वाभाविक है। परन्तु जन्म या धधे के कारण किसीको ऊच-नीच मानने का कोई कारण या प्रयोजन नही है। कोई भी धधा व कोई भी योनि ऐसी नीच नही कही जा सकती, जिससे समाज का हित होता हो, धर्म की सिद्धि होती हो।

"तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्रह्मण्यता

(ब्राह्मण-भक्ति) और ऐश्वर्य—ये क्षत्रियवर्ण के स्वभाव हैं"॥१७॥

अव तुम क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव सुनो।

सवसे पहला तेज है, वह किसी भी अन्याय, अत्याचार, ज्यादती, अनर्थ वदमाशी और गुडापन को नही सह सकता, चाहे अपने साथ की जाय, चाहे दूसरो के साथ। ऐसे अवसरो पर जो इनके विरोध करने का भाव मन मे जाग्रत होता है उसे ही तेज कहते है।

फिर अत्याचारियो व वदमाशो के व आवश्यकतानुसार उनके दोषो को दमन करने का, अपने समाज की रक्षा करने का वल भी उनमे होता है। ऐसे वल को वढाने व सघटित करने की शक्ति भी उनमे होती है। अपने अकेले के वस से काम न चले, तो अपने पडौसियो, साथियो, सहानुभूति व अनुकूलता रखनेवालो के वल को वह एकत्र कर सकता है, व सफलतापूर्वक विरोध मे लगा सकता है।

कैसा भी सकट क्यो न हो, कैसे भी वली व अदम्य शत्रु या प्रतिपक्षी का मुकावला क्यो न हो, वह धीरज व हिम्मत नही छोडता। निराशा व असफलता के अवसर पर भी धीरज मे उसके कारणो की खोज करके फिर-फिर मुकावला करता है, जवतक कि अत्याचारियो को दवा न दे या उन्हे मित्र वनने पर मजवूर न कर दे।

स्त्रियो, वच्चो, वूढो, साधु-सन्तो, अनाथो, निर्वलो, पीडितो, शोषितो की रक्षा व सहायता के लिए वह सदा तैयार रहता है। फिर अपने स्वभाव की उच्चता को छोडकर नीच वृत्ति से कपट या छल से, वार नही करता। उसमे कमीनापन नही होता। उसके वल व तेज मे एक किस्म की शालीनता, उच्चता, भद्रता, सौजन्यता, भलमनसी की अमिट छाप रहेगी, इसीको शौर्य कहते है।

सव मौसमो मे व सव तरह के शारीरिक कष्टो को सहन करने की आदत उसे रहती है।

उसका हृदय विशाल होता है। हाथी के पाव मे जैसे सवका पाव समाता है, वैसे ही उसके विशाल हृदय मे सवके लिए स्थान होता है। सुखी-दुखी, भले-वुरे, धनी-गरीव सवका वह ध्यान रखता है, व सव उससे आश्रय, राहत पाते हैं।

वह आलसी, प्रमादी, अकर्मण्य नही होता। सदैव किसी-न-किसी उद्यम मे लगा रहता है। वेकार रहना, ठलुवा वैठे रहना उसके स्वभाव के विरुद्ध है।

फिर जो निश्चय कर लेता है, उसपर दृढ रहता है। वार-वार व जल्दी-

जल्दी अपने निर्णय व निश्चय नही बदला करता। उसके विचार भी स्थिर होते हैं, कदम भी स्थिर होता है व व्यवस्था भी स्थिर होती है। एक बार जो निश्चय कर लिया वह तभी बदलेगा जब उसमे उसे बडी भूल मालूम देगी—इतनी बडी कि मानो धर्म के भरोसे अधर्म कर बैठे।

फिर वह ब्राह्मणो, ज्ञानवानो, बुद्धिमानो, विद्वानो का सदैव मान, आदर करेगा उनसे मत्रणा करेगा। वह जहातक बने उनके परामर्श से ही राज्य-व्यवस्था करेगा।

एक किस्म का ऐश्वर्य, पराक्रम, प्रताप, पौरुप, प्रभाव, दुर्दमनीयता, भव्यता, महानता, प्रकाश, चमक उसमे दिखाई देगी, जिससे दूसरा मनुष्य उसके पास जाते ही अपनेको छोटा, अल्प, अनुभव करने लगेगा। इन लक्षणो से क्षत्रिय जाना जाता है।

**"आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणो की सेवा करना और धन-संचय से सन्तुष्ट न होना—ये वैश्य वर्ण के स्वभाव हैं।" ॥१८॥**

वैश्य का पहला लक्षण है—आस्तिकता, वह ईश्वर मे विश्वास रखता है। धर्म-कर्म मे रुचि होती है। दान देने मे अपने धन का उपयोग समाज, देश, धर्म, दीन-दुखी जनो के लिए करने मे उसे उत्साह होता है। उसका जीवन सरल व पाखण्ड-रहित होता है, कूट-कपट व छल से वह बरी होता है। ब्राह्मणो की अर्थात् ज्ञान-वान, विद्वान् व तपोधन लोगो की सेवा मे उसे अनुराग होता है। एक खास परीक्षा उसकी यह है कि धन-सचय मे उसे प्रीति रहती है। उससे वह अघाता ही नही।

**"ब्राह्मण, गौ और देवताओ की निष्कपट भाव से सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय उसमें सन्तुष्ट रहना—ये शूद्र वर्ण के स्वभाव हैं।"॥१९॥**

ब्राह्मण, गाय अर्थात् पशु-धन व देवो की अर्थात् समाज व परमेश्वर की कपट-रहित होकर सेवा करना शूद्र वर्ण का स्वभाव है। उससे जो कुछ मिले, उसमे वह सन्तुष्ट व मस्त रहता है।

यहा स्वभाव बतलाया गया है, न कि धर्म-कर्म। हिन्दू धर्म-शास्त्रो या नीति-कारो ने सदैव इस बात का ध्यान रक्खा है कि वर्गो व समूहो मे परस्पर कलह न होने पावे। इसका अच्छा उपाय यह है कि अधिकारो पर जोर न देकर कर्त्तव्यो पर व उसमे भी एक के प्रति दूसरो के कर्त्तव्यो पर अधिक जोर दिया जाय। या जैसे शूद्रो का कर्म उसकी वृत्ति के अनुसार यदि सेवा-शरीर-शक्ति-प्रधान बनाया गया

है तो द्विजो, वल्कि ब्राह्मणो तक के लिए यह विधान है कि पहले घर के नौकर-चाकरो को खिलाकर फिर खावे। नही तो पाप के भागी होते हैं।

**"अपवित्रता, मिथ्याभाषण, चोरी करना, नास्तिकता, व्यर्थ कलह करना, काम, क्रोध और तृष्णा—ये अन्त्यजो के स्वभाव हैं।" ॥२०॥**

और उद्धव, अन्त्यज कहलानेवालो के भी लक्षण सुन लो। एक तो वे गन्दे रहते हैं, नहाते-धोते नही, झूठ वोलते हैं, चोरी भी कर लेते हैं, ईश्वर को नहीं मानते है। स्त्री पुरुष-सम्वन्धी नैतिकता उनमे वहुत कम होती है, गुस्सैल भी खूव होते हैं, व उनकी नीयत कभी भरती ही नही, चाहे जितना दो-लो या खिलाओ-पिलाओ।

चतुर्वर्णों मे अन्त्यजो का कही नाम नही है। शूद्रो मे ही इनका समावेश है। अत यह स्पष्ट है कि अन्त्यज को अलग वर्ण 'पचम' मानने की प्रथा वाद मे चली है। जव भागवत वनाई गई है, या उसका अन्तिम सस्करण हुआ है, तव 'अन्त्यज' अलग वर्ण वन गये थे, ऐसा इस लक्षण से प्रकट होता है।

**"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम-क्रोध-लोभ से रहित होना और प्राणियो की प्रिय और हितकारिणी चेष्टा में तत्पर रहना—ये सब वर्णों के सामान्य धर्म हैं।" ॥२१॥**

ये तो मैंने भिन्न-भिन्न वर्णों के लक्षण या स्वभाव या पहचान तुमको वताई। अव सव वर्णों के अर्थात् मनुष्य-मात्र के सामान्य धर्म या कर्त्तव्य समझ लो। ये सब-के लिए माननीय व पालनीय हैं। इन्हीके पालन पर मनुष्य-समाज व वर्ण-व्यवस्था कायम रह सकती है। वर्ण-व्यवस्था इन सामान्य मानव-धर्मों का पालन कराने के लिए वनाई गई व्यवस्था समझो। वे ये हैं—

सवसे पहला धर्म अहिंसा है। यदि समाज के लोग परस्पर अहिंसा का पालन न करें तो समाज-व्यवस्था एक दिन नही चल सकती। सिर्फ क्षत्रियो को ही समाज की रक्षा के लिए दुष्टो को दण्ड देने की इजाजत दी गई है। या युद्ध मे मार-काट को अधर्म नही माना गया है।

यज्ञ-यागादि मे भी पशुहिंसा की अनुज्ञा दी गई है, परन्तु ये अपवाद-मात्र हैं। मुख्य धर्म तो अहिंसा ही है। मनुष्य की कमजोरियो के साथ इतनी रियायत कर देनी पडी है। परन्तु मनुष्य का कर्त्तव्य तो यही है कि वह अधिकाधिक अहिंसा की ओर अग्रसर हो। निजी जीवन के लिए ही नही, मैं समाज-जीवन की वात कर

रहा हू। उसे ऐसी पद्धतिया व प्रणालिया निकालनी चाहिए, जिनमे कम-से कम हिसा सम्भव हो।

दूसरा धर्म सत्य है। सत्य वैसे सर्वोपरि धर्म है, ससार मे जो-कुछ है वह सत्य ही है। फिर भी अहिसा को पकड रखने की जरूरत ज्यादा है, क्योकि अहिसा को छोड देने से सत्य हाथ नही आता। अहिसा की पूर्ण कल्पना एक दफा हो सकती है, वह मनुष्य की पहुच व पकड के बाहर इतनी नही है, क्योकि समाज मे उसका लाभ व आवश्यकता बहुत प्रत्यक्ष है। परन्तु सत्य का पूर्ण रूप बुद्धि की पहुच के परे, केवल अनुभव-गम्य है। उसका जो भी रूप मनुष्य के हाथ लगेगा वह एक अश ही होगा। जैसे-जैसे उसका अनुभव बढेगा, विकास होता जायगा तैसे-तैसे यह अश छूटकर बडा अश उसके हाथ लगेगा। इस तरह अन्त मे उसे पूर्ण सत्य के दर्शन होगे। फिर सत्य को पालने के बाद अहिसा अपने-आप लुप्त हो जाती है। जब मनुष्य की वृत्ति मे प्राणि-मात्र, भूत-मात्र की एकता समा गई या रम गई तो फिर वह हिसा या अहिसा का व्यवहार किसके प्रति करेगा। जबतक मन मे भेद-बुद्धि है, द्वेष है, अपने समाज, सृष्टि, या भूतो के भिन्न-भिन्न होने का भान है तभीतक उनके प्रति दया, सहानुभूति, अहिसा का भाव पैदा हो सकता है व रह सकता है। जब सब जगह मैं-ही-मैं हो गया तो केवल सत्य बच रहा, उसतक पहुचाने-वाली सीढी अहिसा खतम हो गई, उसका विकास पूर्ण हो गया। इसका अर्थ यह नही कि अब उसे हिसा करने का पट्टा मिल गया, बल्कि यह कि अब उसके विचार व्यवहार मे हिसा-अहिसा की परिभाषा नही रही। केवल सत्य की भाषा व वृत्ति रही। उससे प्रेरित होकर वह सब व्यवहार करेगा। हिसा-अहिसा की भाषा व व वृत्ति साधक के लिए है।

चूकि जन-साधारण इसी अवस्था मे पाये जाते हैं, मैंने सत्य से अहिसा का नम्बर पहले बताया है, अहिसा को छोडकर कोई सत्य को पाना चाहेगा तो अहिसा तो गई ही, सत्य भी हाथ नही लगने का। इसके विपरीत सत्य को एक बार भूल जाय, पर अहिसा को सच्चाई से पकडे रहे तो सत्य उसके रास्ते मे अपने-आप मिल जायगा, मिले बिना नही रहेगा। इसका यह भी अर्थ नही कि मनुष्य सत्य को भुला दे, इसलिए मैंने अहिसा के बाद ही सत्य का वर्णन किया है।

तीसरा धर्म अस्तेय है। इसका अर्थ है चोरी न करना, जब किसीकी आख बचाकर कोई काम किया जाता हो तो वह अधिकाश चोरी है, गन्दे काम ही अधि-

काश एकान्त मे किये जाते है। यही चोरी है। योग-साधना जैसे कुछ कर्म ऐसे हो सकते है, जो एकान्त चाहते हैं। मन से भी दूसरे की वस्तु का भोग करना चोरी है। उसको चुराने का विचार आना और ऐसी तजवीज करना चोरी ही है। अस्तेय सत्य-व्यवहार का ही अग है। सत्य-व्यवहार का अर्थ यही है कि हम दूसरे को इस वात का आश्वासन देते हैं कि जिसे तुम अपना या अपनी चीज समझते हो उसे स्वप्न मे भी तुम्हे धोखा देकर लेने की चाह न रखूगा। सत्य के इसी रूप पर समाज मे परस्पर विश्वास का व्यवहार चलता है।

अकाम का अर्थ है अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओ के लेने या उपयोग करने की इच्छा न रखना। सकुचित अर्थ मे स्वपत्नी मे भी वहुत मर्यादित शरीर-सम्वन्ध रखना व दूसरे की वहू-वेटियो को कभी वुरी निगाह से न देखना। सक्षेप मे अपनी इच्छाओ, अभिलाषाओ, वासनाओ, महत्त्वाकाक्षाओ, स्वार्थों, तृष्णाओ का सर्वमुखी सयम। इसके विना समाज मे अन्याय, अत्याचार, शोषण, पीडन, सत्राम नही रुक सकता। दण्ड के भय से समाज मे अन्याय व शोपण नही रुक सकता। मनुष्य की इच्छाओ को खुला छोडकर केवल आचार पर वधन लगाने से एक हद तक ही सफलता मिल सकती है। वास्तव मे मनुष्य को अपनी आवश्यकताए सीमित करना ही सीखना चाहिए। भोग-तृष्णा को वढावा देकर आप समाज मे कैसे ही कडे विधि-विधान वनाते रहिये, वे टूट जायगे या जाहिरा वा छिपे-छिपे उनका भग होता रहेगा। जाहिरा भग वगावत व गुप्त भग चोरी की सडन पैदा करता है। अत जहा विधि-विधानो से रोक-थाम का प्रयत्न किया जाय वहा इससे भी अधिक मनुष्य को सादा जीवन व उच्च विचार की ओर प्रेरित व शिक्षित किया जाना चाहिए।

अक्रोध अहिंसा का एक व्यवहार है। क्रोध से किसीका भी भला नही होता। कर्ता स्वय पछताता है व उसका शिकार आवश्यकता से अधिक दड या हानि पा जाता है और यह सव अनिच्छित रूप से हो जाता है। वडे-वडे लडाई-झगडो का मूल या आरम्भिक रूप क्रोध ही होता है। क्रोध का अर्थ है मन का तोल विगड जाना व इन्द्रियो का अस्त-व्यस्त हो जाना। हमारे आयोजनो को शत्रु उतना नही विगाडता जितना स्वत हमारा क्रोध। शत्रु के वारो और दावपेचो से तो हम प्राय सावधान रहते हैं, परन्तु यह घर मे छिपा शत्रु ऐसा एकाएक हमला करता है कि हम मूर्च्छित ही हो जाते हैं। उस मूर्च्छित या उन्मत्त अवस्था मे

समाज का जो नुकसान हमारे हाथो हो जाता है, उसका अनुमान करना कठिन है। अत अपने अन्दर क्रोध के छिपे हुए रूप को जरूर पहचान रखना चाहिए। क्रोध का जब आवेग आ जाय तो चुप रह जाय व उस स्थान से चले जाकर ठडे पानी से हाथ-मुह धो लेना अच्छा उपाय है।

अलोभ अकाम का आगे बढा हुआ रूप है। काम जब अपनी सीमा छोडने लगता है व अधीर हो जाता है तब वह लोभ हो जाता है। दूसरो की वस्तुओ पर भी उसकी निगाह जाती व रहती है। यही से बुराई व पाप की बुनियाद पडती है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दूसरो की बुद्धि, कला, विद्या, धन, परिश्रम, योग्यता का उपभोग या दुरुपयोग करके खुद लाभ उठा लेना लोभ की ही प्रवृत्ति है। समाज मे अक्सर वे लोग बडे होशियार गिने जाते हैं, जो इस तरह दूसरो का शोषण करते है। परन्तु वास्तव मे वे पापभागी ही होते हैं। जिसका उसको देना, लेने देना व रहने देना, सत्य का व्यावहारिक रूप है। यही समाज मे न्याय का रूप है। लोभ ही अक्सर इसे तोडने का पाप कमाता है। अत मैंने स्वतत्र रूप से अलोभता को मनुष्यमात्र का धर्म बताया है।

अब सबसे अन्तिम परन्तु बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है—मनुष्य किस भावना से यहा प्रेरित होकर जीवन-यापन करे। उसके लिए मेरी स्पष्ट सम्मति है कि वह भूतमात्र के प्रिय करने व हित साधनेवाली होनी चाहिए। अहिंसा की भावना रखने से मनुष्य अपने-आप प्राणिमात्र के प्रिय कार्यों मे लगा रहेगा व सत्य का अवलबन करने से उनके लिए हितकर कर्म ही उससे सदैव होगे। परन्तु यह बात उसे सदैव याद रखनी है कि उसे जीवन मे वे ही काम करने है जो मनुष्यमात्र को प्यारे हो व उनका कल्याण करनेवाले हो। इसीको सर्वभूतहित, विश्वहित, (आजकल की भाषा मे अतरराष्ट्रीयता, विश्वबधुत्व कहिये) कहते हैं। मानव-जाति या मनुष्य-समाज के लिए मेरा यही सदेश है। सर्वात्मभाव उसके जीवन का लक्ष्य, व सर्वभूतहित उसकी साधना होनी चाहिए। इसमे व्यक्तिगत व सामाजिक, दोनो हेतुओ की पूर्ति बडी खूबी से हो जाती है। व्यक्तिगत व सामाजिक स्वार्थों का इससे अच्छा समन्वय क्या हो सकता है? सर्वभूतहित या सकुचित रूप मे समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा किसलिए? व्यक्तिगत साधना के लिए। इस वृत्ति से समाज के प्रति उपकार-भावना व इसलिए अपने प्रति अहकार-भावना नही पैदा होने पाती। व व्यक्तिगत उन्नति किसमे? समाज-सेवा मे। इस वृत्ति मे व्यक्ति-

गत स्वार्थों को समाज मे विलीन कर देने की—समर्पण की उच्च भावना है। इससे व्यक्ति अपनेको समाज से पृथक् व बडा नही मान सकता। व सच पूछो तो यही उसके बडे बनने का सरल उपाय है। ऊधो, इससे अच्छा समन्वय या सामजस्य, न कभी जगत् मे हुआ है, न भविष्य मे ही होने की आशा है, जो भी योजनाए व्यक्ति व समाज के समन्वय की बनेंगी, उन्हे इसी मुख्य तत्व को केन्द्र मे रखना पड़ेगा।

वर्णाश्रम-व्यवस्था मे गृहस्थाश्रम—कुटुम्ब—को मुख्य माना गया है, व्यक्ति को नही। व्यक्ति को समाज की एकाई मानना समाज की प्रारभावस्था का सूचक है। व्यक्ति-स्वातत्र्य का मतलब है विकास का प्रारभ, सगठन का अभाव। व्यक्ति का प्राथमिक विकास कुटुम्ब मे हुआ। कुटुम्ब व्यक्तियो का एक छोटा समूह है। रक्त-सम्बन्ध, स्वार्थ-सम्बन्ध, स्नेह-सम्बन्ध, इसका आधार है। व्यक्ति-स्वातत्र्य मे व्यक्ति अपने सुख-सुविधा से ऊपर उठा हुआ प्राय नही होता। कुटुम्ब-सस्था मे उसे कौटुम्बिक सुख-सुविधा का भी ध्यान रखना पडता है व उनके लिए त्याग भी करना पडता है। उनकी सगति, सहयोग, स्नेह आदि का जहा वह यथेच्छ भोग करता है वहा वह उनके लिए स्वेच्छा से व प्रसन्नता से त्याग भी करता है। कौटुम्बिक जीवन मे व्यक्ति पहली बार सयम की आवश्यकता महसूस करता व उसको पालता भी है। समाज कुटुम्ब के आगे का ही कदम है। कुटुम्ब एक छोटा समाज ही है, जिसमे सामाजिक जीवन के प्राय सब अनुभव मनुष्य को हो जाते हैं। सभी समस्याए उसमे उपस्थित होती हैं व उन्हे उसे हल करना पडता है। कुटुम्ब-जीवन व्यक्ति का अपना आत्म-विकास ही है। व्यक्ति-स्वातत्र्य मे जहा वह अपने एक ही रूप को जानता था अब वह अपने माता, पिता, पत्नी, बच्चे आदि अनेक रूपो को पहचानने लगता है। ये सब उसके आत्मीय हैं—उसी के भिन्न-भिन्न नाम रूप हैं, ऐसा वह महसूस करता है। इसी भावना या अनुभव पर कुटुम्ब का सुख, स्वास्थ्य, उन्नति व व्यक्ति का सतोप, समाधान अवलबित है।

जो भावना, ममत्व, आत्मीयता, आत्मभाव, व्यक्ति का कुटुम्ब के प्रति है वही जाति या समाज के प्रति होना उसके आगे का विकास-क्रम है। कुटुम्ब मे व्यक्ति विलीन हो गया था। जाति या समाज मे कुटुम्ब विलीन हो जाते हैं। एक वश के या एक पेशे के लोगो की एक जाति बन जाती है। एक सस्कृति या धर्म के

लोगो का एक समाज बन जाता है। एक सामाजिक आदर्श, सामाजिक एकता रखनेवालो का राष्ट्र बन जाता है। सब राष्ट्रो को एक मानव-समाज समझो। ये व्यक्ति के आत्मिक विकास की उत्तरोत्तर ऊची अवस्थाए है। वर्ण-व्यवस्था में इसके विकास की पूर्ण गुजायश है, बल्कि इसी विकास को साधने के लिए वर्ण-व्यवस्था का जन्म हुआ है। समाज की सेवा जो इसमे प्रत्येक व्यक्ति और सस्था का धर्म बताया गया है, वह तो केवल प्रारभिक बात है। वर्ण-व्यवस्था यद्यपि मनुष्य-समाज की व्यवस्था करती है तो भी उसका वास्तविक उद्देश है—उस व्यवस्था के द्वारा मनुष्य से व्यक्तिश व सामाजिक सदस्य दोनो हैसियतो से भूत-मात्र—जीवमात्र का प्रिय व हित-साधन। इसका सरल अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति कुटुम्ब का प्रिय व हित करे, कुटुम्ब जाति का, जाति समाज का, समाज राष्ट्र का, राष्ट्र मानव-समाज का, मानव-समाज प्राणिमात्र का—भूतमात्र का तभी ये सार्थक व कृतार्थ हो सकेगे। नीचे का एक अपने से ऊपर के हित मे समर्पित कर दे। जब व्यक्ति इस तरह अपने से आगे की बडी इकाइयो के लिए अपनेको समर्पित करने लगेगा तो उसकी चरमावस्था आ जायगी जबकि भूतमात्र मे उसका समर्पण-भाव हो जायगा। यही आत्मानुभव या ब्रह्मानुभव या परमात्म-प्राप्ति है। जो स्थूलबुद्धि है, वे इस मर्म को नही समझ पाते और इसलिए नाना प्रकार के वाद खड़े करके परस्पर वाद-विवाद करते व झगडे मचाते है। मैंने जो लक्ष्य स्थिर किया है, वह परिपूर्ण है। इससे आगे जाने की गुजायश नही है। जो व्यवस्था बनाई है वह भी सिद्धान्त रूप मे तो अमिट है, बाहिरी रूप या तफसीली नियमो मे समाज की स्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहेगा।

**"(अब चारो आश्रमो मे पहले ब्रह्मचारी के धर्म बतलाते हैं—) जाति, कर्म आदि संस्कारो के क्रम से उपनयन सस्काररूप दूसरा जन्म पाकर द्विज-कुमार (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण का बालक) इन्द्रियदमनपूर्वक गुरु के घर में रहता हुआ, गुरु द्वारा बुलाये जाने पर वेद का अध्ययन करे।" ॥२२॥**

प्रारम्भिक आश्रम ब्रह्मचर्य है। इसके पहले यो तो जातकर्म, आदि सस्कार हो चुकते हैं, परन्तु इसमे मुख्य सस्कार है उपनयन—जनेऊ लेना। इस सस्कार से उसका दूसरा जन्म माना जाता है। अत इसके बाद वह द्विज हो जाता है। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, इन श्रेणियो के लोग ही इस सस्कार से लाभ उठा सकते हैं, क्योकि आगे चलकर जो विद्याध्ययन व ज्ञान-प्राप्ति करनी पडती है, उसके योग्य चित्त-

वृत्ति व परिस्थिति इन्हीकी होती है। यह सस्कार हो जाने पर उसके लिए सबसे पहला काम है अपनी इन्द्रियो का दमन करना। यहा से उसका गुरुकुल-वास शुरू होता है। गुरु जब बुलावें तब जाकर उनसे वेद का अर्थात् ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करे।

**"(ऐसे ब्रह्मचारी को चाहिए कि) मेखला, मृगचर्म, दण्ड, रुद्राक्ष की माला, यज्ञोपवीत, कमण्डलु और स्वत बढी हुई जटाए धारण करे, (शौकीनी के लिए) दात और वस्त्रों को न धोवे, रगीन आसन पर न बैठे तथा कुशा धारण करे।" ॥२३॥**

**"स्नान, भोजन, होम, जप, और मूत्र-पुरीषोत्सर्ग के समय मौन रहे तथा नख एव कक्ष (बगल) और उपस्थ के बाल को भी न कटावे।" ॥२४॥**

**"पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्वयं कभी वीर्यपात न करे और यदि कभी (असावधानतावश स्वप्नादि में) हो जाय तो जल में स्नान करके प्राणायाम-पूर्वक गायत्री का जप करे।" ॥२५॥**

मेखला, यज्ञोपवीत आदि धारण करे, सयमपूर्ण व कठोर जीवन बितावे। शौकीनी व व्यसनो से परहेज करे। गुरु के बनाये नियमो का, ब्रह्मचर्य का भली-भाति पालन करे।

यदि कभी हठात् अनिच्छा से (स्वप्नादि मे) वीर्यपात हो जाय तो स्नान करके, प्राणायाम करे व गायत्री का जप करे। स्नान से थकान दूर होकर ताजगी आ जायगी, प्राणायाम से बल-सचय होगा व गायत्री-जप से मन को स्वस्थता व दृढता प्राप्त होगी।

**"प्रात काल और सायकाल दोनों समय मौन होकर गायत्री का जप करे तथा पवित्र और एकाग्र होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओ की उपासना एव सन्ध्योपासन करे।" ॥२६॥**

ब्रह्मचारी मे नियमितता, नम्रता व मन मे पवित्रता आने के लिए ये विधिया बतलाई गई है।

**"आचार्य को साक्षात् मेरा ही स्वरूप समझे, उसका कभी निरादर न करे और न कभी साधारण मनुष्य समझ कर उसकी किसी बात की उपेक्षा या अवहेलना ही करे, क्योकि गुरु सर्वदेवमय होता है।" ॥२७॥**

गुरु को मनुष्य या मरणशील जानकर उसकी उपेक्षा ब्रह्मचारी को न करनी

चाहिए। गुरु को मेरा ही रूप माने व मेरे जैसा ही उसका आदर करे। वह सर्व-देवमय है।

**"सायकाल और प्रातःकाल दोनो समय जो कुछ भिक्षा मिले अथवा और भी जो कुछ प्राप्त हो, गुरु के आगे रख दे और फिर उनकी आज्ञानुसार उसमें से लेकर संयमपूर्वक भोजन करे।" ॥२८॥**

गुरु से ब्रह्मचारी का आहार-विहार छिपा न रहना चाहिए व बडे होने का अभिमान किसीको न होने पावे, इस उद्देश्य से यह योजना की गई है।

**"आचार्य यदि जाते हो तो उनके पीछे-पीछे जाय, शयन करते हो तो पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हो तो उनके आदेश की प्रतीक्षा में हाथ जोड़े पास ही खड़ा रहे। इस प्रकार अत्यन्त नीच की भाति सेवा-शुश्रूषा करता हुआ आचार्य की आराधना करे।" ॥२९॥**

**"इस प्रकार जबतक विद्या समाप्त न हो जाय तबतक सब प्रकार के भोगों से दूर रहकर अखण्डित ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता हुआ गुरुकुल में रहे।" ॥३०॥**

ब्रह्मचारी को विनय, सदाचार व शिष्टाचार की दीक्षा देने के लिए ये आदेश दिये गए हैं।

**"यदि ब्रह्मलोक को जाने की इच्छा से इसे, जहां मूर्तिमान् वेद रहते हैं उस महर्लोक मे जाने की इच्छा हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य लेकर यावज्जीवन करने के लिए गुरु को अपना शरीर सर्मपित कर दे।" ॥३१॥**

जो ब्रह्मचारी केवल विद्याभ्यास का नही, बल्कि ब्रह्मलोक पाने का ध्येय रखते हैं, उनके लिए तो सर्वोत्तम उपाय यही है कि वे अपना सबकुछ गुरु पर छोड दें और दृढता से स्वाध्याय मे लगे रहे।

ब्रह्मलोक से अभिप्राय यहा मूर्तिमान ज्ञान से है, वह भूमिका जहा ज्ञानस्वरूप परमेश्वर का निवास है। महर्लोक उससे नीचे की भूमिका है।

**"उस ब्रह्मतेज से सम्पन्न तथा निष्पाप नैष्ठिक ब्रह्मचारी को चाहिए कि अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियो मे मेरी अभिन्न भाव से उपासना करे।" ॥३२॥**

इस प्रकार जो दृढ ब्रह्मचर्य धारण करके रहता है, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है। उसमे एक प्रकार का तेज उत्पन्न हो जाता है, जिसे ब्रह्मतेज कहते

है। यह ज्ञान का व तप का तेज होता है। ऐसे तेज से सम्पन्न ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियो मे मेरी अभिन्न भाव से उपासना करे।

ब्रह्मचारी का सम्बन्ध अग्नि, गुरु, अपनी आत्मा और आसपास के प्राणियो से आता है। अत इन्हीकी उपासना के द्वारा वह मेरी उपासना करे अर्थात् इनमे मुझको देखे व मुझको इनमे देखे। इन सबमे वह मेरी धारणा करे। यही समझे कि ये सब परमेश्वर के ही भिन्न-भिन्न रूप है।

**"जो गृहस्थ नहीं हैं उन (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ वा सन्यासियो) को चाहिए कि स्त्रियो को देखना, स्पर्श करना तथा उनसे बातचीत या हंसी-मसखरी आदि करना दूर से ही त्याग दें, मैथुन करते हुए प्राणियो की ओर तो दृष्टिपात तक न करें।" ॥३३॥**

लेकिन यहा एक बात तो मैं ऐसी कहना चाहता हू जिसका पालन सभी गृहस्थो को, केवल ब्रह्मचारियो को ही नही, बल्कि वानप्रस्थ व सन्यासियो को भी करना उचित है। वह है स्त्रियो के सम्बन्ध मे मर्यादायुक्त व्यवहार। इसीपर उनकी प्रगति बहुत-कुछ अवलम्बित रहती है। स्त्रियो को चाव से देखना, छूना, उनसे बात-चीत, हँसी-दिल्लगी करना आदि को वे दूर से ही छोड दें। मैथुन करते हुए प्राणियो की ओर आख उठाकर भी न देखे। यही प्रारम्भिक दोष है, जिनकी उपेक्षा करने से आगे बडे-बडे अनर्थ हो जाते हैं व पीछे सबको पछताना, दु खी होना व नुकसान उठाना पडता है।

**"हे यदुकुलनन्दन, शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थ-सेवन, जप, अस्पृश्य, अभक्ष्य एव अवाच्य का त्याग, समस्त प्राणियो में मुझे ही देखना तथा मन, वाणी और शरीर का सयम—ये धर्म सभी आश्रमो के हैं।" ॥३४-३५॥**

अब तुम सभी आश्रमवालो के सामान्य धर्म सुन लो। वे हैं शुचिता, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरल जीवन, तीर्थ-सेवन, जप, अस्पृश्य, अभक्ष्य, अवाच्य का त्याग, सब प्राणियो मे मुझीको देखना तथा मन, वाणी व शरीर का सयम।

(यहा अस्पृश्य-त्याग से मतलब तात्कालिक अस्पृश्यता से है जैसे मल-मूत्र, घूर, नाली, गटर, साफ करते समय या गन्दे कपडे धोते समय या और गन्दी हालतो मे होनेवाली अस्पृश्यता।)

**"इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला ब्राह्मण अग्नि के समान तेजस्वी होता है, तीव्र तप के द्वारा उसकी कर्मवासना दग्ध हो जाने के कारण चित्त निर्मल हो जाने से वह मेरा भक्त हो जाता है (और अन्त में परम पद को प्राप्त होता है)।" ॥३६॥**

इस प्रकार जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी है वह अग्नि की तरह तेजस्वी हो जाता है। आग मे हाथ डालने की जैसे किसीको हिम्मत नही होती वैसे ही उसका विरोध करने की सहसा किसीकी जुर्रत नहीं होती। आग मे डालने से जैसे कई चीजे शुद्ध व पवित्र हो जाती हैं वैसे ही उसके सम्पर्क से लोगो की मलिनता जल जाती है और तीव्र तपो के द्वारा खुद उसकी भी वासनाए जल-भुन जाती है, जिससे चित्त निर्मल हो जाता है। चित्त-शुद्धि के बाद वह मेरी भक्ति का व फिर वास्तविक परमपद का अधिकारी हो जाता है।

**"इसके अतिरिक्त यदि अपने इच्छित शास्त्रो का अध्ययन समाप्त कर चुकने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा हो तो गुरु को दक्षिणा देकर उनकी अनुमति से स्नान आदि करे (अर्थात् समावर्तन-सस्कार करके ब्रह्मचर्याश्रम को छोड़ दे)।" ॥३७॥**

अब जब गुरुकुल मे अध्ययन समाप्त हो जाय, तो ब्रह्मचारी के लिए दो मार्ग खुलते है—पहला व स्वाभाविक मार्ग है गृहस्थाश्रम। इच्छित शास्त्राध्ययन के बाद उसकी रुचि हो तो गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करे, इससे पहले गुरु से विदा ले, उन्हे दक्षिणा दे, उनकी अनुमति से स्नानादि करके गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करे। इसे समावर्तन सस्कार कहते है। अब वह जीवन के दूसरे विभाग मे प्रवेश करता है।

**"श्रेष्ठ ब्रह्मचारी को चाहिए कि ब्रह्मचर्य-आश्रम के उपरान्त गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे अथवा (यदि विरक्त हो तो) सन्यास ले ले। इस प्रकार एक आश्रम को छोड़कर अन्य आश्रम अवश्य ग्रहण करे। मेरा भक्त अन्यथा आचरण कभी न करे (अर्थात् निराश्रमी रहकर स्वेच्छाचारो में प्रवृत्त न हो)।" ॥३८॥**

श्रेष्ठ ब्रह्मचारी वह है, जो ब्रह्मचर्याश्रम के बाद किसी-न-किसी आश्रम को ग्रहण करे। यदि गृहस्थ न बनना चाहता हो तो वानप्रस्थी बने, यदि गृहस्थ जीवन से तीव्र विरक्ति हो तो भले सन्यास ले ले पर आश्रम-विहीन होकर अर्थात् उच्छृ-खल व स्वेच्छाचारी बनकर न रहे। किसी-न-किसी आश्रम मे रहे, जिससे उसका

जीवन नियम व सयम मे रहते हुए वृद्धि, पोषण व विकास पाता रहे।

**"जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता हो वह अपने अनुरूप निष्कलंक कुल की तथा अवस्था में अपने से छोटी क्रमश सवर्ण की कन्या से विवाह करे।" ॥३९॥**

ऊधो, गृहस्थ जीवन का आधार पत्नी पर है, अत उसके चुनाव मे काफी सावधानी रखनी चाहिए। सारे जीवन भर जिसका साथ रहना है, जिससे पुत्र, सन्तति तथा अन्य सुख की अभिलाषा है उसके चुनाव मे जितनी सावधानी रखी जाय उतना ही अच्छा है।' यो तो विशेष अवस्था मे पति-पत्नी सम्बन्ध-विच्छेद कर सकते है, परन्तु, शोभा, सार्थकता तो इसीमे है कि आजन्म एक ही पति-पत्नी का सम्बन्ध मधुर व सुखमय रहे। मैंने स्वय बहुपत्निया की हैं, मेरी शक्ति व सामर्थ्य की तुलना दूसरो से करना उचित न होगा, परन्तु मैं अपने अनुभव से कहता हू कि एक ही पति-पत्नी का दाम्पत्य जीवन जितना सुख-श्रेय-दाता है उतना अधिक का नही। अत जो गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना चाहे वह पहले तो लडकी के सस्कार अर्थात् कुल को देखे। जहा अच्छे सस्कार रक्षित हो उसे सत्कुल समझना चाहिए। अपने अनुरूप सस्कार ही देखना चाहिए, फिर वह अवस्था मे कुछ छोटी हो और अपने वर्ण की हो।

विवाह एक प्रकार की आजीवन मैत्री है। मित्रता समान गुण-शील मे ही सम्भव व स्थायी हो सकती है। यही नियम दाम्पत्य-सम्बन्ध पर भी लागू है। एक वर्ण मे ही प्राय समान-गुण-शील मिलते हैं। इसलिए मेरी सिफारिश सवर्ण विवाह करने की है, आजकल जो बहुतेरे वश, जातिया बन रही है, इनके सकुचित दायरे मे ही विवाह करने की आवश्यकता नही है। जात पात कोई 'ब्रह्मवाक्य' नही है। समान गुण-शीलत्व ही मुख्य कसौटी है। यदि स्ववर्ण मे समान गुण-शील कन्या न मिले तो दूसरे वर्णों मे कर लेना चाहिए। इससे वर्ण-व्यवस्था में कोई बाधा नही पडती। केवल गृहस्थ-जीवन के सुख-सुविधा का सवाल है। स्ववर्ण मे उसकी अधिक सम्भावना देखकर ही उसपर जोर दिया गया है।

इस आश्रम का आधार दाम्पत्य-सुख पर है। इसलिए दाम्पत्य-जीवन के मुख्य सिद्धान्त भी यहा समझ लो। वर्ण-व्यवस्था या भागवत-धर्म दोनो के अनुसार दाम्पत्य-जीवन धर्म-पालन अर्थात् व्यक्ति व समाज की उन्नति के लिए है। इसमे व्यक्तिगत सुख या भोग-विलास के लिए कतई गुजाइश नही है। स्त्री-सग भी केवल

सन्तान-प्राप्ति के लिए ही करना चाहिए। काम-शान्ति इसमे गौण है। वैसे तो कामेच्छा मनुष्य मे स्वाभाविक है। परन्तु वर्ण-व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति व समाज के भावी व स्थायी सुख की दृष्टि से, उसे सयम मे रखकर, सन्तान को पहला व काम-शान्ति को दूसरा स्थान दिया गया है। अत मनुष्य को सदैव काम-प्रवृत्ति को गौण मानने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। अनुभव से वे देख लेंगे कि सयम मे ही कुल मिलाकर अधिक वास्तविक व स्थायी सुख है, काम-तृप्ति या कामातिरेक से नही।

सतानोत्पत्ति का सम्बन्ध रति-क्रिया से है। इस उद्देश्य से जब रति-क्रिया का प्रसग आवे तो इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जिससे दम्पती की काम-शान्ति हो जाय। इसपर दम्पती की मानसिक सुस्थिति बहुत-कुछ अवलबित रहती है। शारीरिक सम्बन्धो मे रति-तुष्टि व मानसिक सहयोग अर्थात् रति, व प्रीति ये दो दाम्पत्य-जीवन के स्तम्भ है। सारे गृह-कार्यों मे सेवा व धर्म-कृत्यो मे दम्पती का पूर्ण मानसिक सहयोग होना चाहिए। यह तभी सभव है कि जब दोनो के विचार व भाव-धारा एक हो तथा परस्पर अमिट स्नेह व सौहार्द हो। यह स्नेह परस्पर विश्वास व आत्मीयता का रूप धारण करे। रस्सी की दो लटे जैसे परस्पर दृढता से एक दूसरे को पकडे रहती है उसी तरह पति-पत्नी का जीवन परस्पर निगडित रहना चाहिए। स्त्री पति को परमेश्वर व पति पत्नी को देवी, भगवती के सदृश समझे। दोनो सदा एक दूसरे को व समाज को प्रसन्न, सुखी, उन्नत बनाने का हार्दिक प्रत्यत्न करे। इस विषय मे राम-सीता हमारे आदर्श हो सकते है। सीता ने यदि राम के साथ वन-जीवन को प्रासाद-जीवन से भी अधिक सलोना माना तो राम के लिए मीता का वियोग असह्य हो गया था, जबतक उसे वापस प्राप्त नही किया जबतक उन्होने चैन नही लिया। केवल रूप-प्रधान या काम-तृप्ति-प्रधान दाम्पत्य-सम्बन्ध या जीवन कभी हितकर व मुखकर नही हो सकते।

दाम्पत्य सम्बन्ध मे यद्यपि वर वधू को ही अपना चुनाव करने का अधिकार है व रहना चाहिए तो भी माता-पिता, आप्त-इष्ट व गुरुजन की सलाह व सम्मति का इसमे सदैव आदर करना चाहिए। युवावस्था भावना-प्रधान होती है। बुद्धि की तीव्रता व विद्या का मग्रह हो गया हो, तो भी अनुभव व व्यवहार-जगत् की देख-भाल का मूल्य इनसे कम नही है।

**"यज्ञ करना, पढ़ना और दान देना—ये धर्म तो सभी द्विजो (ब्राह्मण, क्षत्रिय,**

वैश्य तीनों) के लिए विहित हैं किन्तु दान लेना, पढाना और यज्ञ कराना—ये केवल ब्राह्मण ही करे।" ॥४०॥

अब मैं चारो वर्णों के गृहस्थो के धर्म तुमको बताये देता हू। यज्ञ करना, पढना, व दान देना ये धर्म तो सभी द्विजो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए उचित हैं, परन्तु दान लेना, पढाना व यज्ञ कराना—ये केवल ब्राह्मण ही करे। 'यज्ञ करना' से अभिप्राय उन समस्त कर्मो से है जो परोपकार के लिए, जिसमे अपने स्वार्थ-सिद्धि की भावना न हो, किये जाते हैं। इनमे समस्त सेवा-कार्यों का समावेश हो जाता है। जाति-सेवा, समाज-सेवा, धर्म-सेवा, राष्ट्र-सेवा, मानव-सेवा, जीव-दया, आदि के आयोजन इसीके अन्तर्गत है। यो 'यज्ञ' एक विशिष्ट प्रकार की विधि है, जिसमे 'बलि' दान का विधान है। परन्तु वह विशिष्ट समय के लिए ही उपयोगी हो सकता है, व था। वास्तव मे यज्ञ का व्यापक अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। 'गीता' मे भी मैंने 'यज्ञ' के अर्थ का विकास किया है। 'क्रिया' समयानुसार परिवर्तनीय है, 'भावना' सार्वकालिक है।

पढने से अभिप्राय सब सत्शास्त्रो व विद्याओ के ज्ञान वा प्रयोग से है।

दान देने से मतलब सब सत्कार्यों मे उत्साह से बिना बदला पाने की अभिलाषा से, कीर्ति, प्रतिष्ठा, मान आदि के प्रलोभन से रहित होकर, सहायता करने से है। इतने काम अर्थात्, परोपकार या सेवा-कार्य, शिक्षा-प्राप्ति व प्रयोग तथा सार्वजनिक कार्यों मे साम्पत्तिक आदि सहयोग ये तो द्विजातिमात्र के लिए अनिवार्य हैं। अर्थात् यदि ये न करे तो दण्डनीय हैं। शूद्रो पर इनकी पाबन्दी नही है। उसके लिए ये लाजमी नही हैं। याद रखना चाहिए कि शूद्र उसीको कहा है कि जिसमे द्विजाति-योग्य विशिष्ट विकास का अभाव है। जिसमे इनमे से किसी प्रकार की प्रवृत्ति का विकास पाया जायगा वह अपने-आप ही उस वर्ग या वर्ण मे आ जायगा। यह वर्ण-विभाग लोहे की दीवार की तरह किसी मर्यादा से परस्पर पृथक् नही किया गया है। बल्कि नालियो से परस्पर मिलाये गए उन भिन्न-भिन्न तालावो की तरह है, जिनमे एक दूसरे का पानी आता-जाता रहता है। अस्तु—

लेकिन इनमे तीन काम केवल ब्राह्मण वर्ण के ही करने योग्य हैं—दान लेना, पढाना, यज्ञ कराना। यहा दान लेने का अर्थ है—अपने निर्वाह के लिए दूसरो से आर्थिक सहायता लेना। पढाने का अर्थ है अध्यापक का, उपदेशक का, ज्ञान-दाता का, परामर्श का, धर्म-व्यवस्था का, कर्तव्य-निर्णय का आदि कार्य करना। ये सब

बुद्धि व विद्या-ज्ञान-प्रधान कर्म है। इन कर्मों के द्वारा ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए कोई ठहराव न करे। इसलिए शेष वर्णो से उसे दान लेने का अधिकार दिया गया है और इसलिए दूसरे वर्णों को जीविकार्थ दान लेने से मना किया गया है।

'यज्ञ कराना' से अभिप्राय समस्त परोपकारी कार्यो की प्रेरणा करना, उनका आरम्भ करना, उनकी व्यवस्था व संचालन मे सहयोग देना, उनकी योजना और विधि-विधान वना देना।

**"इनमें भी प्रतिग्रह (दान लेने) को तप, तेज और यश का विघातक समझ-कर अन्य दो वृत्ति (अध्यापन और यज्ञ कराने) से ही जीविका-निर्वाह करे अथवा यदि इनमें भी (परावलम्बन और दीनता आदि) दोष दिखलाई दें तो केवल शिलोञ्छवृत्ति से ही रहे।" ॥४१॥**

यद्यपि मैंने ब्राह्मण की जीविका के तीन उपाय वताये है तो भी प्रतिग्रह या दान लेने से ब्राह्मण का तप, तेज व यश घटता है। विना उसकी विशेप सेवा लिये —उपकार किये किसीसे गुजर-वसर के लिए धन लेने से वह दूसरो की दृष्टि मे छोटा हो जाता है। आवश्यकता पडने पर उसका विरोध, प्रतिकार या आलोचना करने की हिम्मत या तवीयत नही होती। मन मे दुविधा पैदा हो जाती है। विरोध करते है—मना करते है तो जिसका खाया उसी से लड़ने के दोष की कल्पना मन मे पैदा होती हे। नही करते हैं तो कर्त्तव्य-पालन मे त्रुटि होने की शिकायत अपना मन करता है। ऐसे समय अपने कर्त्तव्य पर दृढ रहने का साहस बहुत कम लोगो मे होता है। इसीका फल तप और तेज का क्षीण होना है। उसके मुलाहिजे से दवकर कभी-कभी अच्छे कामो से परावृत्त होना पडता है व अवाञ्छनीय कामो को अंगीकार कर लेना पडता है। यद्यपि ये सव कच्चे ब्राह्मणो के लक्षण है, फिर भी जो ऐसा महसूस करे कि उनमे ऐसी कच्चाई या कमी है तो उन्हे किसी भी दशा मे दान नही लेना चाहिए। वल्कि यज्ञ कराके या पढाके उसके पुरस्कार या दक्षिणा रूप मे धन ग्रहण करना चाहिए। परन्तु यह भी हो सकता है कि इसमे भी परा-लम्बन या दीनता का अनुभव किसी को हो। विद्यादान के वदले मे धन लेना, या पुरोहिती या अन्य शुभ कर्म के विधान के एवज मे दक्षिणा लेना किसीको अच्छा न लगे तो उसे चाहिए कि वह शिलोञ्छवृत्ति से जीविका-निर्वाह करे। खेत मे राह मे पडे हुए अनाज को, जो एक प्रकार से उसके स्वामी द्वारा त्यक्त किया गया है, वीनकर उसपर निर्वाह करना शिलोञ्छवृत्ति कहलाता है। ब्राह्मण के लिए

ऐसा ही कडा नियम रखना आवश्यक है। तभी उसका तप, तेज, यश सुरक्षित रह सकता है।

**"यह अति दुर्लभ ब्राह्म-शरीर क्षुद्र विषय-भोगो के लिए नहीं है, यह तो जीवन-पर्यन्त कठिन तपस्या और अन्त मे अनन्त आनन्दरूप मोक्ष का सम्पादन करने के लिए ही है।" ॥४२॥**

क्योकि यह ब्राह्मण शरीर ऊधो, क्षुद्र विषय-भोगो के लिए नही है। इसका तो बहुत ऊचा उद्देश्य है। आजीवन कठोर तपोमय जीवन ही ब्राह्मण का भूषण है। इससे तप के द्वारा अन्त मे उसे ठेठ मोक्ष, ब्रह्म-स्थिति तक पहुचना है, जहा जाकर मनुष्य अनन्त सुख का भागी होता है।

**"इस प्रकार जो ब्राह्मण सन्तोषपूर्वक शिलोञ्छवृत्ति से रहकर अपने अति निर्मल महान् धर्म का निष्कामता से आचरण करता है वह सर्वतोभाव से मुझे आत्मसमर्पण करके अनासक्तिपूर्वक अपने घर में ही रहता हुआ अन्त में परम शान्तिरूप मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।" ॥४३॥**

जो ब्राह्मण इस प्रकार शिलोञ्छवृत्ति से पेट पालते हुए सदा सन्तुष्ट रहता है, व सदैव निष्काम-भाव से अपने धर्माचरण मे लगा रहता है वह भले ही अपने घर मे क्यो न रहे गृहस्थी के सब काम-काज क्यो न करता रहे, वह अवश्य परम शान्ति रूपी मोक्ष-पद को पा जाता है, क्योकि इन सब कामो मे लगे रहते हुए भी उसकी आत्मा मुझे ही समर्पित रहती है। इससे वह ससार के सब पदार्थों व बातो मे अनासक्त-भाव से रहता है। घर और वन, एकान्त व बहुजन-समाज ये तो केवल साधन या निमित्त-मात्र हैं। यदि भीतर से मन शुद्ध, दृढ व एकाग्र है तो ये बाहरी स्थितिया गौण हैं, इनको अधिक महत्व नही देना चाहिए। यदि भीतर का प्रकाश स्वच्छ व सतत है तो ऊपर का लट्टू छोटा हो या बडा, हवा को रोकने के लिए काफी हो जाता है।

**"जो कोई ऐसे आपत्तिग्रस्त भक्त ब्राह्मण को कष्ट से निकालते हैं, उन्हें मै भी समस्त विपत्तियो से बचा लेता हू जैसे कि समुद्र में डूबते हुए पुरुष को नौका बचा लेती है।" ॥४४॥**

ऊधो, ऐसे विप्रो की मुझे बडी चिन्ता रहती है। इनको कष्ट मे देखकर जो पुरुष इनकी सहायता करते है व उन्हे कष्ट से छुडा लेते हैं, उन्हे मैं कभी नही भूलता। उसका मैं अच्छा बदला उन्हे देता हू। मैं भी उन्हे समस्त विपत्तियो से

वचा लेता हू। ठीक उसी तरह जिस तरह नाव समुद्र से पार कर देती है। मेरे इस आश्वासन के वाद न तो विप्र को सकट से घवराना चाहिए, न उनकी सहायता करनेवालो को कोई खटका रहना चाहिए।

**"विचारवान् राजा को चाहिए कि पिता के समान सम्पूर्ण प्रजा की और स्वयं अपनी भी इसी प्रकार आपत्ति से रक्षा करे जिस प्रकार कि यूथपति गजराज अपने-आपको भी (अपनी ही बुद्धि और बलविक्रम से) विपत्तियो से बचा लेता है।" ॥४५॥**

अव तुम क्षत्रियो के धर्म सुनो। प्रजा के रक्षण का भार उनपर होने से राज्य की जिम्मेवारी उन्हीकी है। अत मैं उन्हे राजा व राजवर्ग ही सम्वोधित करूगा। जो विचारशील राजा हो उसे उचित है कि वह पिता की तरह अपनी प्रजा की व खुद अपनी भी रक्षा मे सदैव तत्पर रहे। सव प्रकार की दैहिक, दैविक व भौतिक आपत्तियो से प्रजा को बचावे। पिता अपनेको सकट मे डालकर भी, प्राण देकर भी, सतति का रक्षण व पालन-पोषण करता है, इसी तरह राजा प्रजा का भरण-पोषण करावे। देखो यूथपति गजराज अवसर पडने पर दूसरे गजो की भी रक्षा अपने बुद्धिवल व विक्रम से कर लेता है और खुद भी अपनेको वचा लेता है, वैसे ही अपनी प्रजा के प्रति राजा का भी कर्तव्य है।

**"ऐसा (धर्मपरायण) राजा इस लोक में सम्पूर्ण दोषो से मुक्त होकर अन्त समय सूर्य सदृश प्रकाशमान विमान पर बैठकर स्वर्गलोक को जाता है और वहां इन्द्र के साथ सुख भोगता है।" ॥४६॥**

ऐसा राजा केवल ससार मे ही प्रजा का प्यारा नही होता, वल्कि मरते समय सूर्य के जैसे प्रकाशमय विमान पर चढकर स्वर्गलोक को जाता है। वहा इन्द्र के साथ रहकर वह तरह-तरह के सुख भोगता है। उसकी इस महान् सेवा से इस लोक के उसके ऐसे-वैसे दोष धुल जाते है। प्रजागण उन्हे भूल जाते है और मैं भी उनका दश हल्का कर देता हू। जहा विच्छू के काटने की जरूरत थी वहा चीटी ही काट-कर रह जाती है, ऐसा समभो।

**"जिस ब्राह्मण को अर्थ-कष्ट हो वह वैश्यवृत्ति द्वारा व्यापार आदि से उसको पार करे और यदि फिर भी आपत्तिग्रस्त रहे तो खड्ग धारण कर क्षत्रियवृत्ति का अवलम्बन करे किन्तु किसी भी दशा में नीच सेवारूप श्वानवृत्ति का आश्रय न ले।" ॥४७॥**

वैसे तो दूसरे लोगों का कर्तव्य है कि ब्राह्मण को कष्ट में न पड़ने दें, परन्तु यदि कोई सहायता स्वेच्छापूर्वक न करे तो उसे चाहिए कि वह व्यापार, वाणिज्य करके या भले ही क्षत्रिय-कर्म द्वारा जीविका प्राप्त कर ले। परन्तु किसी भी दशा में वह नीच नौकरी या सेवा-रूपी श्वान वृत्ति का आश्रय न ले। यह आपद्धर्म है ऐसा समझा जाय।

"क्षत्रिय को यदि दारिद्रय से कष्ट हो तो वह वैश्यवृत्ति से, मृगया (शिकार) से अथवा ब्राह्मणवृत्ति (पढ़ाने) से निर्वाह करे, किन्तु नीच सेवा वृत्ति का आश्रय न ले।" ॥४८॥

"इसी प्रकार आपत्तिग्रस्त वैश्य शूद्र-वृत्तिरूप सेवा का और शूद्र (उच्चवर्ण की स्त्री में नीच वर्ण के पुरुष से उत्पन्न) 'कारु' नामक प्रतिलोम जाति की चटाई बुनाई आदि वृत्तियों का आश्रय ले। (ये सब विधान आपत्काल के लिए ही हैं।) आपत्ति से मुक्त होने पर अपने लिए निन्द्य निम्न वर्णोचित कर्म से जीविका प्राप्त करने का लोभ न करे।" ॥४९॥

उन तीनों वर्णों के लिए ये आपद्धर्म बताये हैं। श्वान-वृत्ति सबके लिए निन्द-नीय है। ब्राह्मण भले ही क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति से, क्षत्रिय वैश्य-वृत्ति से, वैश्य चटाई आदि बनाकर शूद्र-वृत्ति से पेट भर ले, परन्तु नीच नौकरी का आश्रय कभी न ले, क्योंकि जो उदर-पालन के लिए किसीकी नौकरी करेगा उसकी स्वतन्त्रता, स्वावलम्बन, तेजस्विता, सब नष्ट हो जायगा।

"गृहस्थ पुरुष को चाहिए कि वेदाध्ययन (ब्रह्मयज्ञ), स्वधाकार (पितृ-यज्ञ), स्वाहाकार (देव-यज्ञ), बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ), तथा अन्नदान (अतिथियज्ञ) आदि के द्वारा मेरे ही रूप ऋषि, देव, पितर, (मनुष्य) एवं अन्य समस्त प्राणियों की यथाशक्ति नित्य पूजा करता रहे।" ॥५०॥

गृहस्थों का एक परमधर्म है। वह पांच प्रकार के लोगों का सदैव ऋणी होता है। १ ब्राह्मण अर्थात् गुरु वर्ग का, २ पितरों का, ३ देवताओं का, ४. भूत-प्राणियों का व ५ उन व्यक्तियों का जिनसे उसे समय-असमय सहायता मिली है। इन पांचों के उपकार से उसे उऋण होना है। इसका उपाय बताता हूं। वेदा-ध्ययन अर्थात् स्वाध्याय करके व स्वाध्याय के लिए दूसरों को प्रोत्साहन देकर वह ब्रह्मयज्ञ करे। गुरु-गृह में जो उसने विद्योपार्जन किया है उसका बदला समाज को इस प्रकार दे। 'स्वधा' के द्वारा अर्थात् गरीबों व अनाथों को भोजन-वस्त्र आदि

देकर पितृ ऋण से उऋण हो। माता-पिताओ आदि बडो के उपकार का बदला इस प्रकार चुकावे। उनकी स्मृति मे पाठशाला, अन्नसत्र, कुए, बावली, तालाब, धर्मशाला, पुस्तकालय, वाचनालय आदि खुलवावे। 'स्वाहा' के द्वारा अर्थात् पानी, सिंचाई, नहर, नाव, पुष्प-वाटिका, आदि के द्वारा 'देवयज्ञ' करे। बलि वैश्वदेव के द्वारा अर्थात् पशु-पक्षियो, चीटियो की रक्षा, व पदार्थ-मात्र का सदुपयोग समाज की सेवा मे करने के आयोजनो द्वारा भूतयज्ञ करे। फिर अन्नदान अर्थात् अतिथि-सत्कार या भूखो के लिए सदावर्त या अन्य अच्छे आयोजन करके (जैसे कताई आदि के द्वारा) अतिथि-यज्ञ करे। यह समझे कि ये जो देव, ऋषि, पितृ, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि हैं वे सब मेरे ही रूप हैं। इनके द्वारा वह मेरी ही पूजा करता है। इस भावना से, गृहस्थ नित्य इन समस्त प्राणियो की पूजा द्वारा मेरी पूजा किया करे।

**"स्वयं बिना उद्यम के प्राप्त अथवा शुद्ध वृत्ति के द्वारा उपार्जित धन से, अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता हो उन लोगो को कष्ट न पहुंचाकर, न्यायपूर्वक यज्ञादि शुभ कर्म करता रहे।" ॥५१॥**

इसके सिवा इस बात का गृहस्थ सदैव ध्यान रखे कि वह बिना उद्यम के प्राप्त किसी वस्तु को ग्रहण न करे। वही धन ग्रहण करे जो शुद्ध-वृत्ति से उपार्जन किया गया हो। फिर जिनका भरण-पोषण अपने द्वारा होता हो उनको कष्ट पहुचाकर वह प्राप्त न किया हो। सर्वदा न्याय-पूर्वक समाज व ससार मे रहे तथा सदैव यज्ञ, शुभ कर्म करता रहे।

**"अपने कुटुम्ब में ही आसक्त न हो जाय, बड़ा कुटुम्बी होने पर भी भगवद्-भजन में प्रमाद न करे। बुद्धिमान् विवेकी को उचित है कि दृश्यमान प्रपंच के समान अदृश्य स्वर्गादि को भी नाशवान् जाने।" ॥५२॥**

उसके लिए इतना ही काफी नही है, बल्कि खुद अपने कुटुम्ब मे ही आसक्त न हो। केवल कर्त्तव्य व जिम्मेदारी समझकर सब कुटुम्बियो के प्रति अपना व्यवहार रखे। उनके माया-मोह मे न फसे, जिससे समाज व धर्म-सम्बन्धी कर्त्तव्यो मे बाधा न पडे। कुटुम्ब बडा हो तो भी कभी भगवद्भजन मे, भगवान् के कार्यो मे, समाज व जगत् की सेवा मे शिथिलता या सुस्ती न करे। स्वर्ग की लालसा न रखे। यह समझे कि जैसे यह दृश्यमान प्रबन्ध अर्थात् संसार नश्वर है वैसे ही स्वर्ग अर्थात् स्वर्ग के सुख या भोग भी नश्वर हैं। वह तो परमात्मा के दर्शन या मुक्ति

की ही अभिलाषा रखे।

"यह पुत्र, स्त्री और कुटुम्बादि का सयोग (प्याऊ पर इकट्ठे हुए) पथिकों के सयोग के समान (आगमापायी) है। ये सब सम्बन्धी अपने शरीर के साथ ही छूट जाते हैं, जैसे स्वप्न केवल निद्रा की समाप्ति तक ही रहता है।" ॥५३॥

कुटुम्बियों के मोह मे न फसने का एक उपाय यह है कि उनका अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि का सयोग उन मनुष्यो या राहगीरो की भीड-सा समझे जो प्याऊ पर पानी पीने के लिए आ जुटते हैं। प्याऊ चालू रहती है, पर पथिक आते-जाते रहते हैं। ऐसा ही कुटुम्ब है। इसमे हमारे साथी समझे जानेवाले मुसाफिर ही हैं जो आते-जाते रहते हैं। जबतक हमारा शरीर है तबतक उनसे थोडी देर का नाता है, फिर आप मरे व जग डूबा, सबका नाता टूटा। स्वप्न की तरह ही इनका हाल है। नीद की समाप्ति तक जैसे स्वप्न रहता है वैसे ही शरीर की समाप्ति तक यह कुटुम्ब रहता है। फिर इसका माया-मोह मनुष्य क्यो रखे? इस ज्ञान या धारणा से गृहस्थ को कुटुम्ब मे अनासक्ति रखने व बढाने मे अच्छी सहायता मिलेगी।

"ऐसा विचार कर मुमुक्षु पुरुषो को चाहिए कि घरों में अतिथि के समान ममता और अहकार से रहित होकर रहे, आसक्तिवश उनमें लिप्त न हो जाय।" ॥५४॥

ऐसा सोचकर मुमुक्षु गृहस्थी को चाहिए कि वह घर मे अपनेको अतिथि ही मानकर रहे। कुटुम्बियो के प्रति सारी ममता, अपने बडे होने का, या कुटुम्बियो को अपने से भिन्न समझने का अहकार त्याग दे। शरीर-सम्बन्धी अहकार भी छोड दे। वह सदा इस बात मे सावधान रहे कि कही उनकी मोह-माया के वश मे न हो जाय। अतिथि की निगाह जैसे आगे जाने पर लगी रहती है वैसे ही गृहस्थ कुटुम्ब व गृह को चन्द दिन का बसेरा समझे व सदैव आगे के कार्यक्रम का ही ध्यान रखे।

"गृहस्थोचित कर्मों के द्वारा मेरा ही पूजन करता हुआ मेरी भक्ति से युक्त होकर चाहे घर में रहे, चाहे वानप्रस्थ होकर वन में बसे अथवा यदि पुत्रवान् हो तो (स्त्री के पालन-पोषण का भार पुत्र को सौंपकर) सन्यास ले ले।" ॥५५॥

वह यह समझे कि जितने भी गृहोचित कर्म हैं, उनके द्वारा वह मेरा ही पूजन कर रहा है। इस पूजा-भाव से ही वह गृहस्थ-जीवन बितावे, मेरी भक्ति से कभी विरत या विलग न हो। गृहस्थ-जीवन की मर्यादा पूरी होने के बाद चाहे तो वह

वन मे जाकर बस जाय, वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करले, अथवा पुत्र हो तो सन्यास ले ले। घर-गृहस्थी का भार पुत्र पर सौंप दे। मतलब यह है कि एक अवस्था या अवधि के बाद गृहस्थ को गृहस्थ-जीवन छोड देना चाहिए व सयम से रहकर जीवन आत्म-साधना या लोक-सेवा मे लगाना चाहिए।

**"किन्तु जो गृह में आसक्त, पुत्रैषणा और वित्तैषणा से व्याकुल है, स्त्रीलम्पट और मन्दमति है, वह मूढ़ 'मैं हू—मेरा है,' इस मोहबन्धन में बंध जाता है।" ॥५६॥**

किन्तु इसके विपरीत, जो घर-गिरस्ती के माया-मोह मे, नोन, तेल, लकडी या निन्यानवे के फेर मे पड गया है, धन-पुत्र आदि की तृष्णाओ से व्याकुल रहता है, स्त्रीलम्पट है और इन कारणो से जो अपनी मन्द बुद्धि का परिचय देता है, उसे मूर्ख ही समझो। वह 'मैं हू, मेरा है' इसी चक्कर मे पडा रहता है व दु ख भोगता है।

**"वह सोचता है—अहो, मेरे माता-पिता बूढे हैं, स्त्री छोटी अवस्था के बाल-बच्चोवाली है, ये बच्चे मेरे बिना अति दीन, अनाथ और दु.खी होकर कैसे जीवेंगे।" ॥५७॥**

उससे यदि कहा जाय कि भाई अब जवानी उतर गई, घर-गृहस्थी का मोह छोडकर कुछ परलोक की भी सुध लो, दूसरो के भले का भी कुछ उपाय करो, तो कहता है 'अजी अभी तो बूढे मा-बाप घर मे है, इनकी सेवा कौन करेगा ? बच्चा छोटा है, घर-बार कौन सभालेगा ? मेरे बिना इन बच्चो का लालन-पालन कौन करेगा ? ये दीन-हीन व दु खी और अनाथ होकर कैसे रहेगे ?'

**"इस प्रकार गृहासक्ति से विक्षिप्त चित्त हुआ यह मूढ़ बुद्धि विषय-भोगों से कभी तृप्त न होकर उन्हीका चिन्तन करता हुआ अन्त में एक दिन मरकर घोर अन्धकार में पड़ता है।" ॥५८॥**

ऐसी गृहासक्ति से जिसकी अकल मारी जाती है, वह मूढबुद्धि, विषय-भोग से कभी तृप्त नही हो सकता। दिन-रात उन्हीका चिन्तन करता रहता है और अन्त मे मौत आजाती है तब जाकर अन्धकार मे पड जाता है।

उद्धव, यह जो कुछ भी मैंने तुम्हे समझाया, उसका मर्म यह है कि भक्तिमार्ग कोई मेरी वैयक्तिक पूजा-अर्चा मे ही समाप्त नही हो जाता है। समाज-धर्म की उसमे उपेक्षा नही ह। इतना ही नही, बल्कि समाज-धर्म की रक्षा के ही लिए

वर्णव्यवस्था बनाई गई है।[1] व मेरे प्रत्येक कथन को उसके पालन करने का आदेश दिया गया है। न भक्ति-मार्ग सकुचित या एकागी है न वर्णव्यवस्था जात-पात की जकड-बदी है। मेरे इतने विवेचन के बाद किसीके भी मन मे इस विषय मे सन्देह नही रह सकता कि ये दोनो उपाय सार्वभौम-सार्वदेशिक है।

---

[1]यस्य यल्लक्षण प्रोक्त पुसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
तदन्यत्रापि दृश्येत तत्तनैव विनिर्दिशेत्॥

—भागवत ७।१२।३५

—जिस पुरुष के वर्ण को प्रकट करनेवाला जो लक्षण बताया गया है, वह यदि अन्य वर्णवालो मे भी मिले तो उसे भी उसी वर्ण का समझना चाहिए।

१८ :

# वानप्रस्थ और संन्यास

[इसमे ज्ञान, कर्म और भक्ति की एकता बतलाई गई है। ज्ञानियो, अनुभवियो और जीवनमुक्तो ने यह बताया है और वेद-शास्त्रो ने इसे पुष्ट किया है कि ईश्वर सत्य है, जगत् मिथ्या है व जीव तथा ईश्वर दोनो एक है—जगत् भी ईश्वर का ही प्रत्यक्ष रूप, संकल्प, स्पन्द, कम्पन, तरग, प्रतिबिम्ब, आदि है। इस ऐक्य—ज्ञान या भाव से ईश्वर की प्राप्ति होती है, जिससे मनुष्य के यावत् दु ख मिट जाते है और वह अखण्ड सुख-शान्ति व मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। इस मूल ज्ञान या आशय के अनुकूल जो-कुछ हो वह सत्य, ग्राह्य तथा इसके प्रतिकूल जो-कुछ हो वह त्याज्य या अग्राह्य समझना चाहिए। ऐक्य-ज्ञान, ऐक्य-मार्ग, ऐक्य-भाव—भक्ति-मार्ग है। इस उद्देश्य से कर्म करना कर्म-मार्ग है, योग-साधना योगमार्ग है और अपने-आपको भगवान् पर छोड देना भक्ति-मार्ग है।]

**"श्री भगवान् बोले—हे उद्धव, जो वन में (वानप्रस्थ आश्रम में) प्रविष्ट होना चाहे, वह अपनी स्त्री को पुत्रो के पास छोड़कर अथवा अपने ही साथ रखकर शातचित्त से अपनी आयु के तीसरे भाग को वन में रहकर ही बितावे।"॥१॥**

अब तुम वानप्रस्थियो का आचार-धर्म सुनो—गृहस्थाश्रम मे मनुष्य की वृत्तिया भोग मे व मोह मे फसी ही रहती है। उनसे छुडाने का उपाय वानप्रस्थ है। जबतक घर से दूर जाकर एकात मे न रहे तबतक सहसा इन आसक्तियो से छूटना कठिन है, परन्तु जिन्होने गृहस्थ-जीवन मे भी सयम पर ध्यान दिया है उनके लिए बिल्कुल असभव हो सो भी नही है। ऐसे व्यक्ति अपने घर के ही किसी हिस्से मे एकात-सेवन व सयम साधना कर सकते है। मैं कई बार कह चुका हू कि बाह्य आचार व विधि-विधान, आतरिक साधना, मन को साधने के लिए है। यदि घर मे रहकर मन विषयो मे दूर रह सके तो वन मे जाने व रहने की कोई ज़रूरत

नही है। परन्तु जिन्हे वन मे जाने की ज़रूरत या इच्छा है, वे चाहे तो अपनी पत्नी को साथ ले जाय। यदि पत्नी की तैयारी न हो व पति को भी असुविधा हो तो उसे पुत्र के पास ही घर पर रहने दें। जबतक मन शात, स्थिर, शुद्ध, सम न हो जाय तबतक वह वन मे ही रहकर साधना करता रहे।

"वह वन के शुद्ध कन्द, मूल और फलो से ही शरीर-निर्वाह करे, वल्कलवस्त्र धारण करे, अथवा तृण पत्ते और मृगचर्मादि से काम निकाल ले।" ॥२॥

"केश, रोम, नख और श्मश्रु (मूछ-दाढी) रूप शारीरिक मल को धारण किये रहे (क्षौर न करावे), दन्तधावन न करे, जल में घुसकर नित्य त्रिकाल स्नान करे और पृथिवी पर सोवे।" ॥३॥

"ग्रीष्म में पचाग्नि तपे, वर्षाऋतु में बरसती हुई धारा का आघात सहते हुए अभ्रावकाश नामक व्रत का पालन करे, तथा शरद् ऋतु में कण्ठपर्यन्त जल में डूबा रहे—इस प्रकार घोर तपस्या करे।" ॥४॥

"अग्नि से पके हुए (अन्न आदि) को ओखली मे अथवा पत्थर से कूटकर या दातो से पीसकर खा ले।" ॥५॥

"अपने उदर-पोषण के साधनभूत कन्दमूलादि स्वय ही संग्रह करके लावे। देश, काल और बल को भली-भाति जाननेवाला मुनि अन्य समय लाये हुए पदार्थ का ग्रहण न करे।" ॥६॥

"वन्य कन्द-मूलादि से बनाये हुए चरु-पुरोडाशादि से ही समयोचित आग्रयणादि कर्म करे। वानप्रस्थ हो जाने पर वेद-विहित पशुओ द्वारा मेरा यजन न करे।" ॥७॥

"हा, वेदवेत्ताओ ने अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्यादि का तो मुनि के लिए पहले ही के समान निरूपण किया है।" ॥८॥

अपने सयम व तप को बढाने के लिए पूर्वोक्त नियमो व व्रतो का पालन करता रहे।

"इस प्रकार घोर तपस्या के कारण (मास सूख जाने से) जिसकी शिराए (नसें) दीखने लगी हों वह मुनि मुझ तपोमय की आराधना करके ऋषिलोक आदि में जाकर फिर वहां से कालान्तर में मुझको प्राप्त कर लेता है।" ॥९॥

इस प्रकार घोर तप से उसके शरीर का मास सूख जाता है व बदन की नसें दीखने लगती हैं, यह मेरे तपोमय रूप की आराधना है। इसके फलस्वरूप वह

पहले ऋषि लोकादि मे जाता है, वहा से फिर समय पाकर वह मुझको प्राप्त कर लेता है।

ऋषि मेरे मुख्य प्राण का एक रूप है। पहले इसकी चर्चा हो चुकी है, उसे तुम भूले न होगे।

**"जो कोई इस अति कष्टसाध्य मोक्ष फलदायक तप को क्षुद्र फलो (स्वर्ग-लोक, ब्रह्मलोक आदि) की कामना से करता हे उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ?" ॥१०॥**

परन्तु यदि कोई ऐसा घोर तप, कष्टदायक साधना किसी क्षुद्र फल, जैसे स्वर्गलोक आदि, की कामना से करता है तो उससे वढकर मूर्ख कौन हो सकता है ? यह तो हीरा-मोती के वदले मे गाजर, मूली मागने जैसा ही हुआ।

**"वानप्रस्थी जिस समय अपने आश्रम के नियमो का पालन करने में असमर्थ हो जाय और इसका शरीर वृद्धावस्था के कारण कांपने लगे तो अग्नि को (भावना द्वारा) अपने अन्त करण में आरोपित कर मेरा स्मरण करता हुआ उसमें प्रवेश कर जाय। (यह विधान अविरक्त के लिए है)।" ।११॥**

यदि बुढापे आदि के कारण घोर तप न हो सके, या अपने आश्रमादि के नियमो का पालन न हो सके तो वानप्रस्थी को चाहिए कि वह अपने हृदय मे मानसिक अग्नि चेताकर उसीसे तप-साधना करे, अर्थात् मन मे अग्नि की भावना करे, उसीमे तपे। फिर मेरा स्मरण करते हुए ऐसी कल्पना करे जैसे वह उस आग मे प्रवेश कर रहा है। लेकिन यह विधान उस व्यक्ति के लिए है, जो अविरक्त हो।

**"और यदि अपने कामो के फलस्वरूप इन नरकतुल्य लोको मे उसको पूर्ण वैराग्य हो जाय तो आहवनीय आदि अग्नियो को त्यागकर सन्यासी हो जाय।" ॥१२॥**

परन्तु यदि अपने कर्म-फल-रूप मे उसे इन नरक-तुल्य लोको से विरक्ति हो जाय, इनकी चाह उसके मन से निकल जाय तो फिर उसे इन आहवनीय आदि अग्नि की जरूरत नही है। वह इन सबको त्यागकर सन्यासी हो जाय। अर्थात् वैराग्य होने के वाद फिर अग्नि द्वारा तप साधन की जरूरत नही है। तप वैराग्य का साधन है। वैराग्य होने पर वह सन्यास का अधिकारी हो जाता है, क्योकि यदि इस लोक मे या परलोक मे कुछ भी भोग की अभिलाषा वाकी है तो फिर सन्यास एक विडम्बना-मात्र होगा।

"ऐसे विरक्त वानप्रस्थ को चाहिए कि वेद-विधि के अनुसार (अष्टकाश्राद्ध-पूर्वक प्राजापत्य यज्ञ से) मेरा यजन करके अपना सर्वस्व ऋत्विक् को दे दे और अग्नियों को अपने प्राण में लीन करके निरपेक्ष होकर स्वच्छन्द विचरे।" ॥१३॥

जब वानप्रस्थी को इतना विराग पैदा हो जाय तो वह वेद-विधि के अनुसार अर्थात् अष्टकाश्राद्धपूर्वक प्रजापत्य यज्ञ से मेरा यजन करके अपना सर्वस्व, अपने पास जो कुछ हो सब ऋत्विक् को दे दे और अग्नियों को अपने प्राण मे लीन करके अर्थात् प्राणमय अग्नि को जाग्रत करके किसी बात की चाह व चिन्ता मन मे न रखते हुए स्वच्छन्द विचरण करे। अब यह सन्यासी हो गया।

"इस विचार से कि यह हमारे लोक को लाघकर परमधाम को जायगा, देवगण स्त्री आदि का रूप धारणकर ब्राह्मण के सन्यास लेते समय विघ्न किया करते हैं (अत उस समय सावधान रहना चाहिए)।" ॥१४॥

जहा किसीको देखा कि वह स्वर्ग-लोक आदि की परवाह नही करता तो देवता फौरन चौकते है कि यह हमारे लोको को लाघकर परम पद को प्राप्त करेगा, तो वे उसके मार्ग मे कठिनाइया व बाधा उपस्थित करते है। स्त्री आदि का रूप धारण करके वे उसे ललचाते व डिगाने का यत्न करते है। सन्यास लेते समय मनुष्य के मन मे अपने रहे-सहे भोग-सस्कारो की जागृति होती है। जब घर छोडकर कही बाहर जाते हैं तो जैसे बाल-बच्चो की याद आती है व उनका ध्यान खो देने मे कष्ट अनुभव होता है वैसे ही सन्यासाश्रम के समय मन की दशा होती है। आज से ससार का सब नाता, सब मोह-बन्धन टूटे। एक नई जीवन-यात्रा आरम्भ हुई। ऐसे अवसर पर घर, सस्था या समाज के लोगो की मुखाकृतिया मन के सामने आ-आकर अपना प्रभाव डाले तो आश्चर्य नही है। ऐसे समय मे सावधान रहकर मन को अच्छी तरह वश मे रखे रहना चाहिए।

"यति को यदि वस्त्र धारण करने की आवश्यकता हो तो एक कौपीन और जिससे कौपीन ढक जाय ऐसा एक और वस्त्र रक्खे और आपत्काल को छोडकर दण्ड तथा कमण्डलु के अतिरिक्त और कोई वस्तु पास न रक्खे।" ॥१५॥

ऊधो, यह सन्यास अन्तिम आश्रम है। यह त्याग की चरम सीमा है। तप इसमे साधना नही रह जाता, बल्कि स्वाभाविक जीवन ही बन जाता है। इसके नियम व वृत्तियो पर ध्यान दोगे तो यह बात झट समझ मे आ जायगी। देखो, यति को यदि वसन की आवश्यकता हो तो वह एक लगोटी ही रखे। अधिक-से-

अधिक एक ऐसा वस्त्र और रखले जिससे कौपीन भी ढक जाय। और वस्तुओ की जगह वह दण्ड व कमण्डलु ही रखे, इससे अधिक कुछ नही। वीमारी आदि आपत् काल मे इस नियम को कुछ ढीला किया जा सकता है।

सच पूछो तो प्रकृति ने मनुष्य को ऐसा सर्वांगपूर्ण बनाया है कि उसे किसी वाहरी साधन की ज़रूरत अपनी रक्षा व आवश्यकता-पूर्ति के लिए नही है। जिन अगो की रक्षा अधिक सावधानी से करनी है, उनपर प्रकृति ने खूब रोम उपजाये हैं। यो सारा शरीर ही रोमाच्छादित है। यह प्रकृति ने अपनी तरफ से शरीर को कपडे ही पहनाये है। नख, दात आदि काटने, खाने, पीसने, चबाने के हथियार दे रखे हैं। हाथ का चुल्लू बनाकर पानी पी सकते हैं। हाथ का सिरहाना लेकर सोया जा सकता है। जगल के कन्द-मूल-फल खाकर व बहते झरनो का हाथ से पानी पी-पीकर खुली हवा से प्राण-शुद्ध वायु ग्रहण करके मनुष्य बडे मज़े मे अपना भरण-पोपण कर सकता है। फिर आकाश मे चदोवे के नीचे, जिसमे प्रकृति ने बडी कारीगरी से चाद-सूरज व नक्षत्रो के चलते-फिरते दिव्य फूल टाके है, व प्रकृति की हरी-भरी दूब व घास की मखमल-जैसी मुलायम फर्श-रूपी गोद मे बडे मज़े से आराम ले व सो सकता है। परन्तु मनुष्य की कुछ सामाजिक आवश्यकताओ ने व अधिकाश मे सस्कृति या सभ्यता के मोह ने उसे प्रकृति के स्नेह व लालन-पालन से बहुत विछुडा दिया है। सन्यास-जीवन बाह्यत फिर से प्रकृति मे लीन हो जाने का, व अन्तत. परब्रह्म मे लीन हो जाने का जीवन है।

**"पृथिवी को देखकर पैर रखे, वस्त्र से छानकर जल पिये, सत्य भाषण करे और मन में भली-भांति विचारकर कोई काम करे।" ॥१६॥**

सन्यासी का सारा जीवन ही स्वभाव-सिद्ध होना चाहिए। आख का काम भला-बुरा देखकर चलना है, अत सन्यासी को उचित है कि वह अच्छी तरह देख-भालकर आगे कदम रखे। चारो ओर व खासकर जिधर कदम उठाना हो उधर देख ले कि नीचे कोई कीडी, काटा या गन्दी जगह तो नही है। इसी तरह पानी हमेशा छानकर पिये, जिससे न तो गन्दा पानी पेट मे जाय न कीडे-मकोडे आदि जन्तु ही पेट मे चले जाय, जो वोले, मुह से जो-कुछ निकले वह सत्य से पवित्र किया हुआ शब्द होना चाहिए। जो वाणी सत्य होती है वही पवित्र समझी जाती है। जो वस्तु पवित्र होती है उससे सबका कल्याण होता है। असत्य बोलने की अपेक्षा जहा वोलना अनिवार्य न हो वहा मौन रह जाना अच्छा है। सत्य बोलने का अर्थ

उद्दण्डता व घमण्ड-भरी बात कहना नही है। दूसरो पर वज्रपात हो, ऐसी भी भाषा न हो। आशय सत्य होना चाहिए। एक ही सत्य आशय की भापा जुदा-जुदा हो सकती है। अत अपने सत्य आशय को प्रकट करने के लिए सदा मृदु व मधुर भाषा का प्रयोग करना चाहिए। भाषा बाहरी वस्तु है, अत बाहरी समाज की अवस्था देखकर इसका प्रयोग करना उचित है। एक ही आशय बच्चे को एक भाषा मे कहा जाता है, बडो को दूसरी भाषा मे, माता को तीसरी भापा मे व पत्नी को चौथी भाषा मे। सत्य, पवित्रता का सम्बन्ध आशय, हेतु से है, भाषा उसे अन्यथा न प्रकट करे, परन्तु वह ऐसी अवश्य होनी चाहिए जो दूसरो को रुचिकर हो, स्वागत-योग्य हो, वे उसे प्रीति से सुनने व समझने का प्रयत्न करे।

इसी तरह मन को जो शुभ व पवित्र मालूम हो वैसा आचरण करे। सन्यासी हो जाने पर अब उसे दूसरो के वचनो पर चलने की आवश्यकता नही रही। अब उसका मन इतना शुद्ध, स्थिर व बुद्धि इतनी परिपक्व हो चुकी होती है कि वह उन पर आधार रखकर व्यवहार कर सकता है। अन्त करण जिस बात की गवाही दे, मनोदेवता जिस बात की प्रेरणा करे, अन्त मे जैसी आज्ञा व आदेश दे उसके अनुसार ही वह चले। जब मन शुद्ध हो जाता है तो उसमे जो प्रेरणाए उठती हैं, वे व्यक्ति या समाज के लिए हितकर ही होती हैं, यह श्रद्धा रखकर सन्यासी चले। हा, इतना अवश्य देखता रहे कि मन उसे धोखा तो नही दे रहा है। इसकी कसौटी यह है कि वह भोग, सुख-सुविधा की तरफ तो नही ढुलक रहा है। जहा ऐसा सन्देह हो वहा फौरन ही उसकी रास खीच ले।

**"मौनरूप वाणी का दण्ड, निष्क्रियतारूप शरीर का दण्ड और प्राणायामरूप मन का दण्ड—ये तीनों दण्ड जिसके पास नहीं हैं, वह केवल बास का दण्ड लेने से (त्रिदण्डी) सन्यासी नहीं हो सकता।" ॥१७॥**

सन्यासी बास या पलाश आदि का दण्ड तो रखता है, परन्तु वह उसका वास्तविक दण्ड नही है। कोरे बास आदि का दण्ड रखने से ही कोई सन्यासी नही कहला सकता। यह तो बाहरी चिह्न है। कुछ भीतरी गुणो का प्रतीक मात्र है। उसका सच्चा दण्ड तो इस प्रकार है—वाणी का दण्ड है मौन, शरीर का है निरिच्छा व निस्पृहता, प्राणायाम मन का दण्ड है।

**"(जाति च्युत अथवा गोघातक आदि) पतित लोगो को छोडकर चारो वर्णों की भिक्षा करे। अनिश्चित सात घरो में मागे। उनसे जो कुछ मिल ज़ाय उससे ही**

सन्तुष्ट रहे।" ॥१८॥

वह भिक्षा पर अपना निर्वाह करे। चारो वर्णो के यहा भिक्षा माग सकता है। पतितों के घरो से भिक्षा न ले। पतितो से मतलब यहा समाज से बहिष्कृत, देश-द्रोही या घातक जैसे व्यक्तियो से है। सात घर भी पहले से निश्चित किये हुए न हो। मुद्दा यह है कि अकस्मात् किसीके घर जाकर जो-कुछ अपने-आप पकी चीजें मिल जाय, वे ही ग्रहण करे। ऐसा नियम रखने से किसीको संन्यासी के लिए विशेष आयोजन या व्यवस्था न करनी होगी व सन्यासी भी मिष्ठान्न आदि इच्छित वस्तु खाने के लोभ से बच जायगा।

**"बस्ती के बाहर जलाशय पर जाकर जल छिडककर स्थलशुद्धि करे और (समय पर यदि कोई और भी आ जाय तो उसको भी) बांटकर बचे हुए सम्पूर्ण अन्न को चुपचाप खा ले। (बचाकर न रखे और न अधिक मांगकर ही लावे)।" ॥१६॥**

फिर बस्ती के बाहर किसी जलाशय के किनारे जाय व स्थान को अच्छी तरह झाड-बुहार व बन सके तो धोकर या पानी छिडककर खाने के लिए बैठे। उस समय यदि और कोई भूखा-प्यासा आ जाय तो पहले उसे खिलावे व जो-कुछ बच जाय उस सारे को आप खा ले। खाते समय मौन रहे। न तो कुछ बचाकर ही रखे, न अधिक मागकर ही लावे।

**"अनासक्त, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मप्रेमी, धीर और समदर्शी होकर अकेला ही पृथ्वी पर विचरे।" ॥२०॥**

अबतक जहा उसने घर-द्वारा मे अनासक्ति रखी थी तहा अब वस्तु-मात्र व व्यक्ति-मात्र से आसक्ति छोड दे। अपनी सारी इन्द्रियो को वश मे रखे। आत्म-चिन्तन मे ही सदा मग्न रहे। बल्कि आत्ममय हो रहे। अपने अन्दर व बाहर सभी जगह अपनी आत्मा का ही दर्शन करे। इससे उसकी दृष्टि मे सबके प्रति समता आ जायगी। उन्हे अपने जैसा ही समझने लगेगा। फिर वह अकेला रहते हुए भी अपने को अकेला नही समझेगा। जो मनुष्य स्वार्थी है वह बहुजन-समाज मे रहते हुए भी अकेला है, क्योकि वह सबको अकेला रखकर केवल अपने ही सुखस्वार्थ को देखता है। परन्तु जो परमार्थी है वह अकेला रहते हुए भी समाज मे है, क्योकि वह सदैव प्राणि-मात्र के सुख व हित मे तल्लीन रहता है। पृथ्वी पर कही भी वह अकेला रहे तो उसे कोई भय, चिन्ता, दु ख न होगा, न रहेगा।

**"मुनि को चाहिए कि निर्जन और निर्भय देश में रहे तथा मेरी भक्ति से निर्मलचित्त होकर अपने आत्मा का मेरे साथ अभेदपूर्वक चिन्तन करे ।" ॥२१॥**

मुनि को उचित है कि वह ऐसे स्थान का आश्रय करे जो निर्जन हो और जहा किसी प्रकार के विघ्न-बाधा की सम्भावना न हो। वहा रहते हुए मेरे भाव मे लीन रहे, जिससे उसका चित्त सदा निर्मल, प्रफुल्ल बना रहे। और जब कभी अपनी आत्मा का ख्याल करे तो उसे मुझसे जुदा न माने, न समझे। सदैव आत्मा के अभेद-भाव का चिन्तन करता रहे।

**"ज्ञाननिष्ठा के द्वारा अपने आत्मा के बन्धन और मोक्ष का इस प्रकार विचार करे कि इन्द्रियो की चचलता ही बन्धन है तथा उनका सयम ही मोक्ष है।" ॥२२॥**

सदैव ज्ञाननिष्ठ रहे। ज्ञान के ही विचार व चर्चा मे रत रहे। जब कभी सोचे तो आत्मा के ही बन्ध व मोक्ष के विषय मे, क्योकि बन्धन ही दुख का मूल है। अत मनुष्यमात्र को चाहिए कि बन्धन से छुटकारा पाने का सदैव प्रयत्न करे। सन्यासी के लिए तो दूसरा कोई कर्तव्य ही शेष नही रहता। अत वह सदैव यही सोचे कि इन्द्रियो की चचलता ही बन्धन का कारण है और उसका सयम ही मोक्ष का। वह इन्द्रियो के बारे मे कभी निश्चिन्त या गाफिल न रहे। गर्मियो मे घास-पात सूखे दिखने लगते है। किन्तु अनुकूल परिस्थिति होते ही उन अदृश्य बीजो व जडो ने अपना जोर जमा ही लिया। उसी तरह मनुष्य की वासना या सस्कार ऊपर-ऊपर से कई बार दब गये मालूम होते हैं जिससे साधक या यति समझ लेता है कि अब इनका प्रभाव नही पड सकता, परन्तु कई बार अनुकूल परिस्थिति पाते ही वे अपना जोर जमाकर उसे पछाड देते है। अत इन्द्रियो के वश मे हो जाने पर भी उन्हे सदैव उन सब परिस्थितियो से बचते रहना चाहिए, जिनसे सयम का बाध टूटने का अन्देशा हो। जब इन्द्रिया जीवित ही मृतवत् हो जाय, मन ही नही, इन्द्रियो की तरफ से ही, शरीर के द्वारा ही, भोग व भोग्य पदार्थों का विरोध होने लगे तब अधिक निश्चिन्तता रखी जा सकती है। सुन्दरी रमणी को देखकर, रुपयो का ढेर सामने होते हुए, प्रशसा, कीर्ति सुनते हुए कोई भी इन्द्रिय चचल न हो, उसमे किसी प्रकार की हलचल, सवेदन, विकार न पैदा हो, बल्कि मृतवत् ऐंठने लगे तो समझे कि अब खतरे से बाहर हुए।

**"इसलिए मुनि को चाहिए कि छहो इन्द्रियो (मन एव पच ज्ञानेन्द्रिया) को जीतकर और समस्त क्षुद्र कामनाओ को छोडकर अन्त करण में परमानन्द का**

जहातक हो सके भिक्षा भी वानप्रस्थियो के स्थानो से ही ले, क्योकि अन्न-जल का बहुत असर मन की शुद्धि व पवित्रता पर पडता है। यह अनुभव से देखा गया है कि जो शिलोञ्छवृत्ति से प्राप्त अन्न पर रहते है उनका चित्त बहुत शुद्ध हो जाता है, वे मोह-माया से जल्दी छूट जाते हैं। क्योकि भिक्षा मे ही क्यो न हो, यदि हम किसीसे कुछ लेते है, तो उसका लिहाज, मोह, दवाव, असर पडता ही है। फिर भिक्षा मे सदैव शुद्ध साधन से कमाया, व स्वच्छ, शुद्ध मन मे प्रेम-पूर्वक दिया अन्न तो मिलता नही है। छली, लम्पटी, कामी, चोर, कपटी, दुर्व्यसनी आदि लोगो का अन्न खाने से मन मे इन कुविचारो का उदय हुए बिना नही रह सकता। अत मनुष्य को व खासकर मुनि व यति को ऐसे अशुद्ध अन्न से बचने का प्रयत्न करना ही चाहिए। इस प्रकार चित्त जब शुद्ध व निर्मोह हो जाता है तब परम सिद्धि पाने मे देर नही लगती।

**"इस दृश्य प्रपच को कभी वास्तविक न समझे, क्योकि यह नष्ट हो जाता है, इसमें अनासक्त रहकर लौकिक और पारलौकिक समस्त कामनाओ (काम्य कर्मों) से विरक्त हो जाय।" ॥२६॥**

फिर इस वात को हृदय मे सदा के लिए अकित करके रख ले कि यह जो दृश्य-प्रपच—ससार है, यह वास्तविक नही है। क्योकि यह नाशवान् है। इन्द्रिय-जय कर लेने के वाद यह मन एकाग्र होने लगता है व एकाग्रता से तथा मेरे ध्यान से उसकी उत्तरोत्तर शुद्धि होती है। इन दो प्रक्रियाओ के वाद मन वास्तविक सत्य को ग्रहण करने-योग्य स्थिति मे आता है। अत पहले इस दृश्य-जगत् की अवास्त-विकता को समझ ले व फिर उसमे आसक्ति न रखे। यदि उसकी वुद्धि को यह वात जच जायगी तो अपने-आप ही उधर से ध्यान व आसक्ति हटने लगेगी। इस अनासक्ति का फल यह होगा कि लौकिक ही नही, अलौकिक विषयो की कामनाओ व काम्य कर्मों से भी वह विरक्त होने लगेगा।

**"मन, वाणी और प्राण का सघातरूप यह जो जगत् है वह सब माया ही है—इस प्रकार आत्मा में विचार द्वारा उसका वोध करके अपने स्वरूप मे स्थित हो जाय और फिर उसका स्मरण भी न करे।" ॥२७॥**

जैसे यह वाहर जगत् है वैसा ही हमारे शरीर के भीतर भी एक जगत् है। जैसे वाहरी जगत् ईश्वर के शरीर मे है वैसे ही यह जगत् मनुष्य के शरीर मे है। इस जगत् को भी तुम समझ लो। वह है मन, प्राण, वाणी का सघात। लेकिन यह

भी वाहरी जगत् की तरह माया ही है। यह सोचकर वह अपने स्वरूप मे अर्थात् आत्मा मे स्थित हो जाय और फिर उस जगत् का स्मरण भी न होने दे। अर्थात् चौबीसो घण्टे यह स्मरण रखे कि आत्मा ही सत्य है; यह जगत् भीतरी व वाहरी सब माया है, नश्वर है, और इसी जागृति से ससार मे अपना कर्तव्य पालन करे।

**"जो ज्ञाननिष्ठ हो, विरक्त हो अथवा किसी भी वस्तु की अपेक्षा न करनेवाला मेरा भक्त हो वह आश्रमादि को उनके लिगों (चिह्नो) के सहित छोड़कर वेद-शास्त्र के विधि-निषेधरूप बन्धन से मुक्त होकर भी स्वच्छन्द विचरे।" ॥२८॥**

जब वह ज्ञाननिष्ठ व विरक्त हो जाय, अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञान मे ही जब वह चौबीस घण्टे स्थित रहने लगे व ससार की नश्वरता देखकर इसके भोग-पदार्थो से विरक्त हो जाय व जब उसके मन मे किसी प्रकार की कोई अभिलाषा न रहे, किसी वस्तु की अपेक्षा न रह जाय, तब वह और सब वाह्य वस्तुओ को, जैसे आश्रम व उनके चिह्नादि को छोड दे व एकमात्र मेरी भक्ति मे ही, मेरे भाव मे ही, तल्लीन रहे। ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर फिर वेद-शास्त्र-वर्णित विधि-निषेधात्मक नियमो व क्रियाओ के आचार उसके लिए आवश्यक नही रह जाते। वह अपनेको इन वन्धनो से मुक्त समझे। अब वह सब तरह स्वतन्त्र, मुक्त हो गया। अब विधि-विधान उसके आचार के प्रेरक व विधायक नही रहे, उसकी ज्ञान-निष्ठा या ईश्वर-निष्ठा रही।

**"वह बुद्धिमान् होकर भी बालको के समान क्रीड़ा करे, निपुण होकर भी जड़वत् रहे, विद्वान् होकर भी उन्मत्त (पागल) के समान वातचीत करे और सब प्रकार शास्त्र-विधि को जानकर भी पशुवृत्ति से रहे।" ॥२९॥**

अब उसका आचार बिलकुल और तरह का हो जायगा। पहले उसके मन मे अपनी विद्या, ज्ञान, पुरुषार्थ-सिद्धि आदि का कुछ अभिमान रहा करता था। इन प्राप्तियो के थोडे-बहुत प्रदर्शन मे उसकी रुचि रहती थी। अपनी प्रशसा करवाता यदि न हो तो उसे कम से-कम सुनता चाव से था। अपनी निन्दा को सुन तो लेता था, फिर भी मन मे कुछ बुरा लगता था व निन्दक की, मन मे ही सही, टीका कर लिया करता था। निन्दक व प्रशसक की जुदा-जुदा श्रेणी उसके पास थी। अब यह सारा अभिमान व आसक्ति चली जाने मे उसमे एक बालक की-सी सरलता दीख पड़ेगी। बुद्धिमान् होते हुए भी ऐसा मालूम पड़ेगा मानो यह बालक-सा सरल,

निर्दोष, भोला है, कही भी बनावट, छल, कपट, टेढा-तिरछापन का नाम-निशान नही है। व्यवहार-निपुण होकर भी उस निपुणता को दिखाने का प्रयत्न नही होता, जिससे वह दूसरो को जड जैसा ही मालूम हो सकता है। विद्वत्ता की धाक दूसरो पर नही जमाना चाहता, विद्वत्ता के वल पर दूसरो को आकर्पित नही करना चाहता, इससे दूमरो को ऐसा आभास होगा मानो यह कोई उजड्ड, अनपढ है। शास्त्रज्ञ होते हुए भी ऐमा जान पडेगा मानो कोई निरा गवार है। अपनेको प्रदर्शित करने की अपेक्षा अपनेको छिपाने की ही वृत्ति उसकी हो जायगी। जैसे-जैसे वह अधिकाधिक ईश्वर-निष्ठ होता जायगा वैसे-वैसे ये लक्षण उसमे अपने-आप प्रकट होते जायगे। जान-वूझकर या प्रयत्नपूर्वक इन लक्षणो को लाने की ज़रूरत नही है, या वनावट से ऐसा व्यवहार करना भी अनुचित है। वह तो सत्य के प्रतिकूल होने से ज्ञान, भक्ति, या कर्म सव अवस्थाओ के क ख ग घ के भी प्रतिकूल है। उनसे ऐसी ही वृत्ति से रहा जायगा, वे प्रयत्न करके वनावट करना चाहे तव भी नही हो सकेगी—यही उनकी ज्ञाननिष्ठता या ईश्वर-निष्ठता की कसौटी है।

**"उसे चाहिए कि कर्मकाण्ड के व्याख्यानादिरूप वेदवाद में प्रेम न रक्खे, पाखण्डी और केवल तर्कपरायण भी न हो तथा जहां कोरा वाद-विवाद हो वहा कोई पक्ष न ले।" ॥३०॥**

फिर यति को चाहिए कि वह वेदवाद मे न पडे, अर्थात् वेदो के अक्षरार्थ करके नये-नये वाद न तो निकाले न उनमे दिलचस्पी ही ले। न पाखण्डी वने, न पाखण्डियो को आश्रय दे, न कोरा तर्कटी ही वने, न शुष्क वाद-विवाद मे भाग ले। ऐसे वाद-विवाद के समय उसे किसी एक पक्ष के समर्थन के चक्कर मे न पडना चाहिए। वह सर्वदा आशय, फल, हेतु की तरफ ध्यान दे। अक्षरो की खीचातानी, शब्दार्थों को महत्व देने से, मूल आशय का, अर्थात् सत्य का घात होता है। शब्द आशय को व्यक्त करने के लिए ही वोले जाते हैं। वे आशय के वाह्य चिह्न या सकेत-मात्र हैं। आशय का पूर्ण या तद्वत् रूप या चित्र उनसे आखो के सामने खडा नही होता—झलकमात्र दिखाई देती है। अत अक्षरो व शब्दो मे ही यदि उलझ रहे, उन्हीको महत्व देंगे तो मूल आशय तक पहुचने न पावेगा। यदि पहुच भी गये तो वह खो जायगा। अत वुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि शब्दो के सकेत मे मूल आशय को ही सर्वदा समझने का यत्न करें। जव ऐसा करेंगे तो ऊपरी मतभेदो व विचारो के लिए वहुत कम स्थान रह जायगा। जहा शब्दो व अक्षरो की खीचातानी हो, इन्ही-

को अधिक महत्व दिया जाता हो, वहा निश्चित रूप से सत्य की शोध, शोधक-वृत्ति का अभाव समझ लेना चाहिए और उससे दूर रहना चाहिए।

ऐसे अवसरो पर स्वानुभव या दूसरे अनुभवियो के अनुभवो पर अधिक आधार रखा जा सकता है। केवल बुद्धि के तर्क भी कई बार, अक्षरार्थ की तरह, वास्तविकता या मूल उद्देश से भटकाकर ले जाते है। सब शास्त्रो और विधि-विधानो या वेदो का मूल उद्देश्य है—मनुष्य प्राणी को सत्ज्ञान प्राप्त कराना व उसके द्वारा उसके आत्यतिक सुख का मार्ग सुलभ व निश्चित बनाना। ज्ञानियो, अनुभवियो व जीवन्मुक्तो ने यह बताया है और वेद-शास्त्रो ने इसे पुष्ट किया है कि ईश्वर सत्य है, जगत् मिथ्या है व जीव तथा ईश्वर दोनो एक है—जगत् भी ईश्वर का ही प्रत्यक्ष रूप, सकल्प, स्पन्द, कम्पन, तरग, प्रतिविम्ब आदि है। इस ऐक्य-ज्ञान या भाव से ईश्वर की प्राप्ति होती है, जिससे मनुष्य के यावद् दु ख मिट जाते हैं व वह अखण्ड सुख शाति-मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। इस मूल ज्ञान या आशय के अनुकूल जो कुछ हो वह सत्य, ग्राह्य तथा इसके प्रतिकूल जो कुछ हो वह त्याज्य या अग्राह्य समझना चाहिए। ऐक्य-ज्ञान, ऐक्य-मार्ग, ऐक्य-भाव, भक्ति-मार्ग है। इस उद्देश से कर्म करना कर्म-मार्ग है, योग-साधना योग-मार्ग है। मतलब यह कि असली व वास्तविक तथ्य अर्थात् सत्य पर सदैव दृष्टि रखे। ऊपरी शब्दार्थों व निरर्थक शुष्क वादविवादो मे, पडिताई मे, वह न उलझे, न पडे। जहा सत्य की छानवीन होती हो, विवाद नही, विचार-विनिमय होता हो, एक ओर सच्ची जिज्ञासा व दूसरी ओर समाधान करने की वृत्ति हो, ऐसी मण्डली मे वह जरूर योग दे व अपना प्रामाणिक मत, अनुभव आदि प्रकट करे। सब लोग उसे स्वीकार कर ही ले, ऐसा आग्रह वह न रक्खे। दूसरे को मनवाने का जहा ऐसा आग्रह हो वहा सत्य का अभाव ही समझो। सत्य का आग्रह स्वय अपने लिए होता है। अपने लिए उसका आग्रह न हो तो वहा भी सत्य की उपलब्धि या तो हुई नही या होती नही, उसी तरह दूसरो पर अपना आग्रह लादना भी सत्य-गति, सत्य-प्राप्ति, या सत्यवृत्ति के विपरीत है। दूसरो को हम अपने अनुभव युक्ति व उपदेश से समझाने का यत्नभर ही कर सकते है। इसमे आग्रह या तो अहकार का, अहम्मन्यता का लक्षण है, या अज्ञान व मूढता का।

"वह धीर पुरुष अन्य लोगो से उद्विग्न न हो और न औरों को ही अपने से उद्विग्न होने दे, निन्दा आदि को सहन करे, किसीका अपमान न करे और इस

शरीर के लिए पशुओ के समान किसीसे वैर न करे।" ॥३१॥

ऊपर तो उसकी मानसिक वृत्ति बताई, अब उसका आचार सुनो। वह औरो के साथ उस तरह व्यवहार करे जिससे न तो दूसरो के मानसिक दुखो व क्लेशो का कारण बने, न उनके दिये दुखो व क्लेशो से दुखी व प्रभावित ही होवे। ससार मे यो ही दुख क्या कम है कि मनुष्य और दुख बढाने का उद्योग करे। अत प्रत्येक मनुष्य का यही कर्त्तव्य है कि वह अपना व दूसरो का दुख सदैव कम करने का प्रयत्न करे। दुख देने का प्रसग आ ही जाय तो दो सूरतो मे उसे अनिवार्य समझा जा सकता है, एक तो स्वय सामनेवाले के के हित लिए, दूसरे अपनी अशक्ति, निर्बलता, मर्यादितताओ के कारण। पहली दशा मे भी मजबूरी की हालत मे ही दुख होने दिया जा सकता है। अर्थात् किसी भी दशा मे, कही भी, दुख देने की नियत ही नही हो सकती। मजबूरी मे असहाय होकर दुख पाते हुए सहा ही जा सकता है। परन्तु यदि अपनेको कोई दुख दे, कष्ट मे डाले जाय तो ऐसा धर्म-युक्त या नीति-युक्त उपाय तो जरूर करना ही चाहिए जिससे वह दुख या सकट टल जाय। पर वह आ ही पडे तो उसे धैर्य से सह ले, व देनेवाले के प्रति मन मे क्रोध या वैर का भाव न आवे। अपने ही अदृष्ट का फल उसे समझ ले। सामनेवाले को कहे भी भले ही, समझावे भी भले ही, पर वह सब मित्र-भाव से, स्नेह से, न कि वैरभाव या शत्रुता से। इसी तरह कोई निन्दा करे तो उसे भी शाति से सुन ले व सह ले। यह तो जरूर सोचे कि निन्दा मे कुछ तथ्य है या नही, तथ्य हो तो उसपर विचार भी करे व अपने मे कुछ सुधारने या त्यागने-योग्य हो तो उसे सुधारे व त्यागे भी, परन्तु निन्दा करनेवाले पर क्रुद्ध न हो, न उसकी बुराई ही चाहे। उसका नतीजा उसीके अपने कर्मो पर या ईश्वर पर छोड दे। बल्कि उसे सुबुद्धि देने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करे व करता रहे।

इतना होते हुए भी स्वय किसीका भी अपमान न करे। यदि हमारी दृष्टि मे सभी नारायण है तो हम कैसे किसीका अपमान करेगे? यो भी किसीका अपमान करना सचमुच ही छोटापन है। यदि तुम साधक हो, भक्त हो तो तुमको नम्र ही रहना चाहिए, किसीका अपमान करना नम्रता-विनय के विपरीत है। यदि तुम ज्ञानी हो तो तो सामनेवाला परमात्मा ही है। तुम्हारा ही दूसरा रूप है, उसका अपमान क्यो? उसकी त्रुटि तुम्हारी त्रुटि है, उसका अपमान तुम्हारा अपना ही अपमान है। तुम कहोगे कि जब मेरा सबके प्रति आत्मभाव है तो फिर मै दूसरे को

दुख देने, अपमान करने, हानि पहुचाने मे क्यो हिचकू ? तो मै कहूगा कि तुमने यह उलटा आशय निकाला। अभेद दृष्टि या अद्वैत भावना तो तुम्हारी हुई है न कि सामनेवाले की। अत उसके तुम्हारे प्रति किये गए व्यवहार को तुम अपने ही द्वारा किया गया व्यवहार समझ सकते हो। परन्तु वह तो भेद-बुद्धिवाला है, अत. तुम्हारे व्यवहार को भेद-दृष्टि से ही देखेगा। तुम्हारे अपमान को वह अपमान ही समझेगा। वह तुमसे बदला लेगा। इसमे तुम अकारण झझट मे पड जाओगे। उसकी यह स्थिति भुलाकर तुम उसके प्रति व्यवहार करोगे तो सत्य की अवहेलना करोगे। तुम्हारे जिस व्यवहार का असर सामनेवाले पर पडनेवाला हो वह तुम्हारी दृष्टि मे कितना ही उचित व योग्य भी हो तो यदि सामनेवाले की मन स्थिति का विचार न करोगे तो उल्टा तुम्ही मुसीबत मे पडोगे। वह तुम्हारे आशय को गलत समझेगा व उसके लिए जो कुछ कार्रवाई करेगा उसकी बुरी प्रतिक्रिया तुमपर होगी। अत मै ब्रह्मज्ञानी या ब्रह्मनिष्ठ हू, इसका अर्थ इतना ही है कि दूसरे के मेरे प्रति किये गए व्यवहारो का अर्थ सदैव ऐक्य-भावना से करू, किन्तु मेरे उनके प्रति किये जानेवाले व्यवहारो मे सदैव उसकी भेद-बुद्धि का हिसाब जरूर लगा लू। ब्रह्मज्ञानी के व्यवहार का यही राजमार्ग है। नही तो वह अपने व दूसरो के लिए सदैव सघर्ष, विवाद, झगडे-बखेडे व परिणाम मे अशाति का कारण बनेगा। फिर किसी उच्च उद्देश्य से, समाज, देश या धर्म-कार्य के लिए किसीसे लडना-झगडना पडे, किसीको दुख पहुचाना अनिवार्य ही हो जाय तो यह एक बात है। किन्तु अपने शरीर के सुख-दुखो के लिए किसीको सताना पडे या किसीसे वैर-भाव रखना पडे यह दूसरी बात है। पहली बात तो समझ मे आ सकती है। मनुष्य-शक्ति की मर्यादा का नाप इससे निकलता है पर दूसरी तो सामान्य पुरुष के लिए भी उचित नही है। फिर यति-सन्यासी के लिए तो और भी गैर-वाजिब ही है। उसका ऐसा व्यवहार तो पशु-तुल्य ही समझना चाहिए।

"जैसे कि एक ही चन्द्रमा के भिन्न-भिन्न जलपात्रो में अनेक प्रतिबिम्ब पडते हैं उसी प्रकार समस्त प्राणियो मे और अपने मे भी एक ही परमात्मा विराजमान है तथा (अपने कारण पृथ्वी आदि रूप से) समस्त देह भी एक ही है।" ॥३२॥

यह ऐसा भी समझे कि समस्त प्राणियो मे व मुझमे एक ही परमात्मा विराजमान है तथा यह जो भिन्न-भिन्न देह है वे भी सब एक ही है। क्योंकि जिन पाच तत्वो से उनका देह बना है, उन्हीसे मेरे सब देह बने है। केवल उन तत्वो की

मात्रा व मिलावट का भेद है। चन्द्रमा तो एक ही है, परन्तु जितने घडो मे, तालावो मे, कुओ मे देखोगे वह अलग-अलग दिखाई पडता ।है इसी तरह परमात्मा अलग-अलग देहो मे जुदा दीख पडता है। यह हमारा केवल अज्ञान या भ्रम ही है। वास्तव मे जीवमात्र मे उसी एक की चेतन सत्ता विद्यमान है।

**"धीर पुरुष कभी-कभी समय पर भिक्षा न मिले तो दु ख न माने और मिल जाय तो प्रसन्न न हो, क्योंकि दोनो ही अवस्थाए दैवाधीन हैं।" ॥३३॥**

फिर जो यति धीर है, उसे चाहिए कि यदि समय पर भिक्षा या अन्य वस्तु न मिले तो उसमे दु खी न हो और मिल जाय तो उससे सुख अनुभव न करे। दोनो अवस्थाओ मे अपने मन की स्थिति को एक-सा रखे। क्योकि भिक्षा या अन्य वस्तु का उसके लिए मिलना या न मिलना, समय पर मिलना या न मिलना आदि दैव-तन्त्र पर अवलवित है। यति ने समाज पर अपना यह भार छोड दिया है और हो सकता है कि भूल से, असावधानी से, अन्य आवश्यक कार्य आ पडने से या कोई अचानक कठिनाई पैदा हो जाने से, सन्यासी को समय पर वस्तु न मिले। अत यदि ऐसी बात पर वह विगडने या दु ख करने लगेगा तो समाज के प्रति उसके समभाव मे वाधा पहुचेगी व अनजान मे ही समाज के प्रति उसके हाथो अन्याय हो सकता है। फिर ईश्वर-प्राप्ति के आगे ये शारीरिक सुविधा की वस्तुए उसके लिए बहुत तुच्छ है। इन छोटी-छोटी वातो से यदि मन की समता नष्ट होने लगे तो समझना चाहिए कि उसने सन्यासी वनने मे जल्दी की है।

**"प्राणरक्षा आवश्यक है, इसलिए आहार मात्र के लिए चेष्टा भी करे, क्योंकि प्राण रहेगे तो तत्त्वचिन्तन होगा और उसके द्वारा आत्मस्वरूप को जान लेने से मोक्ष प्राप्त होगा।" ॥३४॥**

जहातक उसके स्वार्थ या सुख से सम्वन्ध है, केवल प्राण-धारणा मे ही उनका समावेश हो जाता है। वह अपने लिए अगर कोई उद्योग करे तो केवल प्राण-धारणार्थ। इसी निमित्त वह आहार आदि की चेष्टा करे। सो भी तवतक जवतक जीवित रहने की इच्छा हो, वह प्रयोजनीय हो। जवतक शरीर मे प्राण है तभी तक तत्त्वचिन्तन शक्य है और तत्त्वचिन्तन ही आत्म-स्वरूप को जानने मे व मोक्ष प्राप्त कराने मे सहायक होता है। केवल इसी आशा व विचार से आहार आदि का उद्योग करे। दूसरी सव इन्द्रिय-क्रियाए उसकी निस्वार्थ व निरपेक्ष-भाव से होनी चाहिए।

**"विरक्त मुनि को उचित है कि दैववशात् जैसा आहार मिल जाय, अच्छा हो या बुरा, उसीको खा ले, इसी प्रकार वस्त्र और बिछौना भी जैसे मिलें, उन्हे ही स्वीकार कर ले।"** ॥३५॥

इस तरह जो आहार मिले उसीको शान्ति से पा ले—इस विचार मे या झझट मे न पडे कि यह स्वादु है या अस्वादु, व रूखा-सूखा है या तर-माल। इनकी ओर से वह सदैव उदासीन रहे। वह इस बात पर विश्वास रखे कि यति अधिकाश मे तो अपने ज्ञान या भाव बल पर जीवित रहता है। अन्न जिस अश तक उसमे सहायक है उसी अश तक उसका महत्त्व है। अत वह प्राण-धारणा की ही दृष्टि प्रधान रखे। यही बात स्नान, वास, कपडे, बिस्तर आदि के बारे मे। वे सुन्दर है या असुन्दर, फटे-पुराने है या नये, कलायुक्त है या कलाहीन, बढिया है या घटिया, इन बातो का विचार न करे। शरीर-रक्षा-मात्र ही उनकी उपयोगिता देख ले, जैसे वे गन्दे न होने चाहिए आदि।

**"ज्ञाननिष्ठ परमहंस शौच, आचमन, स्नान तथा अन्य नियमो को भी शास्त्र-विधि के अधीन होकर न करे, बल्कि मुझ ईश्वर के समान केवल लीलापूर्वक करता रहे।"** ॥३६॥

ज्ञानी पुरुष जीवन के जो भी कार्य जैसे स्नान, आचमन आदि, इसलिए न करे कि शास्त्रो मे उनका विधान है, बल्कि इसलिए करे कि वे स्वच्छता के लिए आवश्यक है। मतलब यह कि अब वह किसी विधि-विधान से बधा नही है। जबतक मन सयम मे नही रहता या भोग-सुख की वासना रहती है तबतक विधि-विधानो या शास्त्र-बन्धनो का सहारा लेकर चला। अब उनके सहारे की उसे जरूरत न रही। इस सम्बन्ध मे वह मेरा अनुकरण करे। मैं जैसे सब काम लीला से अर्थात् सहज स्वभाववश करता हू, न कि किसीके आदेश, उपदेश या विधि-निषेधात्मक नियमो पर चलकर, उसी तरह वह भी स्वतन्त्र होकर केवल अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखकर चले।

**"उसके लिए यह विकल्परूप प्रपंच नही रहता, वह तो मेरा साक्षात्कार होते ही नष्ट हो जाता है, प्रारब्धवश जबतक देह है तबतक (बाधित रूप में ही) उसकी कभी-कभी प्रतीति होती है, उसका पतन होने पर तो वह मुझमें ही मिल जाता है।"** ॥३७॥

ऐसी स्थिति मे पहुच जाने पर उसके लिए यह विश्व-प्रपंच नही रहता।

क्योंकि यह विकल्परूप है। वस्तुत तो है नहीं, कल्पित आरोपण-मात्र है। अत मेरा साक्षात्कार होते ही वह नष्ट हो जाता है। परन्तु जबतक देह है तबतक कभी-कभी उसकी प्रतीति बाधित रूप मे ही होती रहती है। जबतक प्रारब्ध है तबतक देह तो रहेगा ही। देह के पतन के बाद वह यति फिर मुझमे मिल जाता है। अत जबतक देह है तबतक उसे सारे व्यवहार इसी ऐक्य-भाव या आत्म-भाव से करने चाहिए। वह सबको ब्रह्ममय मानता हुआ रहे, न कि दूसरो से भी वह सबके प्रति या अपने प्रति ब्रह्मभाव की अपेक्षा रखे। दुनिया साधारणत उसे अपनी ही दृष्टि से देखकर उसके प्रति वैसा रुख रखेगी, और यदि वह ब्रह्मवादी है तो उससे यह जरूर अपेक्षा रखेगी कि उसका व्यवहार तदनुरूप ही हो। जब दुनिया को उसके आचार-व्यवहार से यह विश्वास हो जायगा तभी दुनिया की दृष्टि और व्यवहार बदल सकता है। दुनिया के लिए यही स्वाभाविक है। उसके पास मनुष्य की अवस्था की कसौटी उसका आचार ही है। लेकिन यति दुनिया की दृष्टि के फेरे मे न पडे। उसे तो अपने ही हृदय पर हाथ रखकर चलना चाहिए। इससे दुनिया अपने-आप ठीक हो जायगी। आखिर तो जैसे हम होगे वैसा ही दुनिया को मानना व समझना पडेगा। जैसे हम हैं या जैसा हमारा व्यवहार है वैसा ही तो हम भी दुनिया से मनवाना चाहेगे। यदि हमारा आचार, हमारे विचार, वृत्ति के अनुकूल हैं तो दुनिया हमारे आचार से हमारी सही वृत्ति तक अवश्य पहुच जायगी। सभव है, इसमे कुछ समय लगे। परन्तु वह अनिवार्य है। खुद हमे भी अपनेको सही-सही समझ लेने मे वडा समय लगता है तो फिर दुनिया को क्यो न लगे ?

यहातक सिद्ध, ज्ञानी या सन्यासी के धर्म अथवा लक्षण बताये। आज जिज्ञासु या साधक के कर्त्तव्य वतलाते हैं। इन धर्मों या कर्त्तव्यो के विषय मे इतना ही यहा कहे देता हू कि जितनेभर वाह्य आचार, नियम, साधना, उपासना वतलाई गई है या वतलाई जाती है वह सव देश, काल या पात्र के अनुसार सशोधनीय, सुधारणीय व परिवर्तनीय है। इनमे कोई त्रिकालाबाधित नही है, न सभी व्यक्तियो पर लागू ही हो सकती है या की जा सकती है। मनुष्य के स्वभाव मे, प्रकृति की रचना मे ही जव इतनी विविधिता है, तव सवके लिए एक ही नियम, एक ही साधना, एक ही व्यवस्था नहीं हो सकती। अनुभव-प्रदेश मे एकता, ज्ञान-प्रदेश मे मत-भेद, साधना-प्रदेश मे अनेकता यह अविचल सिद्धान्त है। और यही कारण है जो मेरे

बताये व चलाये सनातन-धर्म मे इतनी विविधता पाई जाती है। यह हमारा दूषण नही गुण, स्वाभाविकता व श्रेष्ठता है।

"(यहांतक सिद्ध ज्ञानी के धर्म कहे, अब जिज्ञासु के कर्तव्य बतलाता हूं) जिस धीर पुरुष को इन अत्यन्त दु खमय फलवाली विषय-वासनाओ से वैराग्य हो गया है और जिसे मेरे भागवत-धर्मो की भी जिज्ञासा नहीं है, वह किन्ही विरक्त मुनिवर को गुरु मानकर उनकी शरण जाय।" ॥३८॥

ऊधो, उस मनुष्य को जिज्ञासु समझो जो ससार की विषय-वासनाओ के कडवे फल भुगत चुका है। जिसने देख लिया है कि इनका फल दु ख के सिवा दूसरा नही हो सकता। अत जिसके मन मे इनके प्रति विराग उत्पन्न हो चुका है पर न अभी उससे छुटकारे का मार्ग हाथ लगा है, न मेरी ओर, न बताये धर्मों की ओर प्रवृत्ति हुई है उसे उचित है कि वह किसी विरक्त मुनि या साधु पुरुष की शरण जाय, उसे अपना गुरु या पथदर्शक मानकर उसके बताये मार्ग पर चले।

"उन गुरुदेव को मेरा ही रूप जानकर वह अति आदरपूर्वक भक्ति और श्रद्धा से तबतक उनकी सेवा-शुश्रूषा में लगा रहे जबतक कि उसको ब्रह्मज्ञान न हो जाय, तथा गुरु की कभी किसीसे निन्दा न करे।" ॥३९॥

निर्वलताए निकालनी हैं, अत उसकी दृष्टि इनपर रहना स्वाभाविक, उपयोगी व अनिवार्य है।

इस प्रकार जिज्ञासु तवतक गुरु की सेवा में रहे जवतक कि ब्रह्मज्ञान न हो जाय, जो कि ससार के सव दु खो से छूटने का एक-मात्र रामवाण उपाय है।

**"जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छ शत्रुओ को नहीं जीता, जिसके इन्द्रियरूपी घोडे और बुद्धिरूपी सारथि अति प्रचण्ड हो रहे हैं तथा जो ज्ञान और वैराग्य से शून्य है तथापि सन्यासी के वेष से पेट पालता है, वह यतिधर्म का घातक है और अपने यजनीय देवताओ को, अपनेको और अपने अन्तः-करण में स्थित मुझको ठगता है। जिसकी वासनाए क्षीण नहीं हुई हैं, ऐसा वह मूढ इहलोक और परलोक दोनो ओर से मारा जाता है।" ॥४०-४१॥**

ऊवो, मनुष्य की कमज़ोरी समझ मे आने जैसी है। परमात्मा ने जव जगत् रूप धारण किया तव यह उसकी कमजोरी ही समझना चाहिए। उसका अवतरण तो स्पष्ट ही है। अपनी निजानन्दमयी निर्द्वन्द्व उच्च स्थिति से उतरकर उसने द्वन्द्व व सुख-दु खमय जगत् का रूप धारण किया। यही ससार मे निर्वलता, अशक्ति, कमी, त्रुटि का सूत्रपात हुआ। अत ससार की कोई वस्तु इससे खाली नही मिलेगी। जवतक नाम-रूप है, तवतक कोई-न-कोई त्रुटि लगी ही रहेगी। पूर्ण परमात्मस्वरूप होने पर ही उसका खातमा हो सकता है। अत त्रुटि, कमी, निर्व-लता उतनी बुरी नही है जितना पाप, पाखण्ड, धोखा, कपट, छल है। ये सव असत्य के रूप हैं। सत्याग्रही अपनी त्रुटि को देखने का यत्न करता है, मालूम होने पर उसे सुधारता है, परन्तु कपटी व पापी तो अवगुण को गुण व गुण को अव-गुण के रूप मे, अन्धकार को प्रकाश व प्रकाश को अन्धकार के रूप मे डके की चोट पेश करता है व दुनिया को मूर्ख वनाता है। अत वह मुझे किसी तरह भी सह्य नही है। निर्वल पर जहा मुझे दया आती है, वहा ढोगी के लोक-परलोक दोनो विगड जाते हैं।

**"शान्ति और अहिसा यति (सन्यासी) के मुख्य धर्म हैं, तप और ईश्वरीय चिन्तन वानप्रस्थ के धर्म हैं, प्राणियो की रक्षा और यज्ञ करना गृहस्थ के मुख्य धर्म हैं तथा गुरु सेवा ही ब्रह्मचारी का परम-धर्म है।" ॥४२॥**

**"ऋतुगामी गृहस्थ के लिए भी ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष तथा भूत-दया ये आवश्यक धर्म हैं। मेरी उपासना करना तो मनुष्य-मात्र का परम धर्म है।" ॥४३॥**

अब चारो आश्रमो के मुख्य धर्म सक्षेप मे सुन लो। शान्ति व अहिंसा यति के मुख्य धर्म हैं। तप व ईश्वर-चिन्तन वानप्रस्थ के, प्राणियो की रक्षा व यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ कर्म करना गृहस्थो के मुख्य धर्म है तथा गुरु-सेवा ब्रह्मचारी का परम धर्म है।

गृहस्थ को उचित है कि केवल ऋतु-काल मे ही अपनी भार्या के साथ संयोग करे। सो भी, जैसे कि पहले बता चुका हू, केवल सन्तति की प्राप्ति के लिए। लेकिन ऐसे ऋतु-गामी गृहस्थ को भी चाहिए कि वह ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष व भूतदया का पालन करे। ये उसके लिए आवश्यक धर्म हैं। ऋतुकाल मे स्त्री-गमन के अलावा और समयो मे स्त्री को जगदम्बा का रूप मानकर उसका आदर करे। उसे कामुक दृष्टि से न देखे, न काम-चेष्टा ही करे। केवल सन्तानोत्पादन के लिए दिया हुआ वह ईश्वरीय साधन है, ऐसी भावना रक्खे। तप से अभिप्राय है अपने धर्म-पालन मे आनेवाले सब तरह के कष्टो को प्रसन्नता से सहना। बाहरी स्वच्छता को शौच, व धर्म-पूर्वक जो कुछ मिले उसीमे निर्वाह करने की वृत्ति को सन्तोष और दूसरे जीवो के प्रति समभाव रखने को भूत-दया कहते है। इनके अलावा मेरी उपासना करना मनुष्य-मात्र का परम धर्म है। मेरी उपासना का दुहेरा अर्थ है—मेरे सब गुणो को प्राप्त करने की चेष्टा व प्राप्त गुणो का उपयोग जगत् की सेवा मे करने की तैयारी।

**"इस प्रकार स्वधर्म पालन के द्वारा जो सम्पूर्ण प्राणियो में मेरी भावना रखता हुआ अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति पाता है।" ॥४४॥**

**"हे उद्धव ! मेरी अनपायिनी (जिसका कभी ह्रास नहीं होता, ऐसी) भक्ति द्वारा वह सम्पूर्ण लोको के स्वामी और सबके उत्पत्ति तथा लयस्थान एवं सबके कारणभूत मुझ परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।" ॥४५॥**

**"इस प्रकार स्वधर्म-पालन से जिसका अन्त.करण निर्मल हो गया है, और जो मेरे ऐश्वर्य को जान गया है, वह विरक्त पुरुष ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है।" ॥४६॥**

**"वर्णाश्रमवालो के लिए यह आचार रूप धर्म है। मेरी भक्ति से युक्त होने पर यही उनके परम नि.श्रेयस का कारण हो जाता है।" ॥४७॥**

**"हे साधो ! तुमने जो मुझसे पूछा था सो वह सब तुम्हारे प्रति कह दिया कि**

# परिशिष्ट

## : १ :

## भागवत-धर्म

भागवत-धर्म पाचरात्र और सात्वत धर्म के नाम से भी प्रसिद्ध है। भागवत के 'नारायणीयोपाख्यान' मे पहले-पहल पाचरात्र-मत का विवरण मिलता है। उसमे जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन है, परन्तु वह विवर्तवाद को न मानकर परिणामवाद को मानता है। इसमे परब्रह्म अद्वितीय, दु खरहित, निस्सीम. सुखानुभव-रूप, अनादि, अनन्त है। सब प्राणियो मे निवास करनेवाला, समस्त जगत मे व्याप्त होकर स्थित होनेवाला, निरवद्य तथा निर्विकार है। उसकी समता उस महासागर से की जाती है, जो तरग-रहित होने से नितान्त प्रशान्त है। षड्गुण-योग से वह भगवान् है। समस्त भूतवासी होने से वही 'वासुदेव' है तथा समस्त आत्माओ मे श्रेष्ठ होने से वही 'परमात्मा' है। इसी प्रकार गुणो की विशेषता के कारण वह अव्यक्त, प्रधान, अनन्त, अपरिमित, अचिन्त्य ब्रह्म, हिरण्यगर्भ, शिव आदि नामो से विख्यात है। निर्गुण तथा सगुण दोनो भाव स्वीकृत हैं। अ-प्राकृत गुणो से हीन होने के कारण निर्गुण तथा षड्गुण युक्त होने से सगुण है। जगत-व्यापार के लिए कल्पित इन छ गुणो के नाम ये हैं . ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। अ-जड़ स्वात्म-सम्बन्धी (स्वप्रकाश) नित्य, सर्वावगाही गुण को ज्ञान कहते है। ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप भी है और गुण भी। शक्ति से अभिप्राय है जगत का उपादान कारण, तथा ऐश्वर्य का अर्थ है स्वातन्त्र्य-परिबृ हित जगत-कर्तृत्व। जगत का निर्माण करने मे भगवान् को तनिक भी परिश्रम नही होता। इस श्रमा-भाव को बल कहते हैं तथा जगत के उपादान होने पर भी विकार-रहितता की शास्त्रीय सज्ञा 'वीर्य' है। जगत-सृष्टि मे सहकारी की अनपेक्षा (अनावश्यकता)

को तेज कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म जगत का उभय-विध कारण है। उपादान भी और निमित्त भी।

भगवान् की सामान्य शक्ति का नाम लक्ष्मी है। प्रलयदशा मे भगवान् तथा लक्ष्मी का नितान्त ऐक्य नही होता। वे मानो एकत्व धारण करते हैं। धर्म तथा धर्मी की भाति शक्ति तथा शक्तिमान मे समभाव-सम्वन्ध माना गया है।

भगवान की आत्म-भूता शक्ति आरम्भकाल मे किसी अचिन्त्य कारण से कही उन्मेष प्राप्त करती है और जगत-रचना-व्यापार मे प्रवृत्त होती है। सृष्टि-काल मे इसके दो रूप हो जाते हैं—क्रिया-शक्ति तथा भूति-शक्ति। भगवान के जगत उत्पन्न करने के सकल्प को क्रिया-शक्ति और जगत की परिणति की सज्ञा भूत-शक्ति है। लक्ष्मी इच्छा-शक्ति व सुदर्शन क्रिया-शक्ति है। इन दोनो के अभाव मे भगवान स्वय कुछ नही कर सकते। लक्ष्मी-शक्ति के प्रथम आविर्भाव को 'शुद्ध सृष्टि'-गुणोन्मेष कहते हैं, जब तरग-रहित प्रशान्त समुद्र मे प्रथम बुद-बुद के समान परब्रह्म मे ज्ञानादि षड्गुण प्रथम उदय होते हैं।

भगवान् जगत् के परम मगल के लिए अपने ही आप चार रूपो की सृष्टि करते हैं। (१) व्यूह (२) विभव (३) अर्चावतार व (४) अन्तर्यामी अवतार (इनका विवरण अध्याय ४ श्लोक १७ मे देखिये।)

भक्ति व शरणागति भगवान को पाने का सुलभ साधन है। गीता व श्रीमद्-भागवत भागवत-धर्म के प्रधान ग्रन्थ माने जाते हैं। पिछले एक हजार साल मे भारत के सब भागो मे साधु-सन्तो व भक्तो ने मुख्यत इन्ही दो ग्रन्थो का आश्रय लेकर भक्ति-पथ का प्रचार किया है। गीता के मुकाबले मे भागवत का प्रचार, वडा ग्रन्थ होने के कारण, कम है। भागवत स्पष्ट शब्दो मे अद्वैत तत्व का ही प्रति-पादन करती है। इसके अनुसार भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत—सब वही हैं। अद्वय तत्त्व सत्य है। उसी एक अद्वितीय परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा, और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते है। वही मूलरूप मे निर्गुण और उपाधि से सगुण कहलाते हैं। सत्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष—चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्ध सत्वावच्छिन्न चैतन्य को विष्णु, रजोमिश्रित को ब्रह्मा और तमो मिश्रित को रुद्र, तथा तुल्य-बल रज-तम से मिश्रित का पुरुष कहते हैं। परब्रह्म ही जगत के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न अवतार

धारण करते हैं। पुरुष से भिन्न-भिन्न अवतार उदय होते हैं। भगवत्-प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है। यही मुक्ति का प्रधान साधन है। ज्ञान व कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते है। वे परस्पर मुक्ति के साधक है, स्वतन्त्र या प्रत्यक्ष रूप से नही। कर्म-फल भगवान् के अर्पण कर देना उनके विष-दन्त को तोड देना है।

भक्ति दो प्रकार की है—साधनरूपा व साध्य-रूपा। साधन-भक्ति नौ प्रकार की है। साध्य-रूपा या फल-रूपा भक्ति प्रेममयी होती है, जिसके सामने भक्त मुक्ति को भी नही चाहता। सक्षेप मे यही भागवत-धर्म की रूप-रेखा है। वैसे तो सारी भागवत मे इसीका निरूपण किया गया है।

सन्त एकनाथ ने भागवत-धर्म का मर्म इन शब्दो मे प्रकट किया है—"दारा, सुत, ग्रह, प्राण, सब भगवान को अर्पण कर देना चाहिए। यही पूर्ण भागवत-धर्म है। मुख्यत इसीका नाम भजन है।"

"साधु-सन्तो से मैत्री करो, सबसे पुराना परिचय (प्रेम) रखो। सबके श्रेष्ठ सखा बनो। सबके साथ समान रहो।"

"भगवान् की आचार-सहित भक्ति सब योगो का योगद्वार, वेदान्त का निज भडार और सकल सिद्धियो का परम सार है।"

गृहस्थाश्रम मे रहकर भी जिसका चित्त मेरे (भगवान के) रग मे रग गया और इस कारण जिसकी गृहासक्ति छूट गई, उसे गृहस्थाश्रम मे भी मेरी प्राप्ति होती है और निज बोध मे ही सारी सम्पत्ति मिल जाती है।

## : २ :

## भारतवर्ष

कुछ लोगो की राय है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से इसका नाम भारतवर्ष पडा। श्री जयचन्द्र विद्यालकार का भी झुकाव इसी बात की ओर है। ऋषभ-पुत्र भरत को या तो वह कल्पित व्यक्ति मानते है या प्रागैतिहासिक।

पुराणो मे 'जम्बुद्वीप' शब्द प्राय आता है। पालि मे 'जम्बुद्वीप' सदा 'भारत-वर्ष' के ही अर्थ मे आता है।

प्राचीन प्रथा के अनुसार भारतवर्ष के पाच स्थल (विभाग) थे। भारत का

प्राचीनकाल कुछ थोडे दिनो या बरसो का न था। उस समूचे काल मे भारत के भौगोलिक विभाग और प्रदेशो के नाम एक-से न रहे थे। जातिकृत और राजनैतिक परिवर्तनो के अनुसार भौगोलिक संज्ञाए व परिभाषाए भी बदलती रही हैं। तो भा बहुत-सी सज्ञाए व परिभाषाए अनेक युगो तक चलती रही हैं।

मध्यदेश (सरस्वती व दृषद्वती—वर्तमान सरसुती व घाघर, जो पजाब मे हैं, इनके काठे से कम-से-कम प्रयागराज तक का प्रदेश) बौद्धधर्म की आचार-पद्धति (विनय) के अनुसार आजकल का बिहार भी मध्यदेश का अश, बल्कि मुख्य अश है, और उसकी पूरवी सीमा कजगल कस्बा (सथाल परगने का कीकजोल) तथा सलिलावती नदी (आधुनिक सलई) है, जो झाडखण्ड के पहाडो से मेदिनीपुर की तरफ बहती है। नैपाली लोग इस मध्यदेश के निवासियो को आज भी मदेसिया या मधेसिया कहते हैं और उनके मदेसियो मे बिहार के लोग भी निश्चय से शामिल हैं। मध्यदेश की दक्खिनी सीमा प्राय· पारियात्र या विन्ध्याचल माना जाता था। उस मध्यदेश के पूरब, दक्खिन, पश्चिम और उत्तर के स्थल क्रमशः प्राची, दक्षिणापथ, अपरान्त या पश्चिम देश और उत्तरापथ कहलाते थे।

जब प्रयाग तक मध्यदेश माना जाता था तब काशी मिथिला (उत्तर बिहार) और उसके पूरवी छोर पर का अगदेश (आधुनिक भागलपुर जिला) तथा उसके साथ बगाल, आसाम, उडीसा के सब प्रदेश पूरब (प्राची) मे गिने जाते थे। अब भी पश्चिमी बिहार की भोजपुरी बोली की एक शाखा, जो उसके सबसे पच्छिमी हिस्से मे बोली जाती है, 'पूरबी' कहलाती है। पच्छिमवालो के लिए वही ठेठ पूरब है। वे उस इलाके के लोगो को पुरबिया कहते हैं, जबकि और पूरब बगाल के रहने-वालो को बगाली। ठेठ नैपाल (काठमाण्डू) की भी कामरूप (आसाम) के साथ-साथ पूरबी देशो मे ही गिनती होती। दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ) कभी पूरब मे और कभी दक्खिन मे (दक्षिणापथ) मे गिना जाता।

आडावला और सह्याद्रि को एक रेखा मान ले तो उसके पच्छिम के प्रदेश अर्थात् मारवाड, सिन्ध, गुजरात और कोकण अपरान्त या पच्छिमी आचल मे गिने जाते। वैसे मध्यदेश और पच्छिम की ठीक सीमा 'देवसभ' थी, किन्तु वह कौन-सी जगह थी, उसका पता आज हमे नही है। बहुत सम्भव है कि वह सरस्वती के 'विनशन' या 'अदर्श' (गुम होने की जगह) की देशान्तर रेखा मे कोई जगह रही हो और सरस्वती नदी के तट पर पृथूदक नगर (कर्नाल जिले के पिहोवा) से

उत्तर तरफ के प्रदेश 'उत्तरापथ' मे सम्मिलित थे। पिहोवा लगभग ठीक ३०३० अक्षाश रेखा पर है, इसलिए पृथूदक से उत्तर का अर्थ करना चाहिए—३०३० अक्षाश रेखा से उत्तर। इस प्रकार उस रेखा से उत्तर के वे प्रदेश जो देवसभ की देशान्तर रेखा के पच्छिम भी थे, उत्तरापथ में ही गिने जाते। पजाब, कश्मीर, काबुल, बलख सब उत्तरापथ मे शामिल होते। दर्रा बोलोन पिहोवा की अक्षाश-रेखा के तनिक ही दक्खिन है, इसलिए उसके उत्तर अफगानिस्तान उत्तरापथ में था और उसके दक्खिन कलात पच्छिम मे।

मध्यदेश, पूरब व पच्छिम की सीमाओ पर एक जगली प्रदेश की सीमा थी, जो आज भी बहुत-कुछ बची हुई है। वह मगध की दक्खिनी पहाड़ियो से शुरू होकर मध्य गोदावरी के अचल मे वस्तर तक फैली है। पूरवी घाट का धोवन गोदावरी मे लानेवाली शबरी व इन्द्रावती नदियो के बीच का दोआब बस्तर का जगली प्रदेश है। उसके पच्छिम वेणगगा के काठे मे आधुनिक महाराष्ट्र के चादा, नागपुर और भण्डारा जिले हैं। प्राचीन काल मे वे भी जगली प्रदेश के अश थे। छत्तीसगढ के द्वारा ये गोदावरी-तट के जगल प्रदेश झाडखण्ड या छोटा नागपुर के जगलों से जा मिलते और उस लम्बी वन-मेखला को बना देते है, जो बिहार, उडीसा, छत्तीस-गढ, महाराष्ट्र और आन्ध्र (तेलगण) की सीमाओ पर अबतक बनी हुई है।

विन्ध्याचल के पच्छिमी छोर पर अर्थात् मध्यदेश, अपरान्त और दक्षिणापथ की अथवा आधुनिक राजस्थान, गुजरात व खानदेश की सीमाओ पर भी एक जगली प्रदेश था, जिसमे अब भी भील लोग रहते हैं।

स्व० श्री ओझाजी (जयपुर) के मतानुसार ब्रह्मदेव ने पृथिवी को पद्म मान-कर आठ भागो मे विभक्त किया, जो पुराणो मे पाद्म भुवनकोष नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस विभाग मे देव-त्रिलोकी व आसुर-त्रिलोकी नामक दो सस्थाए बनाई गईं। ६० अशात्मक भारतवर्ष को देवत्रिलोकी का मनुष्य-लोक माना गया। भारतवर्ष की मध्यरेखा उज्जैन है, पूर्वी सीमा चीन-समुद्र (मलोसी पीत समुद्र) पश्चिम की सीमा महीसागर (मेडीटरेनियन समुद्र), दक्षिण सीमा निरक्षवृत्त—स्थानीय लका, उत्तर सीमा शर्यणावत (शिवालिक पर्वत) थी। इस महाविशाल भारतवर्ष के सम्राट् वैवस्वत मनु बनाये गए। मनु के सम्बन्ध से ही यह लोक मनुष्यलोक, एव यहा की प्रजा मानव नाम से प्रसिद्ध हुई। अग्नि देवता यहां के अधिष्ठाता, शवसोनपात् (वाइसराय) बनाये गए। मनुष्यलोक का भरण-पोषण

करने के कारण ही यह अग्नि 'भारत' कहलाये जैसा कि 'अग्ने महा असि ब्राह्मण भारतेति' (यजु० स०) इत्यादि से सिद्ध है। भारत अग्नि द्वारा शासित होने से ही यह लोक भारतवर्ष कहलाया था, एव यहा की प्रजा भारतीय कहलाई। मनु के पुत्र इक्ष्वाकु ने अपने दस भाइयो मे बाटकर भारतवर्ष के दस भाग कर दिये।

यह सीमा किंवा सीमा-विभाजक शर्यणावत पर्वत निरक्ष देश से लगभग ३७॥ अक्षाश पर है। ईरान (आर्यायण) अर्वस्तान, काबुल (कुभा) कन्धार (गान्धार) बलख (वाल्हीक, जो कि देवयुग मे वरुण की राजधानी थी) बुखारा, (पुष्कर—जो कि ब्रह्मा की निवास-भूमि थी) आदि सब प्रान्त भारतवर्ष के अवयव हैं।

**"एतत्तु भारतवर्ष चतु सस्थान सज्ञिततम्।**
**दक्षिणा परतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधि.।।**
**हिमवानुत्तरेणास्य कार्म्मुकस्य यथागुण।"** (मार्कण्डेय पु० अ० ५४)

**"आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं प्रचक्षते।"** (मनु० २-२२)

## ३
## प्राकृत-सृष्टि

"तब भगवान के द्वारा सृष्टि-रचना मे प्रवृत्त किये हुए ब्रह्माजी ने अत्यन्त विशाल ब्रह्माण्ड-कमल के (भू, भुव, स्व रूप से) तीन भाग किये।

"पहले सम्पूर्ण विश्व भगवान की माया से लीन होकर ब्रह्मरूप मे स्थित था। उससे ही अव्यक्त मूर्ति काल-स्वरूप ईश्वर ने फिर प्रकट किया। यह जगत जैसा अब है, ऐसा ही आगे रहेगा और इससे पूर्व भी ऐसा ही था। इसकी प्राकृत और वैकृत भेद से नौ प्रकार की सृष्टि है तथा प्राकृत व वैकृत सृष्टि को मिलाकर एक दसवी सृष्टि और कही जाती है। सबसे पहली सृष्टि महत् तत्त्व की है। भगवान की सत्ता से सत्व, रज, तम इन तीन गुणो मे विषमता होना ही महत् तत्त्व है। दूसरी सृष्टि अहकार की है, जिससे पृथिवी आदि पचभूत एव ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियो की उत्पत्ति होती है तथा जिसमे स्थूल भूतो के उत्पन्न करने की शक्ति रहती है वह पचतन्मात्रा-रूप भूत-सूक्ष्म तीसरी सृष्टि है। चौथी सृष्टि इन्द्रियो की है, जो ज्ञान व क्रियाशक्ति से युक्त होती है। पाचवी सृष्टि सात्विक अहकार से

उत्पन्न हुए इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओ की है। मन भी इसी सृष्टि के अन्तर्गत है। छठी सृष्टि तामिस्रादि पाच प्रकार की अविद्या की हे, जो जीवो की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करती है। यह छ प्रकार की प्राकृत सृष्टि है। अब वैकृत सृष्टि सुनो।

"स्थावरो की जो छः प्रकार की सृष्टि है, वही वैकृत सर्ग मे प्रधान सातवी सृष्टि है। स्थावर छ प्रकार के है—वनस्पति, औषधि, लता, त्वक्सार, वीरुध और द्रुम। इनका आहार नीचे से ऊपर जाता है। इनकी ज्ञानशक्ति प्रकट नही होती। इन्हे भीतर-ही-भीतर केवल स्पर्श का ज्ञान होता है और इनमे से प्रत्येक मे कोई विशेष गुण होता है। आठवी सृष्टि तिर्यग्योनियो (पशु, पक्षी आदि) की है। इनके अट्ठाईस भेद कहे जाते हैं। इन्हे काल का ज्ञान नही होता। तमोगुण की अधिकता होने से केवल खाना-पीना ही जानते है। इन्हे केवल सूघकर ही पदार्थ का ज्ञान होता है और हृदय मे किसी प्रकार की विचार-शक्ति नही होती। इनमे गौ, बकरी, भैस, कृष्णमृग, सूकर, नीलगाय, ससा, भेड और ऊट ये नौ पशु द्विशफ (चिरे हुए खुरोवाले) होते हैं। गधा, घोडा, खच्चर, ये एक शफ (एक खुरवाले) पशु कहलाते है। कुत्ता, गीदड़, भेडिया, बाघ, बिलाव, खरगोश, सिह, वानर हाथी, कछुआ, गोह और मकरादि पाच नखवाले हैं। कक, गिद्ध, बटेर, बाज, मयूर, हस, सारस, चकवा, कौआ और उल्लू आदि जीव पक्षी कहलाते है। जिसके आहार का प्रवाह नीचे की ओर होता है, वह मनुष्यो की एक ही नवी सृष्टि है। ये रज प्रधान कर्म-परायण और दु ख मे ही सुख माननेवाले होते है। स्थावर, तिर्यक् व मनुष्य व आगे का कहा जानेवाला देवसर्ग वैकृत सृष्टि है। वैकारिक देवसर्ग की गणना पहले प्राकृत सर्ग से कर आये हैं तथा सनत्कुमार आदि ऋषिगण का कौमार सर्ग प्राकृत-वैकृत दोनो प्रकार का है। देव-सर्ग आठ प्रकार का है—देवता, पितर. असुर, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष-राक्षस, सिद्ध-चारण, विद्याधर, भूत-प्रेत-पिशाच, किन्नरादि यह दसवी सृष्टि हुई। (भा० स्क० ३।१०)

## ४ .

## काल

"जो सत्वादि गुणो के महत्तत्त्वादि रूप परिणामो से परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुत निर्विशेप और प्रतिष्ठा-रहित—(आदि-अन्त-

शून्य) है उसीका नाम काल है। भगवान परमपुरुष इस काल को निमित्त बनाकर लीला से अपने-आपको ही उत्पन्न करते हैं।" (भा० स्क० ३।१०।११)

"जो कार्य-रूप पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों का अन्तिम भाग है (जिसका और विभाग नही हो सकता) तथा जो कार्यावस्था को अप्राप्त असयुक्त एव नित्य है, उसे परमाणु जानना चाहिए। उनके परस्पर मिलने से ही मनुष्य को भ्रमवश साकार वस्तु की प्रतीति होती है।

"जिसका चरम अश परमाणु है, उस अपने स्वरूप मे स्थित सम्पूर्ण कार्यवर्ग की एकता का नाम ही 'परम महान्' है, जो सर्वदा निर्विशेष-रूप है।

"इसीके समान परमाणु आदि सस्थानो मे व्याप्त होने के कारण व्यक्त पदार्थों को भोगनेवाले उत्पत्ति आदि मे दक्ष अव्यक्त भगवान काल की भी सूक्ष्मता और स्थूलता का अनुमान किया जाता है।

"जो काल परमाणु मे व्याप्त रहता है, वह परमाणु-रूप है, और जो सम्पूर्ण निर्विशेष कार्यवर्ग का भोग करता है, वह अति महान् है।"

(भाग० स्क० ३।११।१ से ४)

"कोई पुरुष के प्रभाव को ही 'काल' कहते हैं, जिससे माया के कार्य-रूप देह मे आत्मत्त्व का अभिमान करके अहकार से मोहित हुए और अपनेको कर्त्ता माननेवाले जीव को निरन्तर भय रहता है। जिनकी प्रेरणा से गुणो की साम्यावस्थारूप निर्विशेष प्रकृति मे गति उत्पन्न होती है, यह 'भगवान काल' है। इस प्रकार भगवान अपनी माया के द्वारा सब प्राणियो के भीतर जीवरूप से और बाहर कालरूप से व्याप्त हैं।" (भाग० स्कन्ध ३, अ० २६, १६-१७)

## ५ :

## प्रलय की कल्पना

वैज्ञानिक अभी इस बात का निश्चय नही कर पाये है कि यह विश्व सान्त है या अनन्त। पश्चिमी ज्योतिषी अलबत्ता इसे सान्त मानते दिखाई देते हैं। यदि ऐसा न होता तो तारो की सख्या अनन्त होती और यह आकाश एक प्रकाश की तरह दिखाई देता, क्योकि तारो के बीच मे खाली जगह नही छूटती। कुछ पदार्थ-विज्ञान-शास्त्री का झुकाव इसे अनन्त मानने की तरफ है, जो कि अनुमान पर आधा-

रित है। वैज्ञानिकों मे सापेक्षवाद की कल्पना आइन्स्टीन ने निकाली है, जिसके अनुसार जगत सान्त है। हबल के मतानुसार विश्व का आयतन (Volume) ३८४,०००,०००,००० बिलियन, बिलियन, बिलियन घन मील है। यह वस्तु, आकाश या देश व काल के सिवा और कुछ नही है। देश वा काल के अन्तर्गत चक्रो के विविध और अनन्त समूहो का नाम ही वस्तु-सत्ता है। आइन्स्टीन के अनुसार देश या आकाश मे वस्तु-सत्ता के आधिक्य से सकोच वा वक्रीकरण और उसकी अल्पता से प्रचार वा विवर्तन होता रहता है। देश की विशेषता समाई है। समाई से ही हम एक देश की कल्पना कर सकते है। एक ही देश मे, एक काल मे दो वस्तु-सत्ता की समाई नही हो सकती। देश की समाई दैर्घ्य, वैध व प्रस्थ (लम्बाई, चौडाई, ऊचाई) इन तीन दिशाओ मे विभक्त होती है। इन्हे देश के तीन तल भी कह सकते हैं। इसी समाई के अन्दर वस्तु-सत्ता गतिशील है। देश से ही अवकाश मिलता है और अवकाश के बिना गति असम्भव है। जैसे गति शक्ति का एक रूप हैं, वैसे ही अवकाश और देश भी धारण-सामर्थ्य है। यह भी शक्ति का ही एक रूप है। इसे हम भगवान की पराप्रकृति कह सकते हैं। 'ययेद धार्यते जगत्'। वस्तु की स्थिति तो है ही, पर स्थिति का बना रहना, चौथी बात, परिमाण वा दिशा है। इसीको काल कहते हैं। कोई वस्तु या घटना चाहे एक पल होती या बनी रहे और चाहे एक युग या कल्प तक होती रहे, यह स्थिरता या सततता एक अलग परिमाण है, जिसे काल कहते हैं। देश जैसे वस्तु-सत्ता की मर्यादा है, काल उसी तरह घटना या कर्म की मर्यादा है। गतिशीलता के ओतप्रोत व्यापक होने के कारण वस्तु-सत्ता-मात्र घटनाओ का समूह है और काल—परिमाण—की मर्यादा मे निरन्तर स्थिति के कारण देश मे मर्यादित है। देश, काल व वस्तु-सत्ता की यह एक-रूपता, परस्पर सम्मिश्रता ही सापेक्षवाद कहलाता है। इसके मत मे विश्व सान्त परन्तु अमर्यादित है। पृथिवी की सतह भी इसी तरह सान्त किन्तु अमर्यादित है। आप नाक की सीध पर घूमते चले जाइये तो सदा के लिए घूमते ही रहेगे और आपके सामने नवीन स्थान आता ही चला जायगा। आपको पृथिवी की सतह का अन्त तो मिल जायगा पर स्थान का नही। विश्व या ब्रह्माण्ड का रूप ऊपर से एक बुद्बुद् की तरह है, जो वस्तु-सत्ता, देश और काल से बना हुआ है और जो सुकडता व फूलता रहता है। भीतर से विश्व को देखा जाय तो वह एक खाली सान्त स्थान देश या आकाश जैसा मालूम होगा, जिसमे २० लाख लोक या छोटे ब्रह्माण्ड एक हजार

मील फी सेकन्ड के हिसाब से ऊपर-नीचे घूमते नजर आते है।[1] इतने तो दूरबीन से देखे गए है और सभवत कई लाख ऐसे होगे, जो उससे भी नही दिखाई देते हैं। पृथ्वी से ये हमे नीहारिका (Nebulae—बादल से बने हुए तारा-पिण्डो को निहारिका कहते हैं।) के रूप मे दिखाई देते हैं। आखो से जो तारे (इनमे कई तारे तो इतने बडे हैं कि हमारी सैकडो हजार पृथ्वी उसके पेट मे समा जाय। बाज तो इतने विशाल हैं कि हमारी करोडो धरतिया उनमे अट सकती हैं। इन तारो की सख्या तमाम समुद्रो के बालु-कणो से भी अधिक है।)हमे दिखाई देते हैं, वे हमारे इस छोटे ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखते है। हमारा यह सौर जगत (सूर्य और उसके ग्रह) किसी सर्पिल नीहारिका से उत्पन्न हुआ होना चाहिए। हमारा अपना यह ब्रह्माण्ड आकाश मे अन्य छोटे ब्रह्माण्डो की तरह बडी तेजी से घूम रहा है। एक नीहारिका उस स्थान पर है जहा आर्द्रा व मृगशीर्ष नक्षत्र हैं। उस व्यूह को ओरायन (Orion) कहते हैं। दूसरी नीहारिका या नभ-स्तूप—एडोमेडा—भाद्रपद नक्षत्र के पास दिखाई देता है। ओरायन हमारे सौर चक्र से कई लाख गुना बडा है। ये अपने विस्तार की अपेक्षा हलके व पतले होते हैं। इनके बीच मे से तारे देख पडते हैं। ये विभिन्न आकार के होते हैं। ये वाष्प-गैस-रूप हैं। इनके कण आकर्षण-नियम से एक दूसरे से बधे हुए हैं।

वैज्ञानिको का विश्वास है कि आदि मे केवल आकाश था। इसी एक तत्व से अन्य सब द्रव्यो की उत्पत्ति हुई है। बीच के क्रमो का ठीक पता नही है, पर होते-होते वह अवस्था आती है जबकि आकाश (ether) का कुछ अश वाष्प-रूप मे परिणत हो जाता है। यह वह अवस्था है, जिसके विषय मे वेदो ने कहा है—'तत्तेज असृजत्'। आकाश के बीच मे दूर-दूर तक जलते हुए वाष्पो के समूह बन जाते है। यही नीहारिक या लोक या छोटे ब्रह्माण्ड हैं। ये जलते हुए वाष्पो के पुज हैं। वाष्प के घनीभूत होने से छोटे-बडे पुज बन जाते हैं। बडे सूर्य या तारे है और छोटे ग्रह कहलाते है। एक-एक लोक या नीहारिका मे उसके परिमाण के अनुसार कई तारे होते हैं। जब ये ठडे होने लगते हैं तो अधिक ठोस हो जाते हैं। बहुत ठडा होने पर

---

[1] यही आशय भागवत् १०-८७-४१ मे—"उसी प्रकार कालचक्र के द्वारा पृथ्वी आदि आवरणो के साहित अनन्त ब्रह्माण्ड-समूह आपमे एक ही साथ घूम रहे हैं।" इस प्रकार काम किया गया है।

तारा काला पड जाता है। और यदि किसी ज्वलन्त तारे से टकरा गया तो जल उठता है। और सम्भव है फिर वाष्प मे परिणत हो जाय या भस्म होकर फिर भाप वन जाय।

ग्रहो की उत्पत्ति भी तारो की तरह नीहारिकाओ से है। इनका भी जीवन-चरित्र तारे की तरह ही है। ये किसीके साथ वधे होते है। हमारा सूर्य एक तारा ही है। पृथ्वी उसका एक ग्रह है। ग्रह का ताप ठडा होने से बीच का भाग घन और आस-पास का तरल हो गया। यह तरल द्रव्य या पानी नीचे गिरता था; पर तप्त ठोस भाग मे उचटकर फिर ऊपर उड जाता था। इस प्रकार निरन्तर पानी का वरसना और वादलो का वनना आरम्भ हुआ। इससे सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि अदृश्य थे। तव न दिन था, न रात। ऋतु भी एक-सी थी। क्रमश पृथ्वी का पृष्ठ ठडा हुआ। अव जल स्थान-स्थान पर एकत्र होने लगा। जहा एकत्र हुआ वही समुद्र वन गया। इससे वादल कम हुए व सूर्य के दर्शन हुए। तव दिन, रात, मास, वर्ष की उत्पत्ति व स्थिति हुई। (ततो रात्र्यजायत, तत. समुद्रो अर्णव, समुद्रा-दपर्णवादधि मवत्सरो अजायत।) फिर क्रमश नदियो, पहाडो, चट्टानो की रचना हुई और भूतल क्रमश कीट, जलचर, नभचर, स्थलचर आदि के योग्य होता हुआ मनुष्यो के वसने योग्य हो गया। यह पृथ्वी की प्रौढावस्था है, और हम इसकी इस अवस्था मे इसपर निवास कर रहे हैं। कुछ दिनो मे यह दशा भी जाती रहेगी। पृथ्वी पर वायु व जल की कमी हो जायगी व वह मगल की अवस्था को प्राप्त हो जायगी। पृथ्वी को उत्पन्न हुए कई लाख वर्ष हो चुके है, और इसे मृत होने मे और कई लाख साल लगेगे। अनुमान होता है कि यह भस्म होकर ही नाश होगी। मूर्य दिन-दिन वूढा हो रहा है। मरने के पहले कभी तो वुझते हुए दीपक की तरह भभक उठेगा और कभी ठडा-सा हो जायगा। जव भभकेगा तो उससे वडी ज्वा-लाए उठेगी और उस ताप से भस्म होकर वाष्प हो जायगी। यदि इससे वच भी गई तो जव कभी मूर्य किसी प्रकार के भी जोतिष्पिण्ड से टकरायगा तो यह स्वाहा हो जायगी। प्रलय के समय इसे अनेक सूर्यो की ज्वालाए सहन करनी पड़ेगी। यही दशा एक रोज सव ग्रहो की हो जायगी।

सर जेम्स जीन्स 'मिस्टीरियस यूनिवर्स' मे लिखते हैं—कोई दो अरव साल पहले अचानक एक तारा आकाश मे भटकते हुए सूर्य के निकट पहुच गया। सूर्य व चन्द्र के द्वारा जैसे पृथ्वी पर लहरे उठती है वैसी ही भयकर लहर उससे सूर्य मे

उत्पन्न हुई, जो एक महान् पर्वत की तरह ऊची उठ गई और अगणित ऊचाई तक उठती चली गई। फिर यह लहर-पर्वत फूटकर विखरा, जिससे असख्य टुकडे चारो ओर फैल गये व सूर्य के आस-पास घूमने लगे। यही छोटे-बडे ग्रह हैं, जिनमे हमारी पृथ्वी भी एक है।

शुरू मे वैज्ञानिको का खयाल था कि विश्व एक यन्त्र की तरह है, पर अव वह 'एक कल्पना' ( Idea-thought ) है, इस तरफ वढ रहे हैं। एक यह विचार भी है कि विश्व तरगमय है। सरजान वुडरफ का मत है कि पाश्चात्य विज्ञान के अनुभव इसी सिद्धान्त को सत्य करने जा रहे हैं कि यह विश्व ब्रह्म-स्पन्दन का एक बुद्बुद् है, जिसका स्वरूप हमारी कल्पना मे समाया हुआ है।

: ६ :

## सृष्टि-रचना की विभिन्न कल्पनाएं

१ सांख्य-मतानुसार

२. वेदान्त के अनुसार



[1]न प्रकृति न विकृति, [2]प्रकृति, [3]प्रकृति-विकृति—तन्मात्रा = सूक्ष्म महाभूत, [4]विकृति।

तत्त्व ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता) इन्द्र (रुद्र और प्राण) विष्णु, अग्नि, सोम ×

१ प्रथमज (सहारक) (सूर्य) १ (यज्ञरूप, पालक) यज्ञ

२ मूलाधार २ अन्नाकर्षक अन्नादान

३ गति-समुच्चय सूत्र त्रिसर्गात्मक

१ { इन्द्र + अग्नि + सोम = शिव (ज्योतिर्मय)
अग्नि + सोम = यज्ञ

२ { ब्रह्मा + विष्णु + इन्द्र = अन्तर्यामी व सचालक (सृष्टिरूपी यज्ञ के)
अग्नि + सोम = वस्तु

× सोम = अन्न, अग्नि = आहुति-स्थान, विष्णु = अन्नाकर्षक सूत्र।

---

२ तीन शक्ति—ज्ञान, क्रिया, अर्थ।

३ पाच कला—मन, प्राण, वाक्, विज्ञान, आनन्द (तीन गुण से पाच कलाए)
(प्राण, वाक् — सत्; विज्ञान — चित्)

४ शक्तिरूप परन्तु निष्क्रिय है।

५ 'पर' व 'ब्रह्म' भी कहलाता है।

६ अक्षर व क्षर दोनों का अवलम्बन कारण है।

७ ज्ञान का विकास है।

[2]**अक्षर**

१ शक्तिमान्—क्रियावान् है, ईश्वर कहलाता है।

२ क्रिया का विकास है।

३ सृष्टिकर्त्ता है (ज्ञानमय ताप से सृष्टि होती है)

४ निमित्त कारण है।

५ अव्यय के ज्ञान अश से सर्वज्ञ, क्षररूप अर्थ से सर्ववित् है।

६ क्षर से पर, अव्यय से अवर होने से परावर कहलाता है।

७ अव्यय की पराप्रकृति है।

[3]**क्षर**

१ निष्क्रिय द्रव्य है

२ अर्थ का विकास है।

३ अव्यय की अपरा प्रकृति है।

४ सृष्टि का उपादान कारण है।

५ अवर ब्रह्म कहलाता है।

६ इसीको विश्व कह सकते है।

## ७
## वेद

चारो वेदो की शाखाए इस प्रकार हैं—ऋग्वेद—२१, यजुर्वेद—१०१, सामवेद—१००० और अथर्ववेद—६, कुल ११३१। इनमे से आजकल दो-चार शाखाए मिलती हैं। इनमे विज्ञान, स्तुति व इतिहास मुख्य विषय है। इनके अतिरिक्त सूत्ररूप से, कर्म, उपासना, ज्ञान का निरूपण किया गया है। मत्र, ब्रह्म, ऋषि, आदि विविध नामो से प्रसिद्ध हैं। इनका एक भाग ब्राह्मण कहलाता है। कर्म, उपासना, ज्ञानभेद से क्रमश विधि, आरण्यक, उपनिषद्—ये तीन विभाग हो गये है। विधि-भाग को ब्राह्मण, उपासना को आरण्यक और ज्ञान को उपनिषद् कहते हैं। सहिता, विधि, आरण्यक और उपनिषद्—यह चार पर्व मिलकर एक शाखा होती है। सहिता मूल वेद है। शेष तीनो का समुच्चय 'तूल' वेद है। सहिता ब्रह्म है, शेष तीनो ब्राह्मण कहलाते हैं। ब्रह्म-ब्राह्मण का समुच्चय वेद है। मत्र—ब्राह्मणात्मक वेदो का अन्तिम भाग उपनिषद् है। उपनिषद् वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है। वेदादेश का चरम लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति है। ज्ञान ही वेदान्त है। वेद ईश्वर की वाणी है—निवास है। ईश्वर साक्षात् वेदमूर्ति है। वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन के प्राण हैं। भारतीय धर्म मे जो जीवनीशक्ति दीखती है, उसका मूल कारण वेद ही है। वेद अक्षय विचारो का मान-सरोवर है, जहा से विचारधारा प्रवृत्त होकर भारत-भूमि के मस्तिष्क को उर्वर बनाती हुई निरन्तर बहती है तथा अपनी सत्ता के लिए उसी उद्गम भूमि पर अवलम्बित रहती है। यह केवल भारतीय साहित्य के ही सर्वप्रथम ग्रन्थ नही हैं, प्रत्युत् मानवमात्र के इतिहास मे इनमे बढकर प्राचीन ग्रन्थ अभी तक नही मिले हैं। भारतीय कल्पना के अनुसार वेद नित्य है, निखिल ज्ञान के अमूल्य भाण्डागार हैं, धर्म को साक्षात् करनेवाले महर्षियो के द्वारा अनुभूत परमतत्त्व के परिचायक हैं। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बतानेवाले ग्रन्थ वेद ही हैं। वेद की 'वेदता' इसीमे है कि वे प्रत्यक्ष मे अगम्य तथा अनुमान के द्वारा अनुद्भावित अलौकिक उपाय का बोध कराते हैं।

वेद के दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। किसी देवता-विशेष की स्तुति मे प्रयुक्त होनेवाले अर्थ-स्मारक वाक्य को मन्त्र कहते हैं तथा यज्ञानुष्ठान का विस्तारपूर्वक वर्णन करनेवाले ग्रन्थ को ब्राह्मण। मन्त्रो के समुदाय को सहिता कहते हैं।

वेदो का दूसरा नाम श्रुति भी है। साक्षात् कृतधर्मा महर्षियो के प्रातिभ चक्षुग्रो के द्वारा अपरोक्ष रूप से अनुभूत अध्यात्म तत्त्वो की राशि ही का दूसरा नाम श्रुति है। इसीलिए भारतीय दर्शन मे वेदो की इतनी महत्ता है।

अव्यय ब्रह्म सर्वथा एक-रस रहते हुए भी उपाधिभेद से ब्रह्म, विद्या, और वेद इन तीन स्वरूपो मे बट जाता है। प्रातिस्विक—सूक्ष्म—दृष्टि से ब्रह्म, विद्या, वेद तीनो पृथक् तत्त्व हैं। किन्तु अव्यय दृष्टि से तीनो अभिन्न हैं। यही कारण है जो "त्रयब्रह्म सनातनम्" (मनु) "त्रयोवेदा" "सैषात्रयी विद्यातपति" इत्यादि रूप से ऋषि तीनो का अभेद-रूप मे व्यवहार करते हैं।

वेद सच्चिदानन्द-घन अव्यय ईश्वर का नि श्वास, सत्ता अस्तित्व, अस्तित्व एव जिसका परिज्ञान है वही तीसरा तत्त्व 'रस' (आनन्द) है, वस्तु की उपलब्धि (प्राप्ति) वेद है। दूसरे शब्दो मे उपलब्ध पदार्थ ही वेद है। इस उपलब्धि मे रस, चित्, सत् तीनो अग हैं। आप एक पुस्तक उपलब्ध करते हैं। "पुस्तक है। उसे आप जानते हैं", इस वाक्य मे 'पुस्तक' 'है' 'जानते है' तीन अश है। इसमे पुस्तक 'रस' है—'है' सत्ता है, 'जानते है'—'चिदश' है। तीनो के समन्वय से पुस्तक का रूप सम्पन्न हो रहा है। यही वेद है। वेद मे तीनो हैं, अतएव वेद पदार्थ का—'विद्यते इति वेद' 'वेत्ति इति वेद' 'विन्दति इति वेद' तीनो प्रकार से निर्वचन किया जा सकता है। सत्तार्थक 'विद्' से विद्यते, ज्ञानार्थक 'वेद' से वेत्ति, लाभार्थक 'विद्' से विन्दति वनता है। 'विद्यते' सत्ता-भाव का, 'वेत्ति' ज्ञान-भाव का सूचक है एव विन्दति रस-भाव समर्पक है। अत प्रत्येक पदार्थ सच्चिदानन्द है, वेद है।

अग्नि-सोमात्मक यज्ञ द्वारा वेद-सत्य वितत होता है। ऋग्वेद अग्नि की प्रतिष्ठा, यजुर्वेद वायु की, सामवेद आदित्य की, और अथर्व सोम की प्रतिष्ठा है। इस तरह अग्नि, वायु, आदित्य और वरुण (सोम) की प्रतिष्ठा रूप, ऋक्, यजु-साम-अथर्व-भेद-भिन्न वेद अग्नि रूप है। प्राकृतिक नित्य अपौरुषेय वेद का मूर्ति-पिण्ड ऋग्वेद, वहिर्वितत तेजोमण्डल साम, साम एव ऋगन्त पाती गतिभावापन्न प्राण-तत्त्व यजु है। तीनो का अधिष्ठाता ब्रह्म सोम अथर्व है।

: ८ :

## गांधीजी ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी के विचार

"ब्रह्मचर्य सत्य अर्थात् परमेश्वर-प्राप्ति का साधन है। जिसने सत्य का आश्रय लिया है, उसकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन गया। फिर विकार की आराधना की ही कैसे जा सकती है? जिसकी प्रवृत्तिया सत्य के दर्शन के लिए ही हैं, वह सन्तान-उत्पन्न करने या घर-गिरस्ती चलाने मे पड ही कैसे सकता है? भोगविलास द्वारा किसीको सत्य प्राप्त होने की आज तक एक भी मिसाल हमारे पास नही है। अहिंसा के पालन को लें तो उसका पूरा-पूरा पालन भी ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम। जिस पुरुष ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरुष को अपना प्रेम सौंप दिया, उसके पास दूसरे के लिए क्या बच गया? इसका अर्थ यह हुआ कि हम दो पहले और दूसरे सब बाद को। पतिव्रता स्त्री पुरुष के लिए और पत्नीव्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्व होमने को तैयार होगा। इससे स्पष्ट है कि उसमे सर्वव्यापी प्रेम का पालन हो ही नही सकता, क्योंकि उसके पास अपना माना हुआ एक कुटुम्ब मौजूद है या तैयार हो रहा है। जितनी उसकी वृद्धि उतना ही सर्वव्यापी प्रेम मे विक्षेप होगा। सारे जगत् मे हम यही होता हुआ देख रहे है। इसलिए अहिंसाव्रत का पालन करनेवाला विवाह के बन्धन मे नही पड सकता। विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?

"तब जो विवाह कर चुके है, उनकी क्या गति? उन्हे सत्य की प्राप्ति न होगी? हमने इसका रास्ता निकाल लिया है—विवाहित अविवाहित-सा हो जाय। इस बारे मे इससे बढकर मुझे दूसरी बात नही मालूम हुई। इस स्थिति का मजा जिसने चखा है, वह गवाही दे सकता है। विवाहित स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे को भाई-बहन मानने लग जाना सारे झगडे से मुक्त हो जाना है। ससार भर की सारी स्त्रिया बहन हैं, माता हैं, लडकी हैं, यह विचार ही मनुष्य को एकदम ऊचा ले जानेवाला है। बन्धन से मुक्त कर देनेवाला हो जाता है। इसमे पति-पत्नी कुछ खोते नही उल्टे अपनी पूजी बढाते है। कुटुम्ब बढाते हैं। प्रेम भी विकाररूप मैल के निकल जाने से बढता है। विकार चले जाने से एक-दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते हैं। जहा स्वार्थी एकागी प्रेम है, वहा कलह के लिए ज्यादा गुजाइश है।

"पूर्वोक्त प्रधान विचार कर लेने और उसके हृदय मे बैठ जाने के बाद ब्रह्मचर्य से होनेवाले शारीरिक लाभ, वीर्य-रक्षा आदि बहुत गौण हो जाते है। जान-बूझकर भोगविलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोडना कितनी बडी मूर्खता है ? वीर्य का उपयोग तो दोनो की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढाने के लिए है। विषय-भोग मे उसका उपयोग करना दुरुपयोग है। और इस कारण वह बहुत-से रोगो की जड बन जाता है।

"ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और काया से होना चाहिए। हमने गीता मे पढा है कि जो शरीर को बस मे रखता हुआ जान पडता है पर मन से विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ, मिथ्याचारी है। सबको इसका अनुभव होता है। मन को विकारी रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करना हानिकारक है। जहा मन है वहा अन्त को शरीर भी घसिटाये बिना नही रहता। यहा एक भेद समझ लेना जरूरी है। मन को विकारवश होने देना एक बात है, और मन का अपने-आप अनिच्छा से बलात् विकार को प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकार मे यदि हम सहायक न बने तो अन्त मे जीत ही है। हम प्रतिपल यह अनुभव करते हैं कि शरीर तो काबू मे रहता है पर मन नही रहता। इसलिए शरीर को तुरन्त ही वश मे करके मन को वश मे करने का हम सतत यत्न करते रहे तो हमने अपने कर्त्तव्य का पालन कर लिया। हम मन के अधीन हुए कि शरीर और मन मे विरोध खडा हो जाता है। मिथ्याचार का आरम्भ हो जाता है। पर कह सकते हैं कि मनोविकार को दबाते ही रहने तक दोनो साथ-साथ जानेवाले हैं।

"इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन लगभग असम्भव माना गया है। इसके कारण की खोज करने से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य का सकुचित अर्थ किया गया है। जननेन्द्रिय विकार के निरोध-मात्र को ही ब्रह्मचर्य-पालन मान लिया गया है। मेरी राय मे यह अधूरी और गलत व्याख्या है। विषय-मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। जो और इन्द्रियो को जहा-तहा भटकने देकर केवल एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल है। इसमे सन्देह क्या है ? कान से विकार की बात सुनना, आख से विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारो को उभारनेवाली वस्तु को छूना और जननेन्द्रिय को रोकने का इरादा रखना आग मे हाथ डालकर जलने से बचने का

उपाय करने जैसा है। इसलिए जो जननेन्द्रिय को रोकने का निश्चय करे उसका सभी इन्द्रियो को अपने-अपने विकारो से रोकने का निश्चय पहले किया हुआ होना चाहिए। मुझे सदा ऐसा जान पड रहा है कि ब्रह्मचर्य की सकुचित व्याख्या से नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इन्द्रियो को एक साथ वश मे करने का अभ्यास करे तो जननेन्द्रियो को वश मे करने का प्रयत्न शीघ्र ही सफल हो सकता है। इनमे मुख्य वस्तु स्वादेन्द्रिय है।"

## ६ .

## ज्ञानदेव के अहिंसा-सम्बन्धी विचार

"अहिंसा का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। और मताभिमानियो ने उसका निरूपण अलग-अलग किया है, परन्तु वह ऐसा है जैसे वृक्ष की शाखाए काटकर तने के चारो ओर उनकी वागुर बनाई जाय अथवा जैसे अपने बाहु तोडकर पकाये जाय व उनसे भूख की पीडा शान्त की जाय, अथवा किसी देवता का मन्दिर तोड बाग बनाई जाय, क्योकि कर्मकाण्ड का निर्णय ऐसा है कि हिंसा से ही अहिंसा उत्पन्न होती है। वे कहते हैं कि अनावृष्टि के उपद्रव से सम्पूर्ण विश्व पीडित होता है। इसलिए अनेक पर्जन्यवृष्टि-यज्ञ करने चाहिए। परन्तु इन यज्ञो के मूल मे स्पष्ट पशु हिंसा ही रहती है। तो फिर उनसे अहिसा का तट कैसे दिखाई दे सकता है ? केवल हिंसा बोइये तो क्या अहिंसा उपजेगी ? वास्तव मे अहिंसा का शरीर मे व्याप्त हो जाना मनुष्य के आचरण से जाना जाता है। जैसे कसौटी से सोने की जाति व्यक्त होती है वैसे ही ज्ञान व मन की भेंट होते ही अहिंसा का रूप प्रकट होता है। उसका स्वरूप सुनो—तरगो को न लाघते हुए, लहरो को पावो से न तोडते हुए, पानी की स्थिरता न मिटाते हुए, आमिप पर दृष्टि रखकर जैसे बगुला जल मे झपटकर किन्तु धीरे-से पाव रखता है, अथवा भ्रमर जैसे केसर के टूटने के डर से कमल पर धीरे-से पाव रखता है वैसे ही परमाणुओ मे छोटे-छोटे जीव भरे हुए जान जो पुरुष उनपर से अपने पाव करुणा से आच्छादित कर चलता है, जो जिस मार्ग से चलता है उसे करुणा से भर देता है, जिस दिशा की ओर देखता है उसे प्रेमपूरित कर देता है और जो अन्य जीवो के तले अपना जी बिछा देता है, इस प्रकार जिसके जतन से चलने का वर्णन अथवा परिमाण नही हो सकता, बिल्ली प्रेम से बच्चो को मुह

मे पकडती है तो जैसे उन्हे उसके दातो की अणिया नही लगती अथवा वात्सल्यमयी माता बालक की बाट जोहती है तो उसकी दृष्टि मे जैसी कोमलता होती है, अथवा कमल-दल को धीरे-धीरे हिलाकर ली हुई वायु जिस प्रकार नेत्रो को मृदु लगती है, वह आहिस्ता चलते हुए यदि कृमि-कीटक देख ले तो सोचकर धीरे-से पलट जाता है। जीव जानकर तृण को भी नही बाधता तो फिर किसी जीव की अवगणना करके जाने की बात ही क्या ? जिसकी चाल मे कृपा-रूपी फूल और फल आते है और जिसके वाचिक कर्म यदि देखो तो ऐसा मालूम होता है मानो उसकी वाणी से दया जीवन धारण करती है, जिसका श्वास लेना ही सुकुमार है, जिसका मुख प्रेम का नैहर—अटूट भण्डार—है और दात क्या है, मानो माधुर्य के अकुर फूटते है। वाणी के आगे-आगे प्रेम पसीजता है और अक्षर उसके पीछे-पीछे चलते है, शब्द पीछे प्रकट होते है; परन्तु कृपा पहले, यह समझकर कि कुछ बोलू तो कदाचित् मेरे वचन किसीको लग न जाय। अत अव्वल तो बोलता ही नही और यदि बोलते हुए कोई अधिक शब्द निकल जाय तो जिसके मन मे यह भाव रहता है कि किसी का मर्म-भेद न हो और किसीके मन मे सन्देह उत्पन्न न हो या प्रचलित बात न कट जाय अथवा सुनकर कोई डर न जाय अथवा उलटकर गिर न पडे, एव किसीको क्लेश न हो तथा कोई आख उठाकर न देखे और यदि कदाचित् किसीकी प्रार्थना से बोलने को उद्यत हो तो जो श्रोताओ को माता-पिता के समान प्रेमी जान पडता है, मानो शब्द-ब्रह्म ही मूर्तिमान् हो आया हो, अथवा गगा का जल ही उछलता हुआ दिखाई देता हो, अथवा जैसे पतिव्रता को वृद्धावस्था प्राप्त हुई हो। जिसके शब्द सत्य और मृदु, परिमित और सरस होते है, मानो अमृत की लहरे हो, विरुद्धवाद का बल, प्राणी को व्याकुल करना, उपहास करना, छल करना, मर्म-स्पर्श करना, प्रतिज्ञा, अवसान, कपट, आशा, शका और प्रतारणा आदि दुर्गुणो का जिसकी वाणी मे आभास भी नही रहता। जिसकी दृष्टि भी स्थिर रहती है, मानो भूत-मात्र मे जो परब्रह्म भरा है उसमे कदाचित् दृष्टि चुभ जाय, इसलिए जो प्राय. किसी ओर देखता ही नही और यदि किसी समय आन्तरिक कृपा से आखे खोलकर देखे तो जैसे चन्द्रबिम्ब से निकलती हुई धाराए गोचर नही होती किन्तु चकोरे एकदम आनद मे झूमने लगते हैं, वैसा ही प्राणियो का हाल होता है। जो किसी ओर भी देखे परन्तु ऐसे प्रेम के साथ कि वैसा अवलोकन-प्रेम कूर्मी भी नही जानती, भूतमात्र की ओर जिसकी दृष्टि इस प्रकार की रहती है। जिसके पर भी स्थिर रहते है, कृतकृत्य हो जाने

के कारण जैसे सिद्ध पुरुषो के मनोरथ व्यापार-रहित हो जाते हैं वैसे ही जिसके हाथ क्रियारहित, कर्म करने मे असमर्थ और कर्म का त्याग किये हुए रहते है, जैसे ईंधनरहित व बुझी हुई अग्नि हो अथवा गूगे ने मौन धारण किया हो वैसे ही जिसके हाथो को कुछ कर्तव्यता बाकी नही रहती और वे अकर्ता होकर ब्रह्म के पद पर आ बैठते है—वायु का धक्का पहुचेगा, आकाश को नख लग जायगा—इस बुद्धि से हाथो को हिलने नही देता तो फिर शरीर पर बैठी हुई मक्खिया उडाना अथवा आखो मे घुसते हुए कीडे उडाना अथवा पशु-पक्षियो को डर की मुद्रा दिखाना इत्यादि बाते कहा रही ? जिसे डण्डा-लकडी भी नही भाती तो फिर शस्त्रो का कहना ही क्या है ? अगर अवसर आवे तो जिसके हाथो को यही अभ्यास रहता है कि वे जुड जाय अथवा अभय देने के लिए उठ जाय, अथवा गिरे हुए को उठाने के लिए फैल जाय, अथवा आर्त्त को कोमलता से स्पर्श करें, पशुओ पर भी जिसके हाथ ऐसे फिराये जाते हैं कि उनके स्पर्श के सामने मलयानिल भी तीव्र जान पडता है और जो सर्वदा मुक्त रहते हैं जैसे चन्दन के शीतल अवयव न फलने पर भी निष्फल नही जान पडते। सार बात यह है कि जब मन मे खूब अहिंसा भरी रहती है तब पके हुए फल की सुगध की तरह प्रेम से प्रकट हो निकलती है, एव इन्द्रिया मन की ही सम्पदा खर्च कर अहिंसा-रूपी व्यापार करती है। पडित जैसे बालक का हाथ पकडकर आप ही स्पष्ट अक्षरो की रेखाए लिखते हैं वैसे ही मन अपनी दयालुता हाथ-पावो को पहुचाता है और उनसे अहिंसा प्रकट करवाता है।

## : १० :

## गाधीजी के अहिंसा-सम्बन्धी विचार

"सत्य की, अहिंसा की राह जितनी सीधी है उतनी तग भी है। खाडे की धार पर चलने के समान है। जरा चूके कि आये नीचे धम-से, पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं। जिज्ञासु या साधक के सामने यह सवाल खडा हुआ कि मार्ग मे आनेवाले सकटो को सहे या उसके लिए जो नाश करना पडे, वह करता हुआ आगे बढे। उसने देखा कि जो नाश करता है, वह तो आगे नही बढता, दर पर ही रह जाता है, सकट सहता है तो आगे बढता है। पहले ही नाश मे उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नही, भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश

करता जाता है वैसे-वैसे पीछे रहता जाता है। सत्य दूर हटता जाता है।

"हमे चोर सताते है। अपनी रक्षा के लिए हमने उन्हे दण्ड दिया। उस समय वहा से जरूर भाग गये, लेकिन दूसरी जगह जाकर सेंध मारा। पर वह जगह भी हमारी है। यानी हम अंधेरी गली मे जाकर टकराये। चोर का उपद्रव बढता गया, क्योकि उसने तो चोरी को अपना कर्त्तव्य मान लिया है। हम देखते है कि इससे तो अच्छा यही है कि चोर का उपद्रव सह लिया जाय। इससे उसे समझ आवेगी। इतना सहने पर हम देखेगे कि चोर हमसे भिन्न नही है। हमारे तो सब सगे है, सब दोस्त है, उन्हे सजा नही दी जा सकती। लेकिन उपद्रव सहते जाना भी बस नही। इससे कायरता पैदा होती है। अत हमे अपना दूसरा विशेष धर्म दिखाई दिया। चोर जब अपने भाई-बन्धु है तो उनमे वह भावना उत्पन्न करनी चाहिए। अर्थात्, हमे उन्हे अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है। इसमे उत्तरोत्तर दु ख सहन करने की जरूरत है, अटूट धीरज सीखने की जरूरत है, और यदि यह सफल हो जाय तो अन्त मे चोर साहूकार बन जाता है। हमे सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। इस प्रकार हम जगत को मित्र बनाना सीखते है। ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते है, सकट सहते हुए भी शान्ति-सुख बढता है, साहस भी बढता है और हम शाश्वत-अशाश्वत का भेद अधिक समझने लगते है, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक अच्छा लगने लगता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढती है, परिग्रह अपने-आप घट जाता है और देह का मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

"यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नही है, जिसे आज हम देखते है। किसीको न मारना तो है ही। बुरे विचारमात्र हिंसा है। उतावली—जल्दबाजी—हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, जगत के लिए जो वस्तु आवश्यक है, उसपर कब्जा रखना भी हिंसा है। लेकिन जो हम खाते हैं, वह जगत के लिए आवश्यक है। जहा खडे है वहा सैकड़ो जीव पडे पैरो तले कुचल जाते है। यह जगह उनकी है तो फिर क्या आत्महत्या कर ले? तो भी निस्तार नही। विचार मे देह का ससर्ग छोड दे तो अन्त मे देह हमे छोड देगी। यह मोहरहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरता से नही होते। यह देह हमारी नही है। हमे मिली हुई धरोहर है, ऐसा समझकर इसका उपयोग करते हुए हमे आगे बढना चाहिए।

"इतना सब समझ ले कि अहिंसा बिना सत्य की खोज असभव है। अहिंसा व

सन्य सिक्के की अथवा चिकनी चिकती के दोनो पहलुओ की भाति विल्कुल एक-समान है। उसमे उलटे-सीधे की पहचान कैसे हो ? तथापि अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन हमारे हाथ की वात है। इससे अहिंसा परम धर्म माना गया। सत्य परमेश्वर हुआ। साधन की चिन्ता करते रहेगे तो साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय कर लिया तो जग जीत लिया।"

: ११ :

## प्राण

प्राण-वायु व प्राण-तत्त्व दो भिन्न हैं। 'प्राणो वै वलम्' 'प्राणो वा ज्येष्ठ श्रेष्ठञ्च' 'प्राणो वा अमृतम्। आयुर्न प्राणा। राजा मे प्राणा।' आदि प्रकार से प्राण की महत्ता उपनिषदो मे वताई गई है। प्रश्नोपनिषद् के,

'अथादित्य उदयन् यत् प्राची दिशि प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद्दक्षिणा यत् प्रतीची यदुदीची यदधो यदूर्ध्व यदन्तरा दिशो यत्सर्व प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।' इन वचनो से पता लगता है कि सूर्यदेव अपने रश्मिजाल से द्युलोक का प्राण पृथ्वी पर लाते हैं। अथर्व वेद की एक ऋचा है—

**नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।**
**नमस्ते प्राण-विद्युते नमस्ते प्राण-वर्षते॥**

इसकी टीका मे 'स्तनयित्नवे' पद की टीका 'विद्युदात्मना विद्योतमानाय' इस प्रकार की है। अर्थात् प्राण विद्युदात्मक है। 'योगदीपिका' मे ज्ञानकोश अर्थात् विज्ञानमय कोश मे जो प्राण-शक्ति है, उसीको प्राण कहा गया है। प्राणवायु से यह प्राणशक्ति अधिक सूक्ष्म है।

मदाम व्लावत्स्की ने रक्त के लाल-विन्दुओ के भीतर के अयस्कण को प्राण-परमाणु का घटक माना है। उनके मत मे जीवन एक सूक्ष्म गति है। जिसे प्राण कहते हैं, वह एक स्वयभू शक्ति है। जगत् के धाता सूर्य से यह मनुष्य को प्राप्त हुई है।

पदार्थ विज्ञानवेत्ताओ का मत है कि रक्तविन्दुओ के अन्दर जो विद्युदाकर्षण शक्ति है, उसके द्वारा जागरित शिराओ के पुजो मे से होकर रक्त-मिश्रण-क्रिया

होती है। प्राणशक्ति रक्तविन्दुओ के अयस्कणो मे जो विद्युदाकर्षण शक्ति है, वही है। वान डेन फेंक का कहना है कि हृदय और रक्ताभिसरण का नियमन शिखरी स्थान (Medulla Ablangata) से होता है। हमारे यहा के योगियो का भी यही मत है कि हृदय-क्रिया को शिखरी के द्वारा जब चाहे बन्द और जारी किया जा सकता है।

रक्तविन्दु का अयस्कण ही पाश्चात्य विज्ञान का अणु है। अणु (Atom) एक सौर-मण्डल या सूर्य-ग्रहमाला ही है। सूर्य-मण्डल के जैसे मध्य मे सूर्य है वैसे ही अणु मे धनविद्युत केन्द्र (Proton) है और उसके चौतर्फा ऋणविद्युत्कण (Electron) वडी तेजी से घूमा करते है। इन दोनो प्रकार के अणुओ से शक्ति की लहरे उठा करती है। ऋणाणु शक्ति-तरगो का केन्द्र है।

कुछ पाश्चात्य विद्वान् एक प्रवाहशील पार्थिव अश को, जिसे इन नेत्रो से नही देख सकते, प्राण कहते है। मानव-विद्युदाकर्षण (Human Magnatism) को ही कुछ लोग प्राण जानते है। जीवन मे जो एक निजी शक्ति है (Metobolism) को ही कुछ लोग प्राण जानते है और कुछ लोग जीवन-रस (Protoplasm) तथा अव्यक्त जीवन-रस (Ecloplasm) को प्राण मानते है। परन्तु ये चारो प्राणो के गुण है, स्वय प्राण नही।

वुद्ध के मतानुसार प्राणशक्ति सर्वत्र विद्यमान् है, अभेद्य है और अविभाज्य है। प्रकाश के तरगवाद (Wave Theory) या आन्दोलन की क्रिया का निरीक्षण करने से यह देख पडता है कि एक प्रकाश-तरग के अन्तिम विन्दु और दूसरे आरम्भ-विन्दु के बीच थोडा अन्तर हुआ करता है। मैगासफाक्स अथवा आइन्स्टीन के अश-परमाणुवाद से भी यह वात सिद्ध होती है कि प्रकाश का विभाजन होता है।

वसिष्ठ ने प्राण की व्याख्या यह की है कि प्राण (Cosmic Energy) अखिल ब्रह्माण्ड की ओत-प्रोत शक्ति है और प्राणियो के शरीरो मे वह विशेष रूप से प्रकट होती है।

पाश्चात्य वैज्ञानिको ने पता लगाया है कि प्राण-शक्ति के अन्दर जो विद्युदाकर्षण है, उसीकी क्षमता से शरीर के सारे व्यापार होते हैं। यह तो ठीक, किन्तु मानव विद्युदाकर्षण मन शक्ति पर निर्भर करता है। मन और शरीर के बीच सम्बन्ध जोडनेवाला एक महत्तर विद्युद्वेग-शक्ति-केन्द्र (मस्तिष्क) शरीर मे है और इसी केन्द्र से विद्युत् शक्ति निकलकर शरीर के व्यापार चलाने मे समर्थ होती

है। प्रो० जे० एडविन कोहेन का निकाला तथ्य इस प्रकार है—

"जीवन शक्ति (Protoplasm) के मुख्य परमाणु स्नायुवर्धक परमाणु हैं। इनमे विद्युत्-शक्ति निकलती है। ये ही विद्युत्पादक परमाणु नाडी-जाल मे रहते है। उन्ही स्नायुवर्द्धक परमाणुओ के घटक एनिमोएसिड (जीवन-क्षार) मे भी देख पडते है। एनिमोएसिड के परमाणुओ के एक छोर पर ऋणाणु और दूसरे छोर पर धनाणु रहते है। इनमे विद्युद्वेग रूप लघु परमाणु उत्पन्न होते है। वे प्राण-शक्ति और शरीरेन्द्रियो के बीच सम्बन्ध जोडते है। अनन्तर स्नायुवर्धक परमाणु और एनिमोएसिड परमाणुओ का एक मण्डल बनता है। ये परमाणु महत्तर होने के कारण इनका एक आकर्षण-पुज बनता है। इस आकर्षण-पुज से अनन्त विद्युत्कण निकलते हैं। ऐसे एक छोर पर धनाणु और दूसरे छोर पर ऋणाणु रहते है। इसलिए उन परमाणुओ को द्विशक्तिशाली परमाणु कहते हैं। ये अपने-अपने स्थान मे स्थिर रहते है। उनके अगल-बगल जो धनाणु है, उनकी ओर इन द्विशक्तिशाली कणो का ऋण-विद्युदग्र प्रवृत्त होता है और ऋणाणु की ओर इनका धन विद्युदग्र। इस प्रकार द्विशक्तिशाली परमाणुओ की एक माला बन जाती है। एक द्विशक्तिशाली परमाणु का धन विद्युदग्र उनसे अलग होता और दूसरे द्विशक्तिशाली परमाणु के ऋण विद्युदग्र मे जा मिलता है। एक क्षण के शतांश काल मे यह क्रिया होती है और बराबर उसी प्रकार जारी रहती है। इन द्विशक्तिशाली कणो के क्रियाकलाप से एक गति का निर्माण होता है और उस गति से देहगत नाडियो का आकुचन-प्रसरण हुआ करता है। उसीसे नेत्रो और हस्तपादादि इन्द्रियो के व्यापार होते हैं। यह क्रिया करनेवाली शक्ति मन है।

"द्विशक्तिशाली परमाणुओ के अन्तर्गत प्राण-परमाणु होते है। वे पृथक्-पृथक् देख पडते है, पर होते है सब प्राणशक्ति मे ही एकत्र। इसलिए प्राण-परमाणुओ के विभाज्य होने पर भी प्राणशक्ति अविभाज्य है। उसके अविभाज्य होने से तथा प्राण-परमाणु की प्राण-शक्ति-प्रेरित होने से प्राण-परमाणुओ को भी अविभाज्य कह सकते है। मधु-मक्खियो का छत्ता अनेक पेशियो से युक्त होता है, परन्तु मधु-मक्खिया उसे अपना एक ही घर समझती है। यथार्थ मे वह एक ही होता भी है। प्राण-परमाणु प्राण-शक्ति के कारण जैसे अविभाज्य है, वैसे ही मधु-मक्खियो का छत्ता मधुरस के कारण अविभाज्य है।"

## : १२ :

## मन्वन्तर

पौराणिको के मतानुसार चारो युग—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि—की एक चौकडी कहलाती है, जिसमे ४८०० दिव्य वर्ष कृत के, ३६०० त्रेता के, २४०० द्वापर के और १२०० कलियुग के माने जाते है। १००० चौकडी का अर्थात् ४ अरब २ करोड वर्ष का ब्रह्मा का एक दिन और इतनी ही बडी एक रात होती है। ब्रह्माजी का दिन सृष्टि का स्थिति-काल है, जिसे कल्प कहते है। इसमे चौदह मनु हो जाते है। अत प्रत्येक मनु ७१ हजार चौकडी से कुछ अधिक समय (७१$\frac{६}{२४}$ चौकडी) तक अपना-अपना अधिकार भोगता है। प्रत्येक मन्वन्तर मे मनु, मनुवशी नृपतिगण, सप्तर्षि, देवता, इन्द्र तथा उनके अनुयायी गन्धर्वादि साथ-साथ ही अपना अधिकार भोगते है।

मौजूदा कल्प वाराह के नाम से प्रसिद्ध है। इस समय वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है और २८वी चौकडी का कलियुग वर्तमान है।

इस समय सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु हैं, जिनका यह सातवा मन्वन्तर वर्तमान है। प्रथम मनु स्वायम्भुव थे। उनके अनन्तर क्रमश स्वारोचिष, उत्तम, रैवत और चाक्षुष हुए। फिर वैवस्वत।

## : १३ :

## अजन्मा

"हे महाभागगण, आप शोक न करे। आप श्रीकृष्णचन्द्र को शीघ्र ही अपने पास देखेंगे। ईंधन मे व्याप्त अग्नि के समान वे सभी प्राणियो के अन्त करणो मे स्थित है।"

"भगवान् मन-रहित है, उनका प्रिय वा अप्रिय नही है, वे समदर्शी हैं। इसलिए उनकी दृष्टि मे कोई उत्तम, अधम या असम भी नही है।"

"उनकी न कोई माता है, न पिता है, न स्त्री है, न पुत्रादि हैं, न अपना है, न पराया है और न देह या उसका जन्म है।"

"इस लोक मे उनको कोई कर्म नही करना है, तथापि साधुओ की रक्षा और केवल क्रीडा करने के लिए ही वह उत्तम (देवादि सात्विक) अधम (मत्स्यादि

तामस) और मिश्र (मनुष्यादि राजस) योनियो मे शरीर धारण करते हैं।"

"वे अजन्मा भगवान् वस्तुत गुण-रहित है। तथापि केवल लीला के लिए सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणो को स्वीकार करते हैं तथा गुणातीत होकर भी वह माया के गुणो से ससार की रचना, पालन और सहार किया करते हैं।"

(भाग० १०।४६।३६ से ४०)

## १४

## लक्ष्मी

लक्ष्मीजी के सौन्दर्य और वरण का सुललित वर्णन भागवत मे जिस प्रकार किया है वह यहा पढने योग्य है—

"विप्रगण द्वारा स्तुति वाचन-पूर्वक दिग्पालो ने भरे हुए कलशो से परम साध्वी पद्महस्ता श्रीलक्ष्मीदेवी का अभिषेक किया, उस समय समुद्र ने दो रेशमी पीताम्वर, वरुण ने मधु से मधुकरो को मतवाले वना देनेवाली वैजयन्ती माला, प्रजापति विश्वकर्मा ने भाति-भाति के आभूपण, सरस्वती ने हार, ब्रह्माजी ने कमल और नागो ने दो कुण्डल समर्पण किये।

"ऋषियो द्वारा स्वस्तिवाचन किये जाने पर हाथ मे भ्रमरो से गुजायमान कमलो की माला लेकर कुण्डलमण्डित कपोल और सलज्जहास से शोभायमान सुमुखी लक्ष्मीजी अत्यन्त कृशोदरी जहा-तहा नूपुरो की सुमधुकर झकार करके चलती हुई सुवर्णलता के समान जान पडती थी।"

"उन्होने देखा, जिन दुर्वासा आदि मे तपस्या है, उन्होने क्रोध को नही जीता, कही वृहस्पति आदि मे ज्ञान है, तो नि सगता नही है, कोई ब्रह्मा आदि वडे महत्त्वशाली है तो भी उन्होने कामदेव को नही जीता है, और जो इन्द्रादि दूसरो के आश्रय की इच्छा करते है, उन्हे ईश्वर भी कैसे कहा जाय? कही परशुराम आदि मे धैर्य है तो प्राणियो के प्रति सौहार्द नही है, कही राजा शिवि आदि मे त्याग है, किन्तु वह उनकी मुक्ति का कारण नही है। किन्ही (कार्तवीर्यादि) मे वल है तो वे काल के वेग मे मुक्त नही हैं, तथा दूसरे (सनकादि) लोग विषयासक्ति से रहित होने पर भी (निरन्तर समाधिनिष्ठ रहने के कारण) वरण करने योग्य नही हैं। कही मार्कण्डेय आदि मे दीर्घायु है तो स्त्रियो को प्रसन्न रखने योग्य शील और मगल नही है, कही हिरण्यकशिपु आदि मे वैसा स्वभाव देखा जाता है तो उनकी

आयु का कोई निश्चय नही और कही श्रीमहादेव आदि मे ये दोनो गुण भी है तो अमगल-रूप दिखाई देते है। हा, एक पुरुष विष्णु भगवान् तो मगलमय भी हैं, परन्तु उन्हे मेरी इच्छा नही है।"

यहा श्रीएकनाथ-वर्णित रुक्मिणी-रूप वर्णन भी, जो कि अध्यात्म-परक है, पढना ठीक होगा—

"सौन्दर्य सुर, नर, पन्नगो मे बहुत भटका, पर उसे कही विश्रान्ति नही मिली। तब वह दौड़ गया रुक्मिणी की देह मे और वहा उसे विश्राम मिला। रुक्मिणी की यह सुन्दर मूर्ति ब्रह्मा ने नही रची, यह श्रीकृष्ण के प्रभाव मे इस रूप को प्राप्त हुई। वह अच्छाई के शिखर पर चढकर सौन्दर्य के ही आकार मे प्रकट हुई। मस्तक के नील कुण्डल क्या थे, अति सुनील नभोमण्डल था, जिसके नीचे निर्मल मुखचन्द्र रुक्मिणी-वदन मे उदय हुआ था। चन्द्रमण्डल के आगे-पीछे जैसे तारागणो के वृत्त, वैसे ही रुक्मिणी के कानो मे मोतियो के कुण्डल जगमगा रहे है। श्रीकृष्ण के रग मे रगा हुआ उसका अभग सौभाग्य-कुकुम मुखचन्द्र मे चन्द्रमा बनकर शोभा पा रहा है। मस्तक पर मोतियो की जाली वैसी ही सोह रही है जैसे नभोमण्डल मे नक्षत्र शोभा पाते है। श्रीकृष्ण-दर्शन की प्रतीक्षा मे दृश्य को देखते-देखते उसके नयन थक गये थे और सारा दर्शनीय दृश्य एकत्र होकर उसके नेत्रो मे आ गया था। घन-सावरे को देखने के लिए उसकी पुतलियो मे घनश्यामता आ गई थी—दोनो नेत्रो मे एक ही आशा आकर बैठ गई थी। अन्दर-बाहर का देखना एक हो गया था। दृष्टि सम हो गई थी। मुख मे दतपक्तिया ऐसी शोभा दे रही थीं जैसी ॐकार मे श्रुति। नाक मे नथ के भारी मोती ऐसे चमक रहे थे जैसे वेदान्त मे 'सोऽहम् अस्मि'। अधर पर नथ का सोने का अकडा लटक रहा था और नाक पर मोती चमक रहे थे मानो कृष्ण को मोहित करने का उपाय कर रहे थे। सौभाग्य का कृष्ण-मणि कण्ठ मे ऐसे धारण किया था कि कभी न टूटे और किसीको दिखाई भी न दे, मानो कण्ठ मे प्राणनाथ के साथ एकान्त किये हुए थी। एक ही अग मे भिन्न-भिन्न रूप से जीव और शिव दोनो बढे। इससे कुचकामिनी कुच-भार से घन-सम्पन्न हो उठी। विद्या व अविद्या दो पखो ने दोनो ओर से उन्हे ढाक रखा था, ऐसी वह त्रिगुण की अगिया उसके वक्षस्थल पर कसी हुई थी, जिसे श्रीकृष्ण के सिवा और कौन खोलता? रुक्मिणी-कृष्ण-आलिगन ही जीव-शिव-समाधान है। इसीसे दोनो स्तन उभरे थे, श्रीकृष्ण का स्पर्श चाहते थे। प्रकृति-पुरुष का जो

आलिगन हुआ, उससे अगिया की गाठे मजबूत बध गई। इस गाठ को पुरुषोत्तम ही खोल सकते है। यह और किसीसे खुलनेवाली नही। दोनो हाथो मे बाहर जो चूडी, बाजूबन्द, कगन आदि अलकार है वे भीतर के शम, दम आदि सुभट है। हाथ के ककण जो मधुर ध्वनि कर रहे है, वह श्रीकृष्ण-निष्ठा के कारण है। कर-तलो का रग ऐसा मनोहर है कि सन्ध्या-राग भी उसके सामने फीका पड जाता है। ये करतल सदा श्रीरग की चरण-तल-सेवा करते है।

: १५ :

## श्रीकृष्ण-स्वरूप और रुक्मिणी-स्वयंवर

यहा सन्त एकनाथ वर्णित श्रीकृष्ण-स्वरूप और उनकी पटरानी रुक्मिणी के स्वयवर का हृदयहारी व बोध-पूर्ण वर्णन पढने योग्य है। अपने 'रुक्मिणी-स्वयवर' नामक ग्रन्थ मे वह लिखते है—

"जो निर्गुण, निर्विकार, निष्कर्म, निरुपचार है वही श्रीकृष्ण साकार लीला-विग्रह हुए हैं। उनके चरणतलो का रग इतना शोभायमान है कि लाल कमल भी फीका जान पडता है। उनके पैरो की गोल एडिया बाल-सूर्य के समान उज्ज्वल है। चरणो का सामुद्रिक भी देखिये। कैसी सुन्दर ध्वज-वज्राकित रेखाए हैं, जो ब्रह्मादिको के लिए भी अलक्ष्य और सहस्र मुख से भी अवर्णनीय है। कटि मे पीता-म्बर की भी कैसी दिव्य शोभा है, घनश्याम के अग से जैसे दामिनी चौगुनी तेज के साथ चमक रही हो और यह दामिनी चमककर छिपनेवाली नही, अस्तमान होना भूल गई है। चरणो के नूपुरो से सोऽहभाव के छन्द निकल रहे हैं, मानो मुमुक्षुओ के सोये हुए मन को जगा रहे हैं। शून्य-रहित जो निरवकाश है, वही साव-काश श्रीकृष्ण-हृदय है। वृत्ति-शून्य होकर सन्त उसीमे रहते हैं। ज्ञान, वैराग्य, शुक्ति-सम्पुट से जो मुक्त-पुरुष-रूप मोती निकले, उन्हीकी माला कण्ठ मे शोभा पा रही है। भिन्न-भिन्न पचमहाभूत हैं, वैसी ही उनकी अगुलिया हैं, जिनका अधि-ष्ठान उनका करतल है, जिसकी मुट्ठी मे पाचो मिले हुए है। चारो क्रिया शक्तिया उनकी चार भुजाए हैं। एक-एक भुजा मे एक-एक आयुध है। आत्यन्तिक तेज से तेजाकार बना हुआ वह चक्र देखिये जो द्वैत-दलन मे तेज धारवाला और अरि-मर्दन मे अत्यन्त उद्भट है।"

रुक्मैया द्वारा कृष्ण की निन्दा भी एकनाथ ने वडी मार्मिकता व सार्थकता के साथ कराई है—

"इसने अपने अहभाव को मार डाला। इसके कुल का कोई ठिकाना नही है। कोई कहते है नन्द-नन्दन है, कोई कहते है वसुदेव-सुत है। इसके बाप तक का पता नही। कोई कुल-गोत्र ही नही। कृष्ण का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भी नही। यह तो अपने प्रेमियो का दास है। इसका कर्म देखिये तो दूसरो के घर मे घुसकर गो-रस की चोरी करना है। इस चोर-विद्या मे इतना पक्का है कि कोई इसे पकड भी नही सकता। ऐसा निपट चितचोर है। इसका कोई काम खुले मैदान नही होता। ससार मे सदा लुका-छिपा रहता है। कभी तो वैकुण्ठ के पर्वत मे जाकर छिपता है, कभी क्षीरसागर मे गोता लगाता है, कभी शेपनाग के फण पर सोने का बहाना करके पडा रहता है। कोई वड़ा सकट उपस्थित हुआ देखता है तब यह कभी मत्स्य वन जाता है, कभी वाराह, कभी पीठ को मजबूत करके कछुए का रूप धारण कर लेता है। दैत्य को वलवान् देखकर यह भिखारी वन गया। वलि ने इसे अपना द्वारपाल बनाया। इसका न कोई रूप है, न इसमे कोई गुण है, न इसके रहने का कोई ठिकाना है। इसका सिहासन क्या होगा? इसके तो वृत्ति ही नही है। इसके न कोई देहाभिमान है, न मानापमान है। इसकी गाठ मे धन भी कहा से होगा। यह तो साग का बचा-खुचा पात खानेवाला है। इसकी मा भी दो है, जो दो जगह रहती है—एक देही है तो एक विदेही। एक देवकी व दूसरी यशोदा। कुल-कर्म को मिटाना हो, अपने साथ सवको मिट्टी मे मिलाना हो, जीव तक का अन्त करना हो तो कोई कृष्ण को वरण करे।"

अव श्रीकृष्ण का वर-पूजन भी देख लीजिये—

"रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण का जो रूप देखा तो चारो ओर श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण दिखाई देने लगे। भीष्मक सोचने लगे कि इन अनन्त रूपवाले श्रीपति का पूजन मैं कैसे करू। पूज्य-पूजकता की अवस्था भी वह भूल गये। शुद्धमति जल दे रही है और राजा चरण धो रहे हैं। सब तीर्थ यह कहकर वह चरणतीर्थ माग रहे है कि श्रीकृष्ण-पद की प्राप्ति वडी दुर्लभ है। शुद्ध सत्व के शुभ्र वस्त्र और चिद्रत्न के अलकार अर्पण कर भीष्मक ने कृष्ण वर का पूजन किया। शुद्धमति चरण पोछने आई तो श्रीकृष्ण का मुख निहारने लगी। घनश्याम का वह अनुपम रूप-सौन्दर्य देखकर शुद्धमति के नेत्र पूर्ण तृप्त हुए। श्रीकृष्ण-चरणो मे हल्दी लगाते हुए उनका

अहभाव नप्ट हो गया, वह लाज खो वैठी। मेरा-तेरा की उपाधि भी हार चुकी। श्रीकृष्ण प्रभा के दीप की दीप्ति से तव श्रीकृष्ण की आरती की। कृप्ण मे परम प्रीति लगने से चित्तवृत्ति तद्रूप हो गई।

"रुक्मिणी श्रीकृष्ण के चरण-वन्दन करने चली। सखिया उसकी ओर वक्र-दृष्टि से देखने लगी। यह देख रुक्मिणी लज्जित हुई—चित्त मे शका उठी। अभिन्नभाव मे यह भेद उठा। इसमे नमन भी ठीक नही हुआ। उसने नमन तो किया; पर समचरण उसके मस्तक मे नही लगे। मा हँसेंगी, सखिया हँसेंगी, यह जो भाव उसके चित्त मे उठा, यह उसका अभिमान था। अभिमान से ही उसने अपने करतल से अगूठा पकडा और यह निश्चय किया कि अवके वन्दन मे भूल न होने दूगी। पर जव उसने फिर मस्तक नवाया तव समचरणो ने एक-दूसरे का आलिगन किया और उसका मस्तक धरती पर लगा, समचरणो मे नही। तव वह अत्यन्त खिन्न हुई कि ललाट मे चरण नही लगे। वात यह है कि अभिमान का जितना वल होता है उतना ही घना पटल दृप्टि पर पडता है। इसीसे चरण-कमल नही प्राप्त हुए। उसके नेत्रो से अश्रुधारा वहने लगी। शरीर थरथर कापने लगा। चरणो के वियोग से शरीर का भार असह्य हो गया। वह अचेत-सी हो नीचे गिर पडी। उद्धव ने यह देखा। वह दौड गये रुक्मिणी के पास और उसकी वाह पकडकर वोले—मा उठो, श्रीकृष्ण के चरणो को वन्दन करो। लज्जा और अभिमान को छोड दो। मन को निर्विकल्प कर लो और वृत्ति को सावधान करके हरिचरण को वन्दन करो। उद्धव के वचनो से रुक्मिणी को धीरज वधा। उसने लाज छोड दी और वह हरि-चरणो मे आ गई। वृत्ति समाहित हुई, शव्द की गति वन्द हो गई, मौन भग हो गया और रुक्मिणी समचरणो को वन्दन करती हुई परमानन्द को प्राप्त हुई। विषय-दृप्टि उपराम हुई, सारी सृप्टि निजानद मे समा गई। त्रिपुटी का लय हो गया। न वर का चरण रहा, न वधू का, सारा दृप्टान्त ही वह गया और अर्थ, स्वार्थ और परमार्थ अनन्त होकर अनन्त मे मिल गया।

"चरणो का आलिगन होते ही अह-सोऽहम् की गाठें खुल गई। सारा ससार आनन्दमय हो गया। सेव्य-सेवकभाव का कोई चिह्न ही नही रह गया। विवाह का कोई कारण भी न रहा। देवी और देव एक हो गये।"

## : १५ अ :

## ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान

यहा चतु श्लोकी भागवत व उसका एकनाथकृत अनुवाद पढ लेना लाभदायी होगा—

"अहमेवासमेवाग्रेनान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतञ्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहन् ॥"

सृष्टि के पूर्व मे मैं निज-स्वरूप शुद्ध निर्विकल्प स्वानन्दकन्द-स्वरूप अनूप पूर्ण ब्रह्म था। उस पूर्ण मे न सत् था, न असत्। सत् अर्थात् सूक्ष्ममूल, असत् अर्थात् नश्वरमूल। सृष्टि के पूर्व मे मैं इन सदसत् के परे निर्मल स्वरूप मे था।

जो चीनी की मिठास है, वही चीनी है। वैसे ही चिदात्मा जो है, वही यह लोक है। ससार मे मुझसे भिन्न और कुछ भी नही है। सुवर्ण ही सुवर्णालिकार वनता है, तन्तु से पट भिन्न नही रहता, मृत्तिका से भिन्न घट नही रहता, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म ससार मेरी चित्सत्ता से भिन्न नही रहता। जैसे वट और वट की जडे हैं वैसे ही मै परमात्मा और ये लोक हैं। प्रलय के पश्चात् भी मैं कैसे हू, यह देखो। कछुआ अपने अवयव वाहर फैलाता है और फिर समेट लेता है। दोनो अवस्था मे कछुआ कछुआ ही है। वैसे ही माया के फैलाव मे भी और माया के समेटने मे भी मैं ही एक परमात्मा हू। तात्पर्य सृष्टि के आदि मध्यान्त मे एक नारायण के सिवा और कुछ भी नही है। वैसे ही सब नाम-रूप सम्वन्घ हैं। भूत-भूतादि भेद है। उनके लय हो जाने पर मैं ही स्वानन्द-कन्द परमानन्द निज रूप मे रह जाता हू। जिसे वस्त्र कहते हैं, यथार्थ मे वह तन्तु ही है। वैसे यह जगत् यथार्थ मे चिद्रूप है। इसलिए सृष्टि के आरम्भ मे मै हू। सृष्टि के रूप मे मैं हू, अन्त मे सृष्टि का नाश होने पर मैं ही अविनाशी सच्चिदानन्द रह जाता हू।

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यात्मनो मायां यथाभासो यथातम ॥

मैं परमात्मा अधिष्ठान हू। उस मुझ सत्वार्थ को न देखकर जो-जो कुछ द्वैत भान होता है, वही माया है। कनक बीज खाने से जैसे मनुष्य सुध-बुध खो देता है फिर जहा कुछ भी नही होता वहा व्याघ्र, वानर शश आदि नाना प्रकार देखता है वैसे ही मोह मे माया का यह भास है। सूर्य के अदर्शन होने से तम प्रवल होकर

वढता है, पर सूर्योदय होते ही तम कही नही रह जाता। माया की भी वैसी ही वात है। आत्म-स्वरूप स्वय आनन्दघन है, नित्य है, निर्धर्म है, निर्गुण है। उस स्वरूप मे जो मैं-पन स्फुरित होता है, वही माया का जन्म-स्थान है।

देह मिथ्या छाया है। स्वरूप-प्राप्ति मिथ्या माया है। यह सच जानो कि छाया-माया समान है। यह भी जानो कि निजात्म-प्राप्ति के बिना निज माया नही छूट सकती। उस आत्म-प्राप्ति के लिए सद्गुरुचरणो की सेवा करनी चाहिए।

**"यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।**
**प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तेषु न तेष्वहम् ॥"**

जिस प्रकार पृथ्वी आदि महाभूत अपने छोटे-वडे ऊच-नीच सभी कामो मे घुसे हुए हैं, वे उन कामो मे दिखाई देते हैं, परन्तु तत्त्वत देखा जाय तो वे घुसे हुए नही हैं। क्योकि ये कार्य होने के पूर्व ही कारण-रूप से वे वहा मौजूद हैं। उसी प्रकार मैंने इस ससार मे प्रवेश किया ऐसा मालूम होता है, क्योकि इस विश्व मे मैं सर्वत्र व्याप्त हू और सर्वत्र मिलता हू। परन्तु तत्त्वत मैंने इस ससार मे कभी प्रवेश किया हो ऐसा नही है। क्योकि ससार-निर्माण करने के पूर्व कारण-रूप से मैं मौजूद ही था।

मैंने इस सृष्टि मे प्रवेश न करके भी प्रवेश किया है। स्वय न चल करके भी मैं ससार को चलाता हू। यहा छोटे-वडे सव शरीरो मे महाभूत कार्यरूप मे घुसे हुए दिखाई देते हैं। परन्तु कारण-रूप मे घुमे हुए नही हैं, क्योकि पहले से ही हैं। समुद्र को देखिये तो उसमे करोडो कल्लोल दिखाई देते है। पर इन कल्लोलो के भीतर सागर कैसे समा सकता है ?

मुझसे भिन्न क्या है, जिसमे जाकर मैं बैठू या जिसमे मेरा प्रवेश न हो और मैं उससे अलग रहू ? मेघ-मुख से गिरनेवाले ओले क्या है ? सिवा इसके कि जल-विन्दु जमे हुए हैं। उनके गलते ही उनके सर्वांग से जल-ही-जल निकलेगा। उसी प्रकार जन जो है, वही जनार्दन है। जनार्दन जो है स्वय वही जन है। ऐसे अभिन्न जनार्दन या जगत् मे प्रविष्ट करके भी अप्रविष्ट है। समाकर भी समाये हुए नही है।

श्री रामकृष्ण परमहस कहते है—"एक ज्ञान ज्ञान है, वहुत ज्ञान अज्ञान हैं।"

: १६ :

## वर्णाश्रम-व्यवस्था-सम्बन्धी विचार

"'इस देश के पुराने विचार मे, कुटुम्ब को ही मानव-समाज का आधार और आरम्भक 'अणु' (यूनिट) मानते है।

'एतावानेव पुरुषोयज्जायात्मा प्रजेतिह।' (मनु० ९४५) अकेला पुरुष पुरुष नही है, लेकिन पुरुष, स्त्री व सतति तीनो मिलकर सम्पूर्ण पुरुष अथवा मनुष्य बनता है।

"आजकल की प्रवृत्ति, 'व्यक्ति' को समाज का आधार और आरम्भक मानने की ओर है। एक हद पर व्यक्तिवाद और दूसरी हद पर राष्ट्रवाद यही आधुनिक काल का आदर्श है। कुटुम्बवाद एक कोटि और सर्व-मानववाद दूसरी कोटि, यह प्राचीन आदर्श है। जब समाज-रूपी जजीर को बनानेवाली कडी कुटुम्ब माना जाता है, और माता, पिता, तथा सतति सदा के लिए एक-दूसरे से जुडे हुए समझे जाते हैं, तब मातृ-पितृ-सम्बन्ध के अनन्त विस्तार का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सपूर्ण समाज, न केवल मानसिक दृष्टि से किन्तु शारीरिक दृष्टि से भी, परस्पर-सबद्ध, सयुक्त दिखाई देता है और उसका आधार परस्पर का सहयोग हो जाता है। इसी प्रकार सभी लोग एक ही शरीर और एक ही आत्मा के अग वास्तव मे हो जाते है।

"रोटी-बेटी-सम्बन्ध, अन्न-सम्बन्ध और योनि-सम्बन्ध ये हो प्राण-सम्बन्ध है। पर जब प्रत्येक व्यक्ति ही समाज का स्वतत्र अग समझा जाता है तब जिस समुदाय मे वह रहता है, उसके साथ उसका सम्बन्ध मनमाना और प्रतिस्पर्धामूलक हो जाता है, और इस कारण से, वह समाज मजबूत होने के बदले और कमजोर हो जाता हैं। यही कारण है, जो आज हम, व्यक्तियो के, और ऐसे व्यक्तियो से निर्मित राष्ट्रो के बीच इतना उग्र द्वेष-भाव देख रहे है, जिससे आज सारा मानव-वायु-मडल व्याप्त हो रहा है। न केवल राष्ट्र-राष्ट्र मे सघर्ष हो रहा है, बल्कि प्रत्येक राष्ट्र के भीतर भी, अमीर और गरीब मे, शासक और शासित मे, बलवान और दुर्बल मे, स्त्री और पुरुष मे, पिता और पुत्र मे, बूढे और जवान मे, पुरानी पुश्त और नई पुश्त मे, सघर्ष की पराकाष्ठा हो रही है।

"आरम्भ मे मानव-समाज की सागोपाग व्यवस्था ही वर्ण-व्यवस्था थी। इने

पश्चिम मे 'सोशियल आर्गेनिजेशन' कहते हैं। इसमे चार परस्पर सम्बन्ध-व्यूह थे—(१) शिक्षा-व्यूह, ('एजूकेशनल आर्गेनिजेशन', 'लर्नेड प्रोफेशन्स') जिसके अवयव तपस्वी विद्वान ब्राह्मण वर्ण के शिक्षक और ब्रह्मचारी आश्रम के विद्यार्थी थे, (२) रक्षा-व्यूह, राजनैतिक प्रवध, ('प्रोटेक्टिव आर्गेनिजेशन, 'एक्जीक्यूटिव प्रोफेशन्स'), जिसमे साहस, निर्वल-रक्षक, 'क्षतात् त्राता', क्षत्रिय वर्ण और (साधारण दृष्टि से) वानप्रस्थ आश्रम के लोग थे, (३) जीविका-व्यूह, आर्थिक सघटन, ('इकोनोमिकल आर्गेनिजेशन,' 'कमर्शल प्रोफेशन्स') जिसमे कृषि—गो-रक्षा—वाणिज्य-व्यापारवाले वैश्य वर्ण, और (सामान्यत) गृहस्थाश्रम के लोग थे और (४) सेवा-व्यूह, सहायता-व्यूह, श्रमजीवी-सघटन, (इन्डस्ट्रियल आर्गेनिजेशन', 'लेबर प्रोफेशन्स') जिसमे शूद्र वर्ण के शारीरिक सेवक और सन्यासी आश्रम के आध्यात्मिक सेवक थे।

"इस चतुर्विध सामाजिक सग्रथन के आधारभूत, कुछ मौलिक और व्यापक सिद्धान्त, विविध शास्त्रो के थे, यथा शरीरशास्त्र, चित्तशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षा-शास्त्र, भोजनशास्त्र, विवाह-शास्त्र, राजशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, आदि शास्त्रो, 'आगम' की परम्परा से 'आगत' शब्दो मे इन सव शास्त्रो का चतुर्विध राशीकरण, चार पुरुषार्थों के चार शास्त्रो मे किया है—धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र। आर्य-जाति के बुजुर्गों ने, ऋषियो ने पूर्वकाल मे, ज्ञान-चक्षु से, इन सव तत्वो को प्रत्यक्ष करके, उनकी नीव पर, मानव-जाति के हित के लिए, इस समाज-व्यवस्था का निर्माण किया था—इस लक्ष्य से कि भारत की वहु-सख्यक जातिया ही नही, अपितु समग्र पृथ्वी-तल के रहनेवाले मनुष्य-मात्र, उचित वर्ण मे समाविष्ट हो, और जो भी इसके सम्पर्क मे आये 'आर्य' हो जाय, चाहे उसकी जीविका, व्यसन, मनोवृत्ति, आचार-विचार, रीति-रस्म आदि कुछ ही क्यो न रहा हो।

"शरीर-शास्त्र—(आयुर्वेद) का सिद्धान्त यह है कि देहधारी जन्तुओ की पार-स्परिक पीढियो की उत्पत्ति मे दो नियम सदा कार्य करते रहते हैं—(१) पितृ-क्रमाऽगम-नियम, पितृ-परम्परा-नियम, जन्मना सिद्ध-स्वभाव-नियम, आनुवशि-कता, (२) स्वतोविशेषण नियम, नवोन्मेष नियम, कर्मणासाधित—(व्यक्ति-कृत, व्यजित)—स्वभाव नियम, वैयक्तिक विशेपता। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञा-निक, (१) को 'ला आफ हेरिडिटी', (२) को 'ला आफ स्पान्टेनियस वेरियेशन'

या 'म्यूटेशन' कहते हैं। अर्थात् (१) कुछ गुण तो जन्म से ही माता-पिता के द्वारा प्राप्त होते है और कुछका स्वत व्यक्तिविशेष मे प्रादुर्भाव होता है। इनका फल यह होता है कि (१) एक ही मा-बाप की सन्तति, शरीर और बुद्धि मे, अपने मा-वाप के सदृश और एक-दूसरे के सदृश कुछ अशो मे होते है, और (२) साथ ही दूसरे अशो मे उनमे विलक्षणता भी होती है। पुराने शब्दो मे इन्हे 'जन्म-सिद्ध गुण' और 'कर्म-सिद्ध गुण' अथवा 'योनिकृत गुण' और 'तप. श्रुतकृत गुण' कह सकते है। इन परस्परभेदी नियमो का मूल कारण ब्रह्म-विद्या मे मिलता है। परमात्मा की 'एकता' ही ससार मे जो कुछ एकता, समता, स्थिरता, सन्नत-भाव, अविच्छिन्न परम्परा देख पडती है, उसकी हेतु है, और परमात्मा की स्वभाव-रूप प्रकृति की 'अनेकता' ही ससार मे जो-कुछ बहुता, विचित्रता, विभिन्नता, और परिवर्तनशीलता है, उसका कारण है।

"अन्त करण शास्त्र, चित्तशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि चित्त के तीन गुण है, जिनमे से प्रत्येक व्यक्ति मे एक का प्राधान्य होता है, और 'द्विज' अर्थात् सुशिक्षित, सुसस्कृत, व्यक्ति जो द्वितीय वार, आत्मज्ञान मे जन्म पा चुके है, वे इसी हेतु से, तीन प्रकार के होते हैं—(१) ज्ञान-प्रधान, (२) क्रिया-प्रधान तथा (३) इच्छा-प्रधान, और बाकी लोग चतुर्थ प्रकार की श्रेणी के हैं, जो अव्यक्त वुद्धि, वालक-बुद्धि के है और ऊची शिक्षा ग्रहण करने की शक्ति नही रखते, शारीरिक श्रम का ही काम अधिकतर कर सकते है। ज्ञान-प्रधान मनुष्य के लिए हृदय का आप्यायन और सत्कार्य का प्रेरक विशेषकर प्रेम-पूर्ण सम्मान ही होता है। और इसको वह अधिक चाहता हैं। 'मानो हि महता धनम्'। क्रिया-प्रधान पुरुष आज्ञाशक्ति, ऐश्वर्य, 'ईश्वर-भाव' 'अधिकार' को अधिक चाहता है। इच्छा-प्रधान पुरुष धन-धान्य को और श्रमजीवी मनुष्य खेल-तमाशा, क्रीडा-विनोद अधिक पसन्द करता है। यह अच्छी तरह से स्मरण रखना चाहिए कि चार सहोदर भाई भिन्न-भिन्न श्रेणी, वर्ग, राशि, प्रकृति, आकृति, मनोवृत्ति के हो सकते है और अक्सर होते हैं। यह विचित्रता उनमे स्वत. उत्पन्न होती है तथा यह भी ठीक है कि परम्परागत प्रकृति के कारण वे प्रायः स्वल्प-भेद से, एक ही श्रेणी, एक ही आकार-प्रकार और स्वभाव के भी वहुधा होते है।

"अन्त.करण-शास्त्र का दूसरा सिद्धान्त यह है कि स्त्री-पुरुष की राजस-तामस काम-वासना जो होती है, वह सात्विक स्नेह-प्रीति, स्वार्थ-त्याग, उत्तरदायित्व-

सवेदन और कर्तव्य-परायणता के भाव मे परिवर्तित हो जाती है, जब उन्हे सन्तति उत्पन्न होती है। पर जैसे अन्य बातो मे, वैसे ही सन्तति मे भी 'अति' से बहुत दु ख पैदा होता है।

"अर्थशास्त्र का सिद्धान्त, वर्ण-धर्मात्मक-समाज-व्यवस्था की जड मे, यह है कि जीविकोपार्जन मे अनियमित विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता दूर की जाय या कम-से-कम उसकी खराबिया कम की जाय। इसलिए चार वर्णों के लिए चार, भिन्न-भिन्न प्रकार की, जीविका-वृत्तिया नियत कर दी। जो लोग अपनी शारीरिक और मानसिक प्रकृति के कारण पैतृक-जीविका के योग्य हो, वे निश्चयेन उसीका अवलम्बन करें। पर जब किसी व्यक्ति मे दूसरे प्रकार का स्वभाव पाया जाय, तो उसको यह इजाजत रहे कि वह अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल जीविका का कार्य उठा सके, पर, धनोपार्जन के लिए, किसी दूसरे वर्ण के लिए निर्धारित जीविकोपाय का कार्य न करने पावे। इस प्रकार से प्रत्येक मनुष्य, अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार, सारे समाज की सेवा के लिए कार्य कर सकेगा और समाज की तरफ से उसे उपयुक्त पुरस्कार और जीविकोपार्जन का साधन मिलेगा और काम, दाम और आराम का न्यायोचित विभाग हो सकेगा, क्योकि कोई भी व्यक्ति जीविका के लिए, स्ववर्णोचित कार्य के सिवा, दूसरा काम न कर सकेगा।

"समाज-शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार से व्यक्ति के शरीर मे सिर, हाथ, धड और सर्वधारक पैर होते हैं और जिस तरह व्यक्ति के चित्त मे ज्ञान, क्रिया व इच्छा का भण्डार रहता है तथा सर्वधारिणी चेतना-शक्ति रहती है, उसी प्रकार सामाजिक सगठन मे अर्थात् प्रत्येक सर्वांग पुष्ट, सुविकसित उन्नत और सभ्य समाज मे भी चार ऐसी श्रेणिया होती हैं, जो स्थूल रूप से, जीविका की दृष्टि से एक-दूसरे से विभक्त की जा सकती हैं—(१) विद्योपजीवी वर्ग, (२) (शासनात्मक) अधिकारोपजीवी वर्ग, (३) व्यापारोपजीवी वर्ग तथा (४) शारीरिक श्रमोपजीवी वर्ग। इन चारो श्रेणियो मे चार प्रकृतियो के अनुरूप अधिकार (हक) और कर्त्तव्य (फर्ज) कार्य और जीविका, परिश्रम और पुरस्कार, मिहनत और उज्रत का उचित बटवारा होना चाहिए तथा किसीको किसी दूसरे क्षेत्र पर (विशेष जीविका के साधन पर) आघात करने का कोई अवसर न मिलना चाहिए, न किसी वर्ग या व्यक्ति को दो या तीन या चारो प्रकार से जीविका उपार्जन कर सकने की इजाजत होनी चाहिए।

"दूसरा सामाजिक सिद्धान्त, जिसका प्रभाव बहुत ही व्यापक है और जो पुरातन सामाजिक व्यवस्था मे अनुस्यूत था, यह है कि व्यक्ति नही, कुल या कुटुम्ब समाज का आरम्भ अवयव—इकाई—है।

"समाज-शास्त्र का एक और बहुत गौरवपूर्ण सिद्धान्त वर्ण-धर्म मे गुथा हुआ यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के मोटे तौर से चार विभाग होने चाहिए, पहला भाग अध्ययन मे, दूसरा गार्हस्थ्य और जीविकोपार्जन मे, तथा सन्तति के पालन-पोषण मे, तीसरा विना किसी वेतन या प्रतिफल या कीमत के सार्वजनिक सेवा मे, और चौथा अध्यात्म-ज्ञान व मोक्ष-साधन मे व्यतीत होना चाहिए। स्वार्थ-प्रधान वैयक्तिक भावो और वासनाओ का नियन्त्रित-नियमित सेवन, प्रथम दो विभागो मे होने देना चाहिए और परार्थ-प्रधान लोकोपकारी भाव और शुभेच्छा का अधिकाधिक, प्रतिदिन वर्धमान मात्रा मे सेवन, अन्तिम दो विभागो मे होना चाहिए। आश्रम-धर्म के नाम से प्रसिद्ध व्यवस्था का यह मूल सिद्धान्त है, जिससे वैयक्तिक जीवन का प्रवन्ध किया गया है। इसका अटूट सम्वन्ध वर्ण-धर्म से है, जिसके द्वारा सामाजिक जीवन का प्रवन्ध किया गया है। इन दोनो का—वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म का, वैसा ही सम्वन्ध है जैसा कपडे मे ताने-वाने का।

"राजनीति-शास्त्र (धर्मशास्त्र के अन्तर्गत) का सिद्धान्त, जो इस व्यवस्था मे है, वह यह है कि चारो जीविकाओ के अनुसार विभक्त श्रेणियो का पृथक्-पृथक् ओत-प्रोत परन्तु परस्पर अवलम्वित, व्यूह न हो। उनमे आपस मे शक्ति का उचित वटवारा रहे और शास्त्र-शक्ति (ज्ञान-वल), शस्त्रशक्ति (सेनावल), अन्न-शक्ति (धनवल) और सेवा-शक्ति (श्रमवल) सवके-सव किसी एक समुदाय अथवा व्यक्ति मे केन्द्रीभूत न हो सके, क्योकि एक ही हाथ मे कई शक्तियो के आने का खामख्वाह यह नतीजा होता है कि अहकार, उच्छृङ्खलता, निर्मर्यादता अवश्यमेव उभरते है, प्रजा के शिक्षण-रक्षण-पालन के सौम्य भाव दव जाते हैं; और अनियन्त्रित अधिकार का दुरुपयोग करके दूसरो को पीडा देने का भाव निश्चयेन वढता है।

"शिक्षा-शास्त्र (धर्मशास्त्र के अन्तर्गत) का सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वच्चे को, जो जरा भी शिक्षा पाने योग्य है, सामारिक (कल्चरल) शिक्षा के साथ-साथ उसी प्रकार व्यावहारिक (वोकेशनल), अर्थकरी, जीविका-साधनी, विशेष शिक्षा दी जाय, जिसके प्रति उसकी स्वभाव से प्रवृत्ति हो और इस प्रवृत्ति को

समझने, पहचानने के लिए उसके शिक्षको को, विशेष प्रकार से अध्यात्मवेदी होकर, ध्यान देना और यत्न करना चाहिए।

"स्वस्थ्य-शास्त्र और विवाह-शास्त्र (आयुर्वेद और कामशास्त्र) का सिद्धान्त यह है कि भोजन और भोजन के बारे मे सब प्रकार की सावधानी रखनी चाहिए। हर तरह की शुचिता, सफाई की फिक्र करनी चाहिए और ऐसे ही लोगो के साथ भोजन और विवाह करना चाहिए, जो समान-शील और व्यसनवाले हो, जिनका स्वभाव मिलता हो। ऐसा ही करने से व्यक्ति-जीवन मे, कुटुम्ब-जीवन मे और जाति-जीवन मे स्वास्थ्य और सुख की वृद्धि हो सकती है।

"यह वर्णाश्रम-व्यवस्था तो एक ऐसा साचा—ढाचा चारखानो का है, जिसमे सब प्रकार से मनुष्य अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव, गुण (जीविका) कर्म के अनुसार सहज मे ढाले जा सकते है और जाते थे। प्राचीन व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्तो के अनुसार कोई कारण नही है कि ससार मे बसनेवाले सभी लोग चीनी, जापानी, ईरानी, अरबी, फ्रासीसी, जर्मन, अग्रेज चाहे वे ईसाई, मुस्लिम, यहूदी या और किसी मज़हब के हो, इन्ही चार जीविकानुसार गिरोहो या पेशो मे विभक्त न किये जाय।"

## : १७ :

## माया

श्री शकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दो का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है। (शारी० भाष्य १।४।३) परन्तु परवर्ती दार्शनिको ने इन दोनो शब्दो मे सूक्ष्म-अर्थ-भेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीजशक्ति का नाम 'माया' है। माया-रहित होने पर परमेश्वर मे प्रवृत्ति नही होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। यह अविद्यात्मिका बीज-शक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है। यह परमेश्वर मे आश्रित होनेवाली महासुप्ति-रूपिणी है, जिसमे अपने स्वरूप को न जाननेवाले ससारी जीव शयन करते हैं। अग्नि की पृथग्भूत दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ब्रह्म की अपृथक्भूता शक्ति है। माया त्रिगुणात्मिका ज्ञान-विरोधी भावरूप पदार्थ है। अर्थात् वह अभाव-रूप नही है। माया न तो सत है, न असत्, इन दोनो से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। जो पदार्थ सद्-

रूप से या असद्रूप से वर्णित न किया जा सके, उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'अनिर्वचनीय' है। माया को सत् कह नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्म-बोध से उसका बाध होता है। 'सत्' तो त्रिकालाबाधित होता है। अत यदि वह सत् होती तो कभी बाधित नहीं होती। अथ च उसकी प्रतीति होती है। इस दशा में उसे 'असत्' कहना भी न्याय-संगत नहीं। क्योंकि 'असत्' वस्तु कभी प्रतीयमान नहीं होती। इस प्रकार माया में बाधा तथा प्रतीति उभयविध विरुद्ध गुणों के सद्भाव रहने से माया को 'अनिर्वचनीय' ही कहना पड़ता है। प्रमाण-असहिष्णुता ही अविद्या की अविद्यता है। तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है। सूर्योदय-काल में अन्धकार की भांति ज्ञानोदय-काल में माया टिक नहीं सकती। अत यह भ्रान्ति आलम्बनहीन तथा सब न्यायों से नितान्त विरोधिनी है। माया विचार को नहीं सह सकती। इस प्रकार प्रमाण-असहिष्णु और विचार-असहिष्णु होने पर भी इस जगत् की उपपत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्तियुक्त है।

माया की दो शक्तियां होती है—आवरण तथा विक्षेप। इन्हींकी सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव-रूप को आवृत कर उसमें अवस्तु रूप जगत का प्रतीति का उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन दोनों शक्तियों की नि.सन्दिग्ध सत्ता का अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता। अधिष्ठान के सच्चे रूप को जबतक ढक नहीं दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना उसपर की नहीं जाती तबतक भ्रान्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। भ्रमोत्पादक जादू के खेल इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ठीक इसके अनुरूप ही भ्रान्ति-स्वरूप माया में दो शक्तियां पाई जाती हैं। आवरण-शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानो ढक लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपंच को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन-विस्तृत आदित्य-मण्डल को आच्छादित-सा कर देता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभवकर्त्ताओं की बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न अ-संसारी आत्मा को आच्छादित-सा कर देता है। इसी शक्ति की संज्ञा 'आवरण' है, जो शरीर के भीतर दृष्टा व दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत कर देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान अज्ञानावृत रज्जु में अपनी शक्ति से सर्पादिक की उद्भावना करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित

आत्मा मे इस शक्ति के बल पर आकाश आदि जगत्प्रपच को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का नाम—'विक्षेप' है। मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है। चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और उपाधि-पक्ष की दृष्टि से वही ब्रह्म उपादान-कारण है। अत ब्रह्म की जगत्-कर्त्तृता मे माया को ही सर्व-प्रधानतया कारण मानना उचित है। (भारतीय दर्शन)

भागवत मे भगवान् की शक्ति को 'माया' कहा है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—"वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा मे किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश मे एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टि-दोष से दो चन्द्रमा दीख पडते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नही होती। 'सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय तैसे ही बन्ध और मोक्ष— यह भ्रान्ति-जनित आभास है। इस भ्रान्ति का कारण प्रत्यक् चैतन्य मे अज्ञान और ईश्वर-पुरुष मे ज्ञान-पूर्वक उपाधि। अज्ञान या उपाधि ही माया अथवा प्रकृति है। प्रत्यक् चैतन्य एव ईश्वर के भेद की प्रतीति भी मायाकृत आभास ही है। 'इस माया का स्वरूप अगम्य है', ऐसा भी नही कह सकते। और 'नही' कहे तो वह प्रतीत होती है, अत 'अनिर्वचनीय' है। इसका भास अनादिकाल से चला आता है।"

"मायावादी को भी यह तो मानना ही पडता है कि माया मे नियमाधीनता है। जगत् केवल आभास हो तो भी वह अव्यवस्थित आभास नही कहा जा सकता। मायावाद के मूल मे वास्तविक अवलोकन तो इतना ही है—(१) हमको जगत् का या देह का भान तभी हो सकता है जब मन का व्यापार चालू हो, (२) जगत् हमको कैसा दिखाई देता है, यह हमारी मनोदशा पर भी अवलम्बित है। और इसलिए हम यह निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि जगत् के पदार्थों को हम जिस नाम-रूप से जानते हैं, वही नामरूप सचमुच उन पदार्थों के अवश्य ही हैं और (३) मन के मूल मे या जगत् के मूल मे कोई स्थिर तत्व यदि हो तो वह सत्ता-मात्र चैतन्य ही है। इस अवलोकन का अर्थ तो इतना ही हुआ कि जैसे रग व रूप का भान हमे, यदि आखो का व्यापार बन्द हो जाय तो नही हो सकता, उसी तरह हमे अपने अस्तित्व से लेकर जगत् तक के किसी भी पदार्थ या भाव का भान बिना मन के व्यापार के नही हो सकता। ज्ञाता बनने के लिए मन आवश्यक साधन है। ज्यो-ज्यो मन का व्यापार अधिक विकसित व शुद्ध होता जायगा त्यो-त्यो ज्ञातापन भी

अधिक स्पष्ट होता जायगा और उसके द्वारा मिलनेवाला अनुभव अधिक सूक्ष्म और तलस्पर्शी होता जायगा, यहातक कि अन्त को उसके द्वारा अपने तथा जगत् के अस्तित्व के मूल मे स्थित चैतन्य-सत्ता को भी वह ग्रहण कर सकता है।"

(जीवन-शोधन)

अर्थात् मन की मलिनता, अशुद्धता, अविकसितता को अविद्या या माया या भ्रान्ति कहना चाहिए, शुद्ध, अभ्युदित, विकसित मन की क्रिया को 'विद्या' व प्रतीति या अनुभव को 'ज्ञान' कह सकते है।

"ब्रह्म मे मूल माया उत्पन्न हुई। उसीको (सूक्ष्म) अष्टधा प्रकृति कहते है। क्योकि मूल माया ही पचभूत व त्रिगुण से व्याप्त है। वह वायु-स्वरूप है। उसीको 'इच्छा' किंवा 'सकल्प' कहते हैं। परन्तु उसका सम्बन्ध ब्रह्म से नही। वायु-रूप माया मे जो ज्ञान-कला है, उसे 'ईश्वर', 'सर्वेश्वर' कहते है। वह ईश्वर सगुण हुआ और उसमे त्रिगुण-भेद उत्पन्न हुआ। यही ब्रह्मा, विष्णु, महेश हुए। इनका स्वरूप सत्व-रज-तमात्मक है। ज्ञानयुक्त भगवान् विष्णु, ज्ञान-अज्ञान-युक्त ब्रह्मदेव, अज्ञान-युक्त अर्थात् भोले भगवान् शकर।

"ईश्वर ने ही गुण माया का अगीकार करके ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप धारण किया। ब्रह्मदेव ने सकल्प-मात्र के द्वारा सृष्टि निर्माण की।

"चैतन्य व वायु—इन्हीको पुरुष-प्रकृति या शिव-शक्ति एकरूप होने के कारण मूल माया का नाम हुआ अर्द्धनारीनटेश्वर। मूल माया के चैतन्य का विस्तार सारे ब्रह्माण्ड मे है।

"निश्चल आकाश मे चचल वायु बहने लगी। गगन व वायु मे भेद है। तैसे ही निश्चल परब्रह्म मे चचल माया-रूप भ्रम उत्पन्न हो गया। फिर भी ब्रह्म व भ्रम मे भेद है। जैसे आकाश मे वायु चलती है, उसी प्रकार निश्चल मे चलन—एकोऽहं बहुस्याम—इच्छा, आदिस्फूर्ति, मूल प्रकृति, मूल माया, आदि नामोवाली अह स्फुरण-रूप, चेतना ही ब्रह्माण्ड की महाकारण माया है। पिण्ड के जैसे स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण ऐसे चार देह है, वैसे ही ब्रह्माण्ड के विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत व मूलमाया ये चार देह है। इसे ईश्वर-तनु-चतुष्टय कहते हैं। अहं-स्फुरण रूप चेतना ही मूल माया है। इसके परमेश्वरवाचक अनन्त नाम है। नाम-रूप, लिंग-भेद न होने के कारण उसके कुछ नाम पुरुषवाचक व कुछ स्त्रीवाचक व कुछ नपुसक हैं। ये केवल सकेतार्थक हैं।

"माया नदी को उलटे क्रम मे तैरते हुए उद्गम तक जाने पर वहा सबकी भेंट हो जाती है। क्योकि वही सबका विश्रान्ति-स्थान है।

"आदि सकल्प ही मूल माया है। उसे षड्गुणैश्वर्य-सम्पन्न कहते हैं। सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, साक्षी, द्रष्टा, ज्ञानघन, परेश, परमात्मा, जगज्जीवन, मूल पुरुष--ये सब नाम मूल माया के ही हैं। यही मूल माया अधोमुख होकर गुण-माया हो जाती है।

"ब्रह्म से उलटी माया। निर्गुण-सगुण, अनन्त-सान्त, निर्मल, निश्चल, निरुपाधिक चचल, चपल, उपाधि रूप। माया भासती है व मिटती है, ब्रह्म इससे मुक्त है। माया उपजती है, मरती है, विकारी है, ब्रह्म सदा-सर्वदा निर्विकारी। माया सबकुछ करती है--ब्रह्म कुछ भी नही करता। धारणा माया तक पहुच सकती है, ब्रह्म तक नहीं। माया का नाम-रूप है। माया पाच-भौतिक है, ब्रह्म शाश्वत व एक है। माया छोटी व असार, ब्रह्म बडा व सार। माया इस पार की, ब्रह्म उस पार का। माया ने ब्रह्म को ढाक लिया है। साधु-सन्त उसे पहचान लेते हैं। काई दूर करके साफ पानी लेने, पानी छोडकर दूध लेने की तरह माया का परदा हटाकर ब्रह्म को ले लेना चाहिए।

| ब्रह्म | माया |
|---|---|
| आकाश जैसा निर्मल | पृथ्वी जैसी गदली |
| सूक्ष्म | स्थूल |
| अप्रत्यक्ष (इन्द्रिय-अगोचर) | प्रत्यक्ष (इन्द्रियगोचर) |
| सदासम | विषमरूपी, नानात्वपूर्ण |
| अलक्ष्य | लक्ष्य |
| असाक्षी | साक्षी |
| पक्ष नही | दो पक्ष—जीव-शिव, बन्ध-मोक्ष, पाप-पुण्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति |
| सिद्धान्त पक्ष | पूर्व-पक्ष (खण्डन-मण्डन) |
| निरन्तर परिपूर्ण | पुरानी गुदडी |
| मौन उचित | जितना कहो उतना थोडा |
| अभग | नाना रूप, नाना रग, नाना कल्पना—भगशील। |

"उपाधि-रहित आकाश को ही निराभास ब्रह्म समझो। उसमे मूलमाया

प्रकटी। वह वायु रूप है। वायु मे चेतना, वासना, वृत्ति इत्यादि रूपो मे जगज्ज्योति अर्थात् चेतन-कला है। आकाश से वायु हुई। वह मुख्यत दो प्रकार की है—एक तो वह जो वहती है, दूसरी यह जगज्ज्योति। इस जगज्ज्योति मे ही देवी-देवताओ की अनेक मूर्तिया है। तेज भी उष्ण व शीतल दो प्रकार का है। उष्ण तेज से प्रकाश, सूर्य व सर्वभक्षक अग्नि व विद्युत ये तीन हुए, शीतल तेज से पानी, अमृत, नक्षत्र, तारा, वर्फ इत्यादि वने।" (दासवोध)

"ब्रह्म की जिस शक्ति से सृष्टि, स्थिति, प्रलय होता है, उसीका नाम माया है। वह दो प्रकार की है विद्या-अविद्या। जिसके अन्तर्गत किये हुए कर्मों से जीव ईश्वर की ओर झुकता है, जिसके घेरे मे विवेक और वैराग्य की क्रियाए पाई जाती है, उसे विद्या-माया कहते है। जहा काम, क्रोध आदि शत्रुओ के कार्य पाये जाते है, जिसके घेरे मे किये हुए कामो से जीव ससार मे दिन-दिन वधता जाता है, उसे अविद्या-माया कहते हैं। अविद्या-माया के हाथ से छुटकारा पाने के लिए विद्या-माया का आश्रय लेना पडता है। पीछे जव ईश्वर मिल जाता है, ज्ञान होता है तव दोनो ही माया चली जाती है। एक काटा चुभ जाने पर उसको निकालने के लिए दूसरे काटे का सहारा लेना पडता है। लेकिन जव पहला काटा निकल जाता है तो दोनो को फेक देते हैं।

"विल्ली अपने वच्चे को दात से पकडती है पर दात उन्हे नही गडते। परन्तु वही जव चूहो को पकडती है तो वे मर जाते है। इसी प्रकार माया भक्त को वचा लेती और दूसरो को मिटा डालती है।

"कामिनी व काचन ही माया है। इनके आकर्षण मे पडने से जीव की सव स्वाधीनता चली जाती है। इनके मोह मे पडकर जीव ससार के वन्धन मे पड़ जाता है।

"चावल का धोवन पीने से शराब का नशा उतर जाता है। ऐसे ही साधुसग करने से जीव का माया-रूपी नशा उतर जाता है। (परमहसदेव)

: १८ :

## जीव

वेदान्त मतानुसार अन्त करण-अवच्छिन्न चैतन्य जीव है। शकराचार्य की सम्मति मे शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा

को ही जीव कहते है। जीव की वृत्तिया उभयमुखीन होती है। यदि वे बहिर्मुख होती है तो विषयो को प्रकाशित करती हैं और जब वे अन्तर्मुखी होती हैं तो 'अह'-कर्त्ता को अभिव्यक्त करती है। जीव की उपमा नृत्यशाला-स्थित दीपक से दी जा सकती है। जिस तरह रगस्थल मे दीपक, सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है और इनके अभाव मे स्वत प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहकार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है और इनके अभाव मे स्वत चमकता है। बुद्धि मे चचलता होती है और बुद्धि से युक्त होने से जीव चचल-सा प्रतीत होता है। वस्तुत वह शान्त है।

वैष्णव तन्त्रानुसार वासुदेव से 'जीव' (सकर्षण) की उत्पत्ति होती है। यह जगत् भगवान् की लीला का विलास है। भगवान् के सकल्प या इच्छा-शक्ति का ही नाम 'सुदर्शन' है, जो अनन्त रूप होने पर भी प्रधानतया पाच प्रकार का होता है—उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाशकारिणी शक्तिया, निग्रहशक्ति (माया, अविद्या आदि नामधारिणी तिरोधान शक्ति) तथा अनुग्रहशक्ति। जीव स्वभावत सर्व-शक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ तो है, परन्तु सृष्टिकाल मे भगवान् की तिरोधान-शक्ति जीव के विन्दुत्व, सर्वशक्तिमत्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है, जिसमे जीव क्रमश अणु, किंचित्कर तथा किंचितज्ञ बन जाता है। इन्ही अणु-त्वादिको को 'मल' कहते हैं। इन्हीमे जीव बद्ध बन जाता है और पूर्व-कर्मो के अनुसार जाति, आयु तथा भोग की प्राप्ति करता है। इस विकट भवचक्र मे वह निरन्तर घूमता रहता है। जीव के क्लेशो को देखकर भगवान् के हृदय मे कृपा का स्वत आविर्भाव होता है—इसीका नाम है अनुग्रहशक्ति, जिसे आगम मे 'शक्ति-पात' कहते है। जीवो की दीन-हीन दशा को देखकर करुणा-वरुणालय भगवान् का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वह जीवो पर अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं। अब जीव के शुभ-अशुभ कर्म सम होकर फलोत्पादन के प्रति व्यापारहीन हो जाते हैं। जीव इस दशा मे वैराग्य तथा विवेक को प्राप्त कर मोक्ष की ओर स्वत प्रवृत्त हो जाता है।

अद्वैत-मत मे जीव स्वभावत एक है, परन्तु देहादि उपाधियो के कारण वह नाना प्रतीत होता है। परन्तु रामानुज-मत मे जीव अनन्त है—वे एक-दूसरे से नितान्त पृथक् है। देह तथा देही के समान जीव भी ब्रह्म से कदापि अभिन्न नही है। ब्रह्म से जीव नितान्त भिन्न है। जीव आध्यात्मिकादि दु खत्रय मे नितरा

पीडित है, ऐसी दशा मे उसकी ब्रह्म के साथ अभिन्नता कैसी मानी जा सकती है ? ब्रह्म जगत् का कारण तथा करणाधिप (जीव का अधिपति) है। दोनो अज है—एक ईश है, दूसरा अनीश। एक प्राज्ञ है, दूसरा अज्ञ। चिनगारी जिस प्रकार अग्नि का अश है, देह देही का अग है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अश है। जीव-ब्रह्म मे अशागी-भाव या विशेषण-विशेष्य-भाव-सम्बन्ध है।

माध्वमत मे जीव अज्ञान, मोह, दु ख, भयादि दोषो से युक्त तथा ससारशील होते है। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं—मुक्तियोग, नित्य-ससारी और तमोयोग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य रूप मे पाच प्रकार के होते है। नित्य-ससारी जीव सदा सुख-दु ख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीय कर्मानुसार ऊच-नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग, नरक तथा भूलोक मे विचरण करता है। इस कोटि के जीव 'मध्यम मनुष्य' कहे जाते हैं और वे कभी मुक्ति नही पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते है जिनमे दैत्य, राक्षस तथा पिशाचो के साथ अधम मनुष्यो की गणना है। ससार मे प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक् बनाये रहता है। वह अन्य जीवो से भिन्न है तथा सर्वज्ञ परमात्मा से तो मुतरा भिन्न हैं। केवल ससार दशा मे ही जीवो मे तारतम्य नही है, प्रत्युत् मुक्तावस्था मे भी वह विद्यमान रहता है।

निम्बार्क मत मे चित् या जीव ज्ञानस्वरूप है। इन्द्रियो की सहायता बिना इन्द्रिय-निरपेक्ष जीव विषय के ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ है। जीव ज्ञान का आश्रय-दाता भी है। वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनो एक ही काल मे है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान, तथा गुणभूत ज्ञान, यद्यपि ज्ञानाकार तथा अभिन्न ही है तथापि इन दोनो मे धर्माधर्मी-भाव मे भिन्नता है। जीव कर्त्ता है। मुक्त हो जाने पर भी कर्त्तृत्व की सत्ता रहती है। जीव अपने ज्ञान तथा योग की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है। जीव नियम्य है, ईश्वर नियन्ता है। वह ईश्वर के सदा अधीन है। मुक्त दशा मे भी ईश्वर के आश्रित रहता है। जीव परिमाण मे अणु तथा नाना है। वह हरि का अश-रूप अर्थात् शक्तिरूप है।

वल्लभ-मत मे जब भगवान को रमण करने की इच्छा होती है तब वह अपने आनदादि गुणो के अशो को तिरोहित कर स्वय जीवरूप ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार मे क्रीडा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नही रहता ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव मे दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरो-

धान से हीनता। श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियो का आस्पद है, ज्ञान के तिरोधान से अनात्मरूप देहादिको मे आत्मबुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दुःख को प्राप्त करता है। ब्रह्म से आविर्भूत जीव अग्नि-स्फुलिंगवत् नित्य है। वह ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणु-रूप है। भगवान् के अविकृत सदश से जड का निर्गमन और अविकृत चिदश से जीव का निर्गमन होता है। जड के निर्गमन-काल मे चिदश तथा आनन्दाश दोनो का तिरोधान रहता है। परन्तु जीव के निर्गमन-काल मे केवल आनन्द-अश का ही तिरोभाव रहता है। जीव अनेक प्रकार का होता है—शुद्ध, मुक्त व ससारी। ससारी जीव दैव व आसुर दो प्रकार के होते है। मुक्त जीवो मे भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानन्द भगवान से नितान्त अभिन्न है।

जीवन-शोधनकार के मत मे चैतन्य दो प्रकार से हमे उपलब्ध होता है—एक तो सजीव प्राणियो मे देखा जानेवाला और दूसरा स्थावर-जगम तथा जड-चेतन सारी सृष्टि मे व्याप्त। शास्त्रो मे पहले के लिए जीव अथवा प्रत्यगात्मा शब्द का प्रयोग किया गया है और दूसरे के लिए परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म आदि नाम दिये गए हैं। दोनो की विशेषताए इस प्रकार हैं—

| प्रत्यगात्मा | परमात्मा |
|---|---|
| १ विषय-सम्बद्ध होने से ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। | १ विषय और प्रत्यगात्मा दोनो का उपादान कारण-रूप ज्ञान क्रिया-शक्ति है। ज्ञातापन, कर्त्तापन तथा भोक्तापन के भान का कारण अथवा आश्रय है। |
| २ कामना व सकल्पयुक्त है। | २ कामना अथवा सकल्प (अथवा व्यापक अर्थ मे कर्म) की फल-प्राप्ति का कारण है और इस अर्थ मे कर्मफल प्रदाता है। |
| ३ पाप-पुण्यादि तथा सुख-दुःखादि के विवेक से युक्त अतएव लिप्त है। | ३ अलिप्त है। |
| ४ ज्ञान-क्रियादि शक्तियो मे अल्प अथवा मर्यादित है। | ४ अनन्त और अपार है। |

"चित्त का जो व्यापार व विचार अपने शरीर तक ही सीमित रहता है, वह उसका जीव-स्वभाव और जो ब्रह्माण्ड पर अपना असर डालता है, वह उसका ईश्वर-स्वभाव है।"

"आत्मा जब शरीर-परिमित ही प्रतीत होता है तब उसकी अल्पता के कारण वह मेरा अश जान पडता है। वायु के कारण समुद्र का जल जब तरगाकार होकर उछलता है तो जैसे वह समुद्र का थोडा-सा अश ही दिखाई देता है, वैसे ही इस जीव-लोक मे मैं जड को चेतना देनेवाला, देह मे अहन्ता उपजानेवाला जीव जान पड़ता हू।" (ज्ञानेश्वरी)

"लोहे व चुम्बक की तरह ईश्वर व जीव का सम्बन्ध है। लोहा साफ होगा तो चुम्बक उसे झट खीच लेगा। किन्तु यदि लोहे मे मैल लगी होगी तो चुम्बक नही खीचेगा। उसी प्रकार जीव माया से घिरा रहने के कारण ईश्वर के निकट नही जा सकता।

"जीव चार प्रकार के हैं—बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त और नित्य मुक्त। बद्ध जीव कामिनी-काचन मे लिप्त रहते है। वे भूलकर भी ईश्वर की ओर मन नही लगाते। गरम लोहे पर जल का छीटा पडते ही जैसे वह सूख जाता है वैसे ही भगवान् की चर्चा भी बद्ध जीवो के निकट व्यर्थ हो जाती है। जो जीव ससार के जाल से मुक्त होने के लिए विकल होकर यत्न करते है, वे मुमुक्षु है। जो कामिनी-काचन से छुटकारा पा चुके है, जिनके मन मे विषय-वासना बिल्कुल नही है और जो सदा भगवान् के चरणो का ही चिन्तन करते है वे ही मुक्त जीव है। नित्यमुक्त ससार मे कभी लिप्त नही होते। उनका ईश्वर मे विश्वास स्वत सिद्ध है। वे सदा हरि-रस-पान मे ही मत्त रहते है। वे विषय-रस को जरा भी नही छूते।

"मुक्त जीव नमक की तरह समुद्र मे घुलमिल जानेवाले, सासारिक जीव कपडे की गाठ के समान—उसमे जल प्रवेश कर जाता है, पर वह जल मे मिल नही जाती। इच्छा होने पर उसे जल से बाहर निकाल भी सकते है। बद्ध जीव पत्थर के जैसे होते हैं, जिनमे जल बिल्कुल प्रवेश नही करता।

"जैसे पत्थर मे काटी नही घुसती, मिट्टी मे घुस जाती है वैसे ही साधु के उपदेश बद्ध जीवो के हृदय मे प्रवेश नही करते, विश्वासी के हृदय मे सहज ही प्रवेश कर जाते है।

"लोहार की दूकान मे लोहा जबतक भट्टी मे रहता है तबतक लाल रहता

है, फिर काला-का-काला हो जाता है। वैसे सासारिक जीव जबतक धर्म-मन्दिर मे या धार्मिक लोगो के समीप सत्सग मे रहते हैं तवतक धर्मभाव से पूर्ण रहते हैं, बाहर निकलते ही वह भाव चला जाता है।

"मगर के शरीर पर अस्त्र मारने से वह उसके शरीर मे नही धसता, वाहर ही फिसल जाता है, उसी तरह बद्ध जीव के समीप चाहे कितनी ही धर्म की बाते हो, वे उसके मन मे किसी प्रकार नही धसती।

"हाथ मे तेल लगाकर कटहल काटने से उसका लसा हाथ मे नही लगता। वैसे ही ईश्वर मे भक्ति व विश्वास करके ससार का सब काम करने से जीव ससार के बन्धन मे नही पडता।

"वर्षा का जल जैसे एक ओर से आता है और दूसरी ओर बह जाता है, उसी प्रकार सासारिक बद्ध जीव भी धर्म की बाते एक कान से सुनते हैं और दूसरे से निकाल देते है।

"कितनी ही मछलिया जाल मे फसी होने पर विपत्ति मे भी भागने की चेष्टा नही करती। वही चुप पडी रहती हैं। कितनी ही मछलिया भागने के लिए छटपटाती हैं, परन्तु भाग नही सकती। और कितनी ही मछलिया जाल मे फसने पर उसे तोडकर भाग निकलती है। इसी प्रकार ससार मे तीन प्रकार के जीव—बद्ध, मुमुक्षु व मुक्त होते है।" (श्रीरामकृष्ण परमहस)

"जीव चार प्रकार के हैं—जाननेवाला जीव प्राण है, न जाननेवाला अज्ञान, जन्म-मरणशील जीव—वासनात्मक व ब्रह्म से ऐक्य पा जानेवाला जीव ब्रह्माश—ये चार प्रकार के जीव चचल होने के कारण नाशमान है, निश्चल परब्रह्म ही एक आदि-अन्त मे स्थिर, शाश्वत-सत्य है।" (दासबोध)

## : १८ अ :

## सत्य की व्याख्या

ज्ञानदेव-कृत सत्य की व्याख्या—"जैसे अपराध के समय माता का स्वरूप ऊपर से क्रोध से युक्त और लालन करने मे पुष्प के समान कोमल होता है वैसे ही जो सुनने मे सुखदायक और परिणाम मे यथार्थ होता है, उस विकार-रहित भाषण को 'सत्य' कहते है।"

शकराचार्य-कृत सत्य की परिभाषा—"यद्रूपेण यन्निश्चित तद्रूप नव्यभिचरति तत् सत्यम्' अर्थात् जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह रूप सन्नत, समभाव से, विद्यमान रहे तो उसे 'सत्य' कहते है।"

श्री मश्रुवाला 'सत्याग्रह' के सम्बन्ध मे लिखते हैं—"श्रेयार्थी के लिए सबसे महत्व की बात है सत्य के लिए आग्रह। 'सत्याग्रह' राजनैतिक अर्थ मे नही, परन्तु हमारे प्रत्येक आचार या विचार के प्रसग पर उसी बात को स्वीकार करने की तैयारी जो तात्विक रूप से और सबके हित की दृष्टि से उचित प्रतीत हो। 'सत्य को पहला स्थान दिया जाय या दूसरा', इसमे जमीन-आसमान का अन्तर है।

"अपनी किसी मान्यता या विचार को मैं नही छोड़ूगा—ऐसा आग्रह सत्य-शोधन मे बाधक है। शोधन का विषय शास्त्र नही बल्कि चित्त या आत्मा है और वह शास्त्रो मे नही खुद हमारे अन्दर है।

"सत्य-शोधक मे इतने गुण अवश्य होने चाहिए—व्याकुलता, जिज्ञासा, शोधक-बुद्धि, सत्वसशुद्धि, विचारमय व पुरुषार्थी जीवन, पूज्य व गुरुजनो के प्रति भक्ति, आदर व जगत् के प्रति निष्काम प्रेम, धैर्य, श्रमशीलता, कृतज्ञता, धर्मशीलता, आत्मा या परमात्मा के सिवा दूसरे आलम्बन के लिए नि स्पृहता।"

आप 'गीता-मन्थन' मे लिखते हैं—"जिस प्रकार हाथी के पाव मे सब पाव समा जाते है, उसी प्रकार सत्य मे सब व्रत समा जाते है। जिस प्रकार बीज पर्वत के टीलो को भी फोडकर बाहर फूट निकलता है, उसी प्रकार अनेक वर्षो तक ढका रहनेवाला सत्य अद्भुत प्रकार से बाहर आये बिना नही रहता।

"जिसकी यह निष्ठा हो गई है कि सत्य-रूप परमात्मा ही सब जगत् का मूल तथा आधार है, वह जीवन की सब क्रियाओ मे सत्य के ही साक्षात्कार का प्रयत्न करता है। विशेष अनुभव से यह भी जान लेता है कि सत्य का दुष्कर प्रतीत होनेवाला मार्ग ही अन्त मे सरल, सक्षिप्त और निश्चयपूर्वक फलदायी है।"

इस सिलसिले मे श्री विनोबा के कुछ विचार भी मनन करने योग्य हैं—

"सत्य की व्याख्या नही हो सकती। क्योकि व्याख्या का आधार ही सत्य पर होता है।"

"सूर्यनारायण सत्यनारायण की प्रतिमा है। सूर्योपासना सत्यदर्शन के लिए है।"

"सत्य = धर्म = ब्रह्म।"

"सन्त की अपेक्षा सत्य श्रेष्ठ है। सत्य के अंश-मात्र से सन्त निर्माण हो गये है।"

"सत्य व्यावहारिक अपूर्णांक नही, आध्यात्मिक पूर्णांक है।"

"संसार मे दो महिमाए काम कर रही हैं—१. सत्यमहिमा व २ नाममहिमा।"

गांधीजी 'मंगल प्रभात' मे लिखते हैं, "सत्य शब्द सत् से बना है। सत् अर्थात् होना, सत्य है होना और सत्य के सिवा दूसरी चीज की हस्ती ही नही है, इसलिए परमेश्वर का नाम ही सत् अर्थात् 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर सत्य है, यह कहने के बजाय 'सत्य' ही परमेश्वर है, यह कहना अधिक उपयुक्त है। और जहा सत्य है वहा ज्ञान—शुद्ध ज्ञान—है ही। इसीलिए ईश्वर नाम के चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है। और सत्य, ज्ञान है, वहा आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नही। और सत्य शाश्वत है, इसलिए आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण हम ईश्वर को सच्चिदानन्द नाम से पहचानते है।

"विचार मे, वाणी मे और आचार मे जो सत्य है, वही सत्य है।"

"यह सत्य अभ्यास व वैराग्य से प्राप्त होता है। सत्य का ही निरन्तर चिन्तन और पालन अभ्यास है और सत्य के सिवा दूसरी सब बातो से उदासीनता वैराग्य है।

"सत्य के सम्पूर्ण दर्शन इस देह से असम्भव है। उसकी केवल कल्पना की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार सम्भव नही होता। इसलिए अन्त मे श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता रह ही जाती है।

"हम देखेंगे कि एक के लिए जो सत्य है वह दूसरे के लिए असत्य है। सभी सत्य एक ही पेड के असख्य पत्तो के समान है, जो भिन्न-भिन्न दीख पडते हैं। परमेश्वर भी क्या हर आदमी को भिन्न नही दिखाई देता ? फिर भी हम जानते है कि वास्तव मे वह एक ही है। परन्तु सत्य नाम ही परमेश्वर का है, अत जिसे जो सत्य जान पडे उसीके अनुसार आचरण करे तो इसमे दोष नही, बल्कि वही कर्त्तव्य है। सत्य की खोज करते हुए कोई आखिर तक गलत रास्ते नही चल सकता। क्योंकि सत्य की खोज मे तपश्चर्या व कष्ट सहन करना पडता है।"

तान्त्रिक पद्धति का प्रचार कम न था। उपनिषदो मे वर्णित विभिन्न विद्याओ की आधार-भित्ति तान्त्रिक प्रतीत होती है।

शाक्तमत मे तीन भाव सात आचार होते है। पशुभाव, वीर भाव व दिव्य भाव तथा वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार व कौलाचार। भाव मानसिक अवस्था है, और आचार बाह्य आचरण। प्रथम चार आचार पशु-भाव के लिए, वाम तथा सिद्धान्त वीर भाव के लिए तथा कौलाचार पूर्ण अद्वैत भावना भावित 'दिव्य' साधक के लिए है। चौरासी सिद्धों मे अन्यतम मत्स्येन्द्रनाथ 'कौल' थे। नाथ-सम्प्रदाय का सम्बन्ध 'कौलमत' से ही है।

तन्त्र के तीन प्रधान भेद है—ब्राह्मण तन्त्र, बौद्ध तन्त्र, व जैन तन्त्र। उपास्य देवता की भिन्नता के कारण ब्राह्मण तन्त्र अनेक प्रकार का है—सौर, गाणपत्य, वैष्णव, शैव तथा शाक्त। भागवत का सम्बन्ध वैष्णव तन्त्र से है।

तान्त्रिक साधन दो प्रकार का है—बहिर्याग व अन्तर्याग। बहिर्याग मे गन्ध, पुष्प, धूप-दीप, तुलसी, बिल्व पत्र, नैवेद्यादि के द्वारा पूजा की जाती है। अन्तर्याग मे इन सब बाह्य वस्तुओ की आवश्यकता नही होती। वह मानसोपचार है। पहली शोडषोपचार कहलाती है।

हिन्दू-धर्म मे अनेक सम्प्रदाय है। उनमे तान्त्रिक सम्प्रदाय सबसे पुराना है। तन्त्र मनुष्य को शिक्षा देता है, पशुत्व को छोडकर देवत्व मे पहुचने की, जीव से शिव होने की। तन्त्र की यह विशेपता है कि वह भोग-प्रवण मन को बलपूर्वक अकस्मात् धक्का देकर त्याग के मार्ग पर नही ठेलता। धीरे-धीरे भोग के अन्दर से ही मन की स्वाभाविक गति का मुख त्याग की ओर मोड देता है। इस दृष्टि से तान्त्रिक साधना सबकी अपेक्षा अधिक स्वाभाविक और सार्वजनीन है। मूर्ति-पूजा तान्त्रिक साधना का ही एक अग है।

**दीक्षा**—श्रीगुरु-कृपा और शिष्य की श्रद्धा—इन दो पवित्र धाराओ का सगम ही दीक्षा है। गुरु का आत्मज्ञान और शिष्य का आत्म-समर्पण—दान और क्षेप—यही दीक्षा का अर्थ है। ज्ञान, शक्ति व सिद्धि का दान एव अज्ञान, पाप और दारिद्रय का क्षय, इसीका नाम दीक्षा है। दीक्षा एक दृष्टि से गुरु का आत्म-दान, ज्ञान-सचार अथवा शक्तिपात है तो दूसरी दृष्टि से शिष्य मे सुषुप्त ज्ञान और शक्तियो का उद्‌बोधन है। दीक्षा के तीन भेद हैं—शाक्ती, शाम्भवी और मान्त्री। कुण्डलिनी को जाग्रत करके ब्रह्मनाडी मे से होकर परमशिव मे मिला देना ही
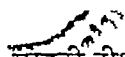
शाक्ती दीक्षा है। श्री गुरु का अपनी प्रसन्नता से दृष्टि अथवा स्पर्श के द्वारा एक क्षण मे स्वरूपस्थित कर देना शाम्भवी दीक्षा है। इसमे गुरु की दृष्टि मात्र से शिष्य का सहस्रार प्रफुल्लित हो जाता है और वह समाधिस्थ हो जाता है। मान्त्री वा आणवी दीक्षा मन्त्र-पूजा, आसन, न्यास, ध्यान आदि से सम्पन्न होती है। इसमे गुरुदेव शिष्य को मन्त्रोपदेश करते है। प्रथम दो दीक्षा तत्काल सिद्धि लाभ करती है, किन्तु मान्त्री दीक्षा से उसका अनुष्ठान करने पर क्रमश सिद्धि लाभ होता है।

दीक्षा के चार भेद—क्रियावती, वर्णमयी, कलावती व वेधमयी—भी किये गए है। एक पचायतनी दीक्षा भी होती है। इसमे शक्ति, विष्णु, शिव, सूर्य और गणेश इन पाचो की पूजा होती है।

## : २० :

## सूर्य

ससार है या नही, इसका निश्चय हमे 'सूर्य' से होता है। परमात्मा की कोई श्रेष्ठ स्पष्ट विभूति या प्रतिनिधि हमे दिखाई देता है तो वह सूर्य ही है। सूर्य-सत्ता ही आस्तिभाव की प्रतिष्ठा है। यह विश्व-सत्ता को प्रत्यक्ष दिखाता है व ब्रह्म-सत्ता की झलक वताता है। अत आत्म-सत्ता का आश्रय भी सूर्य ही है।

**'सूर्य-आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**

यह सूर्य एक ओर जहा हमारी आत्मा को प्रतिविम्वित करता है, तहा हमारे *भौतिक पदार्थों का प्रभव बनता हुआ हमारे शरीर को भी बनाता है।* इसके ये दो रूप 'मित्र' व 'वरुण' नाम से प्रसिद्ध हैं। मित्र रूप से वह हमारा आत्मा व वरुण रूप से शरीर का आश्रय है। या यो कहे कि मित्र-रूप से आत्म-सृष्टि का प्रवर्तक है तो वरुण-रूप से भूत-सृष्टि का जनक है। इसी मित्र-तत्व को इन्द्र भी कहते हैं। इन्द्र ज्योति के व वरुण पानी के देवता माने गए हैं। अर्थात् ज्योतिर्मय प्राण का नाम इन्द्र, आप्य प्राण का वरुण है। इन्द्र देव-सृष्टि के मूलाधार, वरुण असुर-सृष्टि के प्रवर्त्तक।

आधुनिक वैज्ञानिक व खगोलिक शोधो के अनुसार पृथ्वी पर जो कुछ चुम्व-कीय विद्युत की शक्ति है, उसका भी सम्वन्ध सूर्य ही से है। सूर्य की किरणो मे रोगो को दूर करने की भी शक्ति है। हमारा भरण-पोषण और सर्जन-उत्सर्जन एक वडे

अश मे सूर्य पर निर्भर है। प्रसिद्ध ज्योतिषी शिपा पेरेसी का कथन है कि पृथ्वी-वासियो के लिए सूर्य परमात्मा की सर्व-श्रेष्ठ कृति है। उनके मतानुसार सूर्य एक तारा है। सूर्य कई ग्रहादि पिण्डो को प्रकाश व ताप देता है, परन्तु वह अपने ताप के लिए किसीपर निर्भर नही है। सूर्य हमसे ९ करोड, ३० लाख मील दूर है। प्रकाश की गति प्रति सेकड ९३,०००कोस है। सूर्य के प्रकाश को इतने वेग से चलते हुए पृथ्वी तक पहुचने मे ८१/३ मिनिट लगते है। उसका व्यास ८,६६,००० मील अर्थात् पृथ्वी के व्यास का १०८ गुना बडा है। जितना स्थान अकेले सूर्य ने घेर रक्खा है उतने मे १२,५०,००० पृथ्वी के बराबर पिण्ड आ जायगे। यदि हम प्रति घण्टा एक पिण्ड पृथ्वी के बराबर बनावे तो सूर्य-पिण्ड १५० वर्षों मे बना पावेंगे। सूर्य की तौल २०० शख टन है। एक सेकड मे १० शख से अधिक कोयले जला दिये जाय तो जितनी गर्मी उनसे निकलेगी उतनी सूर्य से प्रति सेकड निकलती है। सूर्य के तल पर १५ से २० हजार डिग्री की गर्मी है।

सूर्य का भार पृथ्वी से कम है; क्योकि वह पृथ्वी की तरह ठोस नही है। १५,७५० शख मोमवत्तिमो की रोशनी के बराबर प्रकाश सूर्य से प्रतिक्षण निकलता रहता है। यदि गर्मी के स्थान पर सूर्य रुपया देता हो, और मान लो प्रतिवर्ष १८ अरब रुपये बाटता तो पृथ्वी के हिस्से मे केवल ९ रुपये पडते।

सूर्य के पृष्ठ पर बहुत-से काले धब्बे हैं। इनके चारो ओर प्रचण्ड प्रकाश हो रहा है और बीच मे ये घोर अन्धकार के कूपो के सदृश प्रतीत होते है। फरवरी १८९२ मे एक धब्बा ९२,००० मील लम्बा और ६२,००० मील चौड़ा पड़ा था। परन्तु प्राय धब्बे इस परिमाण तक नही पहुचा करते। इन लाछनो को देखने से पता चलता है कि सूर्य भी पृथ्वी की भाति अपने अक्ष पर घूमता है। जिस साल इन धब्बो की सख्या बढ जाती है उस साल पृथ्वी पर चुम्बकीय क्षोभ या तूफान होते हैं। अनेक विद्युत-सम्बन्धी दृग् विषय देख पडते हैं। जिस साल अधिक लाछन देख पडते है उस साल वर्षा अधिक होती है।

सूर्य पर तीन आवरण है। पहला वह है, जो हमको नित्य देख पडता है। इसको प्रकाश-मण्डल कहते है। सूर्य के प्रकाश का मुख्य क्षेत्र यही है। यह अत्यन्त गम्भीर व निश्चल है। इसके ऊपर दो आवरण हैं—प्रत्याकर्षक स्तर और वर्ण-मण्डल। वर्ण-मण्डल को अग्नि का समुद्र कहना चाहिए। इसमे दूर-दूर तक लपटे उठती रहती है। इनको शिखर कहते हैं। ये रक्त-ज्योति के पहाड या बादल से प्रतीत

होते हैं। १८८५ मे एक शिखर १४२००० मील की ऊचाई तक पहुच गया था। जब इतनी ऊचाई तक पहुचकर ये शिखर टूटते हैं, उस समय विचित्र भैरव दृश्य होता है। 'ज्वाला व्याप्त दिगम्बरम्'-सा प्रतीत होता है। सूर्य के आस-पास दो लाख मील के घेरे तक उनकी पहुच होती है।

इन सबके पीछे सूर्य का अन्तिम आवरण प्रभा-मण्डल है। यह अत्यन्त शान्त, निश्चल व शीतल है। इसकी ज्योति चन्द्र-ज्योति मे मिलती है। यह सूर्य-मण्डल के चारो ओर लाखो कोस तक फैला हुआ है।

सूर्य है क्या ? इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नही मिलता है। किन्तु उसमे लोहा, कार्बन, तावा, जस्ता आदि का होना सिद्ध होता है। प्रसिद्ध ज्योतिषी प्राक्टर ने कहा है—"यदि कोई वस्तु सर्वशक्तिमान् ईश्वर की शक्ति व मगलमयता की मूर्ति व्यजक मानी जा सकती है तो वह 'सूर्य' है।"

## २१ :

## तन्मात्रा

तन्मात्राओ के स्पष्टीकरण के लिए भागवत स्क० ३ का २६ वा अध्याय पढने योग्य है। श्लोक—३३ से ५० तक का अनुवाद तो यही दे दिया जाता है—

"शब्द तन्मात्रा—अर्थ का प्रकाशक होना, द्रष्टा को दृश्य के सबध का बोध कराना और आकाश का कारण होना—विद्वानो के मत मे यही शब्द तन्मात्रा के लक्षण हैं।

"भूतो को अवकाश देना, सबके भीतर-बाहर वर्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मन का आश्रय होना—ये आकाश की वृत्तियो के लक्षण है।

"फिर शब्द जिसकी तन्मात्रा है, उस आकाश मे काल-गति से विकार उत्पन्न होने पर स्पर्श तन्मात्रा का जन्म हुआ और उससे वायु तथा स्पर्श का ग्रहण करनेवाली त्वचा हुई। मृदुता, कठिनता, शीतलता, और उष्णता तथा वायु का कारण होना—ये स्पर्श के लक्षण हैं। (वृक्ष की शाखादि का) हिलना (तृण आदि को) इकट्ठा कर देना, सर्वत्र गतिशील होना, सर्व द्रव्य और शब्द का सचालक होना तथा समस्त इन्द्रियो को कार्य शक्ति देना—ये वायु की क्रिया-शक्ति के लक्षण हैं।

"तदनन्तर दैव की प्रेरणा से स्पर्श-तन्मात्रा-विशिष्ट वायु के विकृत होने पर

उससे रूप **तन्मात्रा** उत्पन्न हुई तथा उससे तेज और रूप को उपलब्ध करनेवाले नेत्र गोलक का प्रादुर्भाव हुआ । वस्तु के लम्बाई-चौडाई आदि आकार का बोध कराना, उसके पीत, शुक्लादि वर्ण का ज्ञान कराना, उसकी बनावट को प्रकट करना, तथा तेज की तन्मात्रा होना—ये रूप तन्मात्रा के भेद है । चमकना, पकाना, शीत को दूर करना, सुखाना, भूख-प्यास उत्पन्न करना, तथा उनकी (निवृत्ति के लिए) जलपान व भोजन करना–ये तेज की वृत्तिया है ।

"फिर दैव की प्रेरणा से रूप तन्मात्रावाले तेज के विकृत होने पर उससे **रस तन्मात्रा** उत्पन्न हुई और और उससे रस तथा जल को ग्रहण करनेवाली जिह्वा की उत्पत्ति हुई । रस अपने शुद्ध-स्वरूप मे एक ही है, किन्तु अन्य भौतिक पदार्थों के सयोग से वह कसैला, मधुर, तीखा, कड्आ, खट्टा, और खारा आदि कई प्रकार का होता है । गीला करना, मृत्तिका आदि को पिण्डाकार कर देना, तृप्त करना, जीवित रखना, प्यास मिटाना, पदार्थों को तरल कर देना, ताप की निवृत्ति करना और जलाशयो मे से निकाल लेने पर भी फिर वढ जाना—ये जल के कार्य है ।

"फिर दैव के प्रति रस-स्वरूप जल के विकृत होने पर उससे **गन्ध तन्मात्रा** हुई और उससे पृथ्वी तथा गन्ध को ग्रहण करनेवाली नासिका प्रकट हुई । गन्ध एक ही है तथापि विभिन्न पदार्थों के ससर्ग से वह मिश्रगन्ध, दुर्गन्ध, सुगन्ध, शान्त, उग्र और आमल आदि अनेक प्रकार का है । प्रतिमा आदि रूप से सगुण ब्रह्म की भावना का आश्रय होना, दूसरे तत्वो की अपेक्षा किये बिना अपने आधार से स्थित रहना, अन्य जल आदि को धारण करना, आकाशादि का अवच्छेदक होना तथा सम्पूर्ण वस्तुओ के गुणो को प्रकट करना—ये पृथ्वी के कार्य-रूप लक्षण हैं ।

"आकाशादि कारण-तत्वो के गुण भी पृथ्वी आदि कार्य-तत्वो मे अनुगत रूप से मिलते है, इसलिए समस्त भूतो के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये केवल पृथ्वी मे ही पाये जाते है । जब महत्तत्व, अहकार और पचभूत—ये सातो तत्व अलग-अलग रहने के कारण सृष्टि-रचना मे असमर्थ रहे तो जगत् के आदि कारण श्री-नारायण ने काल, कर्म, अदृष्ट और सत्वादि गुणो के सहित उनमे प्रवेश किया ।"

# 'मंडल' द्वारा प्रकाशित प्रमुख साहित्य

| पुस्तक | लेखक | मूल्य |
|---|---|---|
| आत्मकथा | (गाधीजी) | ४ ०० |
| आत्मकथा (सक्षिप्त) | „ | १ ०० |
| प्रार्थना-प्रवचन (२ भाग) | „ | ५·५० |
| गीता माता | „ | ४ ०० |
| पन्द्रह अगस्त के बाद | „ | २ ०० |
| धर्मनीति | „ | २·०० |
| द० अफ्रीका का सत्याग्रह | „ | ३ ५० |
| मेरे समकालीन | „ | ५ ०० |
| आत्म-सयम | „ | ३ ०० |
| गीता-बोध | „ | ० ५० |
| अनासक्तियोग | „ | १ ५० |
| ग्राम-सेवा | „ | ० ३७ |
| मगल-प्रभात | „ | ० ३७ |
| सर्वोदय | „ | ० ३७ |
| नीति-धर्म | „ | ० ३७ |
| आश्रमवासियो से | „ | ० ४० |
| हमारी माग | „ | १ ०० |
| एक सत्यवीर की कथा | „ | ० २५ |
| हिन्द-स्वराज्य | „ | ० ७५ |
| अनीति की राह पर | „ | १ ०० |
| बापू की सीख | „ | ० ५० |
| गाधी-शिक्षा (तीन भाग) | „ | ० ६२ |
| आज का विचार (दो भाग) | | ० ७४ |
| ब्रह्मचर्य (दो भाग) | „ | १ ७५ |
| गाधीजी ने कहा था (६ भाग) | | २ ७० |
| शाति-यात्रा | (विनोबा) | १ ५० |
| विनोबा के विचार (२ भाग) | | ३ ०० |
| जीवन और शिक्षण | „ | २ ०० |
| स्थितप्रज्ञ-दर्शन | „ | १ ०० |
| ईशावास्यवृत्ति | „ | ० ७५ |
| ईशावास्योपनिषद् | „ | ०·१२ |
| सर्वोदय-विचार | „ | १·१२ |
| स्वराज्य-शास्त्र | (विनोबा) | ०·५० |
| सर्वोदय-सदेश | „ | १·५० |
| गाधीजी को श्रद्धाजलि | „ | ० ३७ |
| भूदान-यज्ञ | „ | ०·२५ |
| राजघाट की सनिधि मे | „ | ० ६२ |
| विचार-पोथी | „ | १ ०० |
| सर्वोदय का घोषणा-पत्र | „ | ० २५ |
| उपनिषदो का अध्ययन | „ | १ ०० |
| कुछ पुरानी चिट्ठिया | (नेहरू) | १० ०० |
| इतिहास के महापुरुष | „ | ३ ०० |
| मेरी कहानी सपूर्ण | „ | ८ ०० |
| „ सक्षिप्त | „ | २ ५० |
| हिन्दुस्तान की समस्याए | „ | २ ५० |
| राष्ट्रपिता | „ | २ ०० |
| राजनीति से दूर | „ | २·०० |
| विश्व-इतिहास की झलक (स०) | | ६ ०० |
| हिंदुस्तान की कहानी | „ | २·५० |
| गाधीजी की देन | (राजेद्रप्रसाद) | १·५० |
| आत्मकथा | „ | ८ ०० |
| राजाजी की लघु कथाए | (राजाजी) | १ ५० |
| महाभारत-कथा | „ | ५·०० |
| कुब्जा-सुदरी | „ | २ २५ |
| शिशु-पालन | „ | ० ५० |
| दशरथनन्दन श्रीराम | „ | ५ ०० |
| मैं भूल नही सकता | | २ ५० |
| बापू की कारावास-कहानी | | ७ ५० |
| गाधी की कहानी | (लुई फिशर) | १ ५० |
| इग्लैंड मे गाधीजी | | १·२५ |
| बा, बापू और भाई | | ० ५० |
| गाधी-विचार-दोहन | | १ ५० |
| सत-सुधासार सक्षिप्त | | ६·०० |
| श्रद्धाकण | | ० ७५ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| अयोध्याकाड | १·०० | रामतीर्थ-संदेश (३ भाग) | १ १२ |
| भागवत-प्रेम | ४ ५० | रोटी का सवाल (क्रोपाटकिन) | ३ ०० |
| मानसरोवर के झरने | १ ५० | नवयुवको से दो बाते ,, | ० ५० |
| बापू | २ ०० | पुरुषार्थ | ६ ०० |
| रूप और स्वरूप | ० ७५ | काश्मीर पर हमला | २ ०० |
| डायरी के पन्ने | १ ०० | शिष्टाचार | ० ५० |
| ध्रुवोपाख्यान | ० २० | तट के बन्धन | २ ५० |
| स्त्री और पुरुष (टॉल्स्टाय) | १ ०० | नवीन यात्रा | २ ५० |
| मेरी मुक्ति की कहानी ,, | १ ५० | तूफान और ज्योति | २ ५० |
| प्रेम मे भगवान ,, | २ ५० | भारतीय संस्कृति | ३ ५० |
| जीवन-साधना ,, | १ २५ | आधुनिक भारत | ५ ०० |
| कलवार की करतूत ,, | ० ३५ | फलो की खेती | ३ ०० |
| हमारे जमाने की गुलामी ,, | १ ०० | मै तदुरुस्त हू या बीमार ? | ० ५० |
| बुराई कैसे मिटे ? ,, | १ ०० | गाधीजी की छत्रछाया मे | २ ५० |
| बालको का विवेक ,, | ० ५० | भागवत कथा | ३ ५० |
| हम करे क्या ? ,, | ४ ०० | जय अमरनाथ | १ ५० |
| धर्म और सदाचार ,, | १ २५ | हमारी लोक-कथाए | १ ५० |
| अंधेरे मे उजाला ,, | १ ५० | संस्कृत-साहित्य-सौरभ | |
| ईसा की सिखावन ,, | १ ०० | (३६ पुस्तके) प्रत्येक | ० ४० |
| सामाजिक कुरीतिया | २ ५० | समाज-विकास-माला | |
| कल्पवृक्ष | २ ५० | (१५१ पुस्तके) प्रत्येक | ० ३७ |
| साहित्य और जीवन | २ ०० | कृषि-ज्ञान-कोष | ४ ०० |
| कब्ज | १ ०० | प्रकाश की बाते | १ ५० |
| हिमालय की गोद मे | २ ०० | ध्वनि की लहर | १ ५० |
| कहावतो की कहानिया | २ २५ | गरमी की कहानी | १ ५० |
| जीवन-संदेश | १ २५ | धरती और आकाश | १ ५० |
| अशोक के फूल | ३ ०० | समुद्र के जीव-जतु | १ ५० |
| काग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त) | ६ ०० | रूस मे छियालीस दिन | ३·०० |
| सप्तदशी | २ ०० | मै इनका ऋणी हू | २ २५ |
| रीढ की हड्डी | १ ५० | सुभाषित-सप्तशती | २ ५० |
| अमिट रेखाए | ३ ५० | शारदीया | १ ५० |
| तामिल-वेद | १ ५० | आसू और मुस्कान | १ ०० |
| हमारे गाव की कहानी | १ ५० | अमृत की बूदे | १ ०० |
| खादी द्वारा ग्राम-विकास | ० ७५ | प्राकृतिक जीवन की ओर | १·५० |
| साग-भाजी की खेती | ३ ५० | कोई शिकायत नही | २ ५० |
| पशुओ का इलाज | ० ७५ | | |